समाज-कार्य

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—१९०

समाज कार्य

लेखक
राजाराम शास्त्री
उपकुलपति, काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

हिन्दी समिति
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
लखनऊ

प्रकाशकीय

दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से पीड़ित प्राणियों को उनकी दीनहीन दशा से उबारने के कार्य में दयावान मानव सदा से प्रवृत्त रहा है। यज्ञ, दानादि धार्मिक कृत्यों का उद्देश्य न्यूनाधिक रूप में यही था। आधुनिक युग में यद्यपि मान्यताएँ बदल गयी है, तथापि मानवीय भावनाएँ और गुण अक्षुण्ण हैं जिनसे प्रेरित होकर आज भी लोकोपकारी व्यक्ति और संस्थाएँ जन-कल्याण के कार्य में निरत हैं। वर्तमान समय में समाज-सेवाकाय को वस्तुत: एक वैज्ञानिक आधार मिला है और अब वह व्यवस्थित एवं सुनियोजित रूप में किया जाता है।

इस पुस्तक में सुप्रसिद्ध समाजशास्त्रवेत्ता श्री राजाराम शास्त्री ने 'समाज कार्य' की बड़ी सुंदर मीमांसा की है। प्राचीन मान्यताओं का उल्लेख करते हुए उनके परिपेक्ष्य में आधुनिक 'समाज कार्य' का सम्यक् विश्लेषण किया गया है। समाज कार्यकर्ता के ज्ञान और कर्तव्य तथा जिन पद्धतियों के अनुसार उसे कार्य करना चाहिए, सभी की व्याख्या इस पुस्तक में की गयी है। वैयक्तिक, सामूहिक तथा सामुदायिक रूप में मनोसामाजिक समस्याओं के अध्ययन एवं उन्हें हल करने के हेतु उपयुक्त अभिकरणों को माध्यम बनाने के संबंध में भी इसमें भलीभाँति विचार किया गया है। सेवार्थ धन, जन और शक्ति का सही तौर पर उपयोग करने हेतु समाज-कल्याण-प्रशासन की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है, क्योंकि इसी के द्वारा लोकतांत्रिक पहलुओं पर ध्यान रखकर नीतियों का निर्धारण तथा कार्यविधि का निश्चय किया जाता है। 'समाज कार्य' के व्यापक क्षेत्र का आभास देते हुए योग्य लेखक ने परिवार एवं बाल-कल्याण से लेकर चिकित्सा, अपराधी-सुधार, महिलामंगल, श्रमिक-कल्याण, पिछड़ी जातियों का उत्थान, परिवार-नियोजनादि विभिन्न विषयों को उसके अंतर्गत लिया है तथा भारतीय समाज को दृष्टि में रखकर उपयोगी सुझाव दिये हैं।

वस्तुत: समाजशास्त्र के अध्येताओं के लिए 'समाज-कार्य' विषयक प्रचुर सामग्री बड़े रोचक एवं सरल ढंग से इस पुस्तक में सँजोयी गयी है, जो हिन्दी माध्यम से अध्ययन करने वाले स्नातक एवं स्नातकोत्तर श्रेणियों के विद्यार्थियों के लिए विशेष उपादेय सिद्ध होगी।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

खण्ड १–२

खण्ड ३

खंड १—२

अध्याय १

भारतीय समाज सेवा

भारत में दीन-दुखियों की सहायता करने की एक परम्परा है। सहायता के आधुनिक रूप को **वैज्ञानिक समाज कार्य** की संज्ञा दी जाती है। सहायता या सेवा प्रक्रिया के अनेक अंग होते है।

इस प्रसंग में सेवा करने वाला अर्थात् समाज सेवी, सेवा लेने वाला अथवा सेवार्थी तथा सेवा के प्रकार पर विचार करना होगा। सेवा करने वाले के जीवन, दर्शन तथा उद्देश्यों पर विचार किया जाता है जिनसे प्रेरित होकर कोई भी व्यक्ति सेवा देता है। सेवा देने वालों को मोटे रूप से दो भागो मे बाँटा जा सकता है : एक तो धन देने वाला और दूसरा कुशल कार्यकर्त्ता जो व्यावहारिक रूप से सेवार्थी को सेवा देता है। भारत वर्ष में समाजकार्य के इतिहास का अध्ययन करने में इन सभी पहलुओं को दृष्टि में रखना आवश्यक है। आधुनिक समाज-कार्य का मूलस्रोत दान है जिसने धीरे-धीरे विकसित होकर आज के सामाजिक कार्य का रूप लिया है। भारत वर्ष की सभ्यता बहुत प्राचीन है। योरप के देशों में दान के आधुनिक रूप में उदित होने से पहले भारत में समाजकार्य का एक दूसरा रूप भी मिलता है।

योरप में दान शब्द को दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। ईसाई धर्म वाले इस शब्द को आध्यात्मिक अर्थो में प्रयोग करतेहै। वे मानते है कि दया और धर्म की भावना दीनों की सहायता का आवश्यक अंग है, किन्तु समाज कार्यकर्त्ता इस शब्द को एक विशेष अर्थ मे प्रयोग करते है। उनकी मान्यता है कि पीड़ा को देख कर व्यक्ति में एक प्रकार की भावना जाग्रत होती है और वह पीड़ित की सहायता किये बिना नहीं रह सकता। यह विचार किये बिना ही कि इस सहायता का इस पीड़ित पर अन्तिम और समग्र रूप से क्या प्रभाव पड़ेगा, वह उसकी सहायता करता है। उदार व्यक्ति पीड़ा के दृश्य को सहन नहीं कर सकता इसलिए वह उसी क्षण और उसी स्थान पर जिस हद तक भी संभव हो पीड़ा को दूर करने के लिए दौड़ पडता है और इस बात पर विचार नही करता कि उसके द्वारा दी जाने वाली सहायता पीड़ा के मूल कारणों को दूर करेगी अथवा केवल कुछ समय के लिए उसे दबा देगी। इस व्यवहार के पीछे भावना ही एक मुख्य प्रेरणा है और उस

भावना को ही दान (चैरिटी) की संज्ञा दी जाती है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि इस प्रकार का दान एक ऐसे युग की उत्पत्ति है जब निजी सम्पत्ति की संस्था का उदय हो चुका था, किन्तु उस युग के पूर्व एक ऐसा युग था जब जीवन का रूप सामूहिक था, सम्पत्ति सबकी मिलकियत होती थी और एक दूसरे की सहायता पारस्परिक रूप से होती थी, ऐसे समाज में दान का प्रश्न ही नही उठता। भारतवर्ष के इतिहास के बहुत प्राचीन युग में हम इसी प्रकार के एक सामूहिक जीवन तथा समाज की झाँकी देखते हैं। उस समय यज्ञ की प्रथा थी, जिसके द्वारा सभी लोग एक दूसरे की सहायता करते थे।

यज्ञ का प्राचीनतम रूप सत्र तथा ऋतु है। जब देवता यज्ञ किया करते थे तो सत्र तथा ऋतु अपने पूर्ण रूप में विद्यमान थे और सर्वप्रियता की पराकाष्ठा पर थे। तत्पश्चात् आर्यो ने अपने यज्ञों में इस प्राचीनतम यज्ञ का ही अनुकरण किया। आर्यो के पौराणिक देवता उनके पूर्वजों के प्रतीक थे। साथ ही साथ वे प्राकृतिक घटनाओं के प्रतीक भी थे। दोनों प्रकार के देवता अपने प्रधान गुणों के द्वारा अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं।

देवताओं द्वारा किये जाने वाला सत्र प्राचीन आर्यों द्वारा किये जाने वाले श्रम का सामूहिक रूप है। यह सामुदायिक जीवन की सुरक्षा एवं अभिवृद्धि के लिए समुदाय के दिन प्रतिदिन किये जाने वाले कार्यों का योग था और इसीलिए इस शब्द का अर्थ संस्कृत भाषा में 'यौगपद्य', 'ऐकत्रिकता', 'सामूहिकता' है।

इस प्रकार के सत्र की सर्व प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें भाग लेने वाले सभी ऋत्विज तथा यजमान होते है। यह सामूहिक रूप से कार्य करने का एक बहुत प्राचीन रूप है जिसमें सभी लोग सामूहिक श्रम में बिना किसी भेद-भाव अथवा श्रम-विभाजन के भाग लेते हैं। सत्र की एक दूसरी विशेषता यह है कि यज्ञ का फल सबका सामूहिक उत्पादन माना जाता था और सामूहिक तथा समान रूप में बांटा जाता है और सामूहिक रूप से ही उसका उपभोग होता था। इस प्रकार की पद्धति का प्रतीक 'समाख्या' का अनुष्ठान था जिसमें एक ही पात्र से सोम रस का पान किया जाता था। शान्ति काल में जब दिन-प्रतिदिन के सामूहिक श्रम के फल को व्यक्तिगत सदस्यों में बाँटा जाता था और उनके द्वारा उपभुक्त एवं गृहीत होता था तो उसे हवन, हवि, हुतशेष अथवा यज्ञशिष्ट कहा जाता था। जब युद्ध में प्राप्त धन अथवा समुदाय के स्थायी धन जैसे हथियार, वस्त्र, बर्तन आदि को समय-समय पर उत्सव के अवसरों पर समुदाय में बाँटा जाता था तो उसे 'दान' कहा जाता था।

उस समय दान किसी व्यक्ति अथवा किसी सम्प्रदाय के मुखिया का व्यक्तिगत कार्य नहीं होता था जो उसकी स्वेच्छा पर निर्भर हो क्योंकि जीती हुई सम्पत्ति सारे समुदाय की सामूहिक सम्पत्ति होती थी। दान, हवन के समान एक सामाजिक क्रिया थी जो समय-

समय पर समुदाय की आवश्यकता के अनुसार तथा प्रत्येक युद्ध के अन्त में की जाती थी। ऋग् वेद मे दान शब्द का अर्थ विभाजन है, जिसकी उत्पत्ति 'दा' अर्थात् विभाजन से हुई है। इस प्रकार दान शब्द में दया अथवा उपकार का कोई भाव नही है।

पूर्व वैदिक काल में जिसका वेदों में कुछ वर्णन मिलता है आर्य लोग छोटे-छोटे समुदायों मे रहते थे जो कुल के आधार पर संगठित होते थे। वे जो कुछ आर्थिक अथवा धार्मिक क्रियाओ के रूप में करते थे वह सब सामुदायिक होता था। श्रम का विभाजन यदि कुछ था तो वह केवल अस्थायी था, उसे स्थायी रूप नही दिया जाता था। नेताओं का निर्वाचन विशेष अवसरों पर विशेष कार्यो के लिए उनकी कुशलता तथा योग्यता के आधार पर स्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार किया जाता था।

यह अस्थायी दायित्व पूर्ण हो जाता था तो वे समुदाय में ही फिर से लीन हो जाते थे। शान्ति अथवा युद्ध के नेताओं का समाज में कोई निश्चित स्थान नही होता था। प्रत्येक व्यक्ति जीवन के लगभग सभी कार्यो में भाग लेता था और कोई विशेष कार्य किसी विशेष व्यक्ति के लिए निर्धारित नही होता था। इस सामूहिक समाज में जो एक विस्तृत परिवार के अनुरूप था, प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएँ सभी मिल कर पूरी करते थे और सभी लोग आवश्यकता के समय एक दूसरे की सहायता करते थे, चाहे वे आवश्यकताएँ प्रारम्भिक हो अथवा विशेष, सामान्य हो चाहे किसी विशेष संकट की स्थिति जैसे बीमारी या बाहरी संकट के कारण उत्पन्न हुई हो। ज्ञान तथा कुशलता में लोगों मे कोई बहुत अधिक भेद नहीं होता था और प्रत्येक व्यक्ति आवश्यकता के समय दूसरों के लिए वह सब कुछ करता था जो दूसरे लोग ऐसी ही परिस्थितियों में उसके लिए करते थे। लोगों की आवश्यकता के समय सहायता करने का सम्पूर्ण कार्य प्रत्येक व्यक्ति का उत्तरदायित्व होता था और उस परिस्थिति का सब सामूहिक रूप से सामना करते थे। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न अवसरों पर अथवा विभिन्न उद्देश्यों के लिए सेवी एवं सेवार्थी दोनों ही होता था। उस समय व्यवसायी समाज सेवी नहीं होते थे और न अन्य किसी प्रकार के ही व्यवसायी होते थे। इस प्रकार के सामूहिक समाज में पारस्परिक सहायता के कार्य को यज्ञ कहा जाता था जिसका अर्थ संस्कृत भाषा में अर्थोत्पादन के लिए साथ-साथ काम करना होता है।

यद्यपि समय के साथ स्थिति बदली और सभी उद्देश्यो के लिए पारस्परिक सहायता के समाज का स्थान वर्ग युक्त समाज ने ले लिया, किन्तु यह प्रक्रिया एक लम्बे समय में सम्पन्न हुई और उस सामूहिक समाज के कुछ तत्त्व भारतीय इतिहास में उस समय से लेकर आज तक मिलते हैं। उस समय यज्ञ एक जीवन पद्धति था और समुदाय के सम्पूर्ण अस्तित्व में एक सतत अवस्था के रूप में व्याप्त था, किन्तु अब इसने एक नैमित्तिक कर्मकांड का रूप ले लिया। फिर भी जब कोई यज्ञ किया जाता था तो जीवन के सामूहिक रूप के सभी

पक्षों की पुनरावृत्ति होती थी। यज्ञ करने में सभी अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार योग देते थे और सभी यज्ञफल को प्राप्त करते थे।

यज्ञ सम्पत्ति, वर्ग तथा राज, की उत्पत्ति के पूर्व, प्राचीन आर्यो के उत्पादन का सामूहिक रूप था। जैसे ही उस समाज का ह्रास हुआ तो सत्र तथा ऋतु भी लुप्त हो गये और वे एक कर्मकाण्ड, पूजाविधि तथा एक सामाजिक रीति के रूप में रह गये। इस प्रकार जव वास्तविकता नष्ट हो गयी तो इस समय भी सभी आदर्श तथा विश्वास एक प्रथा के रूप मे रह गये और नये वर्गयुक्त समाज ने उन आदर्शो तथा विश्वासों को अपने अस्तित्व तथा जनता पर अपनी शक्ति को दृढ़ करने के लिए साधन के रूप में उपयोग किया। लोगों को यह विश्वास दिलाया जाता था कि यदि वे प्राचीन आर्यो के किसी यज्ञ का अनुष्ठान के रूप में अनुकरण करेंगे तो उन्हें ठीक उसी प्रकार फल मिलेगा और वे समृद्ध होंगे। अत: अब यज्ञानुष्ठान प्राचीन काल के वास्तविक यज्ञ का अनुकरण मात्र रह गया।

अब यज्ञ कराने वाले व्यक्तियों को ऋत्विजों की विभिन्न श्रेणियों में बाँटा गया जिन्हें गृहस्थ यजमान नियुक्त करता है और यज्ञ कराने के बदले उन्हें पारिश्रमिक देता है। अब आर्यों के समाज में श्रम का ऋत्विजों की सत्रह श्रेणियों में विभाजन हो गया। किन्तु 'सत्र' अब भी ऐसे यज्ञ के रूप में प्रचलित हैं जिसकी अवधि एक वर्ष अथवा उससे अधिक होती है और जिसमें यज्ञ के सभी पुरोहित स्वयं यजमान होते हैं।

जब सामूहिक सम्पत्ति की संस्था टूट गयी, जब युद्ध राजा तथा उसकी क्षत्रिय जाति का कार्य बन गया, जब सम्पत्ति इन क्षत्रियों के निजी परिवारों में एकत्रित होने लगी, जब युद्ध में प्राप्त सम्पत्ति प्राचीन काल की तरह सामुदायिक सम्पत्ति न रह कर राजा तथा शासक वर्ग की निजी सम्पत्ति समझी जाने लगी तो दान, जिसमे विजित सम्पत्ति को समान रूप से बाँटा जाता था, एक अनिवार्य सामाजिक कार्य तथा गणपति अथवा सेनापति का धर्म न होकर राजा तथा शासक वर्ग का निजी धर्म बन गया। यदि वे ऐसा करते थे तो इसे एक गुण माना जाता था। लोगों के मस्तिष्क में यह बात इतनी अधिक वैठ गयी कि यदि कोई सेनापति अथवा राजा इस प्रकार का दान नही करता था तो उसे बुरा राजा समझा जाता था, किन्तु यदि वह ऐसा नही करता था तो इस प्रकार की कोई सामुदायिक अविकार तथा शक्ति नही थी जो उसे ऐसा करने के लिए बाध्य कर सके; क्योंकि साधारण समाज को निरस्त्र कर दिय. गया और दबा दिया गया। अब वर्ग-शासन हो गया। दान अब राजाओं तथा क्षत्रियों का स्वैच्छिक गुण रह गया। इसका समान विभाजन का रूप नष्ट हो गया। अब यह दान करने वालों की इच्छा पर निर्भर हो गया कि वह किसको दान दें। इस प्रकार अच्छे तथा बुरे दान का भेद भी उत्पन्न हो गया और अब यह धर्म चर्चा का विषय बन गया कि अच्छे और बुरे दान का निर्णय देश, काल तथा पात्र के आधार पर

किया जाना चाहिए। इस प्रकार की चर्चा का प्राचीन काल में कोई स्थान नहीं था। उस समय दान एक प्रकार की सुरक्षा थी जो भूख, बीमारी, बुढ़ापा, अपंगता तथा अशक्ति से ग्रस्त लोगों का अधिकार था। इनका सामाजिक सम्पत्ति पर प्रथम अधिकार माना जाता था। किन्तु जब वैयक्तिक सम्पत्ति तथा वर्ग शासन का जन्म हुआ तो दान एक सामाजिक सुरक्षा के साधन के स्थान पर शासक वर्ग का विशेष अधिकार बन गया।

हुत-शेष अथवा हवन के गण विभाजन में भी उसी प्रकार परिवर्तन हुआ। प्राचीन काल में जो कुछ भी भोज्य पदार्थ होते थे उनका सभी लोग बिना किसी भेद-भाव के उपभोग करते थे। व्यक्तिगत परिवारो के अपने लिए अपनी अग्नि पर अपना भोजन पकाने का प्रश्न ही नहीं उठता था क्योंकि 'वह' तथा 'उसका' की भावना का अस्तित्व ही नही था। जब वैयक्तिक सम्पत्ति तथा पृथक् परिवारों का जन्म हुआ तब यज्ञ के समय केवल सम्पत्ति हीन तथा बेघरबार लोगों को ही उसमें भाग दिया जाता था। इस प्रकार यह नैतिक नियम बना कि जो व्यक्ति अपने पास-पड़ोस में रहने वाले लोगों के भोजन की आवश्यकता को ध्यान में न रख कर केवल अपने लिए ही भोजन पकाते उन्हें पाप का भागीदार कह कर उनकी भर्त्सना की जाती थी (भुंजन्ते ते त्वद्यं पापा : ये पचन्ति आत्मकारणात्—गीता अ० ३–१३)।

इस प्रकार समुदाय के उत्पादन सम्बन्धी सम्बन्धों ने अपने एक निजी विचारधारा को जन्म दिया। किन्तु जब सम्पत्ति का सामुदायिक तथा स्वाभाविक वैधानिक रूप नष्ट हो गया तो नये वर्ग ने उन सिद्धान्तों तथा नैतिक मान्यताओं के अवशेषों को जो अबतक जीवन के लिए संघर्ष कर रहे थे अपने ढंग से मोड़ा।

ऋग् वैदिक काल के उत्तरार्ध में पुरोहित को कुशल समाजकार्यकर्त्ता के रूप में स्थापित किया गया जिसे शुल्क अथवा दक्षिणा के रूप में पारिश्रमिक दिया जाता था जब कि वह अपने सेवार्थी अथवा यजमान के लिए यज्ञ के संचालन के कर्त्तव्यों को पूरा करता था। यजमान गृहस्थ होता था और वही यज्ञ के लिए धन देता था। अब यह देखा जा सकता है कि जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति भर यज्ञ के लिए सहायता देता था और इसके लाभ में भागीदार होता था तो वास्तविक सेवार्थी सम्पूर्ण समुदाय होता था जिसका प्रतिनिधित्व एक विशेष समय पर एक व्यक्ति करता था। सम्भवत: एक-एक करके सभी यजमान सामूहिक श्रम के लिए अवसर प्रदान करते थे और इस प्रकार सम्पूर्ण समुदाय उसमें सम्मिलित हो जाता था। लोग खेतों में कृषि कार्य के लिए एकत्रित होते थे और अतिथि परिवार के सदस्य के रूप में साथ-साथ कई दिन और कई सप्ताह तक रहते थे। यह अतिथि सत्कार अतिथियों का एक अधिकार तथा आतिथेय का कर्तव्य माना जाता था। हमारे बहुत से सामूहिक भोज पारस्परिक सहायता के लिए सामूहिक श्रम की व्यवस्था के भ्रष्ट रूप है।

इस संदर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि जिन लोगों को भूमि की आवश्यकता होती थी उन्हें दूसरों की भूमि में से कृषि के लिए भूमि मिल जाती थी और अपनी आवश्यकता पूर्ति के समय तक वे उस भूमि का उपयोग करते थे।

पवित्र यज्ञाग्नि के प्रसंग मे सामूहिक सहायता की विचारधारा के पीछे यह मान्यता थी कि यज्ञ के फल को इस संसार में नही बल्कि स्वर्ग में अथवा अगले जीवन में भोगा जाये। आधुनिक भाषा में इसका अर्थ स्वार्थ साधन के बजाय सामाजिक कर्त्तव्य होता था और भविष्य में प्राप्त होने वाले फल की कल्पना सामाजिक तथा व्यक्तिगत कल्याण की एक-रूपता को सिद्ध करती थी। तत्पश्चात् इस मान्यता का ह्रास हो गया और इसने अति-रंजित कर्मकाण्ड तथा पुरोहितवाद का रूप धारण कर लिया।

यज्ञ के द्वारा समुदाय को जो सेवाएँ दी जाती हैं वे कृषि में श्रमदान द्वारा सहयोग, दूसरों से समुदाय की रक्षा, स्वच्छता और दीनों की सहायता आदि के रूप में होती थीं। वास्तव में समुदाय के इस प्रकार के संगठन से लोगों को पूर्ण सामाजिक सुरक्षा मिलती थी, यद्यपि वे प्राकृतिक संकटों के प्रति असुरक्षित थे।

किन्तु समय के साथ छोटे समुदाय की सामूहिक सुरक्षा की यह विधि लोगों की आव-श्यकताओं में वृद्धि के साथ अनुपयुक्त हो गयी और यज्ञ संबंधी अतिरंजित कर्मकाण्ड के रूप में उसका ह्रास हो गया, अब जीवन की परिस्थितियाँ उसके अनुकूल नही रह गयी। ब्राह्मणों के बढ़ते हुए कर्मकाण्ड के प्रति स्वाभाविक प्रतिरोध उत्पन्न हो गया। आरण्यक जो ब्राह्मणों के ही अंग हैं और वनों में रहने वाले तपस्वियों के लिए दैनिक पाठ्य-सामग्री माने जाते हैं, स्वयं यह स्वीकार करते है कि यज्ञ का अनिवार्य रूप से सही पालन करना सभी के लिए संभव नहीं है। आरण्यक यज्ञ के नियमों को नही बताते और न ब्राह्मण पद्धति पर कर्मकाण्ड की व्याख्या करते है। वे केवल यज्ञ तथा उसकी प्रतीकात्मकता तथा पुरोहित-दर्शन का ही विश्लेषण करते है। उनकी शिक्षाओं का मूलतत्व तपस्या है और वे स्वभावत: जटिल ब्राह्मण कर्मकाण्ड के स्थान पर सरल कर्मकाण्ड का प्रति-पादन करते हैं।

जब आरण्यकों ने आन्तरिक अथवा मानसिक बलि तथा उसके प्रतीक चावल, जौ, अथवा दूध की हवि पर बल दिया तो उन्होने एक महत्त्वपूर्ण सेवा प्रदान की। उन्होंने इस प्रकार कर्म मार्ग, जो अब तक केवल ब्राह्मणों का ही एकमात्र अधिकार था, तथा ज्ञान मार्ग जिस पर उपनिषदों ने बल दिया, दोनों के बीच खाई पाटने में सहायता दी। आरण्यकों ने ब्रह्म प्राप्ति के लिए प्रतीकोपासना तथा यम-नियम पर जोर दिया और ब्रह्म प्राप्ति को ही उपासक का लक्ष्य बताया, जबकि ब्राह्मणों में 'स्वर्ग' परम लक्ष्य था। इस प्रकार ये प्रतीक ब्राह्मणवाद तथा उपनिषदों के बीच एक कड़ी बन गये क्योंकि वे यज्ञ से ही लिये गये

हैं। अन्त में कर्म एवं ज्ञान दोनों के मार्गों में समन्वय स्थापित हो गया जब आरण्यकों एवं उपनिषदों में कर्म को ज्ञान का साधन एवं सहायक मान लिया गया।

न केवल उपनिषदों में किन्तु ब्राह्मणों में भी इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि इस युग की बौद्धिक उपलब्धि में राजा तथा योद्धा भी ब्राह्मणों के साथ-साथ आगे बढ़े हुए थे, यहाँ तक कि ब्राह्मण उनके पास शिक्षा के लिए जाते थे। स्त्रियाँ और ऐसे पुरुष जिनके माता-पिता के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान नही था अब उस बौद्धिक जीवन में भाग लेने लगे और कभी-कभी वे उच्चतम कोटि के ज्ञानी होते थे। संभवतः ऐसे ही लोग जो ब्राह्मण-वादी कर्ममार्ग के विरोधी थे वनस्थ तपस्वी अथवा श्रमण बन जाते थे और ब्राह्मणयज्ञों से विरत रह कर संसार का त्याग कर, ज्ञान मार्ग की साधना करते थे। बौद्ध धर्म जिसका बाद में विकास हुआ संभवतः इसी प्रकार के विरोधी आन्दोलन का एक रूप था।

यह भी स्पष्ट है कि इस प्रकार की नयी खोज में क्षत्रियों ने विशेष रूप से भाग लिया। उस समय उन्होंने अनार्यों को पराजित करके अपने पैर इस देश में दृढ़ता से जमा लिये थे और राजाओं तथा उच्च शासनाधिकारियों के रूप में समाज में एक महत्त्वपूर्ण स्थान तथा उच्च स्तर प्राप्त कर लिया था। हम सुगमता से यह भी अनुमान लगा सकते है कि किस प्रकार बुद्धिमान् क्षत्रिय अपनी तीव्र मनोवृत्ति के कारण ब्राह्मणों के प्रतिद्वन्द्वी बन गये थे और उन्होंने यज्ञ संबन्धी उन्हीं कर्मकाण्डों को जिनका ब्राह्मणों ने अपने धर्म के मुख्य तत्त्वों के रूप में विकास किया था, नये गम्भीर अर्थ देकर उन पर प्रभुता प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

उपनिषदों ने यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड का विरोध करके ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन किया और दु.ख निवृत्ति, जन्ममरण से मुक्ति अर्थात् मोक्ष व निर्वाण जैसे आध्यात्मिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यज्ञों में ऐहिक प्रयोजनों से पशुओं की बलि देने का विरोध करके संन्यास तथा अहिंसा पर बल दिया।

श्रौत यज्ञों का खण्डन किया गया और उनके स्थान पर पंच महायज्ञों का प्रतिपादन किया गया जिनके द्वारा समाज तथा प्रकृति के प्रति पापों का प्रायश्चित किया जा सके और 'इष्टापूर्त' को देव ऋण तथा मनुष्य ऋण के लिए मोचन के रूप में स्वीकार किया गया। 'इष्ट' व्यक्तिगत हित के रूप में थे और इनकी पूर्ति 'आपूर्त' से की गयी थी जो सामाजिक हित के रूप में थे। 'आपूर्त' शुद्ध सामाजिक सेवाएँ है। जन हितैषी तथा साधन सम्पन्न व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से तथा पूर्ण समुदाय सामूहिक रूप से सामूहिक हित के लिए योग देते थे। जन सेवा के लिए स्वैच्छिक सेवा संस्थाओं का निर्माण हुआ। जनो-पयोग के लिए सार्वजनिक निर्माण कार्य का आरम्भ हुआ। व्यक्तिगत तथा सामूहिक सभी प्रकार के दान संन्यासियों की शिक्षाओं के प्रभाव में किये जाते थे। कुल पुरोहित व्यक्तिगत

रूप से उन परिवारों के जिनसे वे सम्बन्धित होते थे और सामूहिक रूप से समस्त स्थानीय जनता के आध्यात्मिक गुरु तथा सलाहकार होते थे । वे उनके सभी प्रकार के इष्टापूर्त मे कुशल सलाहकार होते थे । सार्वजनिक उपयोग के सभी प्रकार के सार्वजनिक निर्माण को पवित्र कार्य कहा जाता था क्योंकि उसमें आध्यात्मिक एवं धार्मिक भावना तथा दया की प्रेरणा रहती थी ।

दान धर्म या तो 'इप्ट' होता है अथवा 'आपूर्त' । इष्ट से तात्पर्य यज्ञ, अग्नि में हविदान, प्रार्थना तथा मंत्र से है और 'आपूर्त' से तात्पर्य (वापी कूप, तडाग आदि) कुओ, तालाबों, नहरो आदि का बनवाना, वृक्षों जंगलों का लगवाना, मन्दिरों, धर्मशालाओं, स्कूलों, अस्पतालो, नहरों आदि का बनवाना इत्यादि है जो सभी जन-सेवा तथा ईश्वर पूजा के लिए अर्पित होते है। कभी तो उन्हें निष्काम कर्म और पवित्र धर्म के रूप में किया जाता था जिसका प्रेरणा स्रोत जन्म प्राप्त ऋणो को चुकाना होता था व कभी-कभी उन्हें सांसारिक सुख जैसे पुत्र लाभ, व्यापार मे धन लाभ अथवा शत्रुओं पर विजय पाने के लिए या स्वर्ग प्राप्ति के लिए भी किया जाता था। गीता मे अनेक प्रकार के यज्ञों का उनके दार्शनिक अर्थो के अनुसार वर्णन किया गया है जिनका अर्थ है आत्म-त्याग के द्वारा दूसरो के हित के लिए कोई कार्य करना ।

'अपरार्क' ने 'इष्ट' एवं 'आपूर्त' की परिभाषा के लिए महाभारत से अनेक उदाहरण दिये है । जो कुछ गृह्य अग्नि में दाह किया जाता था तथा जो कुछ तीन श्रौत अग्नियों मे दाह किया जाता था तथा वेदी के अन्दर दान दिया जाता था, उसे इष्ट कहते है । जबकि गहरे बड़े-बडे कुएँ, तालाब और मंदिर जन-हित के लिए अर्पित किये जाते है, भोजन का वितरण किया जाता है, तथा जनहित के लिए बगीचे बनवाये जाते है तो इन्हें 'आपूर्त' कहते है॰।

वापी कूप तड़ागानि देवातयतनानि च
अन्न प्रदानारामापूर्तमित्यभिधीयते ।

'अपरार्क' ने नारद का भी उद्धरण दिया है। अतिथि सत्कार तथा वैश्वदेव का अनुष्ठान करने को भी इष्ट कहते है । तालाबों, कुओं, मंदिरों को बनवाने तथा भोजन वितरण और बगीचों को लगवाने को आपूर्त कहा गया है। ग्रहण के समय दान करना तथा द्वादशी को दान करना भी आपूर्त कहलाता है। 'हिमाद्रि' ने शंख का उद्धरण दिया है कि बीमारों की सेवा सुश्रूषा करना आपूर्त है। प्रत्येक व्यक्ति को इष्ट तथा आपूर्त नियमित रूप से करना चाहिए; जब ये श्रद्धापूर्वक तथा न्यायोचित ढंग से प्राप्त किये हुए धन के द्वारा किये जाते हैं तो उनका फल कभी समाप्त नहीं होता। अपरार्क ने नन्दी पुराण से ऐसी आरोग्य शालाएँ बनवाये जाने के बारे में एक लम्बा उद्धरण दिया है जहाँ बीमारों को मुफ्त दवाइयाँ

दी जाती थी। चूँकि चारों पुरुषार्थ (जीवन-उद्देश्य) अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, स्वास्थ्य पर निर्भर होते है, इसलिए जो अच्छा स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए व्यवस्था करता है उसके बारे मे यह कहा जाता है कि इसने सब कुछ दान कर दिया। उस उदाहरण में यह भी कहा गया है कि योग्य चिकित्सक भी नियुक्त करना चाहिए। इसी प्रकार का उद्धरण हेमाद्रि ने भी नन्दी पुराण तथा स्कन्द पुराण से दिये है।

इस युग में 'इष्ट' और 'आपूर्त' के भेद से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति तथा समाज का भेद उत्पन्न हो गया और जरूरतमन्दों की सहायता ने व्यक्तिगत दान का रूप ले लिया। इस संदर्भ में दान ग्रहण करने वाला व्यक्ति सेवार्थी हुआ। दान मुख्य रूप से सामाजिक ऋण चुकाने के लिए किया जाता था जिसका अन्तिम उद्देश्य जन्ममरण के चक्र से मुक्ति पाना तथा सामाजिक सम्मान प्राप्त करना होता था और यह व्यक्ति के लिए प्रेरणास्वरूप बन गया। उस समय संन्यासी लोग व्यवसायी समाज कार्यकर्ता होते थे व गृहस्थ अथवा साधारण व्यक्ति दान देने वाला होता था।

उपनिषदों एवं सूत्रों के बाद का काल बहुमुखी साहित्य-निर्माण का काल माना गया है। विभिन्न धर्मो तथा मतों, जैसे बौद्ध तथा जैन धर्मों का उदय उस समय की एक बहुत बड़ी विशेषता है। ब्राह्मण धर्म के सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्य ग्रंथ रामायण, महाभारत तथा स्मृतियाँ हैं। इस काल में व्यक्ति तथा समुदाय की भौतिक सहायता ही केवल सेवार्थी की सेवा नही थी, आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक सहायता का भी उदय हुआ था। यह व्यक्ति को समाज में पुनःस्थापित करने में सामाजिक कर्तव्य में उसके पुनर्नियोजन की प्रक्रिया थी। इस पर्यावरण में परिवर्तन तथा मनोवैज्ञानिक सहायता—दोनों ही सम्मिलित हैं।

योग वाशिष्ठ तथा भगवद् गीता में वशिष्ट तथा कृष्ण, राम तथा अर्जुन का मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक पद्धति से उपचार करते है जब कि वे मनोवैज्ञानिक कारणों से जीवन तथा सामाजिक कर्त्तव्यों के प्रति उदासीन हो जाते हैं। बुद्ध ने कई निर्वासित व्यक्ति जैसे आम्बपली वेश्या तथा अंगुलिमाल डाकू का मनोवैज्ञानिक आध्यात्मिक उपचार करके अपने धर्मसंघ में पुनर्वासित किया है। योगवाशिष्ठ में रामचन्द्र युवावस्था में जीवन से विरत होते हैं और फिर वे वशिष्ट की सहायता से पुनः सामाजिक कर्तव्य में निरत होते हैं। कथा इस प्रकार से है कि जब रामचन्द्र यौवन काल से परिपक्वता में प्रवेश कर रहे थे तो उनके मन में एक विचार उठा कि जीवन में क्या सार है। यहाँ मनुष्य सुख रूपी मृग-तृष्णा के पीछे दौड़ते-दौड़ते सारा जीवन बिता देते है; किन्तु किसी को दुख से रहित सुख की प्राप्ति नही होती। दिन-प्रतिदिन सांसारिक समस्याओं में उलझे रहते हैं और उन्हें कभी शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। वे इस प्रकार के विचारों में इतने लीन हो गये कि उन्हें दैनिक जीवन के प्रति कोई रुचि नहीं रही, वह एक अडिग प्रतिमा के समान ध्यान मग्न

रहने लगे। उनको किसी प्रकार का उत्साह नहीं रहा। छोटी-छोटी बातों से वे चिड़-चिड़ा जाते तथा क्रोधित हो जाते क्योंकि वे, जो कुछ उन्हें करना चाहिए उसके प्रति अनिच्छुक थे। वे साधारण रूप से शान्त रहते थे और एकान्त-प्रिय थे; इससे उनके परिवार में चिंता हो गयी और उसी समय अत्यधिक महत्त्व के सामाजिक उत्तरदायित्व भी उन पर थे। राज दरबार में विश्वामित्र ने राम और लक्ष्मण से यज्ञ की रक्षा के लिए राज-गुरु वशिष्ठ की उपस्थिति में कहा। विश्वामित्र ने कहा कि वशिष्ठ को रामचन्द्र की सहायता करनी चाहिए ताकि वे दुःख निवृत्त हो सकें और अच्छा जीवन व्यतीत कर सके। विश्वामित्र तथा वशिष्ठ के कहने पर रामचन्द्र ने अपने दुःख को प्रकट किया और कहा कि मुझे संसार से कोई अपेक्षा नही है। मनुष्य को कही भी और कभी भी शान्ति प्राप्त नही होती है। मुझे इस जीवन के प्रति कोई मोह नहीं है। यदि मैं संसार को त्याग नहीं सका और मुझे परमपद तथा सत्य की प्राप्ति नही हुई तो मै अन्न-जल ग्रहण नही करूँगा और तपस्या करते हुए मर जाऊँगा। इस पर वशिष्ठ ने उन्हें तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया जिससे उन्हें आत्मबोध हुआ और वे परम पद को प्राप्त कर सके।

यह जानना बड़ा रुचिकर होगा कि वशिष्ठ ने क्या सहायता की जिससे रामचन्द्र के दृष्टिकोण में ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। यहाँ इसका वर्णन करना अत्यावश्यक नही है किन्तु यह कहा जा सकता है कि इस वृत्त में समाज-सेवा के सभी तत्त्व निहित हैं। इससे सिद्ध होता है कि बुनियादी रूप से समाज-कार्य आध्यात्मिक सहायता करता है। रामचन्द्र का संकट न आर्थिक था न भौतिक, बल्कि आध्यात्मिक था जिसमें तत्त्व-ज्ञान-उपचार की आवश्यकता थी। यह स्पष्ट है कि सेवार्थी सदैव गरीब ही नही होते। यह ज्ञातव्य है कि आध्यात्मिक उपचार का सुझाव तो विश्वामित्र ने दिया किन्तु उन्होंने स्वयं उपचार नही किया। उपचार वशिष्ठ ने किया जो रामचन्द्र के व्यक्तिगत गम्भीर स्वभाव, परिवार की स्थिति तथा रीति-रिवाज़ से पूर्ण परिचित थे और जिनका उनके परिवार के साथ अच्छा सम्बन्ध था। समस्या उस समय उत्पन्न हुई जब कि उन्हें यज्ञ की रक्षा करने का सामाजिक कर्तव्य वहन करना था तथा राक्षसों का हनन करना था। इससे स्पष्ट होता है कि इसका मूल भूत सम्बन्ध सामाजिक कर्तव्यों के प्रति सजगता से है और इसका उद्देश्य जीवन में फिर से उत्साह भरना है।

इसी प्रकार महाभारत के प्रारम्भ में अर्जुन में भी दुख व निराशा की भावना थी और उन्होंने अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों को दोनों ओर से युद्ध हेतु देख कर आत्मसमर्पण कर दिया था और अपने मन की स्थिति को भगवान् कृष्ण को बताया। भगवान् श्रीकृष्ण ने आत्मज्ञान के उपदेश द्वारा उनके मोह को दूर किया, तत्पश्चात् अर्जुन बहादुरी से लड़े और अपने शत्रुओं को पराजित किया।

बौद्ध धर्म में जिसमें जीवन के मनोवैज्ञानिक-आध्यात्मिक पहलू का विशेष प्राधान्य था, वैयक्तिक सहायता पर विशेष बल दिया गया है। अंगुलि माल के प्रारम्भिक जीवन का 'अट्ट कथा' में वर्णन किया गया है और उसकी मुक्ति का वर्णन 'मज्झिमनिकाय' के 'अंगुलिमाल सुत्त' में है । उसका अंगुलिमाल नाम उसके हिंसक डाकू होने के बाद रखा गया। वह कोशल के राजा के गार्ग्य पुरोहित का पुत्र था। उसकी माँ मैत्रयानी थी। उसका 'अहिंसक' नाम रखा गया। उसे तक्षशिला विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए भेजा गया जहाँ उसने निःशुल्क अध्ययन किया। वह अनुशासनपूर्ण, आज्ञाकारी, अच्छे स्वभाव का और मृदुभाषी था। अन्य विद्यार्थी उमसे ईर्ष्या करते थे; उन्होंने आपम में बात-चीत की कि किस प्रकार उसको नीचा दिखाया जाय। उन सब ने सोचा कि यह तीव्र बुद्धि वाला, अनुशासनपूर्ण तथा उच्च घराने का है और वे इसको मूढ़, अनुशासनहीन अथवा नीच जाति का नही कह सकते। तब उनमें से एक ने यह सलाह दी कि इसे अध्यापक की पत्नी के साथ दुराचार में फँसाकर बदनाम किया जाय और इस पर वे विद्यार्थी तीन समूहों में विभक्त हो गये। उनमें से एक समूह के छात्र अध्यापक के पास गये और उनका अभिवादन कर चुपचाप खड़े हो गये। अध्यापक ने उनसे पूछा कि वे क्या चाहते है ? उन्होंने कहा कि चारों ओर ऐसी अफवाह है कि 'अहिंसक' अध्यापक के घर के आन्तरिक वातावरण को दूषित कर रहा है। इस पर अध्यापक ने नाराज होकर तीव्र स्वर में उनसे कहा कि वे उनके तथा उनके शिष्य के बीच झगड़ा उत्पन्न करने का प्रयत्न न करें। तब दूसरे और तीसरे समूह के लोग एक-एक करके आये और वही बात अध्यापक से कही और कहा कि यदि वह इनकी बात पर विश्वास नही करते तो इसकी जाँच कर लें। अध्यापक ने देखा कि वे बड़ी आत्मीयता से यह बात कह रहे हैं। उन्होंने सोचा कि ऐसा लगता है कि उनकी पत्नी व अहिंसक में कोई सम्बन्ध है। क्या मुझे अहिंसक को मार देना चाहिए ? किन्तु यदि मै ऐसा करता हूँ तो लोग कहेंगे कि ऐसा प्रसिद्ध गुरु अपने शिष्यों को झूठे दोषों पर मार डालता है व फिर कोई विद्यार्थी मेरे पास विद्या अध्ययन के लिए नही आयेगा और इस प्रकार मेरा व्यवसाय समाप्त हो जायेगा। इससे अच्छा होगा कि मैं अध्ययन समाप्ति पर उससे गुरु दक्षिणा मागूँ और इस निमित्त अहिंसक को एक हजार व्यक्तियों को मारने के लिए कहूँ। उन्होंने इसी प्रकार किया किन्तु अहिंसक ने कहा कि "गुरु जी, मै एक वैष्णव परिवार में उत्पन्न हूँ, मै ऐसा नहीं कर सकता"। अध्यापक ने कहा "जब तक तुम गुरु-दक्षिणा नही दोगे तुम्हारी शिक्षा का कोई फल नही होगा"। तब अहिसक ने तेज हथियार लिया, गुरु को प्रणाम किया और जंगलों में चला गया। उसने जंगल के द्वार पर, बीच में तथा बाहर लोगों की प्रतीक्षा की व उनके वस्त्र अनावरण बिना उनका वध किया; वह केवल उनकी गणना कर लेता था। काफी समय बाद जब उसको संख्या

याद करना कठिन हो गया तो वह प्रत्येक की एक-एक अंगुली काट कर एक स्थान पर रखने लगा। बाद में जब इस स्थान पर रखी हुई कुछ अंगुलियाँ खो गयीं, तब उसने अगलियों में ही छेद करके उनकी माला बना कर पहन ली। इस प्रकार उसका नाम अंगुलिमाल हुआ। अब लोग उस जंगल में जाने से डरने लगे, कोई वहाँ जाने का साहस नहीं करता था। वह गाँव में भी जाने लगा व घरों के दरवाजों को लात मारकर खुल वाता और सोते हुए लोगों को और एक दो गिनता हुआ जान से मार कर वापस चला आता। यह निर्दयी डाकू अंगुलिमाल सबके लिए निर्दयी था और हत्या करना उसका धर्म-सा हो गया था। उसने एक के बाद एक गाँव और जिले नष्ट कर दिये और प्रसेनजीत राजा के राज्य श्रावस्ती में भी ऊधम मचाता रहा। भगवान् बुद्ध जब श्रावस्ती मे ठहरे हुए थे तो उन्होंने इस भयानक हत्यारे के सम्बन्ध मे सुना और एक दिन उसी स्थान की ओर चल दिये जहाँ अंगुलिमाल रहता था। किसान, चरवाहे और रास्ता चलने वाले जिन्होंने भी उनको उस रास्ते से जाते हुए देखा उन्हें उस दिशा में न जाने की चेतावनी दी और उनसे कहा कि अगुलिमाल लोगों को मार कर उनकी अंगुलियों की माला पहनता है। लोग जो अनेक व्यक्तियों के झुड में जाते हैं वे भी उसके शिकार बन जाते हैं; किन्तु बुद्ध शान्त रहे और आगे की ओर चलते रहे। जब अंगुलिमाल ने दूर से आते हुए उन्हें देखा तो उसको यह आश्चर्य होने लगा कि किस प्रकार यह अकेला संन्यासी इसी ओर आने का साहस कर रहा है। मानो वह उसका अपमान कर रहा हो, उसको तुरन्त मारने का निर्णय करके उसने अपनी ढाल-तलवार उठायी और अपने तीर-कमान से निशाना लगा भगवान् बुद्ध का पीछा करने लगा। किन्तु भगवान् बुद्ध ने इतना योगबल दिखाया कि अपनी तीव्र गति के होते हुए भी अंगुलिमाल उनको नही पकड़ सका, जबकि वे साधारण गति से चल रहे थे। दौड़ते हुए हाथियों, घोड़ों तथा हिरणों को पकड़ सकने वाले अंगुलिमाल को इस जादू से बड़ा धक्का लगा। वह रुका और भगवान् बुद्ध से ठहरने के लिए कहने लगा। भगवान् ने कहा मैं तो खड़ा हूँ, तुम खड़े हो जाओ। अंगुलिमाल को आश्चर्य हुआ कि साक्य वंश का यह संन्यासी, जो अपने सत्य के लिए प्रसिद्ध है, क्यों ऐसा झूठा भाषण कर रहा है। उसने भगवान् से कहा कि "तुम कहते हो कि तुम खड़े हो जब कि तुम चल रहे हो और मैं चल रहा हूँ जब कि मैं खड़ा हूँ; तुम ऐसा क्यों कहते हो?" भगवान् ने उत्तर दिया—"मैंने हिंसा को त्याग दिया है और मुझे किसी से वैर नही है इसलिए मैं स्थिर हूँ। इसके विपरीत तुम लोगों के प्रति असंयमी हो इसलिए तुम अस्थिर हो।" "इस धर्म-उपदेश को सुन-कर अंगुलिमाल ने अपने पापमय जीवन को त्याग देने का निश्चय किया व अपनी तलवार तथा अन्य अस्त्रों को खाई में फेंक दिया; बुद्ध के चरण छूये और शरण में लेने के लिए प्रार्थना की। महान् विश्व गुरु दयालु बुद्ध ने भिक्षु के रूप में उसे स्वीकार किया और यह

अंगुलिमाल में एक महान् परिवर्तन था और अब वह भ्रमण करने वाला सन्यासी था। बाद के जीवन में अंगुलिमाल प्रायश्चित करके महान् बना और अर्हत्स कहलाया।

इस वृत्तान्त में यह बात ध्यान देने योग्य है कि महात्मा बुद्ध का अंगुलिमाल के प्रति व्यवहार ठीक उसके विपरीत था जिसकी कि अंगुलिमाल ने उनसे अपेक्षा की थी और यह उसके विद्यार्थी जीवन के अनुभव से विपरीप था जब वह स्वयं अन्य विद्यार्थियों तथा गुरु के जिनमें उसने विश्वास किया था, के अविश्वास तथा अन्यायपूर्ण व्यवहार का शिकार हुआ था व उस कटु अनुभव ने उसके जीवन पर एक गहरा प्रभाव डाला था जिससे उसके हृदय में सभी लोगों के प्रति अविश्वास तथा विरोध की भावना जागृत हो गयी थी और पापकर्म उसके जीवन का एक पथ बन गया था। अब आधुनिक सिद्धान्तों के अनुसार इस प्रकार के मानसिक दोष का एक ऐसे सुधारवादी अनुभव अथवा व्यवहार के द्वारा ही उपचार किया जा सकता है जो रक्षात्मक व्यवहार को पूर्णतः असंगत तथा अनुपयुक्त बना देता है। अंगुलिमाल के संदर्भ में बुद्ध का व्यवहार चाहे उसे किसी प्रकार के धार्मिक शब्दों में व्यक्त किया जाय, इस कोटि में आता है और ठीक ऐसा ही है। इस अपराध सम्बन्धी मानसिक परिवर्तन के वृत्तान्त में यह बात उल्लेखनीय है कि बुद्ध ने अपना एक ऐसा रूप प्रदर्शित किया जिसपर अंगुलिमाल विजयी नहीं हो सकता था। वह तेजी से दौड़ा और बुद्ध स्वाभाविक गति से चले। इसने अंगुलिमाल को यह प्रदर्शित किया कि उसका स्वाभाविक व्यवहार पहले से ही दूसरों के विरोध के प्रति सावधानी का है और बुद्ध के संदर्भ में यह व्यवहार बिल्कुल अर्थ हीन तथा अनुचित है। प्रायः वह लोगों से आक्रमण के रूप में अथवा भय के रूप में विरोध की अपेक्षा करता था। बुद्ध ने अंगुलिमाल के प्रति अपने व्यवहार में इस प्रकार का कोई चिह्न नही दिखाया और इस प्रकार अंगुलिमाल निहत्थे व्यक्ति के निर्भय व्यवहार से आश्चर्य चकित हो गया। उसका स्वाभाविक व्यवहार इस प्रकार के व्यक्ति के लिए पूर्णतः असंगत था और यही उसमें आन्तरिक परिवर्तन लाने के लिए मुख्य प्रेरणा थी। उसकी प्यार और दया की गहरी प्रवंचित आंतरिक भावना उस समय अचानक जाग पड़ी जब कि इस मनोवैज्ञानिक क्षण ने इसको विरोध प्रदर्शन का अवसर दिया। संघ में सम्मिलन से प्राप्त इस सम्बन्ध-स्थापन ने आगे के उपचार के लिए आवश्यक आधार प्रस्तुत किये।

इस वैयक्तिक सहायता के साथ ही सामुदायिक-सामूहिक सहायता की परम्परा भी भिक्षुओं या समनों के मठों में चलती रही। समाज में एक वर्ग के रूप में भिक्षुओं का वही आदर, सत्कार और सम्मान था जो ब्राह्मणों का था, किन्तु ब्राह्मण एक जाति का प्रतिनिधित्व करते थे और उनका स्थान विशिष्ट होता था, इसके विपरीत एक जाति हीन समुदाय में कोई भी व्यक्ति अपने गुणों के आधार पर भिक्षु के स्तर तक उठ सकता था।

संघ तथा गण शब्द ऋग्वेद व अथर्ववेद में सामूहिकता बोधक थे। गण शब्द जैन ग्रन्थों में गणधार जैसे नामों में प्रचलित था और संघ का नाम बौद्ध भिक्षुओं ने अपनाया जो अपने आप को सामूहिक रूप से भिक्खु संघ कहते थे। पौराणिक कथाओं में दो प्रकार की संन्यासी-बस्तियों का वर्णन है---आवास तथा आराम; क्रमशः एक तो भिक्षुओं की वह बस्ती जो गाँव के बाहर होती थी जिसे भिक्षु स्वयं बनाते और उसकी मरम्मत करते थे और दूसरी वह जिसे कोई धनी व्यक्ति भिक्षुओं को दान में देता था और जिसकी देखभाल दान करने वाला स्वयं करता था।

आराम शब्द से तात्पर्य एक मनोरंजक स्थान से था जो किसी नगर या नगर के बाहर एक धनी व्यक्ति की फल-फूल के बगीचे वाली संपत्ति होती थी। जब इसे स्वामी के द्वारा किसी भिक्षु को स्थायी रूप से दिया जाता था तो इसका नाम संघाराम हो जाता था। प्रारम्भिक अर्थ मे इस शब्द का भाव था एक ऐसा आराम जो कि संघ के स्वामित्व में था किन्तु बाद में इसका अर्थ एक उपवन सा हो गया तथा और आगे चलकर इस शब्द का अर्थ कई भिक्षुओं की सम्पत्ति के रूप में मठ हो गया। आराम का दानदाता उसमें अपनी रुचि तब भी समाप्त नही करता था जबकि वह व्यक्तिगत सम्पत्ति न होकर संघ की सम्पत्ति हो जाती। सम्भवतः वह अपनी स्वेच्छा से सदैव उस सम्पत्ति की देख-भाल करता रहता व भिक्षुओं की आवश्यकता के अनुसार नये भवन का निर्माण करता और पूरे मठ का समुचित रख-रखाव करता।

प्राचीन भारत के इतिहास में बाद की सभी शताब्दियों में देश के विभिन्न भागों में विभिन्न राजवंशों के राजा हुए। यथा—सत्वाहन, इक्ष्वाकु, गुप्त, मैत्रक, राष्ट्रकुत इत्यादि। ये या तो विभिन्न ब्राह्मण धर्मों में विश्वास करते थे या बुद्ध संघों तथा मठों को दान आदि कर्म करते थे। अनेकों ने अन्य धर्मों के अनुयायियों तथा संस्थाओं आदि को भी दान दिया। यह केवल धार्मिक सहनशीलता की भावना से प्रेरित होकर ही नहीं किया जाता था वरन् सम्पूर्ण समाज की रचना में उनके महत्त्वपूर्ण योगदान के कारण राज का उनके प्रति यथोचित कर्त्तव्य जान कर किया जाता था। इस प्रकार के दान में व्यक्ति भेद से मात्रा भेद होता रहा है। ब्राह्मण विश्वासों से अभिभूत राजाओं द्वारा गैर ब्राह्मण-संस्थाओं को दान देना निःसंदेह विशेष महत्त्व का था। प्राचीन संस्कृति से प्रभावित भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार हर जरूरतमन्द की सहायता का कार्य प्रशंसनीय धार्मिक कृत्य रहा है। इसका प्रमाण हमें पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत की गुफाओं में खुदे हुए उन शिला-लेखों तथा उत्तरी भारत के विहार व स्तूपों के खण्डहरों में मिलता है जिनमें अनेक ऐसे दान-दाताओं के नाम उत्कीर्ण हैं जो बुद्ध धर्म के अनुयायी नहीं थे।

बुद्ध के 'अपरिहनिय धम्म' के महान् उपदेशों में भिक्षुओं को वज्जि के परम्परागत

जीवन क्रम का अनुकरण करने की सलाह दी गयी है। उनके अनुसार वह जीवन क्रम या रीति-रिवाज इनके लिए भी विपद काल में सुरक्षाकारी है। वज्जि, जिनका अनुकरण करने का आदेश दिया गया वे उत्तरी भारत के जनजातीय समूह के थे। वज्जि, अन्य गण व संघ व्यक्तिगत शासन से अनभिज्ञ थे; वे साथ-साथ मिलकर विचार-विमर्श तथा कार्य करते थे; वे अपनी सम्पत्ति के मामले मे साम्यवादी थे; वे अपने कार्य संचालन में गणतंत्रीय थे और सरकारी यंत्र के रूप में उनकी जनजातीय परिषदें भी थी।

आराम में सभी सम्पत्ति सामूहिक थी तथा समस्त संघ के सामूहिक उपयोग के लिए होती थी। किसी प्रकार की कोई सम्पत्ति वैयक्तिक नही थी। संघ को दी जाने वाली कोई भी सम्पत्ति किसी भी व्यक्ति द्वारा व्यक्तिगत रूप से अधिकृत नही की जा सकती थी। कोई व्यक्ति उसके उपभोग के अधिकार की माँग तो कर सकता था किन्तु इस पर आधिपत्य की माँग नहीं कर सकता था। यदि कोई व्यक्ति किसी भिक्षु विशेष को भेंट स्वरूप कोई वस्तु, यहाँ तक कि भोजन भी, देना चाहता तो उसे उस वस्तु को यह कह कर संघ को देना पड़ता था कि यह विशेष रूप से अमुक व्यक्ति के हेतु है किन्तु संघ को ही दी जा रही है। गृहस्थों के लिए व्यक्तिगत दान मुख्य कर्त्तव्य था। दान शब्द का अर्थ है देना जिसके अन्य पर्यायवाची शब्द है उदारता, दयालुता—इत्यादि। दान तीन प्रकार के होते हैं—(१) सम्पत्ति, दान (२) धर्मविद्या दान व (३) मैत्री या सुरक्षा दान।

बोधिसत्व से दान प्राप्तकर्त्ताओं का उल्लेख बार-बार आता है। यों तो सामान्यतः सभी माँगने वालों यथा-अर्थी, याचक—की सहायता की जानी चाहिए किन्तु कतिपय वर्ग विशेष का इस हेतु निर्देश किया गया है। उनको तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—प्रथम, एक बोधिसत्व को अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों यथा–बन्धुसु, मित्र स्वजनेम्या, कल्यान मित्रम्यता पित्राभ्या—को दान देना चाहिए; दूसरे जरूरतमन्द, जैसे असहाय, बीमार, संकटग्रस्त दरिद्र (दरिद्रसत्व–परिग्रह दीन आतुर मोदक, कृपणवाणि पकमाचे केभ्या) तथा तीसरे बौद्ध भिक्षुओं तथा हिन्दू पुजारियों (श्रमन–ब्राह्मनेभ्या) को दान देना चाहिए। प्रायः इन दोनों वर्गों को, निर्धन तथा जरूरतमन्द होने पर ही दान के योग्य समझा जाता रहा है। बौद्ध धर्म ग्रन्थों में श्रमन-ब्राह्मण-कृपन—वनिपकेभ्या मुहाविरे का अनेक बार वर्णन आता है। निर्धनों के अधिकार को यद्यपि भुलाया नहीं जाता किन्तु वैराग्य का प्रभाव धीरे-धीरे बौद्ध नीति-शास्त्र पर पड़ने से निर्धनों को कभी-कभी भुला भी दिया गया। किन्तु हम पाते हैं कि इनके कुछ अंश ऐसे भी हैं जिनमें केवल निर्धनों का ही वर्णन है। समाज के निर्धन वर्गों की कठिनाइयों तथा कष्टों का वर्णन क्षेमेन्द्र तथा अन्य लेखकों ने बड़ी सहानुभूति तथा विवेकपूर्ण ढंग से किया है। हम भारत के निर्धनों का कातर विलाप अग्रलिखित वाक्यों में पाते हैं :—"उसका हृदय दया से तब

पिघल गया जब उसने असहाय तथा संकट के मारे हुए किसानों को देखा; उनके बाल पीले लगते थे क्योंकि वे धूल से ढँके थे; उनके हाथ तथा पैर फटे हुए थे, वे भूख–प्यास तथा थकान से पीड़ित थे; वे हल तथा फावड़े के घाव से तथा खरोंचों से पीड़ित थे।"

शान्तिदेव का उपदेश है कि भिक्षु को अपनी स्वल्प भिक्षा में से भी निर्धनों को बाँटना चाहिए, किन्तु यह स्वीकार करना पड़ता है कि बौद्ध लेखक कभी-कभी निर्धनों को भुला देते है और वे भिक्षुओं तथा पुरोहितों को ही दान देने के बारे में वर्णन करते है। ऐसे ग्रन्थो में भिक्षु वैराग्य का नग्न व लज्जाहीन रूप स्पष्ट हो जाता है। अशोक के भिक्षुओं को दान की कथा में निर्धनों का कही कोई वर्णन नही है। भिक्षु आवाक के आर्थिक हितो के कारण कई ऐसे विस्मयकारी सिद्धान्तो का निर्माण हुआ जिसमें दान कृत्य का गुण दान प्राप्त-कर्त्ता के आध्यात्मिक पद के आधार पर निश्चित होता था न कि दान प्राप्त करने वाले की आवश्यकता की गम्भीरता के आधार पर या दानदाता की सेवा की प्रकृति के आधार पर। एक साधारण व्यक्ति को दान देने की अपेक्षा एक बौद्ध भिक्षु को दान देना अधिक अच्छा समझा जाता था। एक बौद्ध दान प्राप्त करने का सबसे योग्य अधिकारी रहा है। यह शिक्षा उन भिक्षुओं के जो अपनी जीविका के लिए भिक्षा पर निर्भर थे, उपचेतन मनो-विज्ञान पर विशेष प्रकाश डालती है।

बहुत सी कथाओं के नायक राजा तथा राज कुमार हैं जो पेय वस्तु, दवाइयाँ, गद्दे, बगीचे, घर, ग्राम, नगर, सुगन्धि, मालाएँ, मलहम, सोना, चाँदी, हाथी, घोड़ा, रथ, हार, गहने, संगीत वादन यंत्र, नौकर-नौकरानियाँ, इत्यादि के दानदाता के रूप मे वर्णित हैं।

एक बोधिसत्व को जो यह जानता है कि क्या दिया जाय और कैसे दिया जाय, यह भी जानना चाहिए कि उसे क्यों देना चाहिए। बौद्ध लेखकों ने लगभग उन सभी दीन और श्रेष्ठ प्रेरणाओं का वर्णन किया है जो स्वदाता को प्रेरित करती हैं। दान देने से दानशील व्यक्ति को कीर्ति प्राप्त होती है। प्रसिद्धि की इच्छा एक प्रेरणा मानी जाती है और इसका तीव्र प्रतिवाद नही होना चाहिए। दान से पुण्य मिलता है और पृथ्वी पर अथवा देवों के स्वर्ग लोक में पुनर्जन्म मिलता है। स्वार्थी व्यक्तियों को भी दान करना चाहिए क्योकि इससे आन्तरिक सुख व शान्ति मिलती है। इससे असमय मृत्यु से तथा अन्य कष्टों से भी रक्षा होती है। यह दान कई युगों तक शक्ति, कल्याण तथा समृद्धि का स्रोत बना रहता है। दान भावी जीवन में अवश्य ही फलदायी होता है; जो भोजन, धन, दीप दान देते है उन्हें क्रमशः शक्ति, सौन्दर्य व मनभावन आँखें फल के रूप में मिलती हैं। गौतम बुद्ध को स्वयं अपने पिछले जन्म में दान कार्यो के कारण ही अच्छा स्वास्थ्य प्राप्त हुआ और एक बोधिसत्व को इसी प्रकार से महान् शारीरिक शक्ति प्राप्त होती है। एक महादानी (दानपति)

की कवियों ने चन्दन वृक्ष, मेघ, औषधि-तरु, कल्प वृक्ष, चिन्तामणि तथा अन्य उपमाओं से प्रशंसा की है तथा उसका सम्मान वर्धन किया है।

इस प्रकार इन बौद्ध लेखकों ने दान के लिए साधारण सांसारिक प्रेरणाओं को समुचित रूप से सम्मुख रखा है किन्तु महायान की उच्च शिक्षा यह है कि एक बोधिसत्व को बिना किसी स्वार्थ के दान देना चाहिए। उसकी दान शीलता पूर्ण रूपेण निःस्वार्थ होनी चाहिए; उसे दान के फल की इच्छा का विचार भी नही करना चाहिए और उसमें किसी पुनःपूर्त्ति की अपेक्षा अथवा इच्छा नहीं होनी चाहिए। अपने दान के फलस्वरूप उसे एक राजा अथवा देव के रूप में जन्म लेने की इच्छा नही करनी चाहिए। उसे प्रसिद्धि तथा सम्मान प्राप्त करने के लिए दान नही देना चाहिए। उसे राजाओं, मंत्रियों, पुरोहितों तथा नागरिकों से दानपति के रूप में सम्मान पाने की इच्छा नही करनी चाहिए। वह यह जानता है कि इस प्रकार के सभी लाभ तथा सुख अस्थायी तथा अर्थहीन हैं और इस प्रकार का ज्ञान उसे दान फल की इच्छा के बिना कार्य करने मे सहायता करता है। वह निःस्वार्थ भाव से दान देता है और दूसरों को भी यही शिक्षा देता है। यदि बोधिसत्व का दानकार्य में कोई स्वार्थ नही है तो उसे प्रेम, दया, अनुकम्पा व करुणा से ही प्रेरणा मिलती है। करुणा नामक यह महान् गुण जो कि एक सच्चे बौद्ध व विकासमान बोधिसत्व का धर्म था, उस समय मुख्यतः दान द्वारा प्रदर्शित, व्यवहृत व विकसित था। यद्यपि यह बोधिसत्व के समस्त जीवन का पथप्रदर्शक था किन्तु यह दान परमित से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित था। बौद्ध लेखकों ने केवल करुणा की प्रशंसा ही नही बल्कि उसकी दार्शनिक दृष्टि से विवेचना भी की है। उनके अनुसार करुणा को हम दो दृष्टियों से समझ सकते है। यह अपने व दूसरों में समानता को समझने (पर-आत्मा-समता) तथा अनेकात्मा को एकात्मा के रूप में प्रतिस्थापित करने में निहित है (पर-आत्मा-परिवर्तन)। इससे कार्य करने में भी सहायता मिलती है। जब एक बोधिसत्व दूसरों को अपने समान समझने की अपने में आदत डालता है तो वह स्व तथा पर और अपने और दूसरे की भावना से मुक्त हो जाता है। वह दूसरों के सुख और दुख को अपने सुख व दुख के समान समझता है और वह दूसरों के सुख के लिए अपने सुख की प्राप्ति की इच्छा नही करता। वह दूसरों को ऐसे प्यार और रक्षा करता है जैसे वह स्वयं को प्यार कर रहा हो या अपनी रक्षा कर रहे हो और वह अपने सुख को दूसरों के दुख से बदलने के लिए भी तत्पर रहता है। वह दूसरों के लिए अपना अर्पण कर देता है। वह बुराई के बदले भलाई करता है और जिन्होंने उसे हानि पहुँचायी है उनकी भी वह सहायता करता है। वह अपने को निर्धनों तथा निम्नकोटि से तादात्म्यीकृत करता है और अपने को अन्य व्यक्ति के रूप में देखता हैं। वह महायान के दो स्वर्णिम सिद्धान्तों का पालन करता है :–(१) दूसरों के साथ ऐसा ही व्यवहार करो जैसा अपने साथ करोगे, (२) दूसरों के प्रति ऐसा ही व्यवहार करो जैसा वे तुमसे अपेक्षा करते हैं।

यह पहले ही देखा जा चुका है कि भारतीय इतिहास में प्राचीन काल से वर्तमान काल तक प्रारम्भिक सामुदायिक समाज के तत्त्व निहित है। वे तत्त्व वर्त्तमान परिवार तथा ग्राम समाज नामक संस्थाओं में पाये जा सकते है। हम भारतीय गाँव में आज भी ऐसे बड़े संयुक्त परिवार देख सकते है जिनमें लोग प्राचीन सामूहिक, श्रम, उपभोग तथा उत्पादन के ढंग को कायम रखे हैं।

भारतीय गाँवों मे प्रचलित जजमानी प्रथा प्राचीन यज्ञों का एक और अवशेष है। जजमानी शब्द 'यजमान' से लिया गया है। जिसका तात्पर्य त्यागी से है। हिन्दू समाज में सेवा के आधार पर एक दूसरे से सम्बन्धित होने की एक प्रथा को हिन्दू यजमानी प्रथा कहा जाता है। एक ग्राम समुदाय में सुरक्षा की भावना उत्पन्न करने में सबसे महत्त्वपूर्ण योग इस मान्यता का है कि सभी सदस्यों जिनमें पराश्रयी, अपराधी तथा अपग सम्मिलित हैं, को जीविका प्रदान करने का सामूहिक उत्तरदायित्व होता है।

इस हिन्दू यजमानी प्रथा की विशेषता यह है कि इसमें सर्वसम्मिलन है। कोई ऐसी आवश्यकता नही जिसके लिए इस प्रथा में व्यवस्था न की गयी हो यथा--भूमि, भोजन, बीज, वस्त्र, कानूनी सहायता, धार्मिक सलाह और अन्य अनेक प्रकार की सहायताएँ इसमें सम्मिलित है। भारत में समाज सुधारकों ने व्यक्तिवाद के आधार पर आदर्श ग्राम बनाने के भी प्रयत्न किये हैं। उनमें से अधिकतर असफल रहे हैं क्योंकि इस प्रकार की सुरक्षादायी प्रथा का निर्माण एक या दो दिन में नहीं किया जा सकता। अनेक ऐसी सहकारी समितियों ने जजमान का स्थान लेने का प्रयत्न किया है जो लोगों को कठोर नियमों के आधार पर ऋण देती है। जब इन सहकारी समितियों के प्रबन्धक कुशल होते हैं और जजमान के द्वारा दिये जाने वाले ऋण के समान ही नरमी से लोगों को ऋण देते हैं तो ये सफल हो जाती हैं अन्यथा वे असफल रहती हैं। जो लोग इस जजमानी प्रथा को समाप्त करना चाहते हैं उन्हें स्वयं जजमानी सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तैयार रहना चाहिए और उनके सभी उत्तरदायित्वों को स्वीकार करना चाहिए।

एक अन्य संस्था जो आज तक चली आती है वह 'सत्र' है। उत्तर वैदिक काल के वर्णन में पहिले हम देख चुके हैं कि सत्र त्याग के एक विशेष समय जो एक वर्ष या अधिक का होता है के रूप में है। आज ये और भी नमित हो गये हैं और इन्होंने एक संस्था का रूप ले लिया है जो शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करते हैं। भारतवर्ष में समाज सेवा का संबंध विशेष रूप से शिक्षा, चिकित्सा, अपंगों की समस्या, तीर्थयात्रियों तथा मनोरंजन के कार्यों से सम्बन्धित रही है। सबसे अधिक महत्त्व प्राचीन प्रकार की धार्मिक शिक्षा का है। संस्कृत-शिक्षा का इस प्रकार से संगठन होता रहा है कि कोई विद्यार्थी बिना स्वयं या परिवार द्वारा शुल्क तथा रहन-सहन के खर्च के भार को

वहन किये प्राप्त कर सकता है। सत्र जो प्रायः क्षेत्र के भ्रष्ट रूप मे उच्चारित होता रहा है एक संस्था है जो इस उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु निर्मित है। प्रत्येक सत्र की आर्थिक व्यवस्था किसी धनी व्यापारी, दानी, राजा अथवा किसी मठ से नियंत्रित होती है। मंदिरों में दान का संगठन हिन्दू संस्कृति की एक विशेषता है। सेवा के संदर्भ मे आय तथा आकार के कारण सत्रों में अन्तर होता है। वे संस्कृत अध्ययन करने वाले उन छात्रों निःशुल्क आवास व शिक्षा देने वाली पाठशाला में रहते और अध्ययन करते हैं जो भोजन मुहय्या करते हैं। विद्यार्थी प्रायः ब्राह्मण अथवा संन्यासी होते हैं। यद्यपि हाल में ऐसा देखा गया है कि अन्य जातियों के उन छात्रों को भी जो संस्कृत अध्ययन करना चाहते हैं इस हेतु स्वीकार किया जाने लगा है। उचित कानूनों तथा उपर्युक्त जनमत उत्पन्न करके इस प्रवृत्ति को और अधिक प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है। इससे सम्बन्धित एक दूसरी संस्था मठ है जो मुख्य रूप से विभिन्न मतों के ऐसे विभिन्न संन्यासियों के रहने तथा भोजन आदि के लिए है जो वहाँ अध्ययन करते है तथा धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करते है।

हिन्दू तीर्थ स्थानों पर ऐसी संस्थाएँ हैं जो यात्रियों की सहायता करती हैं। धर्मशालाओं के अतिरिक्त जहाँ यात्रियों के रहने व कभी-कभी भोजन की व्यवस्था होती है, उन सभी सत्रों के अतिरिक्त जो विद्यार्थियों तथा यात्रियों को भोजन देते है; कुछ मठों के अतिरिक्त जो यात्रियों तथा रहने वाले संन्यासियों को भोजन तथा निवासस्थान दोनों ही हेतु है; ये संस्थाएँ विशेष अवसरों पर भारी संख्या में आने वाले तीर्थ यात्रियों की इस प्रकार की ही सहायता करती हैं।

कुछ ऐसी भी संस्थाएँ हैं जो युवकों को शारीरिक, बौद्धिक तथा कलागत प्रशिक्षण देती हैं तथा मनोरंजन की व्यवस्था करती हैं, किन्तु ऐसी संस्थाओं की महती आवश्यकता की दृष्टि से इनकी संख्या बहुत कम है। ऐसी संस्थाओं को संतुलित और सहकारी स्वतंत्र व्यक्ति तथा समूह निर्माण, जो कि स्वस्थ व समाजवादी समाज के लिये अत्यावश्यक है, दक्ष साधन के रूप में अभियोजित किया जा सकता है।

यहाँ कुछ ऐसी भी संस्थायें है जो व्यापक समाज के अन्तर्गत छोटे जातिगत या क्षेत्रगत आधार पर बने समूह के जरूरतमंद विद्यार्थियों, विधवाओं, अनाथों इत्यादि को आर्थिक सहायता देती है। ऐसी क्षेत्रीय संस्थाएँ विभिन्न स्थानों से आने वाले लोगों में पारस्परिकता की भावना उत्पन्न करने में सहायता देती है किन्तु इनके वर्गीय आधार को दूर करने के लिये उनके स्थान पर ऐसी संस्थाएँ संगठित होनी चाहिए जो पड़ोस, स्थानीयता तथा भाषा के आधार पर कार्यरत हों न कि जाति तथा क्षेत्र के आधार पर।

इस्लाम में मुसलमानों के पाँच मुख्य कर्त्तव्यों में भिक्षादान भी एक कर्तव्य है जिसे 'जकात' कहते है जिसका अर्थ है पवित्रता। प्रतिवर्ष धन, पशु, अनाज, फल तथा वस्त्र

इन पाँच चीजों का——जो देने वालों के पास एक वर्ष तक अवश्य रही हों——दान देना एक ईश्वरीय आदेश है। यह कर्त्तव्य उस व्यक्ति पर लागू नही होता जिस पर पूरी सम्पत्ति के समान अथवा उससे अधिक ऋण है और न वह ऐसी वस्तुओं पर लागू होता है जो जीवन के लिए आवश्यक है जैसे रहने का घर, पहनने के कपड़े, मेज, कुर्सी, दिन प्रतिदिन उपयोग में आने वाले पशुओं, नौकरों, हथियारों, विज्ञान तथा धर्म पुस्तकों अथवा कारीगरों द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले औजार आदि।

इस्लाम के प्रारम्भिक काल से ही भिक्षा देने की प्रथा रही है किन्तु वार्षिक राजकर देने की प्रथा तब बनी जब राज्य का संगठन हुआ। जिन उद्देश्यों के लिए यह कर थे उनका कुरान में विशेष रूप से वर्णन है। इसका उपयोग निर्धनों, जरूरत मन्दों तथा इसको एकत्र करने मे परिश्रम करने वालों, जिनके दिलों ने ईस्लाम को पा लिया हो, युद्ध-बन्दियों धर्म के रास्तों पर चलने वालों, युद्ध करने वालों तथा ऋणी व्यक्तियों के कल्याण के लिए किया जाता है।

इस्लाम के कानून के अनुसार दान निम्नलिखित श्रेणी के लोगों को दिया जा सकता है। हज़ करने वाले ऐसे व्यक्तियों को जो यात्रा का व्यय वहन नही कर सकते; फकीरो, भिखारियों, व ऐसे कर्जदारों की जो अपना ऋण चुकाने में अक्षम है; ईश्वर हेतु अपना जीवन अर्पण करने वालों को; दासियों को, जिनके पास भोजन न हो व इस्लाम ग्रहण करने वाले नये धर्मावलम्बियों को। इन श्रेणियो के केवल वे ही व्यक्ति दान प्राप्त करने के अधिकारी होते है जो बहुत निर्धन होते हैं। तब तक दान लोगों को नही दिया जाता जब तक वे सहायता की विशेष रूपसे इच्छा न करें और यह धनिकों, निकट सम्बन्धियों अथवा दासों को भी नही दिया जाता है। यद्यपि पैगम्बर के वंशज 'सैयद' के लिए भीख माँगना एक अपमानजनक कार्य है किन्तु गुजरात में सैयदों का एक ऐसा वर्ग है जो भीख माँगने का कार्य करता है। जकात भुगतान में फिरव उस समय सम्भव नहीं रहा जब सम्प्रदाय एक ऐसे व्यक्ति शासक के नियंत्रण से बाहर हो गया जो जकात को वसूल करने के लिए तथा उसके उचित उपयोग के लिए उत्तरदायी होता था। जकात के रूप मे एकत्रित किया जाने वाला धन मुश्किल से ही कभी उन पवित्र उद्देश्यों के लिए उपयोग किया गया जिनका कुरान में वर्णन किया गया है जैसे निर्धन, यात्रियों तथा राह चलने-वालों की सहायता करना। खलीफा तथा सुल्तान कानूनी तथा गैर कानूनी ढंग से अन्य अनेक प्रकार के कर अथवा दण्ड धनी लोगों से एकत्र करने लगे व इसके बदले धनी उस सम्पत्ति को गरीब किसानों से चूस कर इकट्ठा करने लगे। इस प्रकार से एकत्रित किया गया धन अच्छे उद्देश्यों के लिए उपयोग में नहीं आता था। फिर भी कुरान की भावना अपने में पवित्र हैं और धार्मिक मुसलमान दान देना पारलौकिक जीवन के लिए अपना कर्त्तव्य मानते हैं।

यह कहना कठिन है कि एतत् सम्बन्धी व्यवहार किस सीमा तक सिद्धान्तों के अनुरूप हैं। खलीफाओं के काल में भिक्षा देना अनिवार्य था और उस एकत्रित धन को उस क्षेत्र के जहाँ से वह इकट्ठा किया गया हो, दुखी लोगों की सहायता के उपयोग में सर्वप्रथम लाया जाता था। प्रवृत्ति में आज कल दान देना व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर करता है।

अपने धर्म के सिद्धान्तों के आधार पर दिल्ली के सुल्तानों ने बहुत सा धन गरीबों और जरूरतमन्दों पर व्यय किया। जकात से प्राप्त होने वाले धन के अतिरिक्त भी बहुत सा धन समाज कल्याण कार्यों के लिए व्यय किया जाता था। कुतुबउद्दीन ऐबक अपनी दानशीलता के लिए प्रसिद्ध था। इल्तुतमिश तथा उसके उत्तराधिकारियों ने भी गरीबों को कभी नहीं भुलाया। नासिरुद्दीन महमूद का नाम तो इतिहास की धार्मिक कथाओं में प्रवेश पा गया। शायद ही ऐसा कोई सुल्तान हो जिसकी दानशीलता की प्रशंसा न की गयी हो। व्यक्तिगत रूप से उनके वर्णन की आवश्यकता नही है। फिरोज ने तो दीवान-ई-खैरात नामक एक संस्था ही स्थापित की जो ऐसे लोगों की आर्थिक सहायता करती थी जो अपनी पुत्रियों का विवाह तो करना चाहते थे किन्तु उनके पास पर्याप्त धन न होता था। सुल्तान सिकन्दर लोदी अपनी प्रथा के अनुसार अपने राज में गरीबों को पका तथा बिना पका हुआ भोजन और जाड़ों में कम्बल तथा वस्त्र बँटवाता था। सम्भवतः बिना पका हुआ भोजन उसकी उस हिन्दू प्रजा हेतु था जो एक मुसलमान के हाथ की पकी हुई कोई वस्तु नही खा सकती थी। हुमायूँ दान देने के लिए स्वयं जनता के सामने आता था और इस बात की ढोल पीट कर पहले से घोषणा कर दी जाती थी। शेरशाह प्रतिदिन पाँच सौ तोला सोना दान देता था और उसने मुफ्त भोजन के लिए एक भोजनालय का भी प्रबन्ध किया था। इस्लाम साहब ने ऐसे भोजनालयों की संख्या बढ़ा दी थी। इन राज स्वामियों के आदर्श व्यवहार का अनुकरण उनके अधिकारी गण भी करते थे। 'बरनी' इनके विषय मे 'बलवान' के अन्तर्गत कहते हैं कि वे दानशीलता में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते थे। गयासुद्दीन तुगलक ने अपने शासन काल में दान प्रियता के लिए बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। खवास खां जो शेरशाह का बड़ा ही विश्वासप्राप्त था, इस सम्बन्ध में बड़ी ख्याति प्राप्त की। उसके द्वारा लगवाये गये खेमों में हजारों स्त्री व पुरुष रहते थे। उनके खाने के समय वह स्वंय भोजन परोसता था। हिन्दुओं को बिना पका हुआ भोजन वितरित किया जाता था। खवास खां का दान उस प्रसिद्ध 'महमूद गवान' की दक्षशीलता के समान था जो अपने राज्य में वास्तविक शासक था और अपनी सब सम्पत्ति को निर्धनों पर व्यय करता था, और स्वयं किसानों का साधारण भोजन खाता था तथा पलंग के स्थान पर भूमि पर चटाई बिछा कर सोता था। 'खान का' भी गरीबों के लिए राहत केन्द्र थे; वे मुफ्त भोजनालय चलाते थे तथा राहगीरों

व जरूरतमन्द लोगों को शरण देते थे। यहाँ राज्य अथवा अन्य व्यक्तियों द्वारा जो धन दिया जाता था उसका बहुत बड़ा भाग शिक्षा, समाज सेवा तथा गरीबों की सहायता पर व्यय किया जाता था। यह दान इतने अधिक और सुलभ थे कि बहुत कुछ इनके द्वारा एक पेशेवर भिखारियों का वर्ग ही बन गया था। अकाल के समय राजा की ओर से अनाज की दूकानें खोल दी जाती थी और यहाँ सस्ते मूल्य पर अनाज बेचा जाता था और भूख से पीड़ित लोगों के लिए बहुत बड़ी मात्रा मे अनाज मुफ्त बाँटा जाता था। इब्नबन्तुताह ने एक ऐसे विभाग के संगठन का वर्णन किया है जो जरूरतमन्द स्त्री और पुरुषों की सूची रखता था और उन्हे अनाज दिये जाते थे। विद्वान् एवं धार्मिक व्यक्ति इस विभाग के निरीक्षक नियुक्त किये जाते थे ताकि भेद-भाव न हो। फिरोज शाह ने अपने कोतवाल को यह आदेश दिया था कि वह बेरोजगार व्यक्तियों को उसके सम्मुख लाये। कोतवाल मुहल्लादारों, जो एक मुहल्ले के प्रबंध के उत्तरदायी होते थे, की सहायता से ऐसे लोगों की एक सूची तैयार करता था। इस सूची के व्यक्ति सुल्तान के सामने प्रस्तुत किये जाते थे और वह उनको कुछ रोजगार देता था। ऐसा करने में वह सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक का अनुकरण कर रहा था जो यह मानता था कि अपराध आवश्यकता पूर्त्ति न होने का परिणाम है और इसलिए वह गरीबों के लिए कोई कार्य अथवा व्यापार सुलभ करने का प्रयत्न करता था। वह उनको भूमि तथा धन देता था जिससे वे कृषक के रूप में पुनर्वासित हो सकें। इस सुलतान ने अपने राज्य से भिक्षावृत्ति उन्मूलन के लिए भिखारियों को कुछ लाभप्रद कार्य करने के सुअवसर देने का प्रयत्न किया था।

चिकित्सा सहायता सम्बन्धी कार्यों के संगठन को भी ध्यान में रखा गया था। मुहम्मद्दीन तुगलक के शासनकाल में दिल्ली नगर में ७० चिकित्सालय थे। इनमें से बहुत से पहले के शासनकालों में भी रहे होंगे। फिरोजशाह ने इनकी संख्या और बढ़ा दी थी। अफीक ने उस समय के दिल्ली के चिकित्सालयों की कार्य प्रणाली के विषय में लिखा है कि उसके पदाधिकारियों में चिकित्सक तथा शल्य-चिकित्सक होते थे व बीमारों की सेवा-सुश्रूषा के लिए सेवक रहते थे; उन्हें दवा, खाना तथा पेय पदार्थ दिये जाते थे। कार्यकर्त्ताओं में आँखों के विशेषज्ञ भी होते थे। शेरशाह, जिसने इतिहास से प्रभावित होकर बहुत से सुधार किये थे और जिसने प्राचीन रीति-रिवाजों को पुनर्जीवित किया, प्रत्येक सराय में एक-एक चिकित्सक रखा था जो इस बात का द्योतक है कि उस समय भी चिकित्सा-सहायता बहुत अधिक प्रचलित थी।

पारसी धर्मावलम्बियों के लिए पहलवी साहित्य में सभी प्रकार के दान पर बल दिया गया है। नैतिकता किसी व्यक्ति की अपनी निजी वस्तु नहीं मानी गयी है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति स्वयं तथा अन्य व्यक्ति भी आवश्यक रूप से सम्मिलित हुए हैं। व्यक्तियों के बीच

में आपसी सम्बन्ध सद्भाव से ही संचालित होते हैं। दान सदाचार का एक आवश्यक अंग है। वह व्यक्ति सर्वाधिक पूज्य है जो सर्वाधिक दान करता है। कहा है कि यदि तुम सम्पत्ति की शक्ति का पूर्णरूपेण आनन्द लेना चाहते हो तो उसे दान में उपयोग करो; "सदैव दान करो ताकि 'गारोथमन' में तुम्हारे लिए स्थान सुरक्षित हो जाये। वह देवी जो कि आत्मा के अच्छे कार्यों का प्रतिनिधित्व करती है तथा स्वर्ग पथ में प्राप्त है, मानवी विशेष गुणो के अन्तर्गत दान का भी वर्णन करती है और कहती है तू ने उसको जो समीप से आया और उसको भी जो दूर से आया दान दिया; वह व्यक्ति जो बीमारों, असहायों तथा व्यापारियो को रहने के लिए स्थान देता है वह सीधा स्वर्ग मे जाता है; ऐसे व्यक्ति को जो बहुत धनी है, अपने अतिरिक्त धन को दूसरों की सहायता करने तथा अच्छे कार्यों को करने में जिनका सम्बन्ध ईश्वर से है, व्यय करना चाहिए; जो अपने दरवाजे पर आये हुए पवित्र भिक्षुकों को भोजन तथा पानी उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में देता है उसे बदले में एक बहुत बड़ी चीज मिलती है; कोई व्यक्ति अपने दान के द्वारा ही लोगों में सम्मान तथा ख्याति प्राप्त करता है और उसके द्वारा संसार भी सुखी होता है; "एक प्रशंसनीय और पूर्ण जीवन दान के द्वारा ही प्राप्त होता है और दान एक प्रशंसनीय और पूर्ण जीवन के लिए होता है।"

किन्तु यहाँ भिन्न प्रकार के दान की प्रशंसा की गयी है। कहा है—सही दानकर्त्ता के हाथ कभी आलसी, फिजूल खर्च या अपात्र की ओर नही बढ़ते। दान के योग्य व्यक्तियों में विश्वासपात्र का बार-बार वर्णन आता है। कहा है कि वह जो निर्धनों को सहायता देता है 'अहुर राजा' बनता है; वह दान सर्वथा व्यर्थ है जो अयोग्य व्यक्तियों को दिया जाता है; जो व्यक्ति संरक्षण के योग्य है उन्हें अपने समान संरक्षण देना चाहिए और यदि वे इस प्रकार के संरक्षण से संतुष्ट न हों तो उन्हें धीरे से यह बता देना चाहिए कि वे त्रुटि कर रहे हैं; अपने पूर्वजों की आत्मा की शान्ति व भूख, प्यास व सर्दी-गर्मी से ग्रस्त दीन दुखी धर्मानुयायी व्यक्तियों की भावी पीढ़ी के लिए, सुपात्र व उत्कृष्ट मानवों के सुख के लिए उपाय करने चाहिए; यथा सम्भव भूखे को भोजन कराने के बाद ही अपने भोजन की चिंता करनी चाहिए।

निम्न उद्धरण इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वे दान के सम्बन्ध में अन्य धर्मों के व्यक्तियों के प्रति अपनाये जाने वाले दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं :—यदि कोई निर्धन व्यक्ति बुरे धर्म का व्यक्ति हो अथवा ईमानदार न हो तो भी उनको दान दिया जा सकता है; (२) जो भूख-प्यास और सर्दी से पीड़ित हों उन्हें इन कठिनाइयों से बचाना चाहिए; (३) 'यह एक प्रथा है कि ऐसे नास्तिक को जो विदेशी नहीं है, भोजन, वस्त्र, दवाइयाँ दी जायें किन्तु धन, घोड़ा, युद्ध सामग्री, शराब तथा भूमि विदेशियों तथा मूर्ति-पूजकों को भी नहीं

देना चाहिए; "अच्छे धर्म के व्यक्ति को अन्य धर्म के व्यक्ति को भी अत्यधिक आवश्यकता के समय कुछ दे देना चाहिए नही तो पाप लगता है; दुराचारियों की सहायता नही करनी चाहिए ताकि उनके दुराचारो में वृद्धि न हो। पारसी धर्मावलम्बियो ने इस्लाम धर्म को अस्वीकार कर दिया और जब मुसलमानों ने उन्हें उत्पीड़ित किया तो उन्होंने हिन्दुओं का आतिथ्य स्वीकार करने का निश्चय किया। वे काम्बेकी खाड़ी मे 'दिव' के लिए चले गए। वहाँ बीस वर्ष रहने के पश्चात् वे नये चरागाहो की खोज में निकल पड़े और सात सौ सोलह ई० में 'दामन' से बीस मील दक्षिण संजन पहुँचे। यहाँ ये भ्रमणशील व्यक्ति बस गये और वहाँ के राजा जयदेव राना ने इनका बहुत आदर के साथ स्वागत किया और उन्होंने आपस में एक संधि की जो श्लोकों के रूप में सुरक्षित हैं जिनमें उनके धर्मों में वर्णित कर्त्तव्य संक्षेप में दिये गये है। उनमें से एक, पाँचवें श्लोक में कहा गया है कि वे विशेष रूप से तालाब एवं कूप निर्माण तथा अन्य सभी दान कर्म में संयुक्त दायित्व का निर्वाह करेंगे। कहा है कि जिनके घर में मीठा और स्वादिष्ठ भोजन दान में दिया जाता है, ऐसे दान के कार्य किये जाते हैं जैसे झील, कुआँ, बावली, पुल, नदियाँ आदि बनवाना, जो धन, कपड़े आदि का उपयुक्त प्रार्थियों को सदैव दान देते हैं, जो अच्छे घरानों में पैदा हुए हैं, साहसी हैं, और बहुत शक्तिशाली है, ऐसे हम (लोग) पारसी हैं।

दान एक ऐसा धार्मिक गुण है जो इनके अनुसार सबका कर्त्तव्य है। पारसियों ने इस सद्गुण को सदैव, सभी स्थानों में व्यावहारिक रूप दिया। पारसी समुदाय के व्यक्तियों ने दूसरों की भलाई के लिए अपने धर्मावलम्बियों तथा दूसरे जाति और धर्म वालों को दिल खोल कर दान दिया। अनेक संस्थाओं, भवनों, अगियारी, धर्मशाला, बावली, तालाब, कुएँ, दोखम आदि के निर्माण कार्यों का श्रेय पारसी धर्मावलम्बियो को है।

आज अनेक पारसी कल्याण-संस्थानों तथा निधियों में बहुत सा धन और सम्पत्ति है जो शिक्षा, स्वास्थ्य शारीरिक चिकित्सा, धार्मिक कार्यो तथा अन्य सामाजिक कार्यों के लिए उपयोग में आती है।

शिक्षा-निधि में से विद्यार्थियों को शिक्षण-शुल्क, पुस्तकों आदि के लिए; केवल पारसी लड़के-लडकियों के प्रशिक्षण के लिए तथा साधारण जनता की शिक्षा के लिए विद्यालय हेतु; कला की वृद्धि के लिए संस्थाएँ खुलवाने तथा अन्य इसी प्रकार के कार्यों के लिए धन दिया जाता है। स्वास्थ्य कल्याण की निधि से चिकित्सालय खुलवाने तथा गरीबों को चिकित्सा सम्बन्धी सहायता देने के लिए व्यय किया जाता है। आवश्यकता पड़ने पर कभी-कभी रुग्ण को घर पर भी सहायता प्राप्त होती है।

धार्मिक उद्देश्यों के लिए जो धन एकत्रित किया जाता है उससे धर्मशाला बनवाने, धार्मिक उत्सव करने तथा अन्य धार्मिक कार्यों के लिए व्यय किया जाता है। पारसी धर्म में मंदिर भी बनाये जाते है तथा धार्मिक भोज आदि के भी आयोजन किये जाते हैं।

धार्मिक उद्देश्यों की निधि से धर्म प्रचार––यथा भाषण पुस्तक प्रकाशन, अन्य भाषाओं की पुस्तकों का अनुवाद, धर्म के सम्बन्ध में अनुसन्धान, तथा पहलवी भाषा के ग्रन्थों के मुद्रण आदि के लिए व्यय किया जाता है। सामान्य उद्देश्यों की निधि के धन को पर्सियावासी निर्धन पारसी धर्मावलम्बियों की दुरावस्था में सुधार और कल्याण हेतु उपयोग किया जाता है। कभी-कभी इनके लिए घर भी बनवाये जाते है। पारसी विधवाओं के लिए विधवा-आश्रम खोले जाते हैं; गरीब पारसी लड़कियों के विवाह के अवसर पर धन दिया जाता है; अनाथ या संकट ग्रस्त बच्चों के कल्याण के लिए तथा संकटग्रस्त माता पिता के लिए आर्थिक सुविधाएँ दी जाती हैं तथा भोजन व्यवस्था के लिए व्यय किया जाता है। अकाल के समय पारसियों की सहायता के लिए अकालपीड़ित सहायता कोष खोले जाते हैं। गरीबों को धन के रूप में सहायता करने की अपेक्षा उनको उपयोगी शिक्षण रोजगार देने को अधिक महत्त्व दिया जाता है ताकि वे समाज में पुनर्वासित हो सकें। अन्धों तथा अपाहिजों की सहायता के लिए भी निधि होती है जिसमें से अन्धों को वृत्ति भी दी जाती है। अन्य कई प्रकार के कोष भी होते हैं जिनमें से पारसियों के कल्याण के लिए किसी भी कार्य पर व्यय किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे नौरोजी माणिक जी वाडिया निधि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है जिससे ऐसे सभी आवश्यक व उपयोगी कार्यों के लिए धन व्यय किया जाता है तथा यहाँ से सहायता, आवश्यकता के समय जैसे बाढ़, अकाल तथा अन्य किसी प्रकार के संकट के अवसर पर, संसार के किसी भी भाग में बिना किसी भेद-भाव के उपलब्ध होती है। 'जरथुष्टि मण्डल' का भी वर्णन विशेष रूप से किया जा सकता है। यह संस्था पारसी महिलाओं को अनेक प्रकार की सहायता के लिए है जैसे, उनको ऐसे प्रशिक्षण देना जिनसे वे अपनी जीविका अर्जित कर सकें। यह सस्था महिलाओं के लिए स्वास्थ्य कल्याण के कार्य भी करती है।छोटे छोटे बच्चों के लिए इस संस्था की ओर से स्कूल खोले जाते हैं और बच्चों के माता-पिता को अपने बच्चों को स्कूल भेजने के लिए प्रेरित किया जाता है। इस संस्था के लिए धन सदस्यों से वार्षिक चन्दे के रूप मे एकत्रित किया जाता है। इसके अतिरिक्त लोग अपनी स्वेच्छा से भी इस कोष मे दान देते है। इस संस्था का प्रबन्ध पारसी महिलाओं की एक समिति के हाथ में होता है। सन् १९११ के इस संस्था के आँकड़ों के अनुसार इसके पास लगभग डेढ़ करोड़ रुपये थे और उसकी वार्षिक आय लगभग ८ लाख रुपया थी। पारसी समुदाय के लोग व्यक्तिगत रूप से लगभग एक लाख रुपया प्रतिमास दान कार्य के लिए देते हैं।

इस प्रकार की अन्य निधियों में विशेष रूप से "बम्बई पारसी पंचायत ट्रस्ट फण्ड" का उल्लेख किया जा सकता है जिसका उद्देश्य धर्म प्रचार के लिए कार्य करना है। इसके अतिरिक्त 'अनुवाद कोष', 'पहलवी भाषा ग्रन्थों के मुद्रण हेतु कोष', 'धर्म-अनुसन्धान

सभा, 'गरीब पारसी बाल-सहायता कोष', 'पारसी विधवा महिला-कल्याण-कोष', 'निर्धन पारसी बालिका-विवाह कोष', 'पारसी अकाल पीड़ित कोष', अन्ध, अपंग रक्षा कोष, इत्यादि भी उल्लेखनीय है।

जाति के आधार पर भी भारतवर्ष में बहुत से सेवा-कार्य किये जाते है। बहुत से दानशील व्यक्ति जाति भावना तथा जातिवाद से प्रभावित होकर ऐसे घर आदि बनवाते हैं जिनको वे अपनी जाति वालों को सामान्य किराये पर देते है। अपनी जाति में शिक्षा के प्रचार के लिए भी ऐसे लोग स्वजातीय बन्धुओं के लिए ऐसे विद्यालय व छात्रावास खुलवाते हैं जहाँ निर्धन विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा और रहने का प्रबन्ध होता है। महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय स्तर पर भी बहुत-सी ऐसी छात्र-वृत्तियाँ हैं जो केवल किसी जाति विशेष के विद्यार्थियो के लिए ही निर्धारित हैं। जाति के नाम पर मंदिर व धर्मशालाएँ बनायी जाती है और कुएँ तथा तालाब खोदे जाते है तथा ऐसे भोजनालय भी चलाये जाते हैं जहाँ गरीबों को मुफ्त भोजन बाँटा जाता है। बहुधा इस प्रकार के दान कार्य किसी जाति विशेष के सदस्यों के ही उपयोग तक सीमित नही रखे जाते किन्तु जब जाति के नाम पर उनका संगठन किया जाता है तो प्रमुखता स्वजाति के लोगो की ही होती है। संकटापन्न व्यक्ति की सहायता भी उसकी अपनी जाति के लोगों द्वारा की जाती है। इस प्रकार जाति का एक सामुदायिक पक्ष भी है व इसके माध्यम से व्यक्ति की परोपकारी व दान सम्बन्धी गतिविधियाँ व इच्छाएँ अभिकेन्द्रित व तृप्त होती हैं।

अध्याय २

समाज-कार्य परिचय

प्रत्येक समाज में कुछ समस्याएँ होती हैं। ये समस्याएँ एक तो अपने वर्तमान संदर्भ से संयुक्त होती है और दूसरे इसके कुछ अपेक्षित परिवर्तनों के संदर्भो से संयुक्त होती हैं। समस्याओं का स्वरूप एक तो भौतिक हो सकता है, दूसरे मनोसामाजिक। ऊपर-ऊपर देखने से इनमें से किसी भी श्रेणी की कोई समस्या मात्र उसी श्रेणी की होती है। पर प्रायः हर समस्या किन्ही न किन्ही अंशो में इन दोनों ही श्रेणियों से अपना लगाव रखती है। आज के विशेषीकरण के युग में जहाँ एक ओर यह माना जाता है कि विशेषीकृत आधार पर समस्या का निदान और उपचार करना चाहिए वही यह भी माना जाता है कि उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह जरूरी है कि हर समस्या के निदान और उपचार में उसके छिपे संदर्भ का भी निदान और उपचार किया जाय। समस्याओं के स्वरूप की जटिलता ने निदान और उपचार के स्वरूप को भी जटिल बना दिया है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि भौतिक समस्याओं का निदान और उपचार भौतिक आधार और साधनों के द्वारा किया जाना चाहिए तथा मनोसामाजिक समस्याओं का निदान और उपचार मनोसामाजिक आधार और साधनो के द्वारा। अभी हमने इन दोनों ही की एक साथ प्रयुक्तता की अनिवार्यता की जो चर्चा की है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि इन कथित दोनों ही आधारों और साधनों का समन्वित परिपूरक उपयोग होने से ही किसी समस्या का पूर्णरूपेण निदान और उपचार होना ज्यादा संभव हो सकता है। आज यह एक मान्यता प्राप्त सिद्धान्त है और इसी के फलस्वरूप हम देखते हैं कि आज जिस किसी भी क्षेत्र में मानव या समाज की समस्या का निदान और उपचार करने का काम होता है उसमें सभी पक्षों के विशेषज्ञों और कार्यकर्त्ताओ के सहयोग और भागीदारी की अपेक्षा होती है तथा ऐसी व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया जा रहा है जिसमें कि इन सबका समन्वित योगदान होना सम्भव हो। यद्यपि अभी तक भौतिक समस्याओं की ही प्रधानता रही है और लगभग आधी दुनिया में शायद अभी काफी लम्बे अर्से तक भौतिक आवश्यकताएँ और समस्याएँ ही प्रमुख रूप से विद्यमान हों किन्तु मनोविज्ञान और समाज-विज्ञान के उद्‌भव और विकास ने न सिर्फ हर स्थिति में भौतिकता की प्रधानता को चुनौती दी है वरन् अनेक समस्याओं और स्थितियों

के संदर्भ में मनोसामाजिक पक्ष को प्रधान प्रमाणित किया है। काफी तेजी से मनोसामाजिक विज्ञान और इसकी उपलब्धियाँ उन्नत और उन्नतिशील समाजों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती जा रही है। आज की इस अवस्था के कारण समस्याओं को हल करने मे जहाँ भौतिक साधनो का उपयोग किया जाता है वही मनोसामाजिक साधनो का भी उपयोग किया जाता है। मनोसामाजिक साधन या पद्धतियाँ प्रमुख रूप से मनोसामाजिक समस्याओं के सदर्भ में तो प्रयुक्त होती ही हैं, गौण रूप से भौतिक समस्याओ के संदर्भमें भी प्रयुक्त की जाती है। यह स्थापित सत्य है कि मानव व्यक्तित्व या इसकी अनेकता से निर्मित होने वाले समाज की हर मनोसामाजिक समस्या का सम्बन्ध भौतिक और मनोसामाजिक दोनों ही स्थितियों से होता है। इसलिए जब समस्या प्रमुख रूप में मनोसामाजिक दिखाई देती है और इसी आधार पर इसी की पद्धतियों के अनुसार इसका समाधान करना होता है तब भी मनोसामाजिक कार्यकर्त्ता भौतिक पक्ष पर भी सतर्क दृष्टि रखता है। ऐसी स्थिति में मनोसामाजिक कार्यकर्त्ता का अपना कार्य तथा दायित्व प्रमुख का कार्य होता है और भौतिक समस्याओं की प्रधानता के संदर्भ में जब वह कार्यरत होता है तो उसका कार्य सहायक का कार्य होता है।

मनोसामाजिक समस्याओं के निदान और समाधान का जो नवीनतम तरीका विकसित हुआ है वह समाज-कार्य है। आज के समाज-कार्य का उद्‌भव इंग्लैण्ड से हुआ था और इस उद्‌भव के पूर्व इसका स्वरूप धर्मार्थ, दानार्थ, या परोपकारार्थ की जाने वाली सेवा का स्वरूप था। आज समाज-कार्य द्वारा मनोसामाजिक समस्याओ को सुलझाने मे जिस प्रक्रिया का प्रयोग होता है वह मानवशास्त्र के सिद्धान्तो के अनुरूप वैज्ञानिक तरीके की होती है। आज के समाज-कार्य द्वारा जो सहायता दी जाती है उसमें दृष्टि यह होती है कि एक तो उससे सेवार्थी स्थायी तौर पर लाभान्वित हो सके, दूसरे उस पर कोई अनैतिक एहसान न हो। यह भी कोशिश की जाती है कि सेवार्थी की भरपूर क्षमताओं का उसके स्वयं के द्वारा ही अधिक-से-अधिक प्रयोग एवं उपयोग किया जाय। ऐसा माना जाता है कि जब ये सेवाएँ या सहायता-कार्य इस निमित्त ही स्थापित या संचालित किसी संस्था या अभिकरण के माध्यम से होता है तो अधिक सुविधाजनक और सफल होता है। मनोसामाजिक समस्या के निदान और समाधान में समाज-कार्य सेवार्थी को उसकी परिस्थितियों से समंजित करने की चेष्टा करता है। समंजन करने की आवश्यकता उपस्थित विचलन अथवा भावी परिवर्तन दोनों ही स्थितियों में हो सकती है। समाज-कार्य के विकास के दरम्यान बहुत लम्बे अर्से तक इस बात पर ही ज्यादा जोर दिया जाता रहा कि समाज-कार्य का ध्येयमात्र उपस्थित समस्या का निदान और उपस्थित परिवेश और संदर्भ से ही सुसमंजन है। किन्तु अब इसके साथ ही यह भी समान रूप से माना जाने लगा है कि समाज-कार्य

का ध्येय इच्छित भावी परिवर्तन भी है। इच्छित भावी परिवर्तन से समंजन की बात जनतांत्रिक मूल्यों की स्वीकृति और इसी पर समाज-कार्य की स्थापना के कारण महत्त्वपूर्ण हो गयी है। एक ओर तो समाज-कार्य ऐसी स्थितियों में सेवार्थी की सहायता करता है जिसमें कि सेवार्थी वैयक्तिक संरचना, भौतिक चुनौतियों और साधनों, आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण सामान्यत: माने जाने वाले प्रतिमानों में विचलित या असमंजित हो जाता है और उसका व्यवहार स्वयं और समाज दोनों के लिए या किसी एक के लिए भी अहितकारी हो जाता है; दूसरे ऐसी स्थितियों के निर्माण का भी कार्य करता है जो कि उसके दार्शनिक आधार और जनतंत्र के मूल्यों से सेवार्थी को ओतप्रोत करते हैं। जैसा कि हम सब जानते हैं और ऊपर भी थोड़ा-सा संकेत किया जा चुका है, व्यापक स्तर पर आज भी सभी क्षेत्रों में जनतांत्रिक मूल्यों की स्थापना नहीं हो पायी है और इसलिए समाज-कार्य को इन मूल्यों की स्थापना हेतु वैयक्तिक और सामाजिक परिवर्तनों के दायित्वों का भी निर्वाह करना पड़ता है। तात्कालिक समस्याओं के सिलसिले में सेवार्थी के साथ जो कार्य किया जाता है और वैयक्तिक या सामाजिक परिवर्तनों के सिलसिले में जो कार्य किया जाता है, दोनों ही में कार्य के दो विषय होते हैं, एक स्वयं व्यक्ति या सेवार्थी, दूसरे परिस्थिति। प्रथम विषय के साथ कार्य के सिलसिले में व्यक्ति और सेवार्थी की समस्त स्थितियों, शक्तियों और संभावनाओं के साथ कार्य किया जाता है और इसी प्रकार दूसरे विषय के साथ कार्य के सिलसिले में परिस्थिति की समस्त वर्तमान और भावी स्थितियों के साथ कार्य किया जाता है। समाज-कार्य के दौरान इन दोनों ही वस्तुओं या पक्षों की अन्योन्याश्रयी और उससे उभरने वाले स्वरूप पर ध्यान देना आवश्यक होता है। अब तक की चर्चा का यदि संक्षेप किया जाय तो एक बात यह स्पष्ट होती है कि समाज-कार्य जनतांत्रिक मूल्यों से अभिभूत सामाजिक अभिकरण के माध्यम से सेवार्थी को उसकी भागीदारी के साथ-साथ मनोसामाजिक समस्याओं से मुक्ति दिलाता है और स्वस्थ जीवन से समंजित कर गति प्रदान करने की चेष्टा करता है।

समाज-कार्य की छः पद्धतियाँ होती हैं जिनके द्वारा सेवार्थियों को सेवा दी जाती जाती है। इन छः विधियों में तीन को प्रमुख विधियों के अन्तर्गत समझा जाता है और अन्य तीन को इनकी सहायक पद्धति माना जाता है। तीन प्रमुख पद्धतियाँ क्रमशः वैयक्तिक कार्य, सामूहिक कार्य और सामुदायिक संगठन है। तीन सहायक पद्धतियाँ क्रमशः समाज-कल्याण-प्रशासन, सामाजिक शोध और सामाजिक क्रिया हैं। प्रमुख और सहायक दोनों ही प्रकार की पद्धतियों का स्वरूप प्रक्रियात्मक और बहुत कुछ गत्यात्मक है। सेवार्थी की सहायता का कार्य मुख्यतः प्रमुख पद्धतियों के माध्यम से ही किया जाता है। इन पद्धतियों के प्रयोग के दरम्यान सहायक पद्धतियों की मदद ली जाती है। कभी तो किसी सेवार्थी

की सहायता के लिए एक पद्धति का उपयोग किया जाता है और कभी-कभी अनेक पद्धतियों का सम्मिलित रूप से उपयोग कर सहायता पहुँचायी जाती है। जब किसी एक पद्धति से सहायता पहुँचाने का कार्य किया जाता है तो सारी प्रक्रिया का नामकरण उसी पद्धति के नाम पर किया जाता है और ऐसे अवसर पर उस पद्धति विशेष के ज्ञाता और कर्त्ता की सेवाएँ उपलब्ध और प्रयुक्त की जाती हैं। जब अनेक पद्धतियों का सम्मिलित उपयोग होता है तो कार्य का नाम प्रमुखता के आधार पर पद्धति विशेष के नाम पर रखा जाता है अथवा कभी-कभी मात्र समाज-कार्य के ही नाम से समझा-पुकारा जाता है। ऐसे अवसर पर सामाजिक कार्यकर्ता भी ऐसा होता है जो कि पहली परिस्थिति में तो विशेषीकृत होने के साथ-साथ अन्य पद्धतियों का भी ज्ञाता हो और दूसरी परिस्थिति में मात्र सामाजिक कार्य-कर्त्ता हो। कार्य और सामाजिक कार्यकर्त्ता के नामकरण का आधार समाज-कार्य के क्षेत्र के नाम से भी सम्बन्धित हो सकता है। किन्तु इस आधार पर होने वाला नामकरण पद्धति-विशेष के नाम से संयुक्त होते हुए होता है।

समाज-कार्य में जब सेवार्थी या सहायता की इकाई एक व्यक्ति होता है तो वह वैयक्तिक कार्य कहलाता है। यदि वैयक्तिक कार्य अभिकरण के माध्यम से किया जाता है—जैसा कि आम तौर पर होता है—तो इसकी सफलता ज्यादा निश्चित होती है। वैयक्तिक कार्य के दौरान तीन पक्षों पर ध्यान देना आवश्यक होता है। ये पक्ष क्रमशः—व्यक्ति अर्थात् जिसकी सहायता करनी है, समस्या अर्थात् जिसको कि सुलझाना है और स्थान अर्थात् जिस अभिकरण के माध्यम से सहायता करनी है, सामाजिक कार्यकर्त्ता को इन तीनों का पूरा-पूरा और अच्छा ज्ञान होना लाभदायक होता है। ऐसा होने से ही वह इनकी समन्वित संभावनाओं का अधिक अच्छा उपयोग कर पाता है। वैयक्तिक कार्य उन तमाम परिस्थितियों में किया जाता है जो कि मनोसामाजिक दायरे के अन्तर्गत आती हैं अथवा जिनका कि प्रभाव मनोसामाजिक स्थितियों पर हो सकता है। वैयक्तिक कार्य के दौरान सामाजिक कार्यकर्त्ता सेवार्थी से सम्बन्ध स्थापित करता है और मूलतः साक्षात्कार और कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर भौतिक सहायता के माध्यम से सेवा-कार्य करता है। समस्याओं के सुलझाने के उपरान्त भी वह सेवार्थी से सम्बन्ध बनाये रख सकता है और उसकी उत्तर देखभाल भी कर सकता है। चाहे समाज-कार्य का कोई भी क्षेत्र हो वैयक्तिक कार्य सभी में किया जाता है और यही सर्वाधिक व्यापक, ख्याति-प्राप्त और प्रचलित तरीका है।

समाज-कार्य में जब सेवार्थी या सहायता की इकाई कोई समूह होता है तो उसे सामूहिक कार्य कहते हैं। सामूहिक कार्य से एक ओर तो व्यक्ति सामूहिक जीवनयापन की क्षमता विकसित करता है, दूसरे उसकी मानसिक परेशानियाँ समाजीकृत तरीके से

उन्नयित हो जाती हैं। सामूहिक कार्य के लिए सामूहिक कार्यकर्त्ता समुदाय के व्यक्तियों को इसकी आवश्यकता समझा सकता है, उनको इकट्ठा कर सकता है और उन्हे सामूहिक क्रियाकलाप के सभी स्तरों पर प्रेरणा दे सकता है। कभी तो सामूहिक कार्यकर्ता समूह को मात्र निर्देशन ही करता है और कभी-कभी उसके क्रियाकलापों में भागीदार भी बनता है। अपनी भागीदारी के दौरान वह अपने वृत्तिक सीमाओं का ध्यान रखता है और तदनुसार ही उसके क्रियाकलाप होते हैं। सामूहिक कार्य के लिए जो समूह बनते हैं या बनाये जाते हैं वे किसी भी आयु, लिंग, क्षमता या परिवेश के व्यक्तियों के हो सकते हैं। सामूहिक कार्य तब अधिक फलदायक होता है जब कि विशिष्टताओं के आधार पर समूहों का निर्माण किया जाता है। ऐसा होने से सामूहिक कार्यकर्त्ता को दायित्व निर्वाह में सुविधा होती है व इससे लाभार्थी भी अधिकाधिक लाभान्वित हो पाते हैं। सामूहिक कार्य जहाँ एक ओर सामान्य व्यक्तियों के समूहों के साथ होता है वहाँ कभी-कभी ऐसे समूहों के साथ भी किया जाता है जो कि किसी विशेष प्रकार की बाधा से ग्रस्त होते हैं। बाधितों के समूह के साथ कार्य करना थोड़ा कठिन होता है और इस निमित्त ऐसे ही सामूहिक कार्यकर्त्ता ज्यादा उपयोगी होते हैं जो कि उन बाधितों के मनोसामाजिक विज्ञान का अच्छा ज्ञान रखते हैं। आज के विकासमान समाज में सामूहिक जीवन की क्षण-प्रतिक्षण संभावना होती है और इसलिए सामूहिक कार्य का महत्त्व अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। कभी-कभी तो सामूहिक कार्य की इसलिए भी आवश्यकता हो जाती है कि सामूहिक जीवन यापन के आदी व्यक्तियों को समूह की अनुपस्थिति से बेचैनी अनुभव होने लगती है।

समाज-कार्य में जब सेवार्थी या सहायता की इकाई कोई समुदाय होता है और उसके हेतु सहायताकार्य करना होता है तो उसे सामुदायिक संगठन कहते हैं। सामुदायिक संगठन के कार्य में अधिक कार्यकर्त्ताओं की जरूरत होती है और यदि कई स्तरो के कार्यकर्त्ताओं का एक दल इसमें संलग्न होता है तो कार्य ज्यादा अच्छी प्रकार संपादित हो पाता है। अनेक समस्याएँ ऐसी होती हैं जो कि न व्यक्तिविशेष की होती हैं, न समूह विशेष की, वरन् पूरे समुदाय की होती हैं। इन समस्याओं का निराकरण न वैयक्तिक स्तर पर हो सकता है न तो छोटे-छोटे समूहों के स्तर पर ही। इनके हल के लिए सम्पूर्ण समुदाय के योगदान की आवश्यकता होती है और जब ऐसे योगदान के मानवीय और भौतिक पक्षों का समन्वित संगठन किया जाता है तो उसे सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत समझा जाता है। सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ता पूरे समुदाय के व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करता है, समुदाय के विभिन्न अभिकरणों से सम्बन्ध स्थापित करता है और हर पक्ष का अच्छी प्रकार ज्ञानार्जन और अध्ययन करके अपनी सहायता के स्वरूप का निर्धारण करता है। भारत जैसे विकासशील अर्थ व्यवस्था के देशों में इस पद्धति के माध्यम से बहुत अधिक लाभ उठाया जा सकता है।

अब तक जिन तीन प्रमुख पद्धतियों की चर्चा की गयी है उन सबमे सहायता के दौरान यह ध्यान रखा जाता है कि सेवार्थी की ऐसे सहायता की जाय कि वह सम्पूर्ण सहायता प्रक्रिया के दौरान एक सक्रिय भागीदार के रूप में रहे और वह स्वयं ही अपनी सहायता कर सकने में सक्षम हो सके ।

समाज-कार्य की सहायक पद्धतियों में समाज-कल्याण-प्रशासन की पद्धति यदि कहा जाय कि सर्वाधिक महत्त्व की है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी । जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है चाहे वैयक्तिक कार्य हो चाहे सामूहिक कार्य हो या चाहे सामुदायिक संगठन ही क्यों न हो यदि वह किसी सामाजिक अभिकरण के माध्यम से किया जाता है तो वह अधिक विश्वसनीय और सफल होता है । इन कार्यों के इस माध्यम अर्थात् सामाजिक अभिकरण को तभी अधिक उपादेय बनाया जा सकता है जब कि उसके संगठन और संचालन में समाज-कल्याण-प्रशासन नामक पद्धति से सहायता ली जाय । कोई भी अभिकरण हो, कोई भी ध्येय हो, कोई भी कार्यकर्त्ता हो या कोई भी पद्धति हो, किसी मे भी उसके प्रशासन के बिना काम नही चल सकता । प्रशासन का अर्थ है नियोजन और कार्यान्वयन । समाज-कल्याण-प्रशासन की पद्धति इनके निरूपण में सहायक होती है और इसी के द्वारा धन, जन और बल का उचित और अधिकतम उपयोग हो पाता है । समाज-कल्याण प्रशासन मे सदा मानवीय और जनतांत्रिक पहलुओं पर ध्यान रखते हुए नीतियों का निर्धारण एवं कार्य-विधि के स्वरूप को निश्चित किया जाता है । समाज-कल्याण-प्रशासन ऐसा प्रशासन है जिसमें कि कार्यकर्ता, सेवार्थी और अधिकारी सभी हर स्तर पर प्रशासन मे भाग लेते है और उनकी इच्छाओं का सदा ही आदर किया जाता है । समाज-कल्याण-प्रशासन में सौहार्द और प्रेम से काम लिया जाता है ।

सामाजिक शोध की पद्धति के उपयोग से हम एक तो समाजकार्य की नयी आवश्य-कताओं को जान पाते है, दूसरे दी जाने वाली सहायता के मूल्यांकन मे भी इससे मदद मिलती है । सामाजिक शोध, पर्यावलोकन, अध्ययन, साक्षात्कार, सहभाग इत्यादि के द्वारा तथ्य सकलन के माध्यम से सम्पन्न किया जाता है । बहुत से शोध ज्यादा प्रामाणिक होते है और बहुत से कुछ कम प्रामाणिक । सामाजिक शोध किसी भी प्रकार की समस्या से सम्बन्धित हो सकता है । इसके क्षेत्र भी कई हो सकते है । शोध का परिणाम वही ज्यादा प्रामाणिक हो सकता है जहाँ कि समस्या दृश्य हो, उत्तरदाता शिक्षित, नेकनीयत और समझदार हो, शोधकर्त्ता प्रशिक्षित और कुशल हो तथा समस्या और क्षेत्र समताओं के अनुरूप समुचित रूप से परिसीमित हों ।

सामाजिक क्रिया की पद्धति यद्यपि अभी तक एक सहायक पद्धति के रूप मे मानी जाती है किन्तु यदि इसे विकसित किया जाय तो यह एक प्रमुख पद्धति बन सकती है ।

यद्यपि इसकी प्रविधियाँ बहुत कुछ सामुदायिक संगठन की ही प्रविधियाँ होंगी किन्तु इसका पैमाना व्यापक होने से इसका फल भी व्यापक होगा। आम तौर से जिन स्थितियो मे सामुदायिक सगठन की आवश्यकता होती है उन्ही मे सामाजिक क्रिया की भी आवश्यकता होती है। फर्क मात्र तब होना है जब कि सामाजिक नीतियो और कानूनों के नवनिर्धारण या परिवर्धन हेतु चेप्टा की जाती है। जब समाज-कार्य इस हेतु प्रयुक्त होता है तो सामाजिक क्रिया कहा जाता है। कभी-कभी जबकि समुन्नत मानवीय मूल्यों की ग्राह्यता या उनसे समंजीकरण हेतु सामुदायिक या सामाजिक परिवर्तन किये जाते हैं तो ये कार्य सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत तो होते ही है किन्तु बहुत बार सामुदायिक सगठन के दरम्यान भी ये ही ध्येय हुआ करते है। सामाजिक संगठन सामाजिक क्रिया से तब भिन्न होता है जब कि वह बिना किसी परिवर्त्तन के, केवल जन सहयोग से जनशक्ति के उपयोग और विकास मे प्रयुक्त होता है। हमारे देश मे सामाजिक क्रिया की पद्धति के उपयोग से बहुत से लाभ उठाये जा सकते हैं और इसलिए हमे इस पर ध्यान देना भी चाहिए।

यों तो वैयक्तिक और सामाजिक समस्या जीवन के किसी क्षेत्र, समाज के किसी वर्ग और पक्ष से सम्बन्धित हो सकती है ओर समाज-कार्य का व्यवहार इन सबसे सम्बन्धित हो सकता है, किन्तु सुविधा और कार्य-प्रणाली को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाने की दृष्टि से समाज-कार्य के कतिपय क्षेत्र किये गये हैं। चूँकि समाज-कार्य एक गत्यात्मक शास्त्र तथा वृत्ति है, इसलिए इसके क्षेत्रों की संख्या और स्वरूप में परिवर्तन होते रहना स्वाभाविक है। आज समाज-कार्य के प्रमुख क्षेत्रों में परिवार एवं बाल कल्याण, चिकित्सा एवं मनश्चिकित्सा, अपराधी-सुधार-प्रशासन, महिला-कल्याण, श्रम-कल्याण, जनजातीय कल्याण, पिछड़ी जाति एवं वर्ग-कल्याण, शारीरिक बाधित कल्याण, ग्राम-कल्याण, युवक-कल्याण, राजकीय कर्मचारी-कल्याण तथा परिवार-नियोजन इत्यादि की गणना की जाती है। परिवार एवं बाल-कल्याण के क्षेत्र में सामाजिक कार्यकर्त्ता का प्रमुख दायित्व यह होता है कि वह व्यक्ति और परिवार को एक दूसरे का परिपूरक बनाये तथा सारे परिवार को एक संगठित स्वरूप दे। परिवार में बाल-विकास की समस्त सामान्य स्थितियाँ उपलब्ध हों और बच्चों को उनका लाभ मिल सके। चिकित्सा एवं मनश्चिकित्सा के क्षेत्र में सामाजिक कार्यकर्त्ता का यह कार्य है कि वह रोगियों को समस्त चिकित्सकीय साधनों और उपलब्धियों से लाभ उठाने में मदद दे तथा रोग के निदान के दौरान उसके मनोसामाजिक पक्ष को प्रकाशमान कर चिकित्सक की सहायता करे। अपराध-सुधार-प्रशासन में एक तो सामाजिक कार्यकर्त्ता का यह कार्य होता है कि वह अपराध निरोध की संभावनाओं और चेष्टाओं को बलशाली बनाये तथा दूसरे अपराधी सुधार और पुन:स्थापन में मदद करे। दुनिया के अधिकांश देशों में आज भी महिलाओं को वास्तव में पुरुषों के समान अधिकार नहीं मिल सके हैं।

इसलिए महिलाओं को जो विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं या दी जा सकती हैं उनसे महिलाओं को लाभान्वित हो सकने में मदद करना समाज कार्य के इस क्षेत्र में सामाजिक कार्यकर्त्ता का दायित्व है। श्रम कल्याण के क्षेत्र में एक सामाजिक कार्यकर्त्ता एक ओर तो यह कोशिश करता है कि औद्योगिक शान्ति बनी रहे और यदि कोई विवाद उत्पन्न हो ही जाय तो उनका हल ऐसे पारस्परिक समझौतों के माध्यम से हो जिनमें कि मानवीय पहलू या मूल्य सुरक्षित रहें। इसके साथ ही वह श्रमिक के मनोरंजन एवं कल्याणार्थ अनेक कार्यक्रमों का संचालन भी करता है। देश के और दुनिया के अनेक भागों में आज भी ऐसी जनजातियाँ रहती हैं जो कि सभ्य कहे जाने वाले समाज के तौर-तरीकों और सुविधाओं से वंचित हैं। भाईचारे के नाते हम सबका यह कर्त्तव्य है कि इनको भी उन्नत और सभ्य समाज की स्थिति हासिल करने में सहायता दें। इसी मानवीय दृष्टि से इनके कल्याण के लिए अनेक योजनाएँ बनायी गयी हैं। आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक आदि विषमताओं के कारण सारा समाज अनेक वर्गों और स्तरों में विभाजित है। यह विभाजन एक तो अपने में ही उपयुक्त नहीं है दूसरे इसके फलस्वरूप अनेक लोग ऐसी हीन दशाओं में पहुँच गये हैं जिनका कि बिना किसी बाहरी सहायता के पूरा-पूरा विकास असंभव है। इस तथ्य को ध्यान में रख कर दुनिया के अनेक हिस्सों में और हमारे देश में भी अनेक समाज कल्याण की योजनाएँ है और इन्हीं के संचालन और कार्यान्वियन इत्यादि का कार्य इस क्षेत्र का कार्य है। बहुत से लोग जन्म से ही विकलांग होते हैं। अनेक लोग रोग या दुर्घटना के कारण विकलांग हो जाते हैं। ये सामान्य समाज से अच्छी प्रकार समायोजन में असमर्थ होते है। इनके समंजन हेतु विशेष प्रकार की सुविधाओं और स्थितियों की आवश्यकता हुआ करती है। इस हेतु किया जाने-वाला प्रयत्न शारीरिक बाधित कल्याण के क्षेत्र का प्रयत्न है। हमारा देश गाँवों का देश है। ग्रामीण जिन्दगी शहरी जिन्दगी से भिन्न होती है। गाँव की विपुल जन-शक्ति का अधिकाधिक उपयोग तभी हो सकता है जब कि वह मनोसामाजिक चिन्ताओं से अधिक-से-अधिक मुक्त हो और उसको इस हेतु आवश्यक आर्थिक संबल भी उपलब्ध हो। इस दृष्टि से जो योजना बनती या चलायी जाती हैं उनमें मानवता के साथ जनसहभाग और सह-कार का दायित्व समाज-कार्य के इस क्षेत्र का दायित्व है। युवकों की अपनी ही सांवेगिक स्थिति होती है और इनकी समस्त क्षमताओं को ठीक से सामाजिक तौर पर उपयोग की अलग ही समस्या होती है। इस दृष्टि से इनके लिए अलग ही कल्याणकारी योज-नाएँ बनायी जाती हैं। युवकों से संबन्धित समस्त समाज-कल्याण का कार्य इस क्षेत्र के अन्तर्गत है। राजकीय कर्मचारी-कल्याण तथा परिवार-नियोजन भी अब समाज-कार्य के मान्यता प्राप्त क्षेत्रों में गिने जाने लगे हैं और इनमें क्रमशः कर्मचारियों तथा उनके परिवारों हेतु की जाने वाली कल्याणार्थ व्यवस्था—यथा मनोरंजन, जलपान, शिक्षा तथा

स्वास्थ्य आदि तथा सीमित और सुखी परिवार हेतु किये जाने वाले चिकित्सकीय प्रयत्न सम्मिलित हैं।

समाज-कार्य की विधियों के प्रयोग में अनेक प्रविधियों का उपयोग किया जाता है। इन प्रविधियों में सम्बन्ध, संबल, सहभागिता, साधन-उपयोग, व्याख्या, स्पष्टीकरण, अंशीकरण, जगतीकरण, नवज्ञानार्जन, परिस्थिति परिवर्धन, स्थानान्तरण तथा स्वीकृति आदि प्रमुख हैं। जब सामाजिक कार्यकर्त्ता सेवार्थी की मदद में अपने और उसके बीच के सम्बन्ध का उपयोग करता है तो यह सम्बन्ध की प्रविधि का उपयोग समझा जाता है। ऐसा होता है कि बहुत-सी स्थितियों में सामाजिक कार्यकर्त्ता में सेवार्थी की आस्था और निष्ठा के कारण यह सम्भव होता है कि वह उसे इच्छित और हितकारी तथ्य को ग्रहण करा सके। सम्बन्ध जितना ही प्रगाढ़ होता है उतना ही इस हेतु उपयोगी होता है। बहुत-सी स्थितियों में सेवार्थी की मनोदशा ऐसी होती है कि उसे अभिव्यक्ति और समंजन हेतु सामाजिक कार्यकर्त्ता के सहारे की आवश्यकता होती है। जब कार्यकर्त्ता उसकी मदद तदनुरूप भाव अभिव्यक्ति करके अथवा आंशिक परिवर्द्धन के साथ उसकी बातों को स्वीकार करके या सहमति के साथ सुन कर करता है तो इसे संबल देना कहते हैं। कभी-कभी सेवार्थी के क्रिया-कलापों में सामाजिक कार्यकर्त्ता भी भाग लेता है। इस भागीदारी से कार्य में सुविधा होती है और सेवार्थी में सामाजिक कार्यकर्त्ता के प्रति अपनत्व का विकास होता है। समाज-कार्य में सेवार्थी की सहायता के दौरान अधिक-से-अधिक भौतिक और मानवीय साधनों का उपयोग किया जाना चाहिए। प्रत्येक समाज और अभिकरण में कुछ-न-कुछ ऐसे उपयोगी साधन होते ही हैं और जब इनके उपयोग के माध्यम से सेवार्थी की सहायता में मदद ली जाती है तो इसे साधनों का उपयोग कहते हैं। अनेक अवसरों पर बहुत से तथ्यों, वाक्यों और स्थितियों को सेवार्थी आसानी से समझने में असमर्थ होते हैं। जब इनकी व्याख्या करके सेवार्थी की मदद की जाती है तो उसे व्याख्या की प्रविधि का उपयोग माना जा सकता है। स्पष्टीकरण की प्रविधि आम तौर पर उन स्थितियों में प्रयुक्त होती है, जब कि सेवार्थी हेतु कुछ गहराई में उतर कर तथ्यों की इस प्रकार व्याख्या करनी होती है या उनको समझाना पड़ता है कि वे उसके उपरान्त तथ्यों के प्रति अपनी पूर्व धारणा से मुक्त होकर अधिक वस्तुपरक दृष्टि विकसित कर सकें और समस्या समाधान में अधिक ठीक तरीके से सचेष्ट हो सकें। बहुत बार सेवार्थी की अनेक समस्याएँ मिल कर एक जटिल समस्याजाल का निर्माण कर लेते हैं। सेवार्थी इन्हें अलग-अलग न तो समझ पाता है और न तो इनमें से मूल समस्या को अलग कर पाता है। जब सामाजिक कार्यकर्त्ता अपने ऐसे सेवार्थी की इस प्रकार मदद करता है कि वह अपनी एक या प्रमुख समस्या को एक समय जान या समझ सके और उसके साथ जूझने की कोशिश करे तो यह अंशीकरण कहलाता है।

बहुत बार ऐसा होता है कि सेवार्थी यह समझते हैं कि उनकी जो स्थिति या समस्या है वह मात्र उन्हीं की है और लोग तो वैसी स्थिति या समस्या के हो ही नहीं सकते। ऐसी दशा में सामाजिक कार्यकर्त्ता सेवार्थी को यह ज्ञान कराता है कि कोई भी समस्या मात्र किसी एक व्यक्ति की ही नहीं होती वरन् वह दुनिया के और भी व्यक्तियों या सेवार्थियों की समस्या हो सकती है। जब सेवार्थी को इसका पता चलता है तो वह कुछ राहत महसूस करता है और उसे अपनी हीनता को दूर करने की चेष्टा के लिए आवश्यक बल मिलता है। सहायना की यह प्रविधि सामान्यीकरण कही जाती है। जब संबंध को मजबूत करने के लिए, समस्या को समझने के लिए या स्वीकृति और पुनराश्वासन देने के लिए सामाजिक कार्यकर्त्ता सेवार्थी से उसकी समस्या के सम्बन्ध में सोद्देश्य प्रश्न पूछता है और उसके माध्यम से तत्सम्बन्धी नया ज्ञान प्राप्त करने के साथ ही उसके उपचारात्मक गुण का उपयोग करता है तो उसे नवज्ञानार्जन या शिक्षण कहते हैं। सेवार्थी और उसकी समस्या पर आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, राजनीतिक तथा वैयक्तिक कोई भी या कई परिस्थितियों का प्रभाव पड़ सकता है। जब इन परिस्थितियों में सेवार्थी की सहायता की दृष्टि से कोई परिवर्तन या परिवर्धन किया जाता है और उसे सेवार्थी परक बनाया जाता है तो इसे परिस्थिति परिवर्धन की स्थिति कहते हैं। बहुधा अनेक सेवार्थी कतिपय अवांछित भावनाओं और इच्छाओं से बाल्यकाल या उसके उपरान्त के जीवन में प्रभावित हो जाते हैं। इन भावनाओं और इच्छाओं को अन्य दिशा मे निर्देशित करने के कार्य को स्थानान्तरण कहते हैं। आम तौर पर समाज-कार्य में यह प्रविधि उस दशा में प्रयुक्त होती है जब कि ऐसी धारणाएँ या इच्छाएँ स्वयं कार्यकर्त्ता या चिकित्सक अथवा चिकित्सा विधि या सहायता-विधि के प्रति होती हैं। स्वीकृति की प्रविधि का उपयोग समाज-कार्य वृत्ति में बुनियादी तौर पर होता है। प्रत्येक सामाजिक कार्यकर्त्ता सेवार्थी को, वह जिस किसी भी रूप में है, पूरे मानवता के साथ स्वीकार करता है। हो सकता है कि सेवार्थी सामाजिक कार्यकर्त्ता के प्रति आक्रामक हो या उस पर निर्भर; पर सभी स्थितियों मे वह उसे अपने सेवार्थी के रूप में ही देखता और स्वीकार करता है। स्वीकृति के ही आधार पर वह वास्तव में उसकी मदद कर सकता है। स्वीकृति एक पक्षी न होकर उभय पक्षी होती है अर्थात् सेवार्थी सामाजिक कार्यकर्त्ता को और सामाजिक कार्यकर्त्ता सेवार्थी को स्वीकृति प्रदान करता है। इस उभयपक्ष की स्थिति में सहायता का कार्य अधिक सुविधाजनक और फलप्रद होता है।

समाजकार्य के व्यवहार के दौरान अनेक सैद्धान्तिक तथ्यों का ध्यान रखना आवश्यक समझा जाता है। पहली बात यह ध्यान में रखी जाती है कि सेवार्थी की सम्पूर्ण दशा की जो स्थिति होती है वहीं से सहायताकार्य शुरू किया जाता है न कि उसे और उन्नत और अवनत होने के लिए अवसर दिया जाय। सम्पूर्ण दशा के अन्तर्गत उसकी स्वयं की सभी

स्थितियाँ तथा चतुर्दिक की सभी परिस्थितियाँ सम्मिलित हैं। दूसरी सैद्धान्तिक मान्यता यह है कि हर सहायता के लिए सामाजिक कार्यकर्त्ता का सेवार्थी के साथ अच्छा सम्बन्ध होना आवश्यक है। जब सम्बन्ध ही न होगा तो वह उसकी मदद कर ही क्या सकता है और मनोसामाजिक समस्याओं के संदर्भ में तो सम्बन्ध अनिवार्य होता है। तीसरी मान्यता है कि कार्यकर्त्ता, सेवार्थी तथा सम्बन्धित अन्य पक्षों के बीच समुचित संचार की स्थिति होनी चाहिए। यदि समुचित संचार नहीं होगा तो एक पक्ष दूसरे पक्ष को न तो भलीभाँति समझ ही सकेगा और न तो वे एक-दूसरे के लिए उपादेय हो सकेंगे। समाज-कार्य का यह आधारभूत सिद्धान्त है कि सेवार्थी को अपनी समस्याओं से जूझने के तरीके और सामाजिक कार्यकर्त्ता, अभिकरण तथा साधनों के चुनाव के सम्बन्ध में आत्मनिर्णय का पूरा-पूरा अधिकार होता है। चूँकि समाज-कार्य का तरीका एक जनतांत्रिक तरीका है इसलिए इस आत्मनिर्णय की सुविधा से सेवार्थी को वंचित नही किया जा सकता। आत्मनिर्णय की परि-सीमाएँ सामाजिक कार्यकर्त्ता की आवश्यक तथा उपयोगी निर्देशक होती हैं। सामाजिक कार्यकर्त्ता किसी भी स्थिति में दृढ़ निर्णायक की तरह नही काम करता वरन् उसकी दृष्टि और उसका तरीका वस्तुपरक हुआ करता है। सेवार्थी की भावना के साथ-साथ सोचना और समझना किन्तु उसकी ही भावनाओं के प्रवाह में न बह जाना, समाज-कार्य का एक अन्य सिद्धान्त है। इसका अर्थ यह होना है कि सामाजिक कार्यकर्त्ता सेवार्थी की मनोदशा मे कदम मिला कर तो चलता है किन्तु अपनी भी मनोदशा वैसी ही नही बना लेता जैसी कि सेवार्थी की होती है। सेवार्थी समस्याग्रस्त होता है और सामाजिक कार्यकर्त्ता उस समस्या से उसको मुक्ति दिलाने में सहायक। यदि वह भी सेवार्थी की ही तरह हीन दशा मे ग्रस्त हो जायगा तो वह उसकी मदद कर ही क्या सकता है। सेवार्थी की सहायता के दौरान अनेक प्रकार के तथ्यों को उनके मूलरूप में ही स्वीकार किया जाता है और उनको पूरी तौर से मान्यता दी जाती है। ऐसा नहीं कि उनको नकारा जाय। सारी सहायता के दौरान सेवार्थी के कल्याण को तरजीह दी जाती है, न कि अभिकरण अथवा सामाजिक कार्यकर्त्ता को। सामाजिक कार्यकर्त्ता और अभिकरण के ध्येय और पद्धतियों में सेवार्थी की आव-श्यकता के अनुरूप थोड़ा-बहुत परिवर्तन-परिवर्द्धन कर लिया जाता है। सिद्धान्ततः यह बात मानी जाती है कि सहायता की पद्धति, उसके साधन तथा साक्षात्कार इत्यादि का स्वरूप सरल और सुग्राह्य होना चाहिए। इनकी दुरूहता या जटिलता सहायता की उद्देश्य-पूर्ति में बाधक हुआ करती है। ऐसा भी माना जाता है कि किसी अभिकरण और सेवार्थी की सहायता के दौरान जो भी व्यक्ति अथवा संस्थाएँ परिपूरक रूप में सहकारार्थ प्रस्तुत हों उनका उपयोग किया जाना चाहिए। यद्यपि व्यापक या मूल अर्थों में सभी सेवार्थियों की इकाइयाँ अपने-अपने में एक-सी ही दीखती है किन्तु इनमें कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य

होता है। सहायता का कार्य इनके इस अन्तर को ध्यान मे रखते हुए करना चाहिए। अभिकरण, समुदाय, या सेवार्थी से सम्बन्धित दूसरो से या स्वय ही उनसे जो कुछ भी तथ्य ज्ञात हों उन्हें उनकी इच्छा या भावना के अनुसार गोपनीय या अगोपनीय रखा जाना चाहिए। इन तथ्यों का सहायता-प्रक्रिया में इस प्रकार उपयोग किया जाना चाहिए कि जिन बातों को सेवार्थी या अन्य चाहते हों कि ये गुप्त रहे वे गोपनीय ही रखी जायें या अन्य लोगों को मालूम न होने दी जायें। इससे एक तो आपसी विश्वास बढ़ता है दूसरे और अधिकाधिक गुप्त तथ्य सामने आते हैं। समाज-कार्य का एक बहुत ही बुनियादी सिद्धान्त यह है कि सेवार्थी या अन्य किसी के व्यवहार के पीछे कुछ-न-कुछ उद्देश्य अवश्य ही निहित होता है। यह उद्देश्य उपयोगी और हानिकारक दोनों हो सकता है। व्यवहारगत उद्देश्य व्यक्तिपरक या समाजपरक कुछ भी हो सकता है। कोई भी व्यक्ति, समूह या समुदाय जो कुछ भी व्यवहार करता है उसके पीछे अनेक प्रेरक कारण हुआ करते हैं। अनेक कारण के दो अर्थ हैं। एक अर्थ तो यह है कि किसी एक व्यवहार का प्रेरक कोई एक ही निश्चित कारण नही होता तथा हर व्यवहार कई कारणो के संयोग से प्रतिफलित होता है। व्यवहार और उसके कारण के विश्लेषण के समय इन तथ्यों का ध्यान में रखा जाना आवश्यक है। समाज-कार्य के व्यवहार के दौरान प्रायः एक साथ अनेक प्रक्रियाएँ अन्तःक्रिया करती रहती हैं। प्रक्रियाओं की इस अन्तःक्रिया को ध्यान में रखना चाहिए और उनको ऐसे नियोजित और निर्देशित करते रहना चाहिए कि उनका सेवार्थी के हित मे और समाज-कार्य के ध्येय की पूर्ति में अधिक-से-अधिक लाभप्रद उपयोग किया जा सके। यह हमेशा याद रखना चाहिए कि समाज-कार्य के माध्यम से दी जाने वाली सहायता अपने मे कोई अन्त नही है वरन् यह एक साधन है। इस सहायता के जरिये सेवार्थी और समाज एक दूसरे के अधिकाधिक परिपूरक बनते हैं। मानव की स्थिति मे सुधार सम्भव है और परिवर्तन एक आवश्यक अनिवार्यता है।

समाज-कार्य एक सबल और प्रचलित वृत्ति है। यह आम जनता की भलाई में उपयोग की जाती है तथा यह मानव कल्याण को बढ़ावा देती है। यह अपने कल्याण कार्यो के प्रति अपनी जिम्मेदारी रखती है और उसका निर्वाह करती है। इसका लक्ष्य सुगठित समाज की रचना करना तथा व्यक्ति का समाज में ऐसा समायोजन करना है जिससे वह अपना तथा समाज का कल्याण कर सके। इस ध्येय को ध्यान में रख कर ही इसके सिद्धान्त और इसकी प्रविधियाँ विकसित होती रही हैं। यह वृत्ति सम्पूर्ण मानव-समाज और समाज के किसी भाग विशेष, सभी के लिए है चाहे इससे कोई व्यक्तिगत या सामूहिक किसी भी रूप में फायदा उठाये। समाजकार्य वृत्ति व्यवस्थित और वैज्ञानिक विचारधारा से अभिभूत है। इसके अपने सिद्धान्त हैं, इसकी अपनी विधियाँ हैं और अनेक प्रविधियाँ भी। इनका

अति संक्षिप्त वर्णन पहले किया जा चुका है। अध्ययन, निदान तथा उपचार इस वृत्ति के व्यवहार के वैज्ञानिक चरण हैं। समाज-कार्य-वृत्ति के स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के विश्व के अनेक देशों मे अनेक संगठन हैं। इन संगठनों में आपसी सहकार और सहयोग भी है। ये प्राय: मिल-जुल कर कार्यक्रम निर्धारण एवं संचालन का कार्य करते हैं। इस वृत्ति के संगठन मात्र आपस में ही सहयोग और सहकार नही करते वरन् चिकित्सा तथा शिक्षा इत्यादि वृत्तियों के संगठनों से भी सहयोग और सहकार करने का हौसला रखते है और बहुधा ऐसा होता भी है। समाज-कार्य-वृत्ति के करने वाले अर्थात् सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को आर्थिक सुरक्षा भी उपलब्ध है। यदि वह कोई सहायता का कार्य करता है तो उसके बदले में कुछ निश्चित द्रव्य या धन प्राप्त करता है। जो लोग समाज-कार्य के किसी भी क्षेत्र में किसी भी पद पर कार्य करते हैं उनको उनकी योग्यताओं आदि के आधार पर वेतन दिया जाता है। समाज-कार्य वृत्ति के शिक्षण और प्रशिक्षण के उच्चस्तरीय साधन और संस्थाएँ हैं। इसके अनेक कार्यक्रम देश-देशान्तर में चलते हैं और इन सबसे एक तो इस वृत्ति को वैज्ञानिक रूप में अधिकाधिक विकसित होने की संभावना है तथा दूसरे इसके व्यवस्थित ज्ञान और व्यवहार-कला को सीख कर इस वृत्ति का कर्त्ता अपने कौशल को सेवार्थी के लिए अधिक फलप्रद बना सकता है। कहते हैं कि हर वृत्ति मानव की एक विशेष प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति हेतु होती है। चिकित्सा-वृत्ति से मनुष्य को रोग से मुक्ति मिलती है, वकीलों के कार्यों से व्यक्ति समाज में विद्यमान विधियों का उपयोग कर पाता है और शिक्षा द्वारा मनुष्य के ज्ञान और बुद्धि सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति होती है। समाजकार्य-वृत्ति से ऐसी संभव खामियों को दूर किया जाता है जो अनेक विज्ञानों अर्थात् सामाजिक, आर्थिक, शारीरिक, राजकीय तथा मानसिक इत्यादि के स्वतंत्र रूप में अलग-अलग प्रयुक्त होने से व्यक्ति के लिए प्राय: उत्पन्न हो जाती हैं और इस विशेष मानवीय आवश्यकता की पूर्ति करने में समाजकार्य-वृत्ति इसलिए उपयोगी है कि यह इन वृत्तियों या शक्तियों के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध का ही उपयोग मानव-जीवन में करती है। यूरोप, अमेरिका तथा अफ्रेशियाई देशों में समाज-कार्य व्यापक पैमाने पर अपने वृत्तिक रूप में व्यवहृत है। फ्रांन्स, स्वीडेन, आस्ट्रिया तथा जर्मनी इत्यादि देशों में सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को ठीक उसी प्रकार अपने को निबंधित कराना होता है जैसे कि एक चिकित्सक या वकील इत्यादि को। इन देशों में अपनी वृत्ति के व्यवहार के लिए इन्हें सरकारी अनुमति पत्र भी लेने पड़ते हैं। अमेरिका के कई भागों में स्वैच्छिक आधार पर कई संस्थाएँ इस प्रकार की व्यवस्था करती हैं। निबंधन और अनुमति प्राप्त करने के लिए यह जरूरी होता है कि व्यक्ति के पास शिक्षण-प्रशिक्षण का मानक प्रमाणपत्र हो।

विश्व के जिन देशों में समाज-कार्य का शिक्षण-प्रशिक्षण होता है उसमें तीन स्तर

के पाठ्यक्रम है; कुछ तो स्नातक स्तर से नीचे के होते है, दूसरे स्नातक स्तर के और तीसरे शोध उपाधि स्तरके। स्नातक स्तर से नीचे के प्रशिक्षण के पाठ्यक्रमों मे प्राय: विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का परिचय कराया जाता है और इस स्तर के शिक्षित-प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्त्ता निचली श्रेणी के ओहदे या कार्यो मे लगाये जाते हैं। स्नातक स्तर के पाठ्यक्रम मे समाजकल्याण का इतिहास, समाजकार्य की पद्धतियो, क्षेत्रों और प्रविधियों का अध्ययन कराने के साथ-साथ उनका व्यावहारिक अभ्यास भी कराया जाता है। आम तौर पर इसी स्तर के शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति अनेक प्रकार की कल्याणकारी संस्थाओं और शिक्षण-प्रशिक्षण की संस्थाओं में संचालन, निरीक्षण, सामाजिक-कार्य तथा शिक्षण-प्रशिक्षण के दायित्व का निर्वाह करते हैं। इसके ऊपर अर्थात् शोधउपाधि स्तर के पाठ्यक्रम मे एक तो उन्नत शोध प्रविधियों का ज्ञान सम्मिलित होता है तथा कहीं-कहीं समाज कल्याण नीति और प्रशासन का उच्च अध्ययन कराया जाता है। इन अध्ययनों के उपरान्त ग्रथागारगत अथवा क्षेत्रगत शोधात्मक अध्ययन करना पड़ता है और अन्त में एक प्रबन्ध की रचना करनी पड़ती है। इस रचना पर प्राय: मौखिक परीक्षा देनी होती है और इन सबमे सफलता पूर्वक उत्तीर्ण हो जाने पर डाक्टरेट की उपाधि मिलती है। इस उपाधि का प्राप्तकर्त्ता समाज-कार्य सम्बन्धी सर्वोच्च पदों पर रखा जा सकता है।

आज समाज-कार्य सिद्धान्त और व्यवहार पर पर्याप्त मात्रा में साहित्य सुलभ है। यह साहित्य पुस्तकों, प्रतिवेदनों, पुस्तिकाओं तथा पत्रिकाओं के रूप में है। समाज-कार्य की अनेक पुस्तके और पत्रिकाएँ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समाज-कल्याण तथा समाज-कार्य शिक्षण-प्रशिक्षण की संस्थाओं में प्रचलित हैं।

आज समाज-कल्याण के क्षेत्र में स्वैच्छिक कार्यकर्त्ताओं और प्रशिक्षित वृत्तिक कार्यकर्त्ताओं का सहयोग और सहकार बढ़ता जा रहा है और अनेक स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के क्रियाकलापों में यह प्रतिफलित है।

आज दुनियाँ में समाजकल्याण तथा समाज-कार्य के क्षेत्र के कार्यक्रमों इत्यादि से सम्बन्धित जो संस्थाएँ एवं संगठन हैं वे कई प्रकार के हैं। एक तो वे हैं जो कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सरकारों के संगठनों द्वारा चलती है, दूसरे वे हैं जो कि किसी खास देश की सरकार द्वारा अनेक देशों में चलायी जाती है, तीसरे वे है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बने अनेक देशों के स्वैच्छिक संगठनों द्वारा संचालित है और चौथे वे हैं जिनका कि संचालन और प्रबन्ध किसी देश विशेष की कोई ऐसी ऐच्छिक सामाजिक संस्था करती है जिसके कि कार्यक्रम अनेक देशों में फैले हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और संगठनों में विश्व स्वास्थ्य संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, संयुक्त राष्ट्र खाद्यऔर कृषि संगठन, संयुक्त राष्ट्र शिक्षा विज्ञान और संस्कृति सम्बन्धी सहकार संगठन, (यूनेस्को) काउंसिल ऑफ रिलीफ, एजेन्सीज

लाइसेन्स्ड फार आपरेशन इन जर्मनी, लाइसेन्स्ड एजन्सीज फार रिलीफ इन एशिया, इन्टर नैशनल एसोसियेशन ऑफ स्कूल्स ऑफ सोशल वर्क, इन्टर नैशनल फेडरेशन ऑव सोशल वर्कर तथा वर्ल्ड फेडरेशन फार मेन्टल हेल्थ इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है।

समाज-कार्य में प्राविधिक सहायता देने के लिए राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सरकारों और संगठनों द्वारा अनेक कार्यक्रम चलते हैं। विशेषज्ञों का भेजा जाना और व्यक्तियों को खास क्षेत्रों और संगठनों में कार्य का अवसर प्रदान करना इनका ध्येय होता है।

यद्यपि समाज-कार्य का बहुमुखी विकास और उपयोग हुआ है किन्तु अभी भी बहुत कुछ हासिल करना है।

अध्याय ३

भारत में समाज-कार्य शिक्षण-प्रशिक्षण

भारत में वृत्तिक समाज-कार्य के शिक्षण-प्रशिक्षण की शुरूआत १९३६ से मानी जा सकती है। इस वर्ष बम्बई में सर दोराब जी ताता ग्रेजुएट स्कूल आफ सोशल वर्क की स्थापना हुई। इस विद्यालय का नाम बाद में चलकर टाटा इन्स्टीच्यूट आफ सोशल साइन्सेस हो गया। शुरू-शुरू में यहाँ मुख्यतः स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण तथा कतिपय स्नातक स्तर से नीचे के छात्रों की भर्ती की जाती रही। यह संस्था दो वर्ष का पाठ्यक्रम चलाती रही और उसको सफलतापूर्वक पूरा कर लेने पर समाज-सेवा-प्रशासन में प्रमाण-पत्र (डिप्लोमा) देती रही। इन दिनो इनके शिक्षकों और अधिकारियो में एक संचालक था और मात्र दो समाज विज्ञान-वेत्ता। पहले यहाँ छात्रों की भर्ती प्रतिवर्ष न करके प्रति दूसरे वर्ष की जाती थी। प्रारम्भ में इसके संचालकों की इच्छा के कारण यह बम्बई विश्वविद्यालय से सम्बद्ध नहीं की गयी। अब यह विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अधिनियम की धारा तीन के अन्तर्गत विश्वविद्यालय का दर्जा प्राप्त कर चुकी है और इसमें प्रतिवर्ष लगभग साठ विद्यार्थियों की भर्त्ती की जाती है और यहाँ एक संचालक के अलावा विभिन्न स्तरों के पन्द्रह प्राध्यापक हैं। इस विश्वविद्यालय में भर्त्ती होने वाले छात्रों की संख्या समाज-कार्य के अन्य किसी भी विद्यालय में भर्त्ती होने वाले छात्रों की संख्या से अधिक है। इस संस्था के बाद वाराणसी में बहुत कुछ इसी के समान कार्यक्रमों वाला एक दूसरा संस्थान काशी विद्यापीठ ने १९४७ में खोला। इस संस्थान का नाम समाज विज्ञान विद्यालय रखा गया। स्नातकोत्तर स्तर के द्विवर्षीय शिक्षण-प्रशिक्षण के उपरान्त यहाँ समाज विज्ञान वेत्ता की उपाधि दी जाती रही। अब काशी विद्यापीठ भी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अधिनियम की धारा तीन के अनुसार एक विश्वविद्यालय है। इस वर्ष से उपर्युक्त उपाधि का नाम एम० ए० तथा विद्यालय का स्वरूप एक विभाग का स्वरूप कर दिया गया है। इस विद्यालय का प्रारम्भिक नामकरण स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव के सुझाव पर किया गया था। लगभग इसी के साथ अर्थात् १९४७-४८ में दिल्ली स्कूल आफ सोशल वर्क का जन्म हुआ। प्रारम्भ में इसका संचालन अमेरिका की एक विख्यात संस्था की भारतीय शाखा के माध्यम से होता था। डेढ़ दो वर्षो अर्थात् १९४९ में यह दिल्ली विश्वविद्यालय

से सम्बद्ध हो गया। एम० ए० स्तर की समाज-कार्य विषय में उपाधि देने वाला यह पहला विद्यालय था जिसे कि सरकारी स्तर पर मान्यता प्राप्त थी। १९६१ में इस विद्यालय का पूरा भार दिल्ली विश्वविद्यालय ने ले लिया और अब यह उसके एक स्नातकोत्तर संस्थान के रूप में कार्यरत है। इसके उपरान्त १९४९ में लखनऊ में लखनऊ विश्वविद्यालय के अन्तर्गत समाज कार्य प्रशिक्षण का इसी स्तर का कार्यक्रम संचालित किया गया। स्वर्गीय डा० राधा कमल मुखर्जी के निर्देशन मे स्थापित जे० के० इन्स्टीच्यूट आफ सोशियोलाजी एण्ड ह्यूमन रिलेशन्स के अन्तर्गत संचालित इस कार्यक्रम में शुरू में उन्ही की भर्ती की जाती थी जो कि अर्थशास्त्र अथवा समाजशास्त्र में एम० ए० होते थे और इन्हें मात्र एक वर्ष के पाठ्यक्रम को सफलतापूर्वक पूरा करने पर प्रमाण-पत्र (डिप्लोमा) दिया जाता था। १९५२ में स्नातक उपाधि वाले व्यक्ति द्विवर्षीय पाठ्यक्रम के लिए भर्ती किये जाने लगे और इस पाठ्य-क्रम को सफलतापूर्वक पूरा कर लेने पर उन्हे मास्टर आफ सोशल-टेक्नक्सि की उपाधि दी जाने लगी। यह उपाधि मात्र एक वर्ष ही दी गयी और इसके बाद इसका नाम बदल कर मास्टर आफ सोशल वर्क कर दिया गया जो कि आज तक है। १९५० में बड़ौदा विश्वविद्यालय ने समाज-कार्य का एक अलग संकाय खोलने का निश्चय किया। इसमें भर्ती की शर्ते पाठ्य-कार्यक्रम तथा उपाधि का नाम लगभग उपर्युक्त सम ही था। दक्षिण भारत में खुलने वाला समाज-कार्य सम्बन्धी पहला विद्यालय मद्रास स्कूल आफ सोशल वर्क था जिसकी स्थापना १९५२ में अखिल भारतीय समाज कार्य सम्मेलन की मद्रास राज्य शाखा के तत्वावधान में की गयी थी। द्विवर्षीय प्रशिक्षण पाठ्यक्रम के उपरान्त यहाँ के स्नातकों को समाज-विज्ञान-प्रशासन में एक स्नातकोत्तर प्रमाण-पत्र (डिप्लोमा) दिया जाता है। इन कतिपय प्रारम्भिक विद्यालयों या संस्थाओं के अतिरिक्त 'गांधी विद्या संस्थान, वाराणसी', 'इण्डियन इन्स्टीच्यूट आफ सोशल वेलफेयर एण्ड विजनेश मैनेजमेण्ट (१९४२), कलकत्ता', 'वाम्बे लेबर इन्स्टीच्यूट (१९४७) 'बम्बई', श्रम एवं समाज कल्याण विभाग (१९४८) पटना विश्वविद्यालय, पटना, सेन्टजेवियर लेबर रिलेशन्स इन्स्टीच्यूट (१९४९) जमशेदपुर, स्कूल आफ सोशल साइन्सेज, गुजरात यूनिवर्सिटी, अहमदाबाद, इन्स्टीच्यूट आफ सोशल साइन्सेज, आगरा विश्वविद्यालय (१९५५) आगरा, समाजशास्त्र एवं समाजकार्य विभाग (१९५७) आन्ध्र विश्वविद्यालय, "वाल्टेयर", सेन्टजेवियर इन्स्टीच्यूट आफ सोशल सर्विस रांची, उदयपुर स्कूल आफ सोशल वर्क (१९५९) उदयपुर, श्रम एवं समाज कल्याण विभाग, विश्वविद्यालय, भागलपुर, नेशनल इन्स्टीच्यूट आफ सोशल साइन्सेस, (१९६०) बंगलोर, स्कूल आफ सोशल वर्क (१९६०) मंगलोर, इन्दौर स्कूल आफ सोशल वर्क, (१९६०) इन्दौर, समाज-कार्य विभाग (१९६१) यस० एच० कालेज एरणाकूलम,

पी० यू० जी० स्कूल आफ सोशल वर्क (१९६२) कोयम्बटूर, समाज-कार्य विभाग (१९६२) यस० यम० कालेज, मद्रास, सामाजिक नृतत्व-शात्र और समाज कल्याण विभाग (१९६२) कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवार, समाज-कार्य विभाग (१९५७, १९६३) लोयोला कालेज, मद्रास, स्कूल आफ सोशल वर्क (मात्र महिलाओं के लिए १९५५) निर्मला निकेतन, वम्बई, केन्द्रीय जन सहकार, शोव एवं प्रशिक्षण संस्थान नयी दिल्ली इत्यादि भी उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त गोरखपुर व इलाहाबाद तथा अन्नामलायी विश्वविद्यालय, इत्यादि में भी समाज-कार्य सम्बन्धी शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्य होता है। आज देश में समाज-कार्य से सम्बन्धित लगभग तीन दर्जन संस्थाएँ विद्यालय एवं विभाग इत्यादि है जिनमें कि कही तो समाज कार्य की प्रक्रियाओं समेत उसके विभिन्न क्षेत्रों को पाठ्य-क्रमों में सम्मिलित किया गया है और कही क्षेत्रों पर ही मुख्य रूप से जोर दिया गया है। कही तो ये विद्यालय किसी विश्वविद्यालय के संकाय या विभाग के रूप में कार्यरत है और कहीं ये स्वतंत्र सत्ता के संस्थान के रूप में कार्यरत है। कही समाज-कार्य का कार्यक्रम स्नातक स्तर का भी है, स्नातकोत्तर स्तर पर भी है और शोध (डाक्टोरल) स्तर पर भी। कही-कही यह मात्र स्नातकोत्तर स्तर पर ही है। इसके अलावा अनेक संस्थाओं में इनके विभिन्न स्तरों के प्रशिक्षणात्मक कार्यक्रम संचालित होते है।

जिन विद्यालयों में समाज-कार्य का अध्ययन, अध्यापन स्नातक स्तर पर होता है वहाँ यह एक वैकल्पिक विषय के रूप में रखा जाता है। जहाँ पर स्नातकोत्तर स्तर पर यह विषय है उसके लिए प्रायः हर विद्यालय या विभाग उनमें भर्ती हेतु ऐसे ही अभ्यर्थियों पर विचार करता है जो कि कम-से-कम स्नातक हो। यद्यपि आम प्रयत्न यह है कि ये स्नातक किन्हीं भी विषयों के पढ़े हुए हो सकते हैं किन्तु कही-कही प्राकृतिक और जीव-विज्ञान के स्नातकों का प्रवेश निषिद्ध है। चाहे किसी भी विषय का स्नातक भर्ती किया जाय, कोशिश यह की जाती है कि प्राथमिकता उन्हे मिले जो कि समाज-विज्ञान के विषयों के साथ स्नातक परीक्षोत्तीर्ण हों। यद्यपि अधिकतर विद्यालयों में यह मनाही नही है कि स्नातक परीक्षा में विद्यार्थी ने कौन-सी श्रेणी पायी है किन्तु चुनाव करते समय पूर्व उप-लब्धियों व योग्यता-क्रम का ध्यान रखा जाता है। दिल्ली स्कूल आफ सोशल वर्क तथा काशी विद्यापीठ का समाज-सेवा विभाग स्नातकोत्तर स्तर पर दाखिले के लिए उन्ही अभ्यर्थियों की अर्जियों पर ध्यान देता है जो कि स्नातक परीक्षाओं में कम-से-कम पैतालिस प्रतिशत पूर्णांक प्राप्त किये हुए होते है। दिल्ली के विद्यालय में उन अभ्यर्थियों की अर्जियों पर भी ध्यान दिया जाता है जिन्होंने कि कम-से-कम किसी एक विषय में पचास प्रतिशत अंक स्नातक स्तर पर प्राप्त किये हों। आम तौर पर इन पाठ्य-कार्यक्रमों में

दाखिले के लिए उन्हीं लोगों को चुना जाता है जो कि शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक स्तर पर सन्तोषप्रद स्वाथ्ययुक्त होते हैं और जिनकी वय कम-से-कम अट्ठारह वर्ष होती है। कहीं-कहीं यह वय सीमा उन्नीस, बीस, या इक्कीस वर्ष आदि भी है। अधिकतम वय सीमा पर कोई अधिक बल नहीं दिया जाता। भारत में संचालित समाज-कार्य के इन पाठ्य-कार्यक्रमों में भर्ती के अनेक तरीके अपनाये जाते हैं। कहीं तो केवल पूर्व उपलब्धियों के आधार पर न्यूनतम योग्यताओं की परख करके योग्यतानुसार ही चुनाव कर लिया जाता है और कहीं कुछ चुने हुए उम्मीदवारों से साक्षात्कार करने के उपरान्त उनकी उपलब्धि और साक्षात्कार से स्पष्ट योग्यता का समन्वय करके। इसके अतिरिक्त अनेक उन्नत विद्यालय अन्य उन्नत ऐसी प्रविधियों का भी सहारा इस निमित्त लेते हैं जो कि बहुत कुछ उन्नत विदेशों की प्रविधियों से साम्य रखती हैं। इन प्रविधियों में सामूहिक परिचर्चा, बुद्धिलब्धि, अभिरुचि या मानसिक परीक्षण तथा लिखित परीक्षाएं आदि उल्लेखनीय हैं। बहुत-से विद्यालय अभ्यर्थी की आर्थिक, सामाजिक तथा पारिवारिक स्थितियों का भी इस निमित्त पूर्व अध्ययन करते हैं। जब चयनकर्त्ता उपर्युक्त स्थापित मानकों के अनुरूप अभ्यर्थी को पाते हैं तो कुल निश्चित संख्या को दृष्टि में रखते हुए योग्यता-क्रम से उसका चुनाव करते हैं।

समाज-कार्य के स्नातकोत्तर पाठ्य-कार्यक्रम में प्रति सप्ताह लगभग पन्द्रह से अठारह घण्टों तक कक्षा में अध्यापन होता है तथा लगभग इतना ही समय व्यावहारिक कार्य हेतु निश्चित किया जाता है। कक्षा में जो कुछ पढ़ाया जाता है, उसमें एक तो ऐसी आधारभूत पाठ्य-वस्तु होती है जो कुछ सामाजिक व व्यवहारगत विज्ञानों का परिचय कराती है तथा वृत्तिकर्ता के हेतु जिनकी जानकारी आवश्यक है तथा दूसरे वे पाठ्य वस्तुएँ हैं जिन्हें कि समाज-कार्य में पद्धति के रूप में जाना जाता है। पद्धतियों में वैयक्तिक कार्य, सामूहिक कार्य, सामुदायिक संगठन, समाज-कल्याण-प्रशासन, सामाजिक शोध तथा सामाजिक क्रिया सम्मिलित हैं। तीसरी पाठ्य-वस्तु समाज-कार्य के क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में बाल एवं परिवार-कल्याण, श्रम-कल्याण, चिकित्सकीय एवं मनश्चिकित्सकीय समाज-कार्य, सुधार प्रशासन, जनजातीय कल्याण, ग्रामीण कल्याण तथा संस्थागत सेवाएँ इत्यादि प्रमुख हैं। आमतौर पर पहले वर्ष आधारभूत सामाजिक विज्ञानों के परिचयात्मक अध्यापन के साथ-साथ प्रमुख पद्धतियों के अध्यापन की व्यवस्था की जाती है। दूसरे वर्ष प्रमुख या सहायक पद्धतियों के साथ ही क्षेत्र विशेष में विशेषीकरण की व्यवस्था रहती है। प्रायः समाज-कार्य-विद्यालयों में कक्षागत पठन-पाठन के अतिरिक्त दोनों ही वर्ष प्रत्येक छात्र को प्रक्रियात्मक पद्धतियों का व्यावहारिक ज्ञान कराया जाता है। आमतौर पर इनमें वैयक्तिक कार्य और सामूहिक कार्य पर अधिक बल दिया जाता है। जो छात्र जिन क्षेत्रों में विशेषीकरण

करते हैं उन्हें प्रायः यह कोशिश की जाती है कि उन्हीं क्षेत्र विशेष के सामाजिक अभिकरण में व्यावहारिक कार्य का अवसर सुलभ हो। जो संस्थाएँ श्रम या वैयक्तिक प्रबन्ध से सम्बन्धित कार्यक्रमों का संचालन करती हैं उनके पाठ्यक्रमों और प्रशिक्षण के कार्यक्रमों का गठन समाज-कार्य के विद्यालयों के पाठ्यक्रमो के गठन से भिन्न होता है। इन संस्थाओं में या तो पद्धतियों पर बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया जाता या मात्र उनका स्पर्श तक ही किया जाता है। यहाँ के व्यावहारिक कार्य भी भिन्न तरीके के होते हैं। यहाँ के छात्र सीधे-सीधे सम्बन्धित मानव के साथ कार्य करने का अनुभव नही प्राप्त करते और मात्र अवलोकन और अध्ययन पर ही अधिकांश निर्भर रहते हैं। समाज-कार्य के विद्यालयों में व्यावहारिक कार्य का अनुभव प्रत्येक छात्र को एक तो कम-से-कम उस क्षेत्र के अभिकरण में करना ही पड़ता है जिसमें कि वह विशेषीकरण कर रहा है इसके अतिरिक्त उसे दूसरे क्षेत्र के अभिकरण में भी काम करना पड़ता है। कहीं-कहीं तो एक छात्र को दो वर्ष में तीन-चार अभिकरणों में काम का अनुभव करना पड़ता है। व्यावहारिक ज्ञान को और अधिक पुष्ट करने की दृष्टि से कतिपय अग्रणी विद्यालय अपने छात्रों को सम्पूर्ण पाठ्य-क्रम समाप्ति के तत्काल उपरान्त दो तीन माह के लिए किसी क्षेत्र विशेष के अभिकरण में अनुभव हेतु भेजते हैं। दो वर्ष के पाठ्यक्रम में ही किसी एक सामाजिक समस्या पर एक छोटा-सा शोध करना होता है और इसका प्रतिवेदन प्रस्तुत करना होता है। शोध वैयक्तिक या सामूहिक दोनों स्तरों पर कराये जाते हैं और इसमें एक या एक से अधिक अध्यापकों का निर्देशन और निरीक्षण होता है। प्रायः ऐसे शोध में प्रश्नावलियों के माध्यम से तथ्य संकलन किया जाता है। सामाजिक शोध की बढ़ती हुई माँग और आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए यह जरूरी समझा जाता है कि प्रत्येक छात्र शोध के आधुनिकतम तरीकों का कम-से-कम परिचय मात्र तो अवश्य ही रक्खें। टाटा इन्स्टीच्यूट आफ सोशल साइन्सेस ने तो शोध में विशेषीकरण का भी प्राविधान किया है और शीघ्र ही काशी विद्यापीठ का समाज-सेवा विभाग भी ऐसा ही करने जा रहा है। अब तक के समाज-कार्य सम्बन्धी लगभग आधे विद्यालयों ने चार-पाँच क्षेत्रों में विशेषीकरण का प्राविधान किया है जब कि शेष मात्र इनका परिचयात्मक अध्ययन अध्यापन करते हैं। शोध में समस्याओं का चयन और छात्र विशेष को उसमें संयुक्त करते समय यह देखा जाता है कि छात्र का विशेषीकरण क्या है। सामाजिक विज्ञानों के जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग समाजकार्य-शिक्षण हेतु समझे जाते हैं, वे हैं एक तो समाजशास्त्र तथा दूसरे मानव व्यवहार शास्त्र। इन्हीं को आधार मानकर पाठ्यक्रमों में एक मुख्य चर्चा व्यक्ति और समाज की तथा दूसरे व्यक्ति के मनोसामाजिक विकास की हुआ करती है। कोशिश यह की जाती है कि इन प्रश्न पत्रों को वे ही अध्यापक पढ़ाएँ जिन्हें कि क्रमशः समाज शास्त्र एवं मनोविज्ञान की अच्छी जानकारी हो या वे इन विषयों में स्नात-

कोत्तर उपाधिधारी हों। इन दो बुनियादी पर्चो के अलावा सामाजिक सेवा, जन स्वास्थ्य, मनोविज्ञान तथा आर्थिक और राजनीतिक गत्यात्मकता सम्बन्धी पर्चे भी पाठ्यक्रमों मे सम्मिलित किये जाते हैं। पद्धतियों को पढ़ाते समय भारतीय परिप्रेक्ष्य से उदाहरण लिये जाते हैं और अभिलेखों का सहारा लिया जाता है। बहुत से विद्यालयों ने ऐसे अभिलेख तैयार किये हैं और वे उनमें अपनी आवश्यकतानुरूप संशोधन और परिवर्धन भी करते रहते हैं। समाज-कार्य के अनेक विद्यालयों में विशेषीकरण हेतु छात्रों की अधिकतम संख्या अलग-अलग निश्चित रहती है। कक्षागत अध्ययन एवं अभिकरणगत व्यावहारिक अनुभव के अतिरिक्त प्रायः अनेक प्रमुख विद्यालय अपने विद्यार्थियों को देश के विभिन्न अंचलों में स्थित और कार्यरत विभिन्न प्रकार के अभिकरणों को देखने समझने हेतु डेढ़ दो सप्ताह की अध्ययन यात्रा की व्यवस्था करते हैं। इनमें भी छात्रों के विशेषीकरण का ध्यान रखते हुए उन्हें सम्बन्धित अभिकरणों का अवलोकन कराया जाता है और वहाँ के कार्यकर्त्ताओं और अधिकारियो से मिलने-जुलने और बातचीत का अवसर प्राप्त कराया जाता है। अध्ययन यात्रा के अतिरिक्त ग्रामीण या सुदूर स्थित अंचलों में हफ्ते दो हफ्ते के शिविर भी लगाये जाते हैं जहाँ कि छात्र अनुशासित, सहयोगी और सहकारी जीवन-कला को सीखते और विकसित करने के साथ ही श्रमदान के माध्यम से कुछ छोटा-मोटा निर्माण और उत्थान का भी कार्य करते हैं। विद्यार्थियों को पुस्तकालयों की सुविधा प्राप्त है और वे वहाँ अनेक पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं इत्यादि का अध्ययन और मनन करते हैं। यद्यपि अभी विद्यालयों में इस बात पर कोई खास ध्यान नहीं दिया गया है कि छात्र नियमित रूप से वाद-विवाद और शिक्षणात्मक कक्षाओं की व्यवस्थाओं का लाभ उठा सकें किन्तु छिट-पुट ऐसे प्रबन्ध भी होते रहते हैं। वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत लगभग एक हजार घण्टा कक्षागत अध्यापन के लिए उपलब्ध है। यद्यपि विषय वार इसका कोई एक रूप बँटवारा नही है किन्तु अनेक विद्यालय, व्यक्ति और समाज तथा व्यक्ति का मनोसामाजिक विकास नामक पर्चों पर एक दसांश समय निर्धारित करते हैं और विशेषीकरण पर लगभग इन दोनों को मिलाने पर जितने घण्टे होते हैं उतना ही खर्च करते हैं। एक दसांश से कुछ कम क्षेत्र के सामान्य अध्ययन पर लगाया जाता है तथा लगभग इतना ही समाज-कल्याण एवं नीति के पर्चे पर। शेष घण्टों में पद्धतियों एवं अन्य पर्चो का लगभग समान-सा बँटवारा होता है। बहुत कुछ इसी अनुपात में विभिन्न प्रश्नपत्रों के अलग-अलग पूर्णांक भी निश्चित होते हैं। यद्यपि लगभग उतना ही समय या कुछ अधिक समय व्यावहारिक कार्य हेतु निश्चित किया जाता है किन्तु उसका पूर्णांक सम्पूर्ण के पचमांश के लगभग ही होता है। यद्यपि पुस्तकालयों की व्यवस्थाएँ हैं और उनमें विकास भी हो रहा है किन्तु ज्यादातर पुस्तकालयों में एक तो बहुत ही कम पुस्तकें या पत्र-पत्रिकाएँ सुलभ हैं दूसरे उनमें से अधिकांश बहुत पुरानी

और अनुपयोगी-सी है तथा मात्र विदेशी सन्दर्भों की है। विदेशी उदाहरणों से यहाँ की स्थिति मे ज्ञान के उपयोग को समझने और व्यवहार करने में कठिनाई होती है। समाज-कार्य विद्यालयों के अनेक पुस्तकालयों में पुस्तकालय हेतु न तो कोई अलग से धनराशि निश्चित होती है और न तो इस निमित्त अलग से कर्मचारी ही हैं। किताबों को सुरक्षित तौर पर रखने के लिए आवश्यक स्थान और उपकरणों की भी कमी है। साधारण आर्थिक स्थिति के छात्र के लिए यह और भी जरूरी है कि उसे अध्ययन की अधिकतम सामग्री पुस्तकालयों से मिले।

स्नातकोत्तर स्तर पर शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले विद्यार्थी को आमतौर पर कुल मिला कर लगभग निम्नलिखित पाठ्य तत्त्वों का अध्ययन करना पड़ता है :—

प्रक्रियात्मक विषयों के अन्तर्गत—वैयक्तिक कार्य एक समस्या समाधान की प्रक्रिया के रूप मे, समस्याग्रस्त व्यक्ति के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन और विश्लेषण, व्यक्ति, परिस्थिति और समस्या तथा अभिकरण के बीच अन्तःक्रिया, व्यक्तित्व और मानव-व्यवहार सम्बन्धी आधारभूत अवधारणाएँ, आन्तरिक और बाह्य दबाव, इनका प्रतिफल, अध्ययन, नियोजन, निदान, उपचार और उत्तर-रक्षण, अन्तःसंबंध की गत्यात्मकता, वैयक्तिक कार्य प्रक्रिया के विभिन्न रूप और उसका प्रतिफल, वैयक्तिक कार्य की विभिन्न प्रविधियाँ, सहायता प्रक्रिया के साधन, वैयक्तिक कार्य के सिद्धान्त और उनका विभिन्न दशाओं में प्रयोग, अभिकरण और समुदाय, प्राथमिक और द्वितीयक क्षेत्र, अभिकरण प्रशासन और नीतियाँ, वृत्तिक मानक से इनका सम्बन्ध, अधिकारी और निरीक्षण, साक्षात्कार के विभिन्न चरण और वैयक्तिक कार्यभार। समूह की परिभाषा, सामूहिक कार्य का क्षेत्र, सामूहिक जीवन का अर्थ और महत्त्व, अभिनव मूल्य और समूह, परिवर्तन, व्यक्ति और समूह की आवश्यकताएँ, समाज-कार्य की प्रक्रिया के रूप में सामूहिक कार्य का विकास, सामूहिक विधि से व्यक्ति की सहायता का तरीका, जनतांत्रिक लक्ष्य से सम्बन्ध, सामूहिक कार्य क अन्य प्रक्रियाओं से सम्बन्ध, सामूहिक कार्य के सिद्धान्त, उसकी प्रविधियाँ और साधन, सामूहिक कार्यकर्त्ता के कर्त्तव्य, सामूहिक कार्यकर्त्ता के गुण, समूह-निर्माण, कार्य तथा समापन से सम्बन्धित विभिन्न स्थितियाँ और दायित्व, मनोसामाजिक कारक और उनका सदुपयोग, समूहगत निर्देशन, अवचेतन शक्तियों का उपयोग, सामूहिक व्यवहार, सामूहिक नियंत्रण, नेतृत्व, कार्यक्रम विकास और एतद्सम्बन्धी सिद्धान्त और साधन, संचार। सामुदायिक संगठन की परिभाषा, क्षेत्र और स्वरूप सामुदायिक संगठन की उपादेयता, सामुदायिक संगठन का प्रक्रियात्मक स्वरूप, विभिन्न प्रक्रियाओं और विषयों से सम्बन्ध, इसके लक्ष्य, ध्येय और सिद्धान्त, सामुदायिक संगठन के चरण और साधन, सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ता का दायित्व कर्त्तव्य और गुण, भारत और

अन्यत्र सामुदायिक संगठन की स्थिति, सामुदायिक विकास कार्यक्रम, उनके लक्ष्य, कार्य-क्रम और प्रभाव, सामुदायिक संगठन के सहायक कारक, सामुदायिक संगठन के आदर्श स्वरूप, सामाजिक क्रिया और सामुदायिक संगठन, समाज-कल्याण कार्य, सामुदायिक संगठन-कार्य और कार्यकर्त्ता, विभिन्न सामुदायिक कल्याण संस्थाएँ और उनका अध्य-यन। प्रशासन और जनतांत्रिक विकेन्द्रीकरण, समाज-कल्याण, प्रशासन की अवधारणा, इसका सामूहिक प्रक्रियात्मक स्वरूप, सामाजिक नीतियाँ, और सामाजिक सेवाएँ, अन्य प्रशासनों से भेद, सामूहिक गत्यात्मकता, सामुदायिक सम्बन्ध और सामाजिक नीतियाँ, प्रशासन को समझने की आवश्यकता, आधारभूत प्रशासनिक क्रियाएँ, प्रशासन के तत्त्व, अन्य प्रक्रियाओं से सम्बन्ध, समाज-कल्याण-प्रशासक के कौशल एवं गुण। सामाजिक शोध का अर्थ, ध्येय और क्षेत्र, सामाजिक शोध के प्रकार और चरण, शोध की संरचना, तथ्य संकलन की विधियाँ और उसके साधन, उसकी प्रक्रिया, प्रामाणि-कता, सिद्धान्त और अवधारणाएँ, उपकल्पना और परीक्षण, तथ्य के स्रोत, तालिका निर्माण, मापन विधियाँ और प्रविधियाँ, भारत में शोध की स्थिति, लेखा और चित्र, सांख्यिकी का स्वरूप, उसकी प्रारम्भिक विधियाँ और प्रविधियाँ, परिचयात्मक सिद्धान्त और उनका प्रयोग, सूचनांक, और कतिपय परीक्षण।

समाज-कार्य के क्षेत्रों के अन्तर्गत निम्नलिखित बातें आती हैं :—

क्षेत्र विशेष का अर्थ, क्षेत्र और प्रसार, क्षेत्र विशेष की स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियाँ, क्षेत्र विशेष में मानव-व्यवहार, वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओं का स्वरूप और उनके निराकरण के साधन, प्रक्रिया, विधि-प्रविधि-सिद्धान्त, क्षेत्र विशेष में सामाजिक कार्यकर्त्ता की भूमिका, उसके दायित्व और गुण-कौशल, क्षेत्र विशेष सम्बन्धी विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और कानूनी कारक और उनका प्रभाव एवं उनका उपयोगानुपयोग, तत् सम्बन्धी प्रशासन, और रोजगार, राजकीय और स्वैच्छिक संस्थाएँ, सम्पूर्ण सम्बन्धी परिचयात्मक इतिहास। परिचयात्मक पाठ्य वस्तु एवं सहायक अन्य विषयों के पर्चों के अन्तर्गत समाज-कार्य का स्वरूप, क्षेत्र और परिभाषा, सामाजिक सुधार-आन्दोलन समाज-सेवा, समाज-कल्याण तथा रचनात्मक कार्य इत्यादि से इसका भेद, समाज-सेवा का स्वरूप, देश-विदेश में इसका इतिहास और विकास। इसका वृत्तिक स्वरूप, समाज-कार्य के सिद्धान्त, क्षेत्र, विधि-प्रविधि, चरण, दायित्व, कौशल और कार्यकर्त्ता, कथित की अन्योन्याश्रयिता।

व्यक्ति और समाज, सामाजिक प्रक्रियाएँ, सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक

विभेदीकरण, सामाजिक संगठन, सामाजिक उद्विकास और प्रगति, सामाजिक विघटन, सामाजीकरण, सामाजिक समूह, सभ्यता और संस्कृति, सामाजिक पद और सामाजिक कर्त्तव्य, विवाह, परिवार, धर्म, शिक्षा, जाति और वर्ग, राज्य और उसके सामाजिक कर्त्तव्य, जनतांत्रिक समाज में मानवाधिकार, कल्याण राज्य की अवधारणा, औद्योगीकरण और नगरीकरण, नगरी और ग्रामीण जीवन, सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक नियोजन तथा व्यक्तित्व। मानव व्यक्तित्व और व्यवहार, इनका स्वरूप और अवधारणाएँ, इनकी गत्यात्मकता, व्यक्ति की शुरूआत, वंशानुक्रम, पर्यावरण, विकास की अवस्थाएँ, प्रौढ़ता और अन्त, इन सबसे सम्बन्धित शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान, और समाजशास्त्र का परिचय, विभिन्न प्रकार की वैयक्तिक आवश्यकताएँ और उनकी परितृप्ति, सामाजिक कार्यकर्त्ता के लिए इसका ज्ञान और उपयोग। सामाजिक समस्या की परिभाषा, उसके अध्ययन और निराकरण की पद्धतियाँ, सामाजिक विघटन की अवधारणा और कारक, सामाजिक पुनःस्थापन की अवधारणा, भारत में सामाजिक समस्याओं का स्वरूप, भोजन, आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा, वस्त्र और मनोरंजन की समस्या और उनके विभिन्न पहलू, पंचवर्षीय योजनाएँ, उनके सिद्धान्त, लक्ष्य और उनकी उपलब्धियाँ, गरीबी, बेरोजगारी, पारिवारिक विघटन, परिवार नियोजन, मद्यपान, वेश्यावृत्ति, बालापचार और अपराध, मानसिक और शारीरिक बाधिता, ऊँच-नीच और अस्पृश्यता और इन सबसे सम्बन्धित अनेक स्थितियाँ और विधान इत्यादि। मनोपचार शास्त्र की अवधारणाएँ, क्षेत्र, सिद्धान्त और प्रविधियाँ, मानसिक रोगियों के भेद, उनके कारक, उपचार और सहायता कार्यक्रम, मानसिक रोगियों के व्यवहार का विज्ञान। आर्थिक अवधारणाएँ, प्रणालियाँ और उनका समाज पर प्रभाव, आर्थिक उन्नति के मूल और उनकी सीमाएँ, विकासमान अर्थ व्यवस्था के गुण-दोष, कृषि और एतत्सम्बन्धी मानवीय समस्यायें, यांत्रिक विकास, राष्ट्र और अर्थव्यवस्था, आर्थिक नियोजन और उसके सामाजिक पहलू, विकासात्मक और परिवर्तनशील आर्थिक ढाँचा और समाज, भारत में आर्थिक नियोजन और उसके फल। जनमत, प्रचार, नेतृत्व, और सामाजिक विकास की गत्यात्मकता। संचार के सिद्धान्त और सामूहिक गत्यात्मकता, विकासगत बाधाएँ और उनका निराकरण, भारतीय संविधान, विधि का समाज और जीवन में महत्त्व, विधान, नियंत्रण एवं परिवर्तन,
नियोजन, विकास और राजनीतिक दल एवं जनतांत्रिक मूल्य, न्यायपालिका, उसके क्षेत्र, दायित्व और सिद्धान्त, कार्यपालिका, उसका स्वरूप, क्षेत्र, कर्त्तव्य और नीतियाँ, इनके विभिन्न स्वरूप और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के गुण और कर्त्तव्य, जनजातियाँ और उनसे सम्बन्धित कार्यक्रम इत्यादि।

समाजकार्य शिक्षण-प्रशिक्षण में व्यावहारिक कार्य का अत्यधिक महत्त्व है। किसी व्यक्ति को कुशल वृत्तिक कार्यकर्त्ता बनाने के लिए व्यावहारिक अनुभव की नितान्त आवश्यकता हुआ करती है। चूँकि समाजकार्य एक व्यावहारिक विज्ञान और वृत्ति है इसलिए इसका शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि वह जो कुछ अध्ययन करे उसका व्यावहारिक प्रयोग भी क्षेत्रगत संदर्भों में जाने-समझे। इसी दृष्टि से अर्थात् कार्यात्मक अनुभव हेतु समाज-कार्य के विद्यालय या विभाग अपने पाठ्यक्रम के लक्ष्य और ध्येय के अनुरूप समाज-कार्य के विभिन्न क्षेत्रों में कक्षागत अध्ययन के साथ-साथ अपने छात्रों को नियमित रूप से भेजते हैं। व्यावहारिक कार्य में बहुत से विद्यालय इस बात पर बल देते हैं कि विद्यार्थियों को प्रक्रियात्मक विषयों या पद्धतियों को विभिन्न सामाजिक अभिकरणगत परिस्थितियों में व्यवहृत करने का अनुभव प्राप्त हो और वे प्रशिक्षणोपरान्त एक कुशल प्रक्रिया विशेषज्ञ सामाजिक कार्यकर्त्ता बन सकें। अन्य अनेक विद्यालय इस बात पर बल देते हैं कि विद्यार्थियों को व्यावहारिक अनुभव मिले जो कि उनके विशेषीकरण के क्षेत्र मे कार्य सामर्थ्य को बढ़ावा देता हो। चाहे इन दोनों में से किसी भी लक्ष्य से व्यावहारिक कार्य का कार्यक्रम निर्धारण या नियोजन किया जाय यह सदा ध्यान रखा जाता है कि छात्र को सम्बन्धित जिन तत्त्वों का अध्ययन कक्षा में कराया गया है उनका उपयोग और समन्वय वे व्यावहारिक कार्य के दौरान करें। कक्षागत ज्ञान और व्यवहारगत अनुभव दोनों एक दूसरे के परिपूरक और अन्योन्याश्रयी होते हैं। समाज-कार्य के उन्नत अभिकरणों के अभाव में इसके विद्यार्थियों को समुचित व्यावहारिक अनुभव नहीं मिल पा रहा है। प्रक्रियाओं के समुचित प्रयोग के अवसर और साधन बहुत ही कम सुलभ हैं। जहाँ क्षेत्र सम्बन्धी ज्ञान का अनुभव कराया जाता है वहाँ भी संस्थाओं से अपेक्षित या प्रशिक्षणार्थ आवश्यक समुचित सहयोग एवं सहकार कम ही मिल पाता है। वस्तुतः भारत में समाज-कार्य के व्यावहारिक अनुभव का पक्ष उतना मजबूत नहीं हो सका है जितना कि होना चाहिए और कक्षागत या पुस्तकों इत्यादि के माध्यम से होने वाला अध्ययन-अध्यापन इस पर जरूरत से कुछ ज्यादा ही हावी है। यह भी एक कारण है जिससे कि हमारे यहाँ से प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्त्ता सच्चे अपेक्षित अर्थों में एक सामाजिक कार्यकर्त्ता नहीं बन पाते। यद्यपि काशी विद्यापीठ का समाज सेवा विद्यालय, टाटा इन्स्टीच्यूट आफ सोशल साइन्सेस, बम्बई, दिल्ली स्कूल आफ सोशल वर्क, दिल्ली तथा समाज-कार्य का बड़ौदा स्थित विद्यालय आदि स्वयं ही ग्रामीण एवं नगरीय समाज-कल्याण-केन्द्र या अभि-करण संचालित करते हैं किन्तु इनसे वे समस्त छात्र व छात्राएँ नही लाभान्वित हो पाते जो कि यहाँ शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे देश के अन्य अभि-

करण जिनका कि इस हेतु प्रयोग होता है, अपेक्षित साधनो या कार्यक्रमो से प्रायः युक्त नहीं है और इनकी भी संख्या अपर्याप्त ही है। समाज-कार्य के व्यावहारिक अनुभव को सफल और उपयोगी बनाने के लिए यह जरूरी है कि विद्यार्थियो का समुचित निरीक्षण और निर्देशन किया जाय। हमारे देश के सामाजिक अभिकरणो मे प्रायः ऐसे व्यक्ति नहीं है जिन्हें कि छात्रो के व्यावहारिक कार्य के निदशन और निरीक्षण की जिम्मेदारी सौंपी जा सके। बहुत-से विद्यालयो में अलग से व्यावहारिक कार्य के निरीक्षक है। अनेक विद्यालयों में कक्षागत अध्यापन और व्यावहारिक कार्य के निरीक्षण दोनों ही कार्यों को प्रायः प्रत्येक अध्यापक करता है। कही-कही ऐसा भी है कि व्यावहारिक कार्य को कक्षागत अध्यापन से कम महत्त्व दिया जाता है और फलस्वरूप वरिप्ठ अध्यापको को कक्षाओं में पढ़ाने का कार्य सौंपा जाता है तथा कम अनुभव प्राप्त या नये अध्यापकों को व्यावहारिक कार्य निरीक्षण का कार्य सौपा जाता है। एक व्यवित को कुशल सामाजिक कार्यकर्त्ता बनाने के लिए यह जरूरी है कि इन दोनों को ही समान महत्त्व दिया जाय और प्रत्येक अध्यापक को दोनों ही काम सौंपे जायें, जिससे कि वे इन दोनों की परिपूरकता का लाभ उठाने के साथ-साथ इन दोनों को अधिकाधिक पुप्ट भी कर सकें। बहुत से विद्यालयों में किसी वरिष्ठ अध्यापक को व्यावहारिक कार्य का निदशक या अध्यक्ष बनाया जाता है जो कि व्यावहारिक कार्य सम्बन्धी अवसरों, सुविधाओं, साधनों, एवं कार्यक्रमों का नियोजन एवं संचालन करने के साथ-साथ व्यावहारिक कार्य का निरीक्षण करने वाले अध्यापकों और छात्रों से विचार-विमर्श कर उनकी मदत का काम भी करता है। व्यावहारिक कार्य का अच्छा अनुभव प्राप्त करने के लिए यह जरूरी समझा जाता है कि छात्रों का प्रति सप्ताह निरीक्षण और निर्देशन किया जाय और बीच-बीच में उनका उन आधारों पर मूल्यांकन किया जाता रहे जिनका कि उन्हें पूर्व परिचय एवं ज्ञान हो। छात्रों से उनके कार्यों का नियमित प्रतिवेदन लिखवाया जाता है, उसे जाँचा जाता है और उनका छात्रों द्वारा स्वयं ही और एक छात्र का दूसरे छात्र के द्वारा बीच-बीच में मूल्यांकन कराया जाता है। इन सबसे उन्हें अपनी खामियों को जानने, परखने और सुधारने का अच्छा मौका मिलता है। सत्र के अन्त में प्रगति और उपलब्धि का मूल्यांकन कर परीक्षा की दृष्टि से छात्र की स्थिति निश्चित की जाती है।

समाज-कार्य का शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले छात्रों का मूल्यांकन करने का तरीका भिन्न-भिन्न विद्यालयों में भिन्न-भिन्न है। कहीं तो वर्ष मे दो बार और दो वर्ष में कुल मिला कर चार बार परीक्षाएँ होती है और कही वर्ष के अन्त में एक बार और दो वर्षो में कुल दो बार ही परीक्षाएँ ली जाती हैं। कही-कहीं वर्ष में दो और दो वर्ष में चार या कुछ इसी प्रकार कक्षाओं में निर्दिष्ट कार्य या गृह निर्दिष्ट कार्य दे कर आंशिक परीक्षाएँ ली

जाती है और कही-कही ऐसी कोई भी व्यवस्था नही है। कक्षागत अध्यापन वाले विषयों की परीक्षाओं में ज्यादातर अन्य विद्यालय के अध्यापकों से भी प्रश्न-पत्र और उत्तर पुस्तिका जँचवाने का प्रचलन है। वहुत-से विद्यालय मात्र आन्तरिक परीक्षकों के द्वारा ही यह कार्य सम्पादित करते हैं। प्राय: प्रत्येक विद्यालय में व्यावहारिक कार्य के मूल्यांकन और परीक्षा का कार्य निरीक्षक ही करते है। कही-कही मात्र मौखिक परीक्षा हेतु वाहरी परीक्षक बुलाये जाते है। अधिकतर मौखिक परीक्षा में अधिक बल उसी पक्ष पर दिया जाता है जिसमे की छात्र विशेषीकृत है या जिसमें शोध प्रतिवेदन प्रस्तुत किया है। कही-कही मौखिक परीक्षा के माध्यम से छात्र के ज्ञान के सभी पक्षो को आंकने की चेष्टा की जाती है। बहुत-से विद्यालय जो कि प्राय: विश्वविद्यालयों के विभाग है, सफलतापूर्वक उत्तीर्ण छात्रों को योग्यतानुसार श्रेणियाँ देते है। प्राय: कम से कम साठ प्रतिशत सम्पूर्णांक प्राप्त करने वाले छात्र को प्रथम श्रेणी, प्राय: कम से कम अड़तालिस प्रतिशत सम्पूर्णांक प्राप्त करने वाले छात्र को द्वितीय श्रेणी तथा इससे नीचे उत्तीर्णांक तक प्राप्त करने वालों को तृतीय श्रेणी दी जाती है। कई जगह मात्र प्रथम और द्वितीय श्रेणी ही दी जाती है, तृतीय श्रेणी का कोई विधान ही नही है, कई जगह अमरीकी पद्धति से मात्र अ, व, स, श्रेणियाँ दी जाती हैं।

शोधकार्य (डाक्टोरल उपाधि) हेतु वे ही व्यक्ति योग्य समझे जाते है जिन्हें कि पैंतालिस, अड़तालिस, पचास या इससे भी अधिक प्रतिशत सम्पूर्णांक एम० ए० स्तर की परीक्षा में प्राप्त रहते है। कहीं-कहीं शिक्षकों को इसमें कुछ रियायत दी जाती है। कही-कही इस स्तर पर शोधकार्य हेतु नाम लिखवाने के लिए यह भी जरूरी है कि स्नातकोत्तर उपाधि उपरान्त लगभग दो वर्ष का कार्य का अनुभव हो। टाटा इन्स्टीच्यूट आफ सोशल साइन्सेस, बम्बई और काशी विद्यापीठ के समाज सेवा विभाग इत्यादि में इस स्तर के कार्यक्रम में पहले एक वर्ष तक शोध सम्बन्धी कक्षागत अध्ययन कराया जाता है और तदु-परान्त लगभग दो वर्ष में शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने का विधान है। आगरा के इन्स्टीच्यूट आफ सोशल साइन्सेस में शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने के पूर्व यह जरूरी है कि उसी के अन्त-र्गत संचालित शोध पद्धति शास्त्र सम्बन्धी स्नातकोत्तरोत्तर प्रमाणपत्र (डिप्लोमा) प्राप्त किया जाय और किसी एक मातृभाषा के अतिरिक्त भाषा में परिचयात्मक योग्यता की प्रमाणपत्रीय परीक्षा उत्तीर्ण कर ली जाय। लखनऊ विश्वविद्यालय, समाज-शास्त्र एवं समाज-कार्य विभाग में ऐसा नियम है कि उपर्युक्त भाषा सम्बन्धी परीक्षा को उत्तीर्ण तो किया ही जाय और कुल छः सत्रों में से कम से कम तीन सत्र तक इस विभाग मे उपस्थित रहा जाय। उपस्थिति सम्बन्धी यह नियम इसी विभाग से एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण छात्रों पर नही लागू है।

शोध प्रबन्ध से यदि परीक्षक और सम्बन्धित समिति सन्तुष्ट होती है तो प्रायः मौखिक परीक्षा भी ली जाती है। इसको उत्तीर्ण कर लेने पर विद्यार्थी को डाक्टरेट की उपाधि दी जाती है। लखनऊ विश्वविद्यालय में मौखिक परीक्षा आमतौर पर नहीं होती। यह परीक्षा यहाँ किन्ही विशेष दशाओं में आवश्यक समझी जाने पर ही ली जाती है। कही तो डाक्टोरल उपाधि समाज-कार्य विशेष में दी जाती है और कही समाज शास्त्र विषय में। यहाँ इस उपाधि को 'डाक्टर आफ फिलासोफी' कहते हैं। इसके उपरान्त अत्यन्त उच्चकोटि के शोध प्रबन्ध पर डी० लिट्० की उपाधि की भी कहीं कहीं व्यवस्था है।

केन्द्रीय और अनेक प्रान्तीय सरकारों ने समाज कल्याण सम्बन्धी कई पदों पर नियुक्ति हेतु समाज-कार्य सम्बन्धी उपर्युक्त उपाधियों को नियमतः अनिवार्य कर दिया है।

समाज-कार्य सम्बन्धी शिक्षण-प्रशिक्षण हेतु आज जिन व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती है, उनका चुनाव उनकी शैक्षणिक योग्यता और अनुभव के आधार पर किया जाता है। ऐसे व्यक्तियों को वरीयता दी जाती है जिनकी कि शैक्षणिक उपलब्धियाँ अविरल रूप से उच्चकोटि की होती है और जिन्होंने स्नातकोत्तर स्तर की उपाधि प्रथम या उच्च द्वितीय श्रेणी में या इसके समकक्ष प्राप्त की है। अच्छा तो यह समझा जाता है कि व्यक्ति ने शोध स्तर की उपाधि भी प्राप्त कर ली हो। वाचक (रीडर) एवं प्राध्यापक (प्रोफेसर) के पदों पर नियुक्ति के लिए प्रायः शोध उपाधि या इसी स्तर के शोध कार्य को अनिवार्य माना जाता है, इसके अतिरिक्त, इन दोनों ही पदों पर नियुक्ति हेतु पाँच, सात या दश वर्ष का उच्चस्तरीय अध्यापन अनुभव भी प्रायः अनिवार्य होता है। वरीयता उन्हें दी जाती है जिन्होने कि उच्चकोटि की रचनाएँ और शोध-निर्देशन का कार्य किया हो। व्यावहारिक कार्य निरीक्षक के पद पर नियुक्ति के लिए उनको वरीयता दी जाती है जिनका एतत् सम्बन्धी अच्छा अनुभव होता है। चाहे अध्यापक किसी भी स्तर के हों, उनसे यही अपेक्षा की जाती है कि वे व्यावहारिक कार्य-निरीक्षण, कक्षा-गत अध्यापन, शोध प्रायोजना, निर्देशन और शिक्षण-प्रशिक्षण के विद्यालयगत अन्यान्य कर्त्तव्यों का पालन करने के साथ-साथ समाज-कार्य वृत्ति सम्बन्धी समाजगत अभिकरणों और कार्यक्रमों के विकास में भी सहयोग देंगे। यदि अध्यापक सम्बन्धित विषयों और क्षेत्रों में उच्च स्तर के शोध कार्य में स्वयं भी संलग्न रहे तो यह समाज-कार्य के सारे शिक्षण-प्रशिक्षण के लिए उपादेय होगा। उच्चस्तरीय शोध-कार्य हेतु यह आवश्यक है कि संस्थाओं या विद्यालयों में शोध सम्बन्धी नवीन उपकरण हों। यद्यपि हमारे यहाँ इनकी काफी कमी है किन्तु आपसी सहयोग से काफी हद तक इस कमी को फिलहाल पूरा

किया जा सकता है और बहुधा किया भी जाता है। अपने विशिष्ट परिवेश और संस्कृति में उपादेय विशेष विधियों-प्रविधियों के विकास हेतु आधारभूत तथ्यों की उपलब्धि के लिए क्षेत्रगत शोध की अति आवश्यकता है। शोध द्वारा कल्याण-कार्यक्रम-नियोजन और कार्यान्वियन में सुविधा होती है। प्रायः विद्यालय यह चेष्टा करते हैं कि क्रमशः अध्यापक और विद्यार्थी का अनुपात एक और दस में अधिक का न हो। कहीं-कहीं तो प्रति अध्यापक पीछे छात्र सात-आठ ही हैं। प्रवक्ता स्तर के अध्यापक से प्रायः यह अपेक्षित है कि वह प्रति सप्ताह कम से कम पन्द्रह घण्टे अध्यापन या निरीक्षण का कार्य करें। वाचक स्तर के अध्यापक से यह अपेक्षित है कि वह निर्देशन एवं पाठ्य-वस्तु विकास या अन्य कार्य करे। प्राध्यापक स्तर के अध्यापक से यह अपेक्षित है कि वह कम से कम लगभग एक घण्टा प्रतिदिन के औसत से शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्य करे एवं इसके अतिरिक्त उच्चस्तरीय शोध निर्देशन और प्रशासन सम्बन्धी कर्तव्य आदि का निर्वाह करे। बहुधा शिक्षण-प्रशिक्षण में ऐसे भी व्यक्तियों की मदत ली जाती है जो कि शोध-सम्बन्धी कार्यों में लगे होते हैं या सम्बद्ध सामाजिक से प्रशासनिक या व्यावहारिक कार्य करते हैं। अध्यापकों को पद की गरीमा के अनुरूप भिन्न वेतन क्रम में नियुक्त किया जाता है। ३००—६००, ४००—८०० या ९५०, ७००—११०० या १२५० और ११००-१६०० आदि एतत् सम्बन्धी कुछ प्रमुख वेतन क्रम हैं। अध्यापकों को वेतन के अतिरिक्त संचित कोष और अन्यान्य सुविधाएँ भी प्रायः दी जाती हैं।

समाज-कार्य सम्बन्धी विभिन्न विद्यालयों एवं विभागों ने अनेक सर्वेक्षण और प्रकाशन इत्यादि के कार्य किये हैं। अब तक के कुल सर्वेक्षणों की संख्या लगभग आठ दशक है। सर्वाधिक सर्वेक्षण का कार्य है (लगभग दो दशक) टाटा इन्स्टीच्यूट आफ सोशल साइन्सेस ने किया है व इसके उपरान्त लखनऊ विश्वविद्यालय के समाज कार्य विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के समाज कार्य विद्यालय, कलकत्ता विश्वविद्यालय के समाज कल्याण एवं व्यापारिक प्रबन्ध सम्बन्धी संस्थान और काशी विद्यापीठ के समाज सेवा विभाग ने किया है। अन्य संस्थाओं, विद्यालयों या विभागों इत्यादि ने छिटपुट कार्य किये हैं। यहाँ उन संस्थाओं से तात्पर्य नही है जो कि प्रमुख रूप से मात्र शोध सम्बन्धी ही हैं। काशी के गांधी विद्या-संस्थान और दिल्ली के केन्द्रीय जन-सहकार सम्बन्धी शोध संस्थान ने भी अनेक उच्चकोटि के सर्वेक्षण कार्य किये हैं। समाज-कल्याण सम्बन्धी विभिन्न संस्थाओं या विभागों ने अब तक लगभग पाँच दशक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन किये हैं। इनमें समाज-कार्य सम्बन्धी विद्यालयों में दिल्ली विश्वविद्यालय का समाज-कार्य विद्यालय, बड़ौदा विश्वविद्यालय का समाज-कार्य-संकाय और बम्बई का टाटा इन्स्टीच्यूट आफ सोशल साइन्सेज प्रमुख हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों से समाज-कार्य में डाक्टोरल स्तर की

शोध-उपाधि प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की संख्या लगभग दो दशक है। इसमें सर्वाधिक व्यक्ति लखनऊ विश्वविद्यालय एवं आगरा विश्वविद्यालय के हैं।

भारत में समाज-कार्य शिक्षण-प्रशिक्षण के विकास और संचालन में जिन लोगों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है या है, उसमे स्वर्गीय डा० राधा कमल मुखर्जी, स्वर्गीय के० यम० कुमारप्पा, ए० आर० वाडिया, डा० यम० यस० गोरे, प्रो० डी० के० सान्याल, श्री यस० यन० रानाडे, डा० जी० पी० सिनहा, डा० यस० जफर हसन, डा० राम नारायण सक्सेना, डा० वी० यस० मीर०, श्री रमाशकर पाण्डेय, प्रो० जी० जी० ददलानी, श्री के० यन० जार्ज, प्रो० वी० आर० सेनाय, कुमारी डोरोथी यम० बेकर, डा० यम० वी० मूर्ति प्रो० वी० पी० वर्मा, कुमारी ओ० परइरा, श्री यस० प्रसाद, श्री इन्स विदा, डा० के० ईश्वरन, डा० डब्ल्यू० टी० वी० आदि शेसप्पा, श्री के० पिलानी श्री यफ० सेल्स, कुमारी यम० बोवेन, श्री यम० सी० नानावती, श्री सुगत दास गुप्त, श्री पी० टी० थामस, श्री जे० वार्न वास, श्री पी० डी० कुलकर्णी तथा गांगराडे आदि का नाम उल्लेखनीय है।

यद्यपि भारत मे समाज-कार्य सम्बन्धी शिक्षण-प्रशिक्षण का मात्रात्मक और गुणात्मक विकास हो रहा है किन्तु इसे अपेक्षित परिपक्वता हेतु राजकीय और स्वैच्छिक सम्बल की अभी भी काफी आवश्यकता है। सरकार और हम सबको मिलकर इस आवश्यकता की पूर्ति में और अधिक लगन से जुटना है। समाज-कार्य शिक्षण-प्रशिक्षण को अपनी परिस्थितियो के अनुरूप गठित और विकसित करना है।

अध्याय ४

वैयक्तिक सेवा-कार्य

कुछ विद्वानों की राय है कि 'चिकित्सा', 'अध्यापन' और 'वकालत' आदि शब्दो में यद्यपि व्यवसाय के स्वरूप को पूर्ण रूप से प्रतिपादित करने की क्षमता तो नही है तथापि उनके द्वारा कम से कम इस बात का बोध अवश्य हो जाता है कि इन व्यवसायों मे लगे हुए लोग किस प्रकार के कार्य करते होंगे। पर 'सोशल केस वर्क' शब्द में उक्त क्षमता का अभाव है। जो भी हो उसके हिन्दी रूपान्तर 'वैयक्तिक सेवा-कार्य' से कुछ अश में इसके कार्य के स्वरूप का बोध तो अवश्य ही हो जाता है। व्यक्तिगत रूप से यदि कोई एक व्यक्ति किसी समस्या से ग्रस्त है तो किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा उसकी भलाई या कल्याण का कार्य करना ही वैयक्तिक सेवा है। वै० कार्य को पारिभाषित करने वाले आधुनिक विद्वानों की परिभाषाओं मे भी यह बात किसी न किसी रूप में अवश्य आ ही जाती है। साथ ही साथ यह बात भी स्पष्ट है कि यह कार्य कोई नया नही है वरन् बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों संस्कृतियों के प्राचीन ग्रन्थो में इसके अनेक उदाहरण मौजूद हैं। हिन्दू संस्कृति में 'नारद ऋषि' का तो मुख्यतः यही कार्य था कि सर्वत्र विचरण कर ऐसे व्यक्तियों की सहायता करें जो बाधाओं से ग्रसित हों। गीता मे अर्जुन जब विमुख हो जाते है तो कृष्ण भगवान् विभिन्न उपदेशों के द्वारा उनके भ्रम का निवारण करते हैं और उन्हें वास्तविकता का बोध कराते है।

पाश्चात्य संस्कृति में भी इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। सोलहवी और सत्रहवीं सदी में सेन्ट बेसेन्ट डी पाल तथा उन्नीसवी सदी में ओजानम ने मित्रवत् सम्पर्क के द्वारा अनेक लोगों को उनके घरों पर जाकर उनकी समस्याओ के निराकरण मे सहायता की। इस प्रकार की सेवाओं को देने वाले लोग प्रारम्भ में यह मान कर चलते थे कि व्यक्ति के दुःख या कष्ट स्वयं उसी के कर्मों के फल है, पर बाद मे चल कर इस विचारधारा में कुछ परिवर्तन आया और यह समझा जाने लगा कि व्यक्ति के स्वयं के कर्मों के अतिरिक्त उसका सामाजिक वातावरण भी बहुत अंशों में उसकी समस्याओं का कारण होता है। इस विचारधारा से प्रभावित होकर एडवर्ड

डेनिशन, सर चार्ल्स लाथ तथा आक्टेबिया हिल आदि विद्वान् व्यक्तिगत सहायता और व्यक्तिगत जिम्मेदारी के सम्बन्ध में कुछ उच्चस्तरीय सिद्धान्त निरूपण की बात सोचने लगे। इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य मैरी रिचमण्ड ने किया। उन्होंने वैयक्तिक सेवा कार्य को स्पष्ट रूप से पारिभाषित करने का प्रयास किया। १९१७ मे की गयी परिभाषा के अनुसार वैयक्तिक कार्य एक कला है जिसके द्वारा स्त्री-पुरुष और बालकों के सामाजिक सम्बन्धों में अपेक्षाकृत अधिक समायोजन लाने का प्रयास किया जाता है। यह परिभाषा अपने में बहुत ही स्पष्ट है और इसका क्षेत्र भी बहुत लम्बा हो जाता है। १९२२ में उन्होंने पुनः दूसरी परिभाषा दी। उसके अनुसार वैयक्तिक कार्य व्यक्तित्व विकास की एक प्रक्रिया है। पर बहुत से विद्वानों के अनुसार जीवन की प्रत्येक प्रक्रिया में व्यक्तित्व विकास की ही प्रक्रिया निहित है और इस प्रकार वैयक्तिक कार्य की प्रक्रिया का अलग और स्पष्ट स्वरूप निर्धारित न हो सका। उस समय के कुछ अन्य समाज सेवको ने वैयक्तिक कार्य का क्षेत्र निर्धारित करते हुए सामाजिक असमायोजन, असंगति और असफलताओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया। बाद में चलकर सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकास ही वैयक्तिक कार्य का कार्य क्षेत्र माना जाने लगा। काल-क्रम-से आत्मोन्नति और विकास की भावना को वैयक्तिक कार्य के उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया गया। १९३२ में परामर्श प्रणाली इस कार्य के एक उपकरण के रूप में अपनायी गयी। आगे चलकर हरबर्ट स्पेंसर की जीवन के सम्बन्ध में बतलायी गयी नयी अवधारणा को भी वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत हैमिल्टन आदि विद्वानों ने अपनाया। हरबर्ट स्पेंसर ने जीवन को आन्तरिक और बाह्य सम्बन्धों में समायोजन की एक निरन्तर प्रक्रिया के रूप मे देखा है। हैमिल्टन आदि विद्वानों ने वैयक्तिक कार्य को भी एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखा जो व्यक्तित्व (आन्तरिक सम्बन्ध) और सामाजिक परिस्थितियों (बाह्य सम्बन्ध) के बीच में समायोजन स्थापित करने का प्रयास करता है। इस सम्बन्ध में एक-दो बातें और भी उल्लेखनीय हैं। १९३० के पहले वैयक्तिक कार्य को एक कला के रूप में देखा जाता था और इसके बाद सामान्यतः इसे एक प्रक्रिया और विधि के रूप में देखा जाने लगा। कुछ लोग इस बात पर भी जोर देने लगे कि व्यक्तिगत सहायता के सभी कार्य इसके अन्तर्गत नहीं आते हैं वरन् वे ही कार्य इसके अन्तर्गत आते हैं जो किसी समाज-कल्याण की संस्था के अन्तर्गत प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं के द्वारा किये जाते हैं। सामान्यतः ये कार्यकर्त्ता अपने कार्यों के लिए कुछ पुरस्कार भी पाते हैं और वे अपने विशिष्ट ज्ञान तथा कौशल के उपयोग से सहायता पाने वाले व्यक्ति के साथ व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापन करते हैं और उस सम्बन्ध के उपयोग से व्यक्ति को सामाजिक वातावरण में अधिक प्रभावशाली ढंग से अपनी भूमिका निभाने में मदत करते हैं।

यह बात सर्वमान्य है कि समाज-कार्य की इस विधि का कार्य क्षेत्र मुख्यतः व्यक्ति है और इसके अन्तर्गत व्यक्ति को सम्पूर्ण इकाई के रूप में स्वीकार करते हुए उसकी आन्तरिक और वाह्य क्षमताओं का वोध उसे कराते हुए, इस प्रकार सहायता दी जाती है कि आवश्य-कतानुसार वह अपनी क्षमताओं में परिवर्तन और विकास करते हुए सामाजिक वातावरण के अन्तर्गत अधिक प्रभावशाली ढंग से अपनी भूमिका निभा सके। इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इस कार्य के अन्तर्गत सहायता का लक्ष्य केवल व्यक्ति कल्याण है। एक व्यक्ति की सहायता करते समय स्वयं उसी के साथ कार्य नही करना पड़ता वरन् कुछ दूसरे व्यक्तियों और सामाजिक वातावरण के कुछ अन्य उपकरणों के साथ भी कार्य करना पड़ता है जो तथाकथित व्यक्ति की सामा-जिक भूमिका को प्रभावित करते हैं। चूँकि व्यक्ति की सामाजिक भूमिका उसकी मनो-वैज्ञानिक, शारीरिक और सामाजिक तीनों प्रकार की शक्तियों से प्रभावित होती है अतः वैयक्तिक कार्य के द्वारा सर्वप्रथम उपर्युक्त तीनों क्षेत्रों से उत्पन्न उन कारकों का पता लगाया जाता है जो व्यक्ति को सामाजिक भूमिका निभाने में बाधा डालते हैं और फिर आव-श्यकतानुसार आन्तरिक और बाह्य साधनों को उत्प्रेरित कर, असमायोजन को दूर करते हुए व्यक्ति को इस योग्य वनाया जाता है कि वह अधिक-से-अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से सामाजिक वातावरण में अपनी भूमिका निभा सके। इस प्रकार के कार्य द्वारा एक निश्चित प्रकार से व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताओं को तो पूरा किया ही जाता है और साथ ही साथ व्यक्ति के जीवन की रचनात्मक क्षमताओं को भी विकसित किया जाता है और परिणामस्वरूप व्यक्ति तथा समाज के लिए एक स्वस्थ पर्यावरण का विकास होता है।

सहायता कार्य के द्वारा कार्यकर्त्ता व्यक्ति को इस योग्य बनाने का प्रयास करता है कि वह आगे चल कर स्वयं ही अपनी सहायता करने में समर्थ हो। इस उद्देश्य की पूर्ति केवल भौतिक सहायता के द्वारा ही नही हो सकती है वरन् मनोसामाजिक स्तर पर व्यक्ति की आन्तरिक और बाह्य क्षमताओं को उत्प्रेरित करके ही किया जा सकता है। इस प्रकार सहायता की प्रकृति मुख्यतः मनोसामाजिक ही होती है।

वैयक्तिक कार्य के द्वारा यद्यपि सामाजिक अथवा वैयक्तिक क्रान्ति तथा पुनर्निर्माण का कार्य तो नहीं किया जाता पर वातावरण से पड़ने वाले दबाओं में कुछ कमी करके तथा उपचारात्मक सेवाओं द्वारा व्यक्ति के व्यवहारों और मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाकर उसे सामाजिक परिस्थितियों से समायोजन करने के योग्य तो बनाया ही जाता है। इस कार्य के द्वारा अयोग्य और बाधित व्यक्ति को यद्यपि पूर्ण रूप से स्वस्थ नहीं बनाया जाता है तथापि उसे इस योग्य तो बना ही दिया जाता है कि अपनी अयोग्यताओं के बावजूद भी

वह सामाजिक क्षतिपूर्ति के द्वारा शान्ति पूर्ण और सुखमय ढंग से जीवन-यापन कर सके और कुछ दशाओं में तो बाधाओं को रोकने का भी कार्य इसके द्वारा किया जाता है।

कुछ विचारकों के मतानुसार यह कार्य समाज-कार्य की किसी निश्चित संस्था के ही अन्तर्गत किया जाना चाहिए और स्वैच्छिक रूप से सहायता करने वालों के कार्य को वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है। दूसरी ओर कुछ विचारकों का ख्याल है कि अभिकरण या संस्थाओं के द्वारा वैयक्तिक कार्यकर्त्ताओं के कार्य को निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत रखा जाता है जिससे वैयक्तिक कार्य की लक्ष्य प्राप्ति में कठिनाई होती है। पर यह बात तो सर्वमान्य है कि यह कार्य नियमित, क्रमबद्ध और समंजित रूप से होना चाहिए। साथ ही साथ मनोवैज्ञानिक सहायता के अतिरिक्त वातावरण में परिवर्तन सम्बन्धी कुछ भौतिक वस्तुओं के रूप में भी सहायता देने की आवश्यकता होती है और ये सभी बातें किसी संस्था में ही अपेक्षाकृत अधिक आसानी से की जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले ही बतलाया गया है कि इस कार्य के सम्पादन में एक विशिष्ट ज्ञान और कौशल की आवश्यकता होती है अतः वही व्यक्ति इस कार्य को कुशलता से कर सकता है जिसे मानवीय सम्बन्धों का भलीभाँति ज्ञान हो तथा साथ ही साथ सम्बन्ध-स्थापन की कुशलता से भी वह युक्त हो। कार्यकर्ता ये गुण सम्यक् प्रशिक्षण द्वारा अर्जित करते हैं।

वैयक्तिक कार्य की मूल मान्यताएँ और सिद्धान्त

वैयक्तिक कार्य के स्वरूप निर्धारण के साथ ही साथ यह प्रश्न उठता है कि यह सहायता क्यों की जाय? किसी संस्थान्तर्गत या निजी रूप में कोई वैयक्तिक कार्यकर्त्ता क्यों किसी असहाय, अपंग या अनाथ व्यक्ति की सहायता करे? वास्तव में इस कार्य के पीछे मानवीय दर्शन और कल्याण की भावना कार्य करती है। मानवीय कष्ट अनपेक्षित हैं और समाज के सक्षम व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि अक्षम और असहाय व्यक्तियों की सहायता करें। इस सहायता के द्वारा किसी तात्कालिक आवश्यकता की ही पूर्ति नहीं होनी चाहिए वरन् व्यक्ति को इस योग्य बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए कि वह अपनी क्षमताओं का अधिक-से-अधिक विकास करके अधिकतम सुख और सन्तोष का जीवन-यापन करने में समर्थ हो। इसी भावना से अनुप्रेरित होकर यह कार्य किया जाता है और सहायता कार्य के दौरान कुछ अन्य मानवीय मूल्यों का भी ध्यान रखा जाता है। यहाँ हम इस कार्य के पीछे कार्य करने वाली दार्शनिक अवधारणाओं और मूल्यों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

वैयक्तिक कार्यकर्त्ता मानव मात्र की प्रतिष्ठा में विश्वास करता है। प्रत्येक व्यक्ति में जन्मजात रूप से कुछ गुण पाये जाते हैं और इस आधार पर अपनी कमियों के बावजूद भी वह प्रतिष्ठा का पात्र है। मानवमात्र की प्रतिष्ठा की अवधारणा प्राचीन ग्रीक और

भारतीय संस्कृतियों में भी पायी जाती है। वेदान्त दर्शन में मानवीय आत्मा और पर-मात्मा में तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करते हुए मानव मात्र की समानता की बात कही गयी है। इस्लाम धर्म में भी इस समानता की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। वैयक्तिक कार्यकर्त्ता भी इस दार्शनिक अवधारणा को स्वीकार करते हुए समानता और सहयोग के आधार पर हर व्यक्ति को अपनाता है। उसका यह अडिग विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ आन्तरिक क्षमता और शक्ति होती है। उन क्षमताओं का पूर्ण रूप से विकास होना चाहिए ताकि व्यक्ति अपनी सामाजिक भूमिका को सक्रिय रूप से अदा कर सके। विकास के साथ-ही साथ परिवर्तन की अवधारणा पर भी कार्यकर्त्ता अडिग विश्वास रखता है। प्रत्येक व्यक्ति में परिवर्तन हो सकता है। इस आधार पर सहा-यता कार्य के प्रारम्भिक दिनों में सेवार्थी की समस्याओं अथवा व्यवहारों में कोई विशेष परिवर्तन करने में यदि वैयक्तिक कार्यकर्त्ता सफल नहीं होता है तो भी वह निराश नहीं होता है और उचित प्रयास के द्वारा आगे चल कर परिवर्तन करने में सफल होता है।

सामाजिक न्याय के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुसार विचार, क्रिया और उन्नति करने के समान अवसर की उपलब्धि पर भी वैयक्तिक कार्यकर्त्ता विश्वास करता है। साथ-ही-साथ व्यक्ति और समाज की आत्मनिर्भरता पर भी विश्वास किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति समाज का अंग होता है, व्यक्ति की भलाई से ही समाज की भलाई सम्भव है। पर यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाय जहाँ व्यक्ति विशेष की भलाई से समाज का अहित हो रहा हो तो समाज के हित को प्रमुखता दी जानी चाहिए। व्यक्ति के कल्याण और सुरक्षा की बहुत कुछ जिम्मेदारी समाज के ऊपर होती है। व्यक्ति का अधिकार है कि वह समाज से ऐसी व्यवस्था की आशा करे जिसमें उसकी मानसिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और समाज का कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के लिए इन सुविधाओं की व्यवस्था करे; पर साथ ही व्यक्ति की समाज के प्रति कुछ जिम्मेदारी भी होती है। किसी भी कार्य को करते समय उसे समाज की भलाई का बराबर ध्यान रखना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति की यह जिम्मेदारी है कि वह अपने साथी को भी सामाजिक पर्या-वरण से समायोजन करने में मदद दे।

व्यक्ति की समस्याओं के अनेक कारक होते हैं। व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर हर व्यक्ति की समस्याओं के कारण भी अलग-अलग होते हैं। वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत यह विश्वास किया जाता है कि हर व्यक्ति में कुछ अपनी निजी विशेषताएँ होती हैं, अतः हर व्यक्ति को अलग-अलग और समग्र इकाई के रूप में ग्रहण कर उसकी समस्याओं को हल करने की आवश्यकता है।

वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत योग्यतम व्यक्ति के जीने की अवधारणा पर विश्वास

नही किया जाता है। इसके विपरीत इस कार्य के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अधिकतम सुख और शान्ति के साथ जीवन यापन में सहायता देने की बात मे विश्वास किया जाता है। अयोग्य और असहाय व्यक्तियों की भी आधारभूत आवश्यकताएँ और इच्छाएँ वही होती हैं जो योग्य और समर्थ व्यक्तियो की होती है। फिर यह कोई आवश्यक नही कि धनी और शक्तिमान् व्यक्ति ही योग्य व्यक्ति हों और निर्धन तथा कमजोर व्यक्ति अयोग्य ही हों। समाजीकृत व्यक्ति असमाजीकृत व्यक्ति की अपेक्षा अधिक वांछनीय होता है।

पूर्ण समता और पारस्परिक आदर के आधार पर सभी जाति और समूह के लोगों को अपनाते हुए उनकी आवश्यकता के आधार पर उन्हें सहायता देने की अवधारणा पर कार्य-कर्त्ता विश्वास करता है। साथही साथ व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सुरक्षा के सह-अस्तित्व पर भी विश्वास किया जाता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण किये बिना प्रत्येक विपत्ति से सुरक्षा प्रदान करके ही उसकी सृजनात्मक शक्तियों का विकास किया जा सकता है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए कार्यकर्त्ता सेवार्थी को किसी कार्य को करने के लिए बाध्य नहीं करता है पर आत्म-निर्णय की भी सीमाएँ होती है। व्यक्ति के निर्णय सामा-जिक मर्यादा और समाज के कल्याण की भावना से सदैव नियन्त्रित होते हैं।

वैयक्तिक कार्य की उपर्युक्त मान्याताएँ अधिकतर पाश्चात्य विचारकों द्वारा अपनायी गयी है। इनमें से कुछ बातें विवादास्पद भी है। उदाहरण के लिए, कुछ लोग यह मानते हैं कि मनुष्य के पास एक व्यक्ति के रूप में कोई अधिकार नही होता है, वह दैवी अनुमति से सम्बन्धित है न कि मानवी अनुमति पर। कुछ लोगों की यह धारणा है कि प्राचीन धार्मिक और दार्शनिक ग्रन्थों से ये विचारधाराएँ ले तो ली गयी हैं पर वैयक्तिक कार्य अभी भी व्यवहार रूप में इनकी उपयोगिता को समाज के सम्मुख स्पष्ट नही कर पाया है। भारत वर्ष में वैयक्तिक कार्य के कर्णधारों का यह भी कर्त्तव्य है कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के प्रकाश में उन मूल्यों की उपादेयता पर पुर्नविचार करें और आवश्यक संशोधन के साथ उन मूल्यों को अपनायें। उदाहरण के लिए, आत्म-निर्णय की अवधारणा पाश्चात्य जन-तांत्रिक पद्धति पर निर्भर है। व्यक्ति को अपने मामले मे स्वयं निर्णय करने का मौका दिया जाता है, पर भारतीय संस्कृति में बड़ों का सम्मान और उनकी सम्मति पर चलने की बात को विशेष महत्त्व दिया जाता है। ऐसी दशा में कार्यकर्त्ता को अपने से श्रेष्ठ समझ कर सेवार्थी समय-समय पर अपनी समस्याओं को सुलझाने के बारे में कार्यकर्ता की सलाह की अपेक्षा करता है और कार्यकर्त्ता को आवश्यक सलाह देनी चाहिए।

इसी प्रकार भारतीय संस्कृति में कर्मवाद के सिद्धान्त की बात है। सामान्य भारतीय जन-मानस में प्रायः लोग अपने सुख का सम्बन्ध अपने विगत जीवन के कर्मो से जोड़ लेते हैं। भारतीय वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत कर्मवाद को अपना कर व्यक्ति के भावी जीवन को

सुखमय बनाने के लिए उसके वर्तमान में उसे अच्छे कर्मों को करने की प्रेरणा दी जा सकती है।

वृत्तिक स्व के सम्बन्ध में भी भारतीय संस्कृति और दर्शन से प्रेरणा ली जा सकती है। वैयक्तिक कार्यकर्त्ता से यह आशा की जाती है कि वह अपनी भावनाओं और संवेगों को नियन्त्रित करते हुए, वस्तुस्थिति को देखते हुए अपने स्व को अत्यन्त चेतन रूप में प्रयोग करे। भारतीय संस्कृति में भी ऐसे साधकों की बात कही जाती है जो अपने निरन्तर साधना और प्रयास से इस स्थिति में पहुँच जाते हैं जहाँ उनका मस्तिष्क न तो सांसारिक आपदाओं से प्रभावित होता है और न व्यक्तिगत सुख की कामना करता है। ऐसे ही व्यक्ति दूसरों की भलाई का कार्य करते हैं। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में नारद से लेकर स्वामी विवेकानन्द तक अनेक ऐसे कर्मयोगियों के कृत्य विद्यमान हैं। भारतीय वैयक्तिक सेवा कार्य को इनके कृत्यों और विचारधाराओं से भी प्रेरणा लेनी चाहिए। इसी प्रकार हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्मों में परिभाषित व्यक्ति की अवधारणा पर भी विचार करके उसका सम्बन्ध वर्तमान समाज कार्य से स्थापित करना चाहिए।

उपर्युक्त अवधारणाओं के अतिरिक्त व्यावहारिक अनुभव और शोध आदि के आधार पर वैयक्तिक कार्य के सम्बन्ध में कुछ मार्ग निर्देशक सिद्धान्तों को भी विकसित किया गया है। प्रत्येक वैयक्तिक कार्यकर्त्ता से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सहायता कार्य में उन सिद्धान्तों का प्रयोग करे। कुछ मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं:—

सर्वप्रथम स्वीकृति का सिद्धान्त आता है। इस सिद्धान्त के पीछे मानवतावाद की अवधारणा कार्य करती है। वैयक्तिक कार्यकर्त्ता सेवार्थी के कृत्यों पर ध्यान न देकर उसके मानवोचित गुणों के आधार पर उसे स्वीकार करता है। सामान्यतः सेवार्थी जब वैयक्तिक कार्यकर्त्ता के पास सहायता लेने के लिए जाता है तो वह अपनी दबावपूर्ण परिस्थितियों तथा कुण्ठा आदि के कारण कुछ हीनता की भावना से ग्रस्त रहता है और कार्यकर्त्ता अपने अनुभव, ज्ञान और संस्था द्वारा प्रदत्त पद आदि के आधार पर सेवार्थी की दृष्टि में एक उच्चकोटि का व्यक्ति होता है। कभी-कभी सेवार्थी कुछ इस प्रकार की भावनाओं से ग्रस्त रहता है कि उसकी अहम्‌शक्ति भी बहुत कमजोर पड़ जाती है। ऐसी दशा में वैयक्तिक कार्यकर्त्ता से आशा की जाती है कि वह मानवोचित गुणों के आधार पर सेवार्थी को आदर और प्रतिष्ठा के साथ अपनायें ताकि सेवार्थी को एक प्रकार की राहत और आत्म-सम्मान का बोध हो और उसकी अहम् शक्ति में भी वृद्धि हो। कभी-कभी सेवार्थी अपने कुछ कृत्यों के कारण अपने मन में अत्यधिक दोष भावना का अनुभव करता है। फलस्वरूप उसमें हीनता और दुख की भावना का उदय होता है। वैयक्तिक कार्यकर्त्ता मानव के सम्बन्ध में कुछ मूल-मान्यताओं पर विश्वास करता है और उन्हीं के आधार पर वह सेवार्थी के साथ समानता और आदर का व्यवहार करता है और उसकी उन समयाओं और तनावों को भी रुचि के

साथ स्वीकार करता है जिन्हें संकोच और लज्जावश अभी तक सेवार्थी ने किसी से नहीं बतलाया था। परिणामस्वरूप सेवार्थी को राहत मिलती है तथा उसकी दोष-भावना में भी कमी आती है और सेवार्थी प्रतिरक्षात्मक युक्तियों का भी अपेक्षाकृत कम सहारा लेने लगता है। उसके मन में आत्म-विश्वास की भावना का भी प्रादुर्भाव होता है। वैयक्तिक कार्यकर्त्ता जब उसके प्रति विधायी अभिरुचि का प्रदर्शन करता है तो सेवार्थी के मन में भी कार्यकर्त्ता के प्रति इसी प्रकार की अभिरुचि उत्पन्न होती है। फलस्वरूप दोनों के सम्बन्ध दृढ़ होते हैं और कार्यकर्त्ता को सेवार्थी की समस्याओं की भी स्पष्ट रूप से जानकारी हो जाती है। इस प्रकार स्वीकृति का सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है और सहायता की एक प्रणाली भी है।

सम्बन्ध-स्थापन भी स्वयं अपने में एक सिद्धान्त है। वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत वैयक्तिक कार्यकर्त्ता और सेवार्थी के सम्बन्धों का अत्यधिक महत्व है और इस सम्बन्ध में विभिन्न कठिनाइयों और उनको दूर करने के उपायों आदि का जिक्र तो अन्यत्र किया जायेगा पर यहाँ हम सिद्धान्त सम्बन्धी कुछ मुख्य बातों का जिक्र करेंगे। सेवार्थी के साथ स्थापित किया गया सम्बन्ध ही एक ऐसा उपकरण होता है जिसके माध्यम से कार्यकर्त्ता सेवार्थी को उपचार की योजना के कार्यान्वियन में लगाता है। उचित सम्बन्ध स्थापन के पश्चात् ही कार्यकर्त्ता सेवार्थी की समस्या और उसके आन्तरिक और बाह्य वातावरण सम्बन्धी विभिन्न बातों की उचित जानकारी प्राप्त करने में समर्थ होता है। सम्बन्ध स्थापन के अन्तर्गत वस्तुगत और विषयगत दोनों प्रकार की भावनाओं का समावेश होता है। कुशल कार्यकर्त्ता के लिए यह अपेक्षित है कि वह अपनी भावनाओं के प्रति हमेशा सचेत रहे और अपने 'स्व' को अत्यन्त सचेतन रूप में उपयोग करे। सम्बन्ध-स्थापन के अन्तर्गत वास्तविक और अवास्तविक दोनों प्रकार की भावनाओं का भी समावेश होता है। कुशल कार्यकर्त्ता अवास्तविक और स्थानान्तरित भावनाओं का भी सदैव ध्यान रखता है। उनका उचित रूप से नियन्त्रण और उपयोग करता है। सम्बन्धों के व्यावसायिक पक्ष पर भी कार्यकर्त्ता का ध्यान केन्द्रित रहता है। व्यावसायिक सम्बन्ध किसी विशेष उद्देश्य से स्थापित होते हैं। कार्यकर्त्ता अपनी व्यक्तिगत बातों को कम-से-कम इन सम्बन्धों के बीच आने देना चाहता है। इस प्रकार के सम्बन्ध के अन्तर्गत उत्तरदायित्व का पारस्परिक वितरण, एक दूसरे के अधिकारों की मान्यता तथा मतभेदों की स्वीकृति का समावेश होता है। इस प्रकार के सम्बन्ध स्थापन के अन्तर्गत कार्यकर्त्ता सेवार्थी को आदर और प्रतिष्ठापूर्वक अपनाते हुए ऐसे वातावरण का निर्माण करता है जिसमें सेवार्थी यह समझता है कि उसकी भावनाओं को मान्यता मिली है। पर साथ ही साथ कार्यकर्त्ता के व्यक्तित्व की श्रेष्ठता का भी सेवार्थी पर प्रभाव पड़ता है और उसके प्रति एक विश्वास की भावना भी सेवार्थी

के मन में उदित होती है। जिसके परिणामस्वरूप सेवार्थी अपनी समस्याओं को अधिक स्पष्टता से कार्यकर्त्ता को बतलाता है और कार्यकर्त्ता के सुझावों को भी स्वीकार करता है। पर वैयक्तिक कार्यकर्त्ता भी इस बात का यथाशक्ति प्रयास करता है कि विभिन्न परिस्थितियों में अपने निर्णय और सुझाव कम-से-कम दे, यथाशक्ति सेवार्थी को ही अपना निर्णय देने का अवसर दे। इस प्रकार सम्बन्ध स्थापन का सिद्धान्त वैयक्तिक सेवा कार्य का आधारभूत सिद्धान्त है।

सेवार्थी की मनोदशा के अनुसार ही कार्यारम्भ करना भी एक सिद्धान्त है। सहायता कार्य के आरम्भ में इसके द्वारा सम्बन्ध स्थापन में सहायता मिलती है। प्रारम्भ में कार्य-कर्त्ता सेवार्थी के लिए अपरिचित रहता है। ऐसी दशा में कार्यकर्त्ता यदि सेवार्थी की मनो-दशा के अनुकूल ही बात आरम्भ करता है तो स्वाभाविक रूप से सेवार्थी भी वैयक्तिक कार्यकर्त्ता के प्रति अभिरुचि प्रदर्शित करता है। इस प्रकार सम्बन्ध धीरे-धीरे स्थापित होते हैं। कभी-कभी प्रारम्भ में जब कार्यकर्त्ता को सेवार्थी की मनोदशा का ज्ञान प्राप्त नही रहता है तो वह सेवार्थी को ही अपनी बातों को कहने के लिए उत्साहित करता है और उसके आधार पर वह सेवार्थी की मनोदशा का ज्ञान कर तदनुकूल कार्य करता है।

संचार का सिद्धान्त भी एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। कार्यकर्त्ता और सेवार्थी जब एक दूसरे से मिलते हैं तो उनमें आपस में विचारो का आदान-प्रदान होता है। यह कार्य तभी उचित रूप से हो सकता है जब सेवार्थी और कार्यकर्त्ता ऐसी भाषा और प्रतीकों का प्रयोग करें जो एक दूसरे की समझ में आसानी से आ जायँ। इसके लिए कार्यकर्त्ता भी सामान्यतः वही भाषा प्रयोग करता है जो सेवार्थी कर रहा हो। आरम्भ में कार्यकर्त्ता सेवार्थी के लिए अपरिचित रहता है, अतः अपनी अनेक गुप्त बातों को सेवार्थी कार्यकर्त्ता को तब तक नही बतलाता है जब तक इसे यह विश्वास नही हो जाता है कि उसकी व्यक्तिगत सूचनाओं को उसी के हित के लिए उपयोग किया जायेगा। अतः कार्यकर्त्ता अपनी बातचीत और कार्यों के द्वारा सेवार्थी को यह विश्वास दिलाता है कि जो भी बातें वह सेवार्थी से पूछ रहा है वह उसी की भलाई के लिए पूछ रहा है। स्पष्ट रूप से विचारों के आदान-प्रदान से सेवार्थी की समस्याओं को कार्यकर्त्ता भलीभाँति समझ पाता है और कार्यकर्त्ता के कार्यों की उपयोगिता को सेवार्थी समझ पाता है। इस प्रकार संचार के सिद्धान्त की मूल मान्यता समस्या को सुलझाने के लिए कार्यकर्त्ता और सेवार्थी के पारस्परिक योगदान के स्पष्टीकरण पर आधारित है।

वैयक्तीकरण के सिद्धान्त के अन्तर्गत वैयक्तिक कार्यकर्त्ता यह स्वीकार करता है कि यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो दूसरों से मिलती हैं तथापि हर व्यक्ति की कुछ ऐसी विशेषताएँ भी होती हैं जो दूसरों में नहीं पायी जाती हैं। इस आधार

पर हर व्यक्ति दूसरे से अलग किया जा सकता है। हर व्यक्ति की समस्याएँ होती हैं, पर एक व्यक्ति की समस्या से दूसरे की समस्या में कुछ भिन्नता पायी जाती है। समस्या एक-सी होने के बावजूद भी उनके कारणों में भिन्नता पायी जाती है। इसके अतिरिक्त एक ही समस्या का प्रभाव भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर उनके व्यक्तिगत गुणों के आधार पर भिन्न-भिन्न रूप से पड़ सकता है। समस्या के निराकरण की क्षमता भी हर व्यक्ति में दूसरों से भिन्न होती है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार हर व्यक्ति की व्यक्तिगत विशेषताओं के आधार पर उसके साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तथा उसकी सहायता के लिए उसकी समस्याओं का अलग तरीके से अध्ययन, निदान और उपचार किया जाता है।

गोपनीयता का सिद्धान्त भी वैयक्तिक कार्य का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। चूँकि कार्यकर्त्ता को मुख्यतः सेवार्थी की मनोसामाजिक समस्याओं का ही निराकरण करना पड़ता है, अतः इस कार्य के लिए आवश्यक है कि वैयक्तिक कार्यकर्त्ता सेवार्थी के अन्तर में जाकर समस्या से सम्बन्धित आन्तरिक रहस्यों और उन गोपनीय बातों का भी ज्ञान प्राप्त करे जिन्हें सेवार्थी भय, लज्जा अथवा अन्य किसी कारणवश दूसरों से नहीं बतलाना चाहता है——तभी वह सेवार्थी की समस्या का सम्यक् अध्ययन और निदान करने में सफल होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्यकर्त्ता सेवार्थी में इस बात का विश्वास पैदा करता है कि जो भी बातें उन दोनों के बीच हो रही हैं वे दूसरों को नहीं बतलायी जायेंगी। इसका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं होता है कि कार्यकर्त्ता सेवार्थी सम्बन्धी विवरण प्रकाशित नहीं करता है वरन् उससे यह भी आशा की जाती है कि यदि वह सेवार्थी और उसकी पत्नी दोनों से अलग-अलग साक्षात्कार कर रहा है तो दोनों की बातें एक दूसरे से न बतलाये। मुख्य रूप से कार्यकर्त्ता का यह कर्त्तव्य होता है कि कुछ विशेष दशाओं के अतिरिक्त अन्य किसी भी परिस्थिति में सेवार्थी से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों की किसी दूसरे व्यक्ति को जानकारी करा कर सेवार्थी को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाये। कुछ अंशों में यह सिद्धान्त विवादास्पद भी है। सेवार्थी के किसी ऐसे कार्य की जानकारी कार्यकर्त्ता को होती है जो सामाजिक दृष्टि से या राज्यदण्ड विधान की दृष्टि से अपराध है तो वैयक्तिक कार्यकर्त्ता को उक्त बात को गुप्त रखना चाहिए या नहीं ? इस प्रश्न का अभी तक कोई एक उत्तर नहीं बन पाया है। पर सामान्यतः ऐसी परिस्थितियाँ बहुत कम आती हैं। मुख्य रूप से कार्यकर्त्ता से यह आशा की जाती है कि सेवार्थी की मनोसामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों का वह जिम्मेदारीपूर्वक उपयोग करेगा।

कार्यकर्त्ता के आत्मबोध के सिद्धान्त से सम्बन्धित कुछ बातों का उल्लेख तो सम्बन्ध-स्थापन की समस्याओं के अन्तर्गत ही किया जा चुका है पर वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत इसका विशेष महत्त्व होने के कारण इसे एक पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त के रूप में भी प्रयोग किया

जाता है। कार्यकर्त्ता की अपनी भावनाएँ और विगत जीवन के अनुभव भी सेवार्थी के साथ स्थापित उसके सम्बन्धों को प्रभावित करते रहते हैं। बालक सेवार्थी की बहुत-सी समस्याओं से कार्यकर्त्ता स्वयं अपने विगत जीवन की समस्याओं का तादात्मीकरण करने लगता है, परिणाम-स्वरूप कभी-कभी वह बालक को आवश्यकता से अधिक संरक्षण प्रदान करने लगता है। दूसरी परिस्थितियों में कभी-कभी वह अपनी भावनाओं के कारण सेवार्थी से आवश्यकता से अधिक घृणा भी करने लगता है। सफल कार्यकर्त्ता के लिए यह आवश्यक है कि सेवार्थी की भावनाओं और समस्याओं को स्वयं अपनी भावनाओं और समस्याओं से अलग करके देखे। प्रारम्भ में कार्यकर्त्ता को इस सम्बन्ध में विशेष कठिनाइयाँ महसूस होती हैं। उसके लिए यह आवश्यक है कि समय-समय पर वह आत्मपरीक्षण करता रहे और इस बात का भी ध्यान रखे कि उसकी अपनी भावनाओं और सेवार्थी की भावनाओं को अलग-अलग करके दोनों के साथ कार्य करना है। प्रशिक्षक कार्यकर्त्ता के निरीक्षण के समय उसे आत्मबोध कराते रहते हैं।

सहकार का सिद्धान्त भी एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। यह जनतन्त्र और स्वावलम्बन की भावना पर आधारित है। कार्यकर्त्ता सदैव इस बात में विश्वास करता है कि वह सेवार्थी के साथ कार्य कर रहा है, उसके लिए कोई कार्य नही कर रहा है। इसके द्वारा सेवार्थी के स्वावलम्बन की भावना को बढ़ावा मिलता है व आगे चल कर वह अपनी सहायता स्वयं ही कर लेने में सफल होता है। इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से कार्यकर्त्ता यह ध्यान रखता है कि समस्याओं के उपचार की योजना बनाने में तथा उस योजना के कार्यान्वयन में सेवार्थी का सक्रिय सहयोग प्राप्त हो, यह नहीं कि कार्यकर्त्ता ही सेवार्थी के लिए सब कुछ कर दे और सेवार्थी परावलम्बी बन कर बैठा रहे। कार्यकर्त्ता सदैव इस बात का प्रयास करता है कि अपने सम्बन्ध में आवश्यक निर्णय सेवार्थी स्वयं ही करे और आवश्यकतानुसार सेवार्थी ही उपचार की दिशा में कार्य करे तथा समय-समय पर वैयक्तिक कार्यकर्त्ता उसे सलाह देता रहे। इस सिद्धान्त के उचित प्रयोग से सेवार्थी आत्मनिर्भर तो होता ही है पर साथ ही साथ उसकी अहम् शक्ति का भी विकास होता है। समाज कार्य के प्रारम्भिक काल में इस सिद्धान्त को विशेष मान्यता नही मिली थी। पर वैयक्तिक कार्य के विकास के साथ-साथ इस सिद्धान्त का महत्त्व बढ़ता जा रहा है।

सिद्धान्त रूप में वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत सेवार्थी की भावनाओं को भी वास्तविक तथ्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। सेवार्थी अपनी विभिन्न समस्याओं तथा अपने वातावरण से सम्बन्धित विभिन्न व्यक्तियों के बारे में कुछ निजी विचार या धारणाएँ बना लेता है। यद्यपि ये विचार और भावनाएँ वास्तविक तथ्य से परे भी हो सकती हैं पर सेवार्थी के व्यवहार उन्हीं के द्वारा परिचालित होते हैं। अतः सेवार्थी के व्यवहारों में परिवर्तन

लाकर उपचार के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु यह आवश्यक होता है कि कार्यकर्त्ता सेवार्थी की भावनाओं को भी वास्तविक तथ्य के रूप में स्वीकार करे और आवश्यकतानुसार उनके साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए उनमें आवश्यक परिवर्त्तन लाने का भी प्रयास करे तभी वह सेवार्थी के व्यवहारों में भी परिवर्तन ला सकता है।

आत्म-निर्णय की अवधारणा को समाज-कार्य के एक मूल सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाता है। पाश्चात्य सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को यह मान्यता इतनी उपयोगी प्रतीत होती है कि इसे मूलरूप में वैयक्तिक कार्य के पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। कार्यकर्त्ता सेवार्थी को हर कदम पर आत्म-निर्णय का अधिकार देता है, कभी भी अपने निर्णय उसके ऊपर नहीं आरोपित करता है। वह विभिन्न प्रविधियों के प्रयोग के द्वारा सेवार्थी की अहम् शक्ति को इस प्रकार विकसित करता है कि अपने बारे में वह उचित निर्णय ले। पर इस सिद्धान्त की कुछ सीमाएँ भी होती हैं। कभी-कभी सेवार्थी की अहम् शक्ति इतनी कमजोर होती है कि वह अपने बारे में उचित निर्णय नही ले पाता है, अथवा कभी-कभी उसके निर्णय व्यक्तिगत दृष्टि से उसके लिए तो हितकारक होते हैं पर समाज के लिए हानिकारक होते हैं। ऐसी दशा में कार्यकर्त्ता कभी-कभी इस सिद्धान्त की उपेक्षा करते हुए यथोचित कार्यो को करने की सेवार्थी को सलाह देता है। भारतीय परम्परा में इस सिद्धान्त की कुछ और भी सीमाएँ हैं। यहाँ व्यक्ति अपने बारे में परिवार तथा समाज के अन्य व्यक्तियों के सलाह से ही निर्णय लेना चाहता है। अतः यहाँ पर कार्यकर्त्ता को इस सिद्धान्त को व्यवहृत करते समय व्यक्ति, परिवार और समाज तीनों के निर्णय का ध्यान रखना चाहिए।

सहायता-कार्य के अन्तर्गत आवश्यक साधनों के उपयोग को भी कुछ विद्वानों ने सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार किया है। वैयक्तिक कार्यकर्त्ता से यह आशा की जाती है कि संस्था और समुदाय के विभिन्न साधनों का उसे भलीभाँति ज्ञान हो और आवश्यकतानुसार सेवार्थी की क्षमताओं के विकास हेतु उनका प्रयोग भी वह करे। पर साधनों का प्रयोग करते समय कार्यकर्त्ता को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह सेवार्थी को विभिन्न साधनों की जानकारी कराते हुए इस प्रकार से उत्साहित करे कि सेवार्थी स्वयं अपने प्रयासों के द्वारा उन साधनों की प्राप्ति करे। पर कभी-कभी कुछ विशेष कारणों से सेवार्थी इस योग्य नहीं होता है कि अपने प्रयासों के द्वारा ही सफलता प्राप्त कर ले। ऐसी दशा में कार्यकर्त्ता को स्वयं भी सेवार्थी के लिए आवश्यक साधनों की उपलब्धि हेतु प्रयास करने पड़ते हैं।

कुछ विद्वान वैयक्तिक कार्य के उपरोक्त सिद्धान्तों को सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत गिनते है व इसके अतिरिक्त विभेदक सिद्धान्त के अन्तर्गत भी कुछ सिद्धान्तों का विवरण

देते हैं। पर कुछ दूसरे लोग विभेदक सिद्धान्तों की गणना वैयक्तिक कार्य की प्रविधियों के अन्तर्गत करते है। हम भी उनका उल्लेख प्रविधियों के अन्तर्गत ही करेंगे।

वैयक्तिक कार्य में सम्बन्ध-स्थापन एवं तत्सम्बन्धी समस्याएँ

अन्य दूसरे व्यावसायिक सम्बन्धों की तरह वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत भी सेवार्थी और वैयक्तिक कार्यकर्त्ता के पारस्परिक सम्बन्ध की दो विशेषताएँ होती हैं। इसका एक उद्देश्य और लक्ष्य होता है और लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् अथवा यह ज्ञात होने पर कि लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, यह सम्बन्ध अपने आप ही समाप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त सामान्य सम्बन्धों की अपेक्षा व्यावसायिक सम्बन्ध की एक और विशेषता होती है। इस प्रकार के सम्बन्ध स्थापन के अन्तर्गत सहायता देने वाला व्यक्ति व्यवसाय सम्बन्धी विशिष्ट ज्ञान और कौशल से युक्त होता है और अपनी विशेषज्ञता के आधार पर कुछ अधिकार का भी समय-समय पर प्रयोग करता है। इस प्रकार के सम्बन्ध की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि यह स्वयं ही एक उपकरण के रूप में व्यक्ति को सहायता देने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यह बात ठीक ही कही गयी है कि सम्बन्ध स्थापन ही सहायता कार्य का आधार है। क्योंकि सम्बन्धों के द्वारा ही वैयक्तिक कार्यकर्त्ता किसी व्यक्ति और उसकी समस्याओं को समझता है, उसमें परिवर्तन लाने का प्रयास करता है और व्यक्ति की अहम् शक्ति और अन्तर्दृष्टि को विकसित करते हुए समस्या सुलझाने का मार्ग प्रशस्त करता है।

कार्यकर्त्ता वैयक्तिक सेवा कार्य के अन्तर्गत अनिर्णयात्मक और वस्तुगत दृष्टिकोण के साथ सम्बन्ध स्थापन करता है और यथाशक्ति सेवार्थी के साथ कार्य करते समय सांवेगिक आसक्तियों से विरक्त रहता है। ये विशेषताएँ कार्यकर्त्ता में उसके व्यावहारिक अनुभव, कौशल, आत्मबोध एवं वृत्तिक अनुशासन से उत्पन्न होती हैं।

सामान्यत: सांवेगिक समस्याएँ अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों से उत्पन्न कठिनाइयों के द्वारा उत्पन्न होती हैं। वैयक्तिक कार्यकर्त्ता 'सम्बन्ध' के माध्यम से इस प्रकार की समस्याओं को हल करने का प्रयास करता है। इस प्रकार सेवार्थी की समस्याएँ कार्यकर्त्ता के सम्बन्ध के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती है और अपने साथ विभिन्न प्रकार की भावनाओं और संवेगों को भी लाती हैं जिनका समस्याओं से सम्बन्ध रहता है। यदि कार्यकर्त्ता इन पर ध्यान नहीं देता है तो वह वास्तविकता तक नही पहुँच सकता। वास्तव में वैयक्तिक कार्य के अन्तर्गत सांवेगिक विनिमय के दो धरातल होते हैं। एक तो वास्तविकता का धरातल जिसके अन्तर्गत कार्यकर्त्ता और सेवार्थी अपनी वर्त्तमान परिस्थिति से उत्पन्न भावनाओं की अनुभूति और अभिव्यक्ति करते है और कभी-कभी दोनों की भावनाओं का एक दूसरे पर पारस्परिक प्रतिक्रियाँ भी होती है। दूसरा वह धरातल है जहाँ पर कार्यकर्त्ता और सेवार्थी अपने विगत जीवन के अनुभवों से सम्बन्धित भावनाओं को वर्तमान सम्बन्धों के

बीच अभिव्यक्त करते हैं और ये भावनाएँ वैयक्तिक कार्य के वर्तमान सन्दर्भ मे फिर नहीं हो पाती है ।

कभी-कभी कार्यकर्त्ता के साथ कार्य करते हुए सेवार्थी क्रोध, घृणा, प्यार, विरोध और आक्रोष आदि की भावनाएँ ऐसे स्थान पर अभिव्यक्त करता है जहाँ उनका कोई भी औचित्य नही होता है। वास्तव मे इन भावनाओ का सम्बन्ध सेवार्थी के विगत जीवन की किसी दूसरी परिस्थिति से रहता है। इस प्रकार की भावनाएँ विधायी भी हो सकती हैं और नकारात्मक भी और स्वाभाविक तथा आवश्यकता मे अधिक मात्रा में किसी समय भी वैयक्तिक कार्य के सम्बन्धों के बीच अभिव्यक्त हो जाती है। इस प्रकार की क्रिया को जहाँ दूसरी परिस्थितियों से सम्बन्धित सेवार्थी की भावनाएँ स्वाभाविक रूप से प्रतिस्थापित होकर वैयक्तिक कार्यकर्त्ता और सेवार्थी के सम्बन्धों के बीच अभिव्यक्ति पाती है, प्रतिस्थापन कहा जाता है।

फ्रैन्ज अलेक्जेण्डर और हेलेन रॉस के अनुसार 'प्रतिस्थापन' शब्द का एक व्यापक अर्थ होता है। इसके अन्तर्गत एक से दूसरे तक प्रतिस्थापन की अवधारणा ही नही आती है वरन् रोगी के द्वारा उपचारकर्त्ता के प्रति व्यक्त की गयी समस्त अतर्क-संगत प्रतिक्रियाएँ इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। उसकी नीरस और अनुपयुक्त बाते, उसके द्वारा अपनायी गयी प्रतिरक्षात्मक युक्तियाँ, असन्तुष्ट इच्छाओ की सन्तुष्टि के लिए किये गये प्रयास तथा चेतन मनोवृत्तियों का प्रक्षेपण आदि समस्त बातें इसके अन्तर्गत आती हैं।

प्रतिस्थापन की भावना सर्वव्यापक होती है और कुछ-न-कुछ अंश में सभी व्यक्तियो के जीवन मे पायी जाती है। सामान्यतः हम अपने विगत जीवन के अनुभवों के आधार पर नवीन परिस्थितियों मे भी प्रतिक्रिया करते हैं। इस प्रकार विगत जीवन की अनुभूत भावनाएँ कभी-कभी नवीन परिस्थितियों में प्रतिस्थापित हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, सौतेली माँ के प्रति महसूस की जाने वाली ऋणात्मक भावनाएँ, कभी-कभी बालक अपनी अध्यापिका के प्रति भी व्यक्त कर देता है।

स्वस्थ और स्वाभाविक प्रतिस्थापन का सम्बन्ध पूर्वचेतन मन से होता है और यह शीघ्र ही पहचाना जा सकता है। स्वस्थ और प्यार भरे वातावरण में परिपालित बालक जब अपनी अध्यापिका को भी पसन्द करने लगता है तो उसे वह अपनी माता के समान ही प्रतीत होती है। इसके विपरीत अस्वस्थ, तिरस्कृत और ऋणात्मक प्रतिस्थापित भावनाओं का सम्बन्ध अचेतन मन से होता है। नैराश्यपूर्ण वातावरण में परिपालित बालक अपनी अध्यापिका के प्रति भी ऋणात्मक भावनाओं की अनुभूति करता है। पर चूँकि ये भावनाएँ समाज के लिए ग्राह्य नही होती हैं अतः दमित होकर अचेतन मन तक पहुँच जाती हैं। ये भावनाएँ विभिन्न परिस्थितियों में अस्वस्थ और नकारात्मक प्रतिस्थापित भावनाओं

के रूप में अपने आप ही अभिव्यक्त होती रहती है तथा सेवार्थी इन्हें नियन्त्रित नहीं कर पाता है। कभी-कभी विधायी प्रतिस्थापित भावनाओं का भी सम्बन्ध अचेतन मन से होता है। बचपन में जब बालक माता के प्यार से किसी कारणवश वंचित हो जाता है तो उसके मन में कुछ क्रोध और निराशा की भावना तो जनित होती ही है पर साथ-ही-साथ माता का प्यार पाने की भावना भी बनी रहती है जो अपनी सन्तुष्टि का अवसर न पाकर अचेतन मन मे चली जाती है और विद्यालय में महिला अध्यापिका अथवा वैयक्तिक महिला कार्यकर्त्ता के प्रति उक्त प्रेम उमड़ पड़ता है। इस प्रकार की क्रिया को छद्मवेषी प्रतिस्थापन कहते हैं क्योंकि इस प्रकार के प्यार के व्यवहार के पीछे घृणा और बदला लेने की भावना भी छिपी रहती है।

वैयक्तिक कार्य के सम्बन्धों के बीच इस प्रकार के छद्मवेषी प्रतिस्थापन की क्रियाओं की पहचान कर कार्यकर्त्ता द्वारा इन्हें बहुत ही सावधानीपूर्वक हल किया जाना चाहिए और यथाशक्ति ऐसा प्रयास करना चाहिए कि सेवार्थी और कार्यकर्त्ता के सम्बन्धों पर इन क्रियाओं का प्रभाव न पड़े।

सेवार्थी साक्षात्कार के समय जिस मुद्रा में अपने को प्रदर्शित करता है उसी से उसके व्यक्तित्व तथा आन्तरिक संघर्षों को समझा जा सकता है। चूँकि प्रतिस्थापन सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ सेवार्थी और कार्यकर्त्ता के सम्बन्धों की एक आवश्यक अंग होती हैं और अपने आप ही उत्पन्न होती हैं और सेवार्थी के विभिन्न अन्तर्द्वन्द्वों को प्रकाश में लाती हैं, अतः निदानात्मक दृष्टिकोण से इनका अत्यधिक महत्त्व होता है। उदाहरण के लिए, साक्षात्कार के लिए निर्धारित समय पर सेवार्थी की अनुपस्थिति, कार्यकर्त्ता का दूसरे सेवार्थियों के प्रति अभिरुचि, कार्यकर्त्ता से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापन हेतु सेवार्थी द्वारा किये गये प्रयास बहुत अंश में प्रतिस्थापित भावनाओं के ही द्योतक हैं। प्रतिस्थापन की क्रिया का कुछ अंशों में उपचार के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति क्रोधयुक्त स्वर में दूसरे से बातें करता है तो सामान्यतः वैसा ही उत्तर भी पाता है और कार्यकर्त्ता से भी वह क्रोधयुक्त बातों का उसी प्रकार के उत्तर की अपेक्षा करता है पर इसके विपरीत कार्यकर्त्ता जब विनम्र और सहायतायुक्त स्वर में बात करता है तो उसे एक नवीन प्रकार की अनुभूति होती है। अपने से गैर, दूसरे व्यक्तियों के प्रति विगत जीवन की नकारात्मक अनुभति अब कार्यकर्त्ता के प्रति विधायी अनुभूति में बदल जाती है। परिणाम स्वरूप विधायी सम्बन्ध का विकास होता है जिसका उपयोग कार्यकर्त्ता आगे चल कर उपचार कार्य के लिए करता है।

उपचार मे बाधक प्रतिस्थापन की प्रतिक्रियाओं को नियन्त्रण करने के लिए कार्यकर्त्ता को चाहिए कि इन भावनाओं की पहिचान कर सेवार्थी से स्पष्ट रूप से बता दे कि इनका

सम्बन्ध वर्तमान परिस्थितियों से नही है वरन् सेवार्थी के विगत जीवन से है। इसके अतिरिक्त कार्यकर्त्ता को सेवार्थी की सहायता के सम्बन्ध मे अपने द्वारा किये गये कार्यो के उद्देश्य और महत्त्व का भी स्पष्ट रूप से विवरण दे देना चाहिए। इन बातों के द्वारा सेवार्थी अपने को अस्वस्थ महसूस करता है। उसकी प्रतिस्थापन सम्बन्धी भावनाओं में भी कुछ कमी आती है तथा वैयक्तिक कार्यकर्त्ता के प्रति विश्वास की भावना मे भी वृद्धि होती है। इन बातों के साथ ही साथ साक्षात्कार के समय और संस्था के नियमों को दृढ़ता से पालन करा कर तथा सेवार्थी की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति सम्बन्धी कार्यों को स्पष्ट रूप से इनकार करके भी प्रतिस्थापन की क्रियाओं को नियन्त्रित किया जा सकता है।

पर प्रतिस्थापित भावनाओं का सेवार्थी के विगत जीवन से सम्बन्ध स्थापित करना और सेवार्थी को इसका बोध कराना सदैव उपचार कार्य मे सहायक ही नही होता है। कभी-कभी सेवार्थी के व्यक्तित्व पर इसका अत्यन्त भीषण प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार की जानकारी के फलस्वरूप कभी-कभी तो सेवार्थी अत्यधिक चिन्तित तथा कभी-कभी अत्यधिक प्रनिरक्षी हो जाता है। अतः कार्यकर्त्ता को इस बात का ध्यान रखते हुए इस दिशा में सावधानी पूर्वक कार्य करना चाहिए। कभी-कभी सेवार्थी के विगत जीवन के सम्बन्ध में बिना किसी प्रकार की बात किये हुए प्रतिस्थापन की क्रिया का उपयोग सेवार्थी में अर्न्तदृष्टि के विकास हेतु किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, व्याख्या की प्रविधि के द्वारा कार्यकर्त्ता सेवार्थी को यह महसूस कराता है कि अकारण ही वह दूसरों से घृणा करता है और बदले में दूसरे भी उससे घृणा करने लगते हैं। इस बात की जानकारी होने पर सेवार्थी अपने व्यवहारों में परिवर्तन करता है तथा वैयक्तिक कार्यकर्त्ता एवं अन्य व्यक्तियों के प्रति सहयोग स्थापित करने का प्रयास करता है।

कार्यकर्त्ता को अपनी भावनाओं तथा प्रतिक्रियाओं का भी सम्बन्ध स्थापन के अन्तर्गत विशेष ध्यान रखना चाहिए। दूसरे व्यक्तियों के समान स्वयं उसकी भी अपनी भावनाएँ होती है और विगत जीवन का अनुभव भी उसके साथ लगा रहता है। सहायता कार्य के अन्तर्गत वस्तुगत दृष्टिकोण और सांवैगिक अनासक्ति को कायम रखने के लिए उसे अपनी भावनाओं और संवेगों के साथ निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है। यह एक महान् साधना का पथ है। इस पथ पर चलते हुए कभी-कभी कार्यकर्त्ता के भी पैर फिसल जाते हैं। कभी-कभी स्वयं उसकी असन्तुष्ट भावनाएँ और अन्य विश्वास सेवार्थी के स्थापित सम्बन्ध को बुरी तरह प्रभावित करते हैं। कभी-कभी विधायी प्रतिस्थापन की भावना से अनुप्राणित होकर सेवार्थी कार्यकर्त्ता की अनावश्यक रूप से प्रशंसा करने लगता है और वैयक्तिक कार्यकर्त्ता भी झूठी आत्मश्लाघा की भावना से प्रभावित होकर अपनी गलतियों और कमियों पर ध्यान देना समाप्त कर देता है। कभी-कभी सेवार्थी की क्रोध और घृणात्मक

वाणी के द्वारा कार्यकर्त्ता के मन में भी उसी प्रकार की भावनाओं का उदय होता है और इनके द्वारा उपचार की प्रक्रिया नकारात्मक ढंग से प्रभावित होती है। कुछ प्रकार के व्यक्तियों के प्रति कार्यकर्त्ता की विशेष अभिरुचि और कुछ प्रकार के व्यक्तियों के प्रति कार्यकर्त्ता की अरुचि हो सकती है और इसके फलस्वरूप वह कुछ सेवार्थियों को अकारण ही आवश्यकता से अधिक संरक्षण देने लगता है और कुछ से घृणा करने लगता है। कभी-कभी सेवार्थी के कुछ कार्यों के द्वारा कार्यकर्त्ता भी अपने विगत जीवन की अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति करने लगता है। उदाहरण के लिए, यदि कार्यकर्त्ता को अपने विगत जीवन में अपने माता और पिता के द्वारा अनावश्यक डाँट और फटकार मिली हो तो बहुत सम्भव है कि सेवार्थी की भी डाँट और फटकार के लिए वह अनावश्यक रूप से उसके माता तथा पिता को बिगड़ने लगे। अतः इस प्रकार की क्रिया को जिसमें वैयक्तिक कार्यकर्त्ता की विषयगत और व्यक्तित्व सम्बन्धी भावनाएँ जिनका सम्बन्ध किन्हीं दूसरी परिस्थितियों से होता है, अचेतन रूप से प्रतिस्थापित होकर कार्यकर्त्ता और सेवार्थी के सम्बन्धो के बीच अभिव्यक्त होने लगती है, प्रतिहस्तांतरण कहते हैं। यह क्रिया भी विधायी तथा नकारात्मक दोनों प्रकार की होती है। प्रतिहस्तांतरण की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से होती है। कार्यकर्त्ता द्वारा निर्धारित समय से देर करके आना, साक्षात्कार के समय सेवार्थी की बातों पर कोई विशेष ध्यान न देना, साक्षात्कार के समय अत्यधिक परेशान हो जाना इत्यादि इसके उदाहरण हैं। जब भी क्रिया होती है और वैयक्तिक कार्यकर्त्ता उसको पहचान नही पाता है तो उपचार की क्रिया पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार की भावना के नियन्त्रण का सबसे पहला कदम है कार्यकर्त्ता द्वारा इस प्रकार की भावनाओं की अनुभूति। कार्यकर्त्ता को आत्मपरीक्षण और विश्लेषण की आदत डालनी चाहिए और उसे स्वयं अपने से ही प्रश्न करना चाहिए कि किसी विशेष प्रकार के सेवार्थी अथवा उसकी समस्याओं के प्रति क्यों उसे विशेष अभिरुचि महसूस हो रही है तथा दूसरे प्रकार के सेवार्थी के प्रति क्यों उसे विशेष अरुचि महसूस हो रही है। जब कार्यकर्त्ता इस प्रकार की भावनाओं के अस्तित्व के प्रति अस्वीकृति दिखलाने लगता है अथवा तीव्र प्रतिक्रिया करता है तो ऐसी स्थिति में उसे वास्तविकता का बोध नहीं हो पाता है तथा प्रतिहस्तान्तरण का नियन्त्रण भी नहीं हो सकता है। यदि कार्यकर्त्ता सम्बन्ध स्थापन तथा उपचार के लक्ष्यों पर बराबर ध्यान देता रहता है तो इस प्रकार की भावनाओं को शीघ्र पहचान लेता है। इस प्रकार की भावनाओं को कार्यकर्त्ता की अपेक्षा एक तीसरा व्यक्ति अधिक आसानी से पहचान सकता है। इसीलिए प्रशिक्षार्थी कार्यकर्त्ताओं के निरीक्षक इन भावनाओं का स्पष्ट आभास पा जाते हैं और कार्यकर्त्ता को भी उनका बोध करा कर उन्हें नियन्त्रित करने के लिए उत्साहित करते हैं। अन्य दूसरे कार्यकर्त्ता भी वैयक्तिक

विचार-विनिमय के अन्तर्गत जब अपने सेवार्थी वृत्त को विचार-विमर्श हेतु प्रस्तुत करते हैं तो उनकी प्रतिहस्तांतरण-सम्बन्धी क्रियाओं का अधिक आसानी से पता लगा कर उन्हें उनका बोध कराया जाता है और एक बार यदि कार्यकर्त्ता को अपनी भावनाओं तथा उनके प्रतिकूल प्रभावों का आभास हो जाता है तो बहुत अंशों में यदि वह उनमें परिवर्तन नहीं कर पाता है तब भी उनका नियन्त्रण तो अवश्य ही कर लेता है।

व्यक्ति और उसकी समस्याएँ

वैयक्तिक कार्य की अवधारणा के सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति और उसकी समस्याएँ ही मुख्यत: इसके कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं। सामान्यत: व्यक्ति अपनी समस्याओं को लेकर ही संस्था में सहायता लेने के लिए आता है पर समस्याओं का सम्बन्ध उसके पूरे व्यक्तित्व से होता है। व्यक्तित्व के अन्तर्गत उसकी शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विशेषताएँ, विगत जीवन के अनुभव, वर्तमान की क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ तथा भविष्य की आशाएँ आदि सब कुछ छिपी रहती हैं। सबका अध्ययन तो एक वृहद् कार्य होगा पर वैयक्तिक कार्य के दृष्टिकोण से हम यह कह सकते हैं कि किसी भी संस्था में किसी समस्या को लेकर कोई व्यक्ति आता है तो कार्यकर्त्ता का लक्ष्य यही होता है कि उसकी समस्याएँ सुलझाते हुए उसकी क्षमताओं का इस प्रकार विकास किया जाय कि वह यथासम्भव अधिक सुख और सन्तोष का जीवन-यापन कर सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित करना पड़ता है। अत: यहाँ वैयक्तिक सेवा-कार्य से सम्बन्ध रखने वाली मानव व्यवहार की कुछ मुख्य विशेषताओं का ही उल्लेख किया जायेगा।

व्यवहार का अर्थ उस प्रयास से है जिसे व्यक्ति समायोजन स्थापन के लिए करता रहता है। प्रतिक्षण कुछ आन्तरिक और बाह्य उत्प्रेरकों, आवश्यकताओं और परिस्थितियों का व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता रहता है, जिनके कारण उसके मनोस्नायविक प्रणाली में कुछ परिवर्तन और अस्थिरता आती रहती है, जिनके कारण उसके ऊपर एक दबाव पड़ता है और उसे तनाव की अनुभूति होती है। इस तनाव को कम करने और अपने मनोस्नायविक प्रणाली में पुन: स्थिरता लाने के लिए व्यक्ति जो कार्य करता है उसे ही व्यवहार कहते हैं। व्यवहार आवश्यकता और लक्ष्य से परिचालित होते हैं। इसके अन्तर्गत एक समय में व्यक्ति द्वारा किये गये समस्त संवेग, विचार, दृष्टि तथा कार्य आदि आते हैं। एक व्यवहार के अन्तर्गत जितने कार्य आते हैं सभी एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं और सभी एक लक्ष्य विशेष की ओर अग्रसर होते हैं। व्यक्ति के सामाजिक व्यवहारों के अन्तर्गत वे सभी कार्य आते है जिनका समाज के सदस्य होने और सामाजिक क्रियाओं में भाग लेने के कारण व्यक्ति से आशा की जाती है।

प्रश्न यह है कि व्यक्ति क्यों व्यवहार करता है ? फ्रायड ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि व्यक्ति एक मनोवैज्ञानिक जीव है। उसके अन्तर्गत तीन शक्तियाँ होती हैं-- इद्, अहम् और पराहम्। व्यक्ति के समस्त व्यवहार इन्ही के द्वारा संचालित होते हैं। इद् का स्वरूप अचेतन होता है। यह मूल प्रवृत्तियों से जनित शारीरिक आवश्यकताओं की अपने मूल रूप में सन्तुष्टि करना चाहती है। यह 'आनन्देच्छा-सिद्धांत' से परिचालित होती है और अपनी इच्छाओं की सन्तुष्टि या तो वास्तविक कार्यों के द्वारा अथवा काल्पनिक चित्रों (जिसे फ्रायड ने 'प्राइमरी प्रॉसेस' कहा है) के द्वारा करती है अथवा अहम् द्वारा इसकी इच्छाओं का नियन्त्रण कर लिया जाता है। पराहम् (सुपर इगो) का निर्माण अहम् आदर्श और चेतना से होता है। इसके द्वारा समाज के आदर्शों और मूल्यों का प्रतिनिधित्व किया जाता है। व्यक्तित्व के अन्तर्गत इद् के द्वारा उत्पन्न हुई असांस्कृतिक और असामाजिक इच्छाओं का इसके द्वारा नियन्त्रण किया जाता है और व्यक्ति को समाज के आदर्शों और मूल्यों के अनुकूल चलने के लिए प्रेरित किया जाता है। इनमें मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का एक जटिल संगठन है जो इद् और वाह्य संसार के बीच मध्यस्थ का कार्य करते हुए दोनों की आकांक्षाओं में सन्तुलन स्थापित करती है। इसका स्वरूप चेतन होता है। व्यक्तित्व के अन्तर्गत कार्य करने वाली शक्ति इसमें ही है। इसीके द्वारा व्यक्ति किसी चीज को देखता है, उसके बारे में निर्णय लेता है और कार्य करता है। यह वास्तविकता-सिद्धांत के द्वारा परिचालित होती है और द्वितीय प्रक्रिया के द्वारा अपने कार्यों को करती है। इनके द्वारा व्यक्ति में यह योग्यता आती है कि किसी चीज को बहुत गहराई से देख सके और बाह्य जगत् से अपने उद्देश्य प्राप्ति के साधनों को ढूँढ़ निकाले। बाह्य जगत् से जो उत्तेजनाएँ प्राप्त होती हैं उन पर वह अपने स्मृति पर बने पहले के चित्रों के सन्दर्भ में विचार करके उन्हें अधिक उपयोगी रूप में प्रयोग करती है। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण और विचारमन्थन के विकास से व्यक्ति इस योग्य हो जाता है कि वह उचित निर्णय ले सके। इनके द्वारा व्यक्ति अपना पराहम् तथा इद् के द्वारा व्यक्त की गयी इच्छाओं का उचित नियन्त्रण करते हुए अपने आन्तरिक और बाह्य वातावरण में उचित समायोजन करने का प्रयास करता है तथा उसके समस्त व्यवहार स्व के निर्णय से ही परिचालित होते हैं। पर फ्रायड के उपर्युक्त सिद्धान्त के द्वारा यह बात स्पष्ट रूप से नहीं ज्ञात होती है कि ये शक्तियाँ मस्तिष्क में कहाँ होती हैं और इनकी उत्पत्ति कहाँ से होती है। इसके अलावा हर प्रकार के व्यवहारों का भी कभी-कभी इसके द्वारा स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है; तथापि इस सिद्धान्त के द्वारा मनोविज्ञान को एक नयी दिशा मिली। व्यक्तित्व के निर्माण में बाल्यावस्था का महत्त्व तथा आत्मा की अवधारणा इत्यादि बातों पर आज का मनोविज्ञान बहुत अंश में आधारित है।

मैकडूगल इत्यादि कुछ विद्वानों ने मानव-व्यवहार का सम्बन्ध मूल प्रवृत्तियों से जोड़ा। उनके अनुसार व्यक्ति को वंशानुक्रम से कुछ ऐसी शक्तियाँ प्राप्त होती है जिनके बारे में अभी विशेष जानकारी तो नहीं हो पायी है पर व्यक्ति के व्यवहार बहुत कुछ इन्ही शक्तियों से प्रभावित होते हैं। इन्हें उन लोगों ने मूल प्रवृत्ति का नाम दिया। इनके कारण व्यक्ति किसी वस्तु को एक निश्चित प्रकार से देखता है और उसके साथ एक निश्चित प्रकार का व्यवहार करता है। पर यह देखा गया है कि सभी व्यक्तियों में इस प्रकार की मूल प्रवृत्तियाँ नही पायी जाती है और एक व्यक्ति में एक समय जो प्रवृत्ति मौजूद है दूसरे समय में उसका लोप हो जाता है। इसके अतिरिक्त बहुत-से व्यवहारों का स्पष्टीकरण मूल प्रवृत्ति के सिद्धान्त के द्वारा नही हो पाता है।

इसके पश्चात् वुडवर्थ आदि कुछ विद्वानों ने यह मत अभिव्यक्त किया कि कुछ खास प्रकार के बाह्य जगत् के उत्तेजक होते है और उनके प्रति व्यक्ति एक निश्चित प्रकार की प्रतिक्रिया करता है। इस प्रकार प्रत्युत्तर का सिद्धान्त चल पड़ा। यह भी महसूस किया गया कि बाहरी उत्तेजक ही व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित नही करते हैं वरन् व्यक्ति के आन्तरिक जगत की विशेषताओं का भी उसके व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है व एक ही प्रकार की बाह्य उत्तेजना का भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। इस तरह यह महसूस किया जाने लगा कि व्यक्ति का व्यवहार उसके मनोवैज्ञानिक जगत् तथा उसके मनोस्नायविक प्रक्रियाओं की वह दशा है जो व्यक्ति के अनुभवगम्य जगत् तथा उसके मस्तिष्क की स्नायविक प्रक्रियाओं की प्रणालियो के रूप में अभिव्यक्ति पाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य के बाह्य जीवन के अनुभवों के साथ ही साथ उसके अचेतन मन की स्नायुविक क्रियाएँ भी उसके मनोवैज्ञानिक जगत् को प्रभावित करती हैं। व्यक्ति का बाह्य भौतिक वातावरण, उसके अन्तर्गत की दशाएँ तथा विगत जीवन के अनुभव जो स्नायविक चिह्नों के रूप में व्यक्ति के मानस में पड़े रहते हैं, तीनों के सम्मिलित प्रभाव के द्वारा उसके मनोवैज्ञानिक जगत का निर्माण होता है। इन तीनों प्रभावों की अन्तःक्रियाओं की एक रूपता के कारण ही व्यक्ति कोई व्यवहार करता है पर इन तीनों प्रभावों की एकता के कारण व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक जगत में स्थिरता नहीं बनी रहती। आन्तरिक या बाह्य कारकों के द्वारा किसी भी प्रभाव में यदि कुछ परिवर्तन हुआ तो पारस्परिक अन्तर्क्रिया के द्वारा उसका प्रभाव अन्य भागों पर भी पड़ता है। इस प्रकार पूरे मनोवैज्ञानिक जगत में अस्थिरता आ जाती है, इसके फलस्वरूप व्यक्ति के ऊपर कुछ दबाव पड़ते हैं और उसे कुछ तनावों की अनुभूति होती है और इन्ही तनावों को दूर करने के लिए व्यक्ति को जो कार्य करने पड़ते हैं उन्हें व्यवहार कह सकते हैं। व्यक्ति के बाह्य और आन्तरिक वातावरण के अतिरिक्त उसके अचेतन मन की उत्तेजनाओं से भी तनाव उत्पन्न होते हैं। विभिन्न

प्रकार की उत्तेजनाओं के कारण व्यक्ति के बाह्य या आन्तरिक वातावरण में जो परिवर्तन होता है उसके कारण उसे एक आवश्यकता की अनुभूति होती है, आवश्यकता के कारण ही उसे तनाव की अनुभूति होती है व आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसे किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति करनी पड़ती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे कुछ निश्चित कार्य करने पड़ते हैं। लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् उसकी आवश्यकता की पूर्ति होती है, तनाव दूर हो जाते हैं और उसके मनोवैज्ञानिक जगत में पुनः स्थिरता आ जाती है, पर सामान्यतः व्यक्ति पूर्व स्थिति में न आकर नवीन मनोवैज्ञानिक स्थिरता की स्थिति में आता है और इस स्थिति में पुनः परिवर्तन तथा अस्थिरता आती रहती है और व्यक्ति दूसरे कार्य करता रहता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति अपने प्रयासों के द्वारा निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर पाता है। व्यक्ति के भौतिक या सामाजिक वातावरण अथवा उसके शारीरिक जगत से उत्पन्न कुछ कारक उसके प्रयास में बाधा डाल देते हैं और वह निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर पाता है। ऐसी दशा में उसे एक प्रकार की कुण्ठाजनक स्थिति की अनुभूति होती है। इस प्रकार की कुण्ठाओं का व्यक्ति के ऊपर अनेक प्रकार का प्रभाव पड़ता है और ये एक व्यक्ति पर पड़ने वाले प्रभाव दूसरे से भिन्न होते हैं। एक ही व्यक्ति के ऊपर पड़ने वाले विभिन्न प्रभाव एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। उदाहरण के लिए, इस प्रकार की स्थिति में व्यक्ति को क्रोध भी आ सकता है और हीनता भी महसूस हो सकती है, पर यदि क्रोध की मात्रा अधिक होगी तो हीनता कम महसूस हो सकती है और हीनता अधिक होगी तो क्रोध कम महसूस होगा। कुण्ठा जितनी तीव्र होगी प्रभाव भी उतना ही तीव्र होगा। यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रभाव हमेशा बुरा ही हो। कुण्ठानुभूति के पश्चात् व्यक्ति कभी-कभी नये सिरे से अधिक प्रयास करके कार्य करता है और अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है। ऐसे कार्य को समायोजनशील व्यवहार कहते हैं, पर कभी-कभी कुछ असमायोजनशील व्यवहारों के द्वारा अपने तनाव को दूर करता है, ऐसे व्यवहार स्वस्थ व्यवहार नहीं कहे जा सकते।

समायोजनशील व्यवहारों के अन्तर्गत व्यक्ति कभी-कभी अधिक प्रयास के साथ अपने लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में पुनः अग्रसर होता है, कभी व्यक्ति अपनी कार्यप्रणाली में परिवर्तन करके नवीन तरीकों से कार्य करते हुए अपने लक्ष्य की ओर पहुँचना चाहता है। कभी-कभी समस्या और लक्ष्य के बारे में नवीन जानकारी प्राप्त करके कुछ अधिक योग्यताओं का अपने में विकास कर व्यक्ति लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में प्रयास करता है। व्यक्ति कभी इस निर्णय पर पहुँचता है कि जिस लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयास वह कर रहा है वह अति दुष्कर है, ऐसी दशा में वह उस लक्ष्य से हट कर दूसरा लक्ष्य अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए निर्धारित कर उसकी प्राप्ति का प्रयास करता है। इस प्रकार के व्यवहार प्रतिरक्षात्मक

भी हो सकते हैं । सुरक्षात्मक व्यवहारों के अन्तर्गत व्यक्ति दोष भावना की अनुभूति नही करता पर इस प्रकार के व्यवहारों के अन्तर्गत व्यक्ति दोष भावना की भी अनुभूति करता है। कभी-कभी व्यक्ति न तो अपना लक्ष्य ही प्राप्त कर पाता है और न परिस्थिति से हटना ही चाहता है, ऐसी दशा मे व्यक्ति अपनी आकांक्षाओ को कुछ नीचा करके परि-स्थिति से समझौता कर लेता है । असमायोजनशील व्यवहारो के अन्तर्गत व्यक्ति कुछ ऐसे कार्य करता है जिनके द्वारा लक्ष्य पूर्ति तो नही होती है और उसके व्यक्तित्व पर कुछ हानिकारक प्रभाव भी पड़ता है, पर व्यक्ति को अपनी असफलताओं के कारण दोष-भावना की अनुभूति नही होती है—ऐसे व्यवहारों को सुरक्षात्मक व्यवहार भी कहते हैं । इस प्रकार के व्यवहार के अन्तर्गत व्यक्ति कभी-कभी अपनी असफलताओं का दोष किसी दूसरे के ऊपर मढ़ कर दोष भावना की अनुभूति से बच जाता है—ऐसे व्यवहार को प्रक्षेपण कहते है। कभी-कभी व्यक्ति अपने गलत कार्यो को भी विभिन्नताओं के द्वारा उचित ठहराते हुए दोष भावना से बच जाना चाहता है—इस प्रकार के व्यवहार को विवेकीकरण कहते हैं। कभी-कभी व्यक्ति किसी स्थिति विशेष से उत्पन्न संवेगात्मक प्रक्रियाओ को उस स्थिति मे न प्रकट कर दूसरी स्थिति में प्रकट करता है व इस प्रकार उसे सन्तोष का अनुभव होता है—इस प्रकार के व्यवहार को विस्थापन कहते हैं । कभी-कभी व्यक्ति एक प्रकार की मूल प्रवृत्ति से जनित इच्छा को जो किसी परिस्थिति विशेष मे अग्राह्य होती है उसके विपरीत की प्रवृत्ति द्वारा जनित इच्छा से इस प्रकार दबा लेता है कि उसकी अनुभूति नहीं होती है—इस प्रकार के व्यवहार को प्रतिक्रिया-विधान कहते हैं। कभी-कभी व्यक्ति अपने जीवन की नवीन परिस्थितियों के साथ जब समायोजन नही स्थापित कर पाता है तो पुरानी परिस्थितियों में ही वापस लौट जाता है इस प्रकार के व्यवहार को प्रतिगमन कहते हैं। इस प्रकार के कुछ और भी सुरक्षात्मक व्यवहार है जिनके द्वारा व्यक्ति दोष भावना से बच कर सन्तोष का अनुभव करता है । बहुत अंश मे इस प्रकार के व्यवहार नकरात्मक ही होते है ।

अब प्रश्न यह है कि व्यक्ति के आन्तरिक और बाह्य वातावरण के अन्तर्गत सामान्यतः कौन-कौन से ऐसे कारण होते हैं जो इसके मानसिक-जगत में तनाव उत्पन्न करते हैं। व्यक्ति-गत और आन्तरिक कारकों के अन्तर्गत व्यक्ति की कुछ मुख्य आवश्यकताएँ होती है जो अपनी पूर्ति के लिए व्यक्ति के ऊपर दबाव डालती हैं और उनके द्वारा व्यक्ति कुछ तनावों की अनुभूति करता है और व्यवहार करता है। प्रथम आवश्यकता सुरक्षा सम्बन्धी आव-श्यकता होती है। व्यक्ति के आन्तरिक और बाह्य वात.वरण से उत्पन्न खतरो से रक्षित होने और व्यक्तित्व के सन्तुलन को कायम रखने के लिए इस प्रकार की आवश्यकता की अनुभूति होती है। व्यक्ति की आधारभूत शारीरिक आवश्यकताओं में भूख, प्यास,

मलमूत्रत्याग, विभिन्न प्रकार के खतरों से सुरक्षा आदि बातें हैं। इसके अतिरिक्त, विभिन्न धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक, और सामाजिक मूल्यों तथा विश्वासों के अनुसार कार्य करने की आवश्यकताएँ भी इसके अन्तर्गत आती हैं। सुरक्षात्मक आवश्यकताओं के अतिरिक्त व्यक्ति में बाल्यावस्था में माता-पिता से प्यार पाने की इच्छा तथा युवावस्था में अपने विपरीत लिंग के व्यक्तियों से प्यार पाने की इच्छा होती है, साथ ही साथ साथियों, परिवार तथा समाज के अन्य लोगों से प्यार पाने की इच्छा भी व्यक्ति में होती है और उसके व्यवहार बहुत अंश में इस प्रकार की इच्छाओं से ही परिचालित होते हैं। व्यक्ति मे परिवर्तन करने और नवीन बातों को जानने की भी इच्छा होती है, इसके अतिरिक्त वह दूसरों के द्वारा सम्मान पाने की भी इच्छा रखता है, आत्मश्लाघा और समाज के अन्तर्गत अपने पद और मर्यादा के अनुसार कार्य करने की भावना और नवीन तथा उच्चपद पाने की इच्छा भी व्यक्ति में विद्यमान होती है। इन सभी बातों से उसके व्यवहार प्रभावित होते हैं। कुछ इच्छाएँ व्यक्ति के चेतन मन से उत्पन्न होती हैं और कुछ अचेतन मन की इच्छाएँ भी होती हैं। बाह्य और सामाजिक कारकों के अन्तर्गत व्यक्ति के सामाजिक और भौतिक वातावरण के विभिन्न तत्त्व जैसे, भौतिक दशाएँ, समाज की संरचना, कार्य करने के विभिन्न तरीके और साधन, समाज के अन्तर्गत फैली हुई विभिन्न विचारधाराएँ, आर्थिक, सामाजिक, भौतिक, राजनीतिक और प्राविधिक परिवर्तन और सामाजिक उदासीनता आदि है जो व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती है।

मानव-व्यवहार कुछ प्रमुख सिद्धान्तों से परिचालित होते हैं। प्रथम सिद्धान्त है कि व्यवहार अर्थपूर्ण होते हैं। प्रत्येक व्यवहार के कुछ न कुछ अर्थ अवश्य होते हैं। सामान्यतः व्यक्ति अपने व्यवहारो के द्वारा या तो किसी चीज को पाना चाहता है या किसी अनपेक्षित तत्त्व से बचना चाहता है अथवा अपना मानसिक सन्तुलन स्थापित करना चाहता है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी सिद्धान्त हैं, जैसे—व्यक्ति के व्यवहार उसके तात्कालिक मनोवैज्ञानिक जगत की विशेषताओं से परिचालित होते हैं; विगत जीवन के अनुभव स्नायविक चिह्नों के रूप में मस्तिष्क में पड़े रहते हैं और मनोवैज्ञानिक जगत के एक आधारभूत तत्त्व के रूप में वे भी कार्य करते हैं; मानव-व्यवहार मनोवैज्ञानिक जगत को क्रमशः उच्चस्तर पर समंजित करने की दिशा में अग्रसर होते हैं; मनुष्य की वंशपरम्परा और वातावरण दोनों की विशेषताओं का उसके व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है; व्यवहार चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के होते हैं; भूत और वर्तमान की घटनाओं के अतिरिक्त भविष्य की आशाओं का भी उसके व्यवहारों पर प्रभाव पड़ता है; व्यक्ति के छोटे-छोटे कार्य जो ऊपरी तौर से असंगठित से दिखाई पड़ते हैं, वास्तव में संगठित व्यवहार की ही एक कड़ी होते हैं; मानव-व्यवहार का सम्यक् सम्पादन उसके सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्तियों

के व्यवहारों पर भी निर्भर करता है तथा कभी-कभी एक निश्चित आवश्यकता और लक्ष्य द्वारा परिचालित व्यवहार कुछ अन्य नवीन तथ्यों की जानकारी के पश्चात् बदलता भी रहता है।

कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती है कि विभिन्न आन्तरिक और वाह्य परिस्थितियों के कारण व्यक्ति के मानसिक जगत् में जो तनाव उत्पन्न होते हैं उनका वह शमन नही कर पाता है। कुछ ऐसी वाधाएँ या रुकावट व्यक्ति के जीवन में आ जाती हैं जिनके कारण उसकी कार्यशक्ति प्रभावित होती है, वह ऐसे कार्य ही नहीं कर पाता है जिनसे उसके तनावों में कमी आये। ऐसी दशा में व्यक्ति को समस्या से ग्रस्त कहा जाता है और उसकी समस्याओं को दूर करने के लिए किसी बाहरी सहायता की आवश्यकता होती है। ऐसे ही व्यक्ति वैयक्तिक कार्य की संस्थाओं में सहायता प्राप्ति हेतु आते है। समस्याएँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं पर सामान्यत: वैयक्तिक कार्य का कार्यकर्त्ता उन्ही समस्याओं को हल करने में अपना समय लगाना चाहता है जिनके द्वारा व्यक्ति की सामाजिक क्रियाओं पर बुरा प्रभाव पड़ रहा हो। समस्या के दो पक्ष होते हैं, एक वस्तुगत और दूसरा विषयगत। एक ही प्रकार की समस्या का विभिन्न व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न तरह से प्रभाव पड़ता है। वास्तविक रूप से समस्या के कारण जो कठिनाइयाँ होती हैं और उसका जो प्रभाव पड़ता है वह तो उसका वस्तुगत पक्ष हुआ, इसके अतिरिक्त जब व्यक्ति अपनी अहम् भावनाओं और संवेग आदि के आधार पर एक ही समस्या से अलग-अलग प्रकार से प्रभावित होता है तो ये सब बातें विषयगत पक्ष के अन्तर्गत आती हैं। सहायता देते समय वैयक्तिक कार्यकर्त्ता को दोनों पक्षों का ध्यान रखना चाहिए। किसी समस्या के अन्तर्गत ये दोनों पक्ष साथ-साथ तो रहते ही है और सामान्यत: एक पक्ष दूसरे पक्ष की उत्पत्ति का कारक भी बनते हैं। एक समस्या से दूसरी समस्या उत्पन्न होती है और दूसरी से तीसरी। इस प्रकार एक प्रकार की समस्या से ग्रस्त व्यक्ति धीरे-धीरे अनेक प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त हो जाता है।

किसी भी संस्था में यदि कोई व्यक्ति समस्या से ग्रस्त होकर सहायता प्राप्ति के लिए आता है तो वह समस्या से जनित कठिनाइयों के कारण परेशान रहता ही है और साथ-ही-साथ इस बात से भी परेशान रहता है कि वह ऐसा सेवार्थी है जिसे दूसरे व्यक्ति की सहायता की आवश्यकता है। इस दृष्टि से कार्यकर्त्ता का यह कर्त्तव्य होता है कि सेवार्थी को आदरपूर्वक स्वीकार करे और उसे हीनता का बोध न होने दे। इसी भावना के कारण बहुत-से लोग तो दूसरे के यहाँ सहायता लेने ही नहीं जाते है और समस्या की आग में चुपचाप झुलसते हैं, या केवल शारीरिक बीमारियों से ही ग्रस्त होने पर चिकित्सालय में जाते हैं। कोई भी सेवार्थी जब समस्या से ग्रस्त होकर संस्था में सहायता पाने के लिए जाता है

तो एक ही साथ वह अनेक प्रकार की समस्याओं से परेशान रहता है। समय और साधन के सीमित होने के कारण कार्यकर्त्ता के लिए भी यह सम्भव नही है कि हर समस्या को एक ही साथ सुलझा सके। ऐसी दशा में प्राथमिकता निर्धारण करते हुए समस्याओं का चुनाव करना पड़ता है कि किस समस्या को पहले हल किया जाय और किस समस्या को बाद में। इस कार्य में तीन बातों का ध्यान रखना पड़ता है। एक तो यह देखना पड़ता है कि सेवार्थी किस समस्या को अधिक महत्त्वपूर्ण समझ रहा है और पहले हल करना चाहता है; दूसरे यह देखना पड़ता है कि कार्यकर्त्ता की स्वयं अपनी दृष्टि से कौन-कौन-सी समस्याएँ सेवार्थी के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और अपनी योग्यता और कुशलता के आधार पर किन समस्याओं को वह आसानी और अपेक्षाकृत अधिक अच्छे ढंग से हल करने की क्षमता रखता है; तीसरी बात है संस्था की नीति और साधन। हर संस्था में कुछ विशेष प्रकार की समस्याओं को ही हल किया जाता है। इसके अतिरिक्त संस्था के साधन भी सीमित होते हैं। इसलिए वैयक्तिक कार्यकर्त्ता को संस्था के साधनों और नीतियों को ध्यान में रखते हुए भी समस्या का चुनाव करना पड़ता है। सामान्यतः व्यक्ति निम्न-लिखित प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त होने पर दूसरों की सहायता की आवश्यकता महसूस करता है :—

कभी-कभी व्यक्ति जिस समस्या से ग्रस्त रहता है उसे भलीभाँति जानता है, उसके कारण और हल करने के उपाय भी जानता है पर उचित बाह्य साधनों के अभाव में वह आवश्यक कार्य करके अपनी समस्याओं को सुलझा नहीं पाता है। ऐसी दशा में वैयक्तिक कार्यकर्त्ता संस्था के माध्यम से उसके लिए अपेक्षित साधनों की व्यवस्था करता है। कभी-कभी व्यक्ति अपनी समस्या के स्वरूप उसके कारण या सुलझाव के उपायों के बारे में उचित जानकारी न रख पाने के कारण आवश्यक प्रयास के द्वारा भी अपनी समस्याओं को सुलझा नही पाता है। ऐसी दशा में वैयक्तिक कार्यकर्त्ता आवश्यक जानकारी प्रदान कर सेवार्थी की सहायता करता है। कभी-कभी समस्याग्रस्त व्यक्ति के अन्तर्गत शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का इस प्रकार ह्रास हो जाता है कि वह समस्या सुलझाने की दिशा में उचित प्रयास ही नही कर पाता है। ऐसी दशा में वैयक्तिक कार्यकर्त्ता को सेवार्थी के साथ उचित सम्बन्ध स्थापित करते हुए, आलम्बन आदि प्रविधियों का उचित प्रयोग करते हुए व सेवार्थी की अहम्शक्ति को शक्तिशाली बनाते हुए शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का सेवार्थी में पुनर्जागरण कराना पड़ता है।

कुछ समस्याओं के कारण आवश्यकता से अधिक तीव्र संवेग व्यक्ति में उत्पन्न होते हैं—जैसे—किसी प्रिय पात्र की मृत्यु के कारण उत्पन्न दारुण दुःख। ऐसी अवस्था में व्यक्ति की सोचने और कार्य करने की शक्ति नष्ट हो जाती है और व्यक्ति अपेक्षित कार्य नही कर

पाता है। वैयक्तिक कार्यकर्त्ता ऐसी दशा में तादात्मीकरण की उपप्रविधि के द्वारा सेवार्थी से सम्बन्ध स्थापित कर उसके संवेगो को कम करने का प्रयास करता है। कभी-कभी अवास्तविक भावनाएँ और संवेग जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के विगत जीवन की किसी घटना से होता है, व्यक्ति के अचेतन मन में पड़े रहते है और समय पाकर वे चेतन मन में आ जाते हैं और व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित करने लगते है। ऐसी दशा में व्यक्ति वास्तविक व्यवहारों के द्वारा समस्या को सुलझा नही पाता है। कार्यकर्त्ता को ऐसी स्थिति में सेवार्थी के साथ उचित सम्बन्ध स्थापित करके वैयक्तिक प्राख्या की प्रविधि के द्वारा वास्तविकता की जानकारी कराते हुए उचित व्यवहार हेतु सेवार्थी को अभिप्रेरित करना चाहिए। कुछ सेवार्थियों में ऐसी आदत ही नहीं विकसित हुई रहती है कि वे नियमित और लगातार प्रयास कर किसी लक्ष्य की प्राप्ति कर सकें। ऐसे सेवार्थी प्रायः समस्याओं से ग्रस्त हो जाया करते है और वैयक्तिक कार्यकर्त्ता को ऐसे सेवार्थियों की सहायता करते समय एक ही कार्य को बार-बार और नियमित रूप से कराने का अभ्यास डालना होता है।

किसी व्यक्ति की समस्याओं के सुलझाने के पूर्व उसके साथ उचित सम्बन्ध स्थापित कर उसकी समस्याओं, उनके कारणों और सेवार्थी की आन्तरिक और बाह्य क्षमताओं की समस्त जानकारी वैयक्तिक कार्यकर्त्ता के लिए आवश्यक है।

संस्था और वैयक्तिक कार्यकर्त्ता

जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है वैयक्तिक कार्य की प्रक्रिया हर स्थान पर सम्पन्न नहीं होती है। इसके लिए किसी स्थान विशेष की आवश्यकता पड़ती है जहाँ एक प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता एक विशेष प्रक्रिया के द्वारा एक समय में एक ही समस्याग्रस्त व्यक्ति को लेकर उसको समस्याओं को सुलझाने में सहायता देता है। सामान्यतः इस कार्य के लिए आवश्यक भौतिक और प्राविधिक उपकरण, विशेषज्ञों की सेवाएँ तथा सेवार्थियों के लिए मुद्रा या कुछ भौतिक वस्तुओं के रूप में सहायता की व्यवस्था भी इसी स्थान से की जाती है। इस प्रकार के स्थान को वैयक्तिक कार्य की संस्था कहते हैं।

वैयक्तिक कार्य की संस्थाएँ भी कई प्रकार की होती हैं। सहायता प्राप्ति के स्रोत की दृष्टि से उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है। वे संस्थाएँ जिनके संचालन का आर्थिक भार राज्य वहन करता है, सार्वजनिक संस्थाएँ कहलाती हैं और वे संस्थाएँ जो निजी रूप से एक या दो व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के किसी संगठन द्वारा संचालित होती है और उन्हीं लोगों द्वारा संस्था का आर्थिक व्ययभार भी वहन किया जाता है, निजी संस्थाएँ कहलाती हैं। अधिकार की दृष्टि से भी संस्थाओं को दो भागों में बाँटा जाता है। वे संस्थाएँ जिन्हें नीति-निर्धारण और कार्यान्वियन दोनों का अधिकार प्राप्त होता है, प्राथमिक संस्थाएँ कहलाती हैं और वे संस्थाएँ जो मानव-कल्याण के किसी बृहत् संगठन से

सम्बन्धित होती हैं और सामान्यतः नीतियों का निर्धारण ऊपर से होता है और सम्था द्वारा उनका कार्यान्वियन ही होता है, द्वितीयक संस्थाएँ कहलाती है। संस्थाओं का वर्गीकरण उनके कार्य की दृष्टि से भी होता है। कुछ संस्थाओं के द्वारा अनेक प्रकार की समस्याओं मे ग्रस्त व्यक्तियों की सहायता की जाती है और कुछ संस्थाओं के द्वारा किसी विशिष्ट समस्या से ग्रस्त व्यक्तियों की ही सहायता की जाती है। पहले प्रकार की संस्था को बहुउद्देश्यीय संस्था और दूसरे प्रकार की संस्था को विशिष्ट संस्था कहते हैं।

प्रत्येक संस्था की स्थापना कुछ विशिष्ट लक्ष्यों को ध्यान मे रख कर की जाती है। लक्ष्य की पूर्ति के लिए संस्था में कुछ कर्मचारियों को रखा जाता है। उनका एक संगठन बना लिया जाता है, जिसके अन्तर्गत हर कर्मचारी के अधिकार और कर्त्तव्य निश्चित कर दिये जाते हैं और हर व्यक्ति का एक दूसरे से सम्बन्ध भी निर्धारित हो जाता है। इस प्रकार सभी लोग एक दूसरे से सहयोग के साथ कार्य करते हुए संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। सामान्यतः संस्था के कार्य को समुदाय के कल्याण के लिए अधिक उपयोगी बनाने के लिए ऊपर के लोग कुछ नीतिनिर्धारण करते हैं और उन्हें कार्यान्वित करने के तरीके भी निर्धारित करते हैं व नीचे के लोग उन नीतियों को कार्यान्वित करते हैं। संस्था के संगठन और नीतियों का वैयक्तिक कार्यकर्त्ता और सेवार्थी दोनों की दृष्टि से महत्त्व है। यदि संस्था के संगठन में वैयक्तिक कार्यकर्त्ता को उसकी योग्यता के अनुसार महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जायेगा अथवा संस्था की नीतियाँ व्यावसायिक समाज कार्य की आचार-संहिताओं के प्रतिकूल होंगी तो वैयक्तिक कार्यकर्त्ता को कार्य करना कठिन हो जायेगा। सेवार्थी भी यह आशा करता है कि संस्था का संगठन सरल हो और उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल हो।

सामाजिक संस्था अपने समुदाय के आदर्श और मूल्यों का भी प्रतिनिधित्व करती है और एक जीवित संगठन के रूप में कार्य करते हुए उससे यह आशा की जाती है कि समुदाय की बदलती हुई आवश्यकताओं, आदर्श और मूल्यों के अनुसार अपने में भी परिवर्तन करके समुदाय के लिए अपनी उपयोगिता को कायम रखे।

संस्था वैयक्तिक कार्य सम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कुछ प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति करती है। इस प्रकार के कार्यकर्त्ता वैयक्तिक कार्य से सम्बन्धित आवश्यक ज्ञान और कुशलताओं से युक्त होते हैं और उन्हे आवश्यक सुविधा प्रदान करने के लिए संस्था में कुछ विशेषज्ञ सेवाएँ---शारीरिक और मानसिक रोगों के चिकित्सक, मनोवैज्ञानिक आदि---भी उपलब्ध रहती हैं। कार्यकर्त्ता सब लोगों के साथ एक समूह-भावना से कार्य करता है। संस्था के अतिरिक्त समुदाय में उपलब्ध दूसरी संस्थाओं की सेवाओं और सुविधाओं का भी आवश्यकतानुसार संस्था द्वारा उपयोग किया जाता है। किसी

संस्था में कार्य करने वाले वैयक्तिक कार्यकर्त्ता की संस्था, सेवार्थी, समुदाय तथा व्यवसाय सबके प्रति कुछ जिम्मेवारी होती है। इस सम्बन्ध में कुछ मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

कार्यकर्त्ता से यह आशा की जाती है कि उसे संस्था की शारीरिक संरचना, संस्था का इतिहास, उद्देश्य, दर्शन, आय-व्यय के स्रोत, अधिकार और कार्यक्षेत्र, नीति और कार्य करने के तरीकों तथा संस्था की सीमाओं का भलीभाँति ज्ञान हो। सेवार्थी के साथ वह संस्था के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। उसके कार्यों के द्वारा संस्था की नीतियों और आदर्श और मूल्यों का भी उचित प्रतिनिधित्व होना चाहिए। इसके साथ ही साथ कार्य-कर्त्ता को कार्यकारी की व्यवस्था में भी भलीभाँति दक्ष होना चाहिए। कार्यकारी व्यवस्था के अन्तर्गत उपयुक्त मात्रा में सेवार्थी-संख्या की ही बात नहीं आती है वरन् सेवार्थी से सम्पर्क स्थापन, वृत्त अभिलेखन, पत्राचार, दूसरी संस्थाओं से सहकार तथा सम्बन्धित प्रशासकीय कार्य आदि सब कुछ इसके अन्तर्गत आते हैं।

वृत्त अभिलेखन का भी कार्यकर्त्ता और संस्था दोनों की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। प्रशासन और उपचार दोनों कार्यों में इसका उपयोग होता है। सेवार्थी की विभिन्न प्रकार की जटिल मनोवैज्ञानिक समस्याओं का विवेचन जब तक उपयुक्त अभिलेख न हो तब तक विशे-षज्ञों के दल द्वारा भी नहीं हो सकता है और लिखित सामग्री के आधार पर ही कार्यकर्त्ता और संस्था की प्रशासकीय इकाई के बीच संचार होता है। वृत्त संक्षिप्त अथवा प्रक्रिया-त्मक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। सामान्यतः कार्यकर्त्ता से यह अपेक्षा की जाती है कि वृत्त अभिलेखन के अन्तर्गत परिचयात्मक सूचना, सेवार्थी की तात्कालिक मनोवैज्ञानिक परिस्थिति, समस्या की प्रकृति, सेवार्थी की भावनाएँ, उपचार सम्बन्धी आशाएँ, संस्था तथा उसकी उपचारात्मक सेवाओं के प्रति सेवार्थी की प्रतिक्रिया आदि का स्पष्ट उल्लेख हो। वृत्त इस प्रकार प्रस्तुत किया जाना चाहिए कि अपेक्षित बातों का शीघ्र ही पता चल जाय। विभिन्न संस्थाओं में वृत्त अभिलेखन और उसे प्रस्तुत करने के अलग तरीके होते हैं जो संस्था के मैनुअल में उल्लिखित होते हैं।

जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है संस्था की नीति, कार्यक्रम और कार्य प्रणाली का कार्यकर्त्ता को भलीभाँति ज्ञान होना चाहिए और यथासम्भव उनका पालन भी करना चाहिए। पर समय-समय पर इन बातों के सम्बन्ध में अपनी आलोचनात्मक प्रतिक्रियाओं से संस्था के अधिकारियों को अवगत कराना चाहिए और यथासम्भव व्यावसायिक समाज-कार्य के आचार संहिता के अनुकूल इन्हें बनाने का प्रयास करना चाहिए। नीतियों पर वैयक्तिक कार्यकर्त्ता को विशेष ध्यान रखना चाहिए और आवश्यकतानुसार समाज-कार्य-व्यवसाय और सेवार्थी दोनों ही दृष्टियों से इसे विशेष लाभदायक बनाना चाहिए।

संस्था के अतिरिक्त समुदाय के प्रति भी वैयक्तिक कार्यकर्त्ता जिम्मेदार होता है। समुदाय के आदर्श और मूल्यों का तो वह अपने कार्य में ध्यान रखता ही है साथ-ही-साथ समुदाय की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप संस्था के उद्देश्यों और नीतियों में परिवर्तन लाने का प्रयास करता है, अपनी संस्था से मिलती-जुलती समुदाय की अन्य संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित करता है तथा समुदाय में उपलब्ध विभिन्न साधनों का सेवार्थी की सहायता के लिए उपयोग भी करता है।

कार्यकर्त्ता मुख्य रूप से सेवार्थी के प्रति जिम्मेदार होता है। सेवार्थी के साथ कार्य करते हुए सर्व प्रथम उसे मूल्यांकन की क्रिया अपनानी पड़ती है। इसके अन्तर्गत कार्यकर्त्ता यह भी देखता है कि सेवार्थी को समाज के अन्तर्गत अपेक्षित भूमिका अदा करने में क्या बाधाएँ पड़ रही हैं, किस प्रकार के दबाव और तनावों का वह शमन नहीं कर पाता है उन दबावों का स्वरूप क्या है (शारीरिक या मनोवैज्ञानिक), उनका सेवार्थी पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, सेवार्थी के अन्तर्गत क्षमताएँ क्या हैं, उसकी अहम्शक्ति तथा समायोजनशीलता क्या है, सेवार्थी की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों में किस प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता है, उसके लिए किस प्रकार के साधनों की आवश्यकता है व कार्यकर्त्ता और संस्था कहाँ तक समस्या के समाधान में और आवश्यक परिवर्तन लाने में समर्थ हैं। तत्पश्चात् वह एक योजनाबद्ध तरीके से कार्य करते हुए, उपचार की विभिन्न प्रविधियों का प्रयोग करते हुए, सेवार्थी की समस्या सुलझाते हुए उसे इस योग्य बनाने का प्रयास करता है कि समाज के अन्तर्गत वह उचित रूप से अपनी भूमिका निभा सके। समय-समय पर वह अपने कार्यों का उचित मूल्यांकन करते हुए आवश्यकतानुसार अपनी कमियों में सुधार भी करता रहता है।

वैयक्तिक कार्य की प्रक्रिया

वैयक्तिक कार्य की प्रक्रिया के द्वारा केवल समस्याओं को ही नहीं सुलझाया जाता है वरन् व्यक्ति की क्षमताओं का यथासम्भव अधिकतम विकास कर उसे इस योग्य बनाया जाता है कि वह आत्मनिर्भर होकर अधिकतम सुख और सन्तोष का जीवन यापन करे। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत सामान्यतः समस्याग्रस्त व्यक्ति को किसी संस्था के अन्तर्गत प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता के द्वारा सहायता पहुँचायी जाती है। कार्यकर्ता सेवार्थी से व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करता है और सम्बन्धों का उद्देश्यपूर्ण ढंग से उपयोग करते हुए व्यक्ति की समस्याओं का अध्ययन और निदान करता है और व्यक्ति को भी उन समस्याओं और उनके कारणों का ज्ञान कराते हुए उसकी आन्तरिक और बाह्य क्षमताओं को उत्प्रेरित करते हुए इस योग्य बनाता है कि अपनी समस्याओं को सुलझाने और क्षमताओं के विकास की

दिशा मे वह उचित प्रयास करे। इस कार्य में वैयक्तिक कार्यकर्त्ता को वैयक्तिक सेवा कार्य की विभिन्न प्रविधियों और सिद्धान्तों का भी ध्यान रखना पड़ता है। व्यक्ति को यथासम्भव हर कदम पर आत्मनिर्णय का अधिकार देना पड़ता है, किसी भी कार्य को करने के लिए उसे बाध्य नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार इस प्रक्रिया के अन्तर्गत कार्यकर्त्ता को मुख्यत: तीन कार्य करने पड़ते हैं---(१) सेवार्थी की समस्या, व्यक्तित्व और सामाजिक वातावरण से सम्बन्धित तथ्यों का अध्ययन; (२) समस्या का निदान---व्यक्तित्व तथा सामाजिक वातावरण का समस्या की उत्पत्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है और इसे किस प्रकार दूर किया जा सकता है; (३) विभिन्न बाहरी और आन्तरिक साधनों के उपयोग के द्वारा समस्या का उपचार।

अध्ययन---अध्ययन एक गतिशील प्रक्रिया है जिसके द्वारा सेवार्थी से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों की अधिकाधिक जानकारी प्राप्त की जाती है, जिसके द्वारा आगे चल कर सेवार्थी की समस्याओं को समझने और उनके उपचार मे सहायता प्राप्त होती है। यह कार्य सामान्यत: प्रारम्भिक ३,४ साक्षात्कार में किया जाता है; वैसे कुछ न कुछ जानकारी और अध्ययन तो सहायता की समाप्ति तक चलता रहता है।

इस कार्य के लिए सामान्यत: निरीक्षण, अन्वेषण तथा वैयक्तिक इतिवृत्त की प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है। कार्यकर्त्ता को समस्याओं के अध्ययन के समय चुनाव की प्रणाली का प्रयोग करते हुए सेवार्थी की समस्या और उससे सम्बन्धित व्यक्तित्व और वातावरण सम्बन्धी कारकों पर विशेष ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है ताकि अपेक्षित तथ्यों की उसे अधिकाधिक जानकारी प्राप्त हो सके। यह कार्य तभी सफलतापूर्वक हो सकता है जब प्रारम्भिक साक्षात्कारों में ही कार्यकर्त्ता अपने कर्त्तव्य और उद्देश्यों का सेवार्थी को स्पष्ट रूप से ज्ञान कराये और साथ ही साथ सेवार्थी को यह भी स्पष्ट कर दे कि जिन आशाओं और उद्देश्यों की पूर्ति हेतु वह संस्था में सहायता लेने के लिए आया है उन्हें कहाँ तक पूरा किया जा सकता है। अध्ययन की सफलता के लिए कार्यकर्त्ता प्रारम्भ में सेवार्थी की समस्याओं के बजाय उसकी कठिनाइयों पर विशेष ध्यान देता है और सामान्यीकरण की प्रविधि के उपयोग के द्वारा उसकी कठिनाइयों से उत्पन्न दुख की मात्रा में कमी कर देता है।

इस कार्य की सफलता कार्यकर्त्ता और सेवार्थी दोनों पर निर्भर है। कार्यकर्त्ता यदि सहयोगात्मक प्रविधि के साथ सेवार्थी को आदर और अभिरुचि के साथ स्वीकार करते हुए उसके साथ उचित सम्बन्ध स्थापन का प्रयास करे तथा उसकी समस्याओं और उनसे प्रसूत विभिन्न भावनाओं के साथ तादात्मीकरण करते हुए अन्वेषण की प्रविधि के द्वारा प्रश्न पूछते हुए विभिन्न बातों की जानकारी करना चाहे तो उसे अधिकाधिक तथ्य प्राप्त

हो सकते हैं। साथ ही साथ सेवार्थी भी यदि अपनी समस्याओं को कार्यकर्त्ता को बतलाने के लिए विशेष उत्सुक रहेगा तो बहुत सी बातों की जानकारी हो सकेगी।

अध्ययन काल में कार्यकर्त्ता को अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण रखते हुए वस्तुगत और अनिर्णयात्मक दृष्टिकोण के साथ सेवार्थी को आत्मनिर्णय का उचित अवसर देते हुए धैर्य पूर्वक सेवार्थी की कठिनाइयों और समस्याओं को सुनने का प्रयास करना चाहिए। कभी-कभी सेवार्थी अपनी कठिनाइयों को कई बार और बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बतलाता है—ऐसी दशा में भी कार्यकर्त्ता यदि सेवार्थी के साथ तादात्मीकरण करते हुए उसकी बातों को विशेष अभिरुचि के साथ सुनता है तो सेवार्थी को बहुत अधिक राहत मिलती है क्योंकि आन्तरिक परेशानियों की सम्यक् अभिव्यक्ति से उसे कुछ आराम मिलता है। अध्ययनकाल में सामान्यतः जिन समस्याओं और कठिनाइयों से सेवार्थी विशेष परेशान है अथवा जिन बातों के प्रति उसकी विशेष अभिरुचि है वहीं से कार्य आरम्भ करना चाहिए। तथ्यों की जानकारी करते समय कार्यकर्त्ता को साक्षात्कार या आवश्यकतानुसार उचित नियन्त्रण और निर्देशन भी करना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि सेवार्थी अप्रासंगिक और व्यर्थ की बातों में ही अधिक समय लगाना चाहता है तो आवश्यकतानुसार कार्यकर्त्ता को साक्षात्कार का विषय परिवर्तन कर देना चाहिए।

तथ्यों की जानकारी करते समय कार्यकर्त्ता को विश्वसनीयता के सिद्धान्त का सदैव ध्यान रखना चाहिए तथा सेवार्थी को भलीभाँति आश्वस्त कर देना चाहिए कि उसके द्वारा प्राप्त तथ्यों का जिम्मेवारी पूर्ण ढंग से प्रयोग किया जायेगा। वास्तविक और यथार्थ जानकारी के लिए कार्यकर्त्ता सेवार्थी के अतिरिक्त उसके परिवार तथा उससे सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों से भी सम्पर्क स्थापित करता है।

यह कोई आवश्यक नहीं कि अध्ययन कार्य की समाप्ति के पश्चात् ही निदान और उपचार का कार्य प्रारम्भ किया जाय वरन् सामान्यतः ये तीनों कार्य साथ ही चलते रहते हैं। कभी-कभी प्रथम साक्षात्कार में ही सेवार्थी कुछ इस प्रकार की विषम समस्याओं का प्रदर्शन करता है कि कार्यकर्त्ता के लिए उनका तात्कालिक उपचार आवश्यक हो जाता है। कभी-कभी अध्ययन स्वयं ही उपचार बन जाता है। उदाहरण के लिए, जब अपनी समस्या की भीषणता से ग्रस्त सेवार्थी ऐसे कार्यकर्त्ता से मिलता है जो सहानुभूति और अभिरुचि के साथ उसकी पूरी-पूरी बातों को सुनता है तो अपने आप सेवार्थी को कुछ राहत और आराम की अनुभूति होने लगती है क्योंकि उसके अन्तर की घनीभूत पीड़ा बाह्याभिव्यक्ति के बाद अपने आप कुछ कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त अन्वेषण की प्रविधि के द्वारा एक के बाद दूसरे प्रश्नों को पूछता हुआ कार्यकर्त्ता कभी-कभी सेवार्थी को ऐसी स्थिति में पहुँचा देता है कि सेवार्थी को अपने आप ही अपनी समस्याओं के वास्तविक कारणों की

जानकारी हो जाती है और उक्त जानकारी के उपरान्त सेवार्थी स्वयं ही अपने व्यवहारों में परिवर्तन कर समस्याओं का निराकरण या उपचार कर लेता है।

निदान--निदान के अन्तर्गत हम मुख्यत: दो प्रश्नों का उत्तर देते हैं (१) सेवार्थी की समस्याओं के कारण क्या हैं और (२) सेवार्थी की किस प्रकार सहायता की जा सकती है। अध्ययन और निदान का अन्तर बतलाते हुए रिचर्ड केबट ने लिखा था कि अध्ययन के अन्तर्गत हम आँखें खोल कर देखते हैं और निदान की अवस्था में हम आँखें बन्द कर सोचते हैं। यानी यह एक प्रकार का मानसिक कार्य है जिसके अन्तर्गत अध्ययन की विभिन्न विधियों के द्वारा प्राप्त सामग्री पर कार्यकर्त्ता अपने ज्ञान के सन्दर्भ में विचार करता है और विभिन्न सूत्रों से प्राप्त तथ्यों को संगठित कर आवश्यकतानुसार उनका विश्लेषण और संश्लेषण करता है; फलस्वरूप सेवार्थी के व्यक्तित्व, उसकी समस्याओं, उनके कारण तथा उन्हें दूर करने के उपायों का स्पष्ट पता लगता है। इस प्रकार हम निदान के द्वारा सेवार्थी की समस्या तथा उनके कारणों का पता लगाते हैं व समस्याओं के हल के लिए सेवार्थी की परिस्थितियों में परिवर्तन के स्वरूप का पता लगाते हैं। सेवार्थी कहाँ तक अपनी परिस्थितियों में स्वयं ही परिवर्तन करने में समर्थ है, सेवार्थी की अहम्शक्ति तथा प्रतिरक्षात्मक युक्तियों के अपनाने की क्षमता और विभिन्न परिस्थितियों में उसकी समायोजन क्षमता का पता लगाते हुए यह निश्चय किया जाता है कि कार्यकर्त्ता को उसकी सहायता के लिए क्या करना है। इस प्रकार निदान के द्वारा उपचार की दिशा निर्धारित होती है।

सामान्यत: निदान का कार्य अध्ययन के साथ ही चलता रहता है। प्रारम्भिक साक्षात्कारों से ही कार्यकर्त्ता अस्थायी रूप से निदान की योजना भी बनाता चलता है पर आगे चल कर अन्य तथ्यों की जानकारी के बाद आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी करता रहता है। उचित और पर्याप्त अध्ययन सामग्री के आधार पर ही उचित निदान भी हो सकता है। कार्यकर्त्ता से यह आशा की जाती है कि वह निदान की सफलता के लिए सेवार्थी की समस्याओं के प्रति वस्तुगत रुख अपनाये तथा अपनी भावनाओं को सेवार्थी की भावनाओं से अलग करके देखे। वस्तुगत और विषयगत दोनों प्रकार के प्राप्त तथ्यों को अलग-अलग करके यथास्थान उनका प्रयोग किया जाता है। प्रारम्भिक निदान अस्थायी प्रकार के होते हैं और विभिन्न तथ्यो की पर्याप्त जानकारी के बाद अन्त मे स्थायी रूप से समस्या का निदान किया जाता है।

कुछ विद्वानों ने निदान की क्रिया को तीन चरणों में विभक्त किया है—(१) मूल्यांकन (२) कारणान्वेषण (३) श्रेणीकरण।

मूल्यांकन के अन्तर्गत कार्यकर्त्ता सेवार्थी की समस्या, उसके सामाजिक वातावरण, उसके व्यक्तित्व, उसकी परिवर्तन और समायोजन सम्बन्धी क्षमताओं तथा अहम्शक्ति को अलग-अलग लेकर उनका विश्लेषण और मूल्यांकन करता है।

समस्या का मूल्यांकन करते समय कार्यकर्त्ता यह देखता है कि सेवार्थी की वर्तमान समस्या क्या है, कब से सेवार्थी उक्त समस्या से ग्रस्त है, क्या इस प्रकार की समस्या पहले भी उसके जीवन में आयी थी तथा समस्या के अन्तर्गत कौन-से ऐसे तत्त्व हैं जिनके कारण सेवार्थी अत्यधिक परेशान है, समस्या को सुलझाने के लिए सेवार्थी ने क्या किया है, उसे अपने प्रयासों में कहाँ तक सफलता मिली है, समस्या को सुलझाने के लिए किन साधनो की आवश्यकता है, सेवार्थी को कहाँ तक उन साधनों का ज्ञान है, सेवार्थी स्वयं समस्या को उत्पत्ति के लिए किन तत्त्वों को जिम्मेवार समझता है, उसकी जानकारी कहाँ तक उपयुक्त है व समस्या का उसके आन्तरिक और बाह्य जीवन पर क्या प्रभाव पड़ रहा है। इस प्रकार समस्या से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों की जानकारी के उपरान्त कार्यकर्त्ता उनका अन्तर सम्बन्ध भी स्थापित करता है।

सेवार्थी के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते समय कार्यकर्त्ता उसकी अहम्‌शक्ति पर विचार करता है। वह सेवार्थी की बाह्य आकृति, उसके वस्त्र, बातचीत का तरीका तथा सम्बन्ध स्थापन की क्षमताओं पर विचार करता है। साथ ही इस बात को भी देखता जाता है कि प्रारम्भिक साक्षात्कारों की अपेक्षा बाद के साक्षात्कारों में क्या उपर्युक्त बातों में कोई स्पष्ट परिवर्तन हो रहा है। इन बातों के अतिरिक्त सेवार्थी के विगत जीवन के अनुभव तथा कार्य और उनका वर्तमान कार्यो से सम्बन्ध तथा उसके निर्णय करने के तरीकों पर भी विचार करता है। समस्या के कारण सेवार्थी पर पड़ने वाले बाह्य और आन्तरिक दबावों का भी अध्ययन किया जाता है। कार्यकर्त्ता तथा संस्था से सेवार्थी क्या आशा करता है तथा उसकी आशाओं की कहाँ तक पूर्ति की जा सकती है, इस बात पर भी विचार किया जाता है। सेवार्थी मे नवीन और बदलती हुई परिस्थितियों के साथ समायोजन की क्या क्षमता है, सेवार्थी प्रतिरक्षात्मक युक्तियों को किस हद तक प्रयुक्त करता है, कार्यकर्त्ता द्वारा उन्हें मना किये जाने पर सेवार्थी पर क्या प्रतिक्रिया होती है, सेवार्थी बहुत अधिक प्रतिरक्षात्मक तो नहीं है। कभी-कभी सेवार्थी में प्रतिक्षात्मक युक्तियों को प्रयोग करने की विल्कुल क्षमता नही होती है। दोनों ही प्रकार के सेवार्थियों की सहायता करना अत्यन्त कठिन होता है। व्यक्तित्व के मूल्यांक के समय इन सभी बातों का ध्यान रखना पड़ता है।

सेवार्थी के सामाजिक पर्यावरण का मूल्यांकन करते समय कार्यकर्त्ता को सेवार्थी की परिस्थितियों, विभिन्न घटनाओं तथा उसके सम्पर्क में आने वाले विभिन्न व्यक्तियों पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। सेवार्थी अपने वर्तमान पर्यावरण के अन्तर्गत किन व्यक्तियों को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझता है और उनके साथ वह किस प्रकार की प्रतिक्रिया करता है; सामान्यत: सेवार्थी किन व्यक्तियों के विशेष सम्पर्क में आता है, और वे व्यक्ति सेवार्थी के आन्तरिक तथा वाह्य दबावों को बढ़ाने या घटाने में कहाँ तक सहायता देते हैं; सेवार्थी

की अपने विगत और वर्तमान जीवन की परिस्थितियों और घटनाओं के प्रति क्या प्रतिक्रिया है और उनका वर्तमान समस्या से क्या सम्बन्ध है; नवीन व्यक्तियों, विचारों और परिस्थितियों के प्रति सेवार्थी की क्या प्रतिक्रिया होती है, वह उन्हे स्वीकार करके उनके साथ समायोजन स्थापित करता है अथवा नही; वातावरण की विभिन्न बातों के प्रति सेवार्थी की क्या भावनाएँ है और उनका सेवार्थी के व्यक्तित्व तथा समस्या पर क्या प्रभाव पड़ता है--इन बातों पर कार्यकर्त्ता विशेष ध्यान देता है।

कारणान्वेषण--इसके अन्तर्गत कार्यकर्त्ता उपर्युक्त सूत्रों से प्राप्त तथ्यों को संश्लेषित कर स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकालता है कि सेवार्थी की समस्या क्या है और उसके सामाजिक पर्यावरण तथा व्यक्तित्व का सम्मिलित रूप से समस्या की उत्पत्ति पर क्या प्रभाव पड़ रहा है और इस प्रकार की जानकारी के बाद यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि समस्याओं के उपचार के लिए आगे क्या किया जाय।

श्रेणीकरण--इस क्रिया के अन्तर्गत विभिन्न समस्याओं से ग्रस्त सेवार्थियों को उनकी समस्या के आधार पर कुछ निश्चित श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है। इसके फलस्वरूप विशिष्ट समस्या से ग्रस्त व्यक्ति को विशिष्ट प्रकार की सहायता मिलने में अपेक्षाकृत आसानी होती है।

इस प्रकार निदान के द्वारा सेवार्थी और उसकी समस्याओं की उचित जानकारी प्राप्त की जाती है ताकि उसके द्वारा उपचार की योजना बन सके।

सुश्री पर्लमैन तथा कुछ अन्य विद्वानों ने निदान के तीन प्रकार बतलाये है जो निम्न-लिखित हैं :--

गतिशील निदान--इसके अन्तर्गत सेवार्थी की समस्या, उसके व्यक्तित्व तथा वातावरण में सम्बन्ध स्थापित करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि सेवार्थी की समस्याओं की उत्पत्ति में उसकी वर्तमान परिस्थितियाँ और व्यक्तित्व का सम्मिलित रूप से कहाँ तक प्रभाव पड़ रहा है। जैसे-जैसे सेवार्थी के सम्बन्ध में जानकारी बढ़ती जाती है और नवीन तथ्यों का ज्ञान प्राप्त होता रहता है वैसे-वैसे निदान के स्वरूप में भी आवश्यकता-नुसार परिवर्तन किया जाता है। सामान्यत: निदान में इसी स्वरूप का विशेष प्रचलन है।

कारणान्वेषी निदान--इसके अन्तर्गत सेवार्थी के विगत जीवन की घटनाओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है और यथाशक्ति सेवार्थी के समस्यामूलक व्यवहारों का सम्बन्ध उसके विगत जीवन की घटनाओं से जोड़ा जाता है। इस प्रकार के निदान की विचार-धारा पर फ्रायड और उनके अनुयायियों का विशेष प्रभाव है। वैयक्तिक सेवा कार्य की इस विचारधारा के मानने वाले लोग नैदानिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते है। इसके विपरीत आप्टेकर तथा उनके साथी प्रकार्यवादी सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते है। वे सभी समस्याओं का सम्बन्ध सेवार्थी के वर्तमान जीवन से ही स्थापित करते हैं।

उपचारात्मक निदान—इसके अन्तर्गत रोगी की बीमारी के आधार पर उसका विभिन्न वर्गीकरण किया जाता है और कुछ निश्चित परीक्षणों के आधार पर पहले ही यह निश्चित कर लिया जाता है कि अमुक प्रकार की बीमारी या समस्या के क्या शारीरिक और मानसिक कारण होते हैं और उनका व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा उनके उपचार के लिए क्या किया जाना चाहिए। अतः बीमारी या समस्या के लक्षणों के आधार पर रोगी को विशेष वर्ग के अन्तर्गत रख कर उसके अनुसार उपचार किया जाता है। पर इस प्रकार के निदान के अन्तर्गत सामाजिक वातावरण का विशेष ध्यान नहीं रखा जाता है और समस्या के निदान में इसका अत्यधिक महत्त्व है। इस कमी को पूरा करने के लिए गतिशील निदान का ही सहारा लेना पड़ता है।

उपचार की योजना

उपचार की योजना भी स्वयं अपने में एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत सेवार्थी और कार्यकर्त्ता आपस में मिल कर सेवार्थी की सहायता का लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के तरीकों का निर्धारण करते हैं। इस प्रकार की योजना बन जाने के पश्चात् उपचार का कार्य एक निर्धारित दिशा में चलता रहता है तथा कार्यकर्त्ता और सेवार्थी के समय एवं साधनों का भी उचित उपयोग होता है।

योजना बनाने के पूर्व कार्यकर्त्ता अध्ययन और निदान की प्रक्रिया के द्वारा यह निश्चय कर लेता है कि सेवार्थी किस प्रकार की सहायता की आशा रखता है और उसकी आशा कहाँ तक पूरी की जा सकती है। कार्यकर्त्ता का यह कर्त्तव्य होता है कि योजना का लक्ष्य एवं उसकी प्राप्ति के तरीकों का निर्धारण करते समय सेवार्थी का सक्रिय सहयोग प्राप्त करे। यदि सेवार्थी किसी ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति करना चाहता है जो उस स्थिति में सम्भव नहीं है तो कार्यकर्त्ता आवश्यकतानुसार सेवार्थी को अपनी इच्छाओं को त्यागने या उनमें परिवर्तन करने के सम्बन्ध में भी उचित सहायता देता है।

उपचार के लक्ष्य का निर्धारण सेवार्थी की समस्या, उसकी इच्छा और आशा, आन्तरिक क्षमता तथा कार्य करने की शक्ति, बाह्य वातावरण से प्राप्त होने वाले साधन, संस्था की नीति तथा स्वयं कार्यकर्त्ता के ज्ञान और कुशलता के आधार पर किया जाता है। यद्यपि मोटे तौर पर प्रत्येक सेवार्थी की सहायता का उद्देश्य होता है उसे इस योग्य बना देना कि वह अपने सामाजिक और अन्तर्वैयक्तिक पर्यावरण के अन्तर्गत अपनी क्षमताओं का अपेक्षाकृत अधिक रचनात्मक ढंग से प्रयोग कर सके। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए हर सेवार्थी के लिए कुछ विशिष्ट लक्ष्यों का निर्धारण किया जाता है और उनकी प्राप्ति के लिए कुछ निश्चित तरीकों का भी निर्धारण किया जात। है। इसके फलस्वरूप सेवार्थी और कार्यकर्त्ता सहयोगात्मक ढंग से कार्य करते हुए स्वाभाविक रूप से लक्ष्यों की प्राप्ति करते हैं।

उपचार

उपचार, वैयक्तिक कार्य की सहायता प्रक्रिया का वह चरण है जिसके अन्तर्गत कार्यकर्त्ता और सेवार्थी पारस्परिक सहयोग के साथ पूर्व निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु कार्य करते हैं। इसके द्वारा कार्यकर्त्ता अपने व्यावसायिक सम्बन्धों के अन्तर्गत सचेतन रूप से निर्देशित क्रियाओं के द्वारा उपचार के लक्ष्यों की प्राप्ति के उपयुक्त प्रविधियों और प्रक्रियाओं का चुनाव कर लक्ष्य प्राप्ति हेतु उनका प्रयोग करता है।

इस कार्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि कार्यकर्त्ता और सेवार्थी के बीच उचित सम्बन्ध स्थापित हो और सम्बन्धों के बीच ही कुछ प्रविधियों का यथासम्भव प्रयोग कर सेवार्थी में आवश्यक परिवर्तन लाकर उपचार के लक्ष्यों की प्राप्ति की जाती है। प्रविधि स्वयं अपने में एक प्रक्रिया होती है जो कई चरणों में प्रयुक्त की जाती है और इसके द्वारा सेवार्थी में परिवर्तन होता है। कुछ मुख्य प्रविधियाँ निम्नलिखित है :—

अन्वेषण—इसे उद्देश्य-पूर्ण प्रश्नीकरण की प्रक्रिया भी कहते हैं। यह उपचार का एक माध्यम भी है और तथ्यों की प्राप्ति का साधन भी है। इस विधि के द्वारा कार्यकर्त्ता सेवार्थी से बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर उसके विचारों और भावनाओं को आदरपूर्वक अपनाते हुए, तादात्मीकरण और पुनर्विश्वासीकरण की प्रविधियों के द्वारा सेवार्थी को आश्वस्त करते हुए, एक के बाद दूसरे प्रश्न पूछते हुए उसकी समस्याओं के भीतर अत्यन्त गहराई तक प्रवेश करता है। परिणामस्वरूप सेवार्थी की समस्याओं और उनके कारणों की सम्यक् जानकारी कार्यकर्त्ता को तो होती ही है और साथ-ही-साथ सेवार्थी भी अपनी समस्याओं और उनके कुछ उन नवीन कारणों की जानकारी प्राप्त कर लेता है जिनकी जानकारी अब तक उसे नही थी। कभी-कभी इस जानकारी के द्वारा सेवार्थी अपनी समस्याओं के कारणों का स्वयं ही निराकरण करने का प्रयास करने लगता है और उपचार का लक्ष्य अपने आप प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त तादात्मीकरण की प्रविधि और स्वीकृति के सिद्धान्त को प्रयुक्त करते हुए कार्यकर्त्ता जब धैर्य एवं अभिरुचि के साथ सेवार्थी से एक के बाद दूसरे प्रश्न पूछता जाता है तो सेवार्थी कभी-कभी कार्यकर्त्ता से प्रभावित होकर अपनी उन आन्तरिक भावनाओं और कुण्ठाओं को भी सेवार्थी को बतला देता है जिन्हें उसने अभी तक भय, लज्जा तथा संकोचवश किसी को नहीं बतलाया था। इसके फलस्वरूप भी कुछ अंशों में उपचार के लक्ष्यों की प्राप्ति होती है। एक तो इन भावनाओं की बाह्याभिव्यक्ति से सेवार्थी का मानसिक तनाव कुछ कम होता है, उसे कुछ राहत महसूस होती है और दूसरे वह सोचने लगता है कि वास्तव में वह उतना अधिक दोषी नही है जितना वह अपने को समझता था क्योंकि उक्त बातों की जानकारी के बावजूद भी कार्यकर्त्ता उससे पूर्ववत् स्नेह के साथ ही व्यवहार कर रहा है। फलस्वरूप उसे एक नवीन उत्साह की

अनुभूति होती है। अन्वेपण की प्रविधि के द्वारा यदि सेवार्थी को उक्त प्रकार के उपचारात्मक अनुभवों की अनुभूति नही होती है तो भी सहानुभूति एवं अभिरूचिपूर्ण प्रश्नो के द्वारा कार्यकर्त्ता सेवार्थी को कुछ सहारा प्रदान करता है।

परिस्थितियों का सुधार––इस प्रविधि को कुछ विद्वान् आलम्बन की ही एक उप-प्रविधि मानते हैं पर आलम्बन के अन्तर्गत तो सामान्यतः कार्यकर्त्ता को सेवार्थी के साथ कार्य करना पड़ता है और इसके विपरीत इस विधि के अन्तर्गत कार्यकर्त्ता को सेवार्थी से हट कर उसके सामाजिक वातावरण के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता है। अतः इसे एक अलग और स्वतन्त्र प्रविधि माना जाना चाहिए। इस प्रविधि के द्वारा आर्थिक सहायता, चिकित्सकीय देखरेख अथवा किसी प्रकार की विद्यालयी सेवा के द्वारा सेवार्थी के सामाजिक वातावरण में परिवर्तन कर सेवार्थी को उसके अन्तर्गत समायोजित कराया जाता है। कभी-कभी सेवार्थी के सामाजिक पर्यावरण के अन्तर्गत कुछ दूसरे व्यक्तियों के साथ कार्य करते हुए उनके व्यवहारों को सेवार्थी के अनुकूल बनाया जाता है।

सामान्यतः जब सेवार्थी की बाह्य परिस्थितियाँ अत्यन्त विषम हो जाती हैं और सेवार्थी उनमें किसी प्रकार अपने प्रयासों के द्वारा उनके साथ समायोजन नही कर पाता है, उसकी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती है, वह अपने विचार करने और निर्णय करने की शक्ति को रचनात्मक ढंग से नहीं प्रयोग कर सकता है, उसकी अहम्शक्ति का विकास रुक जाता है अथवा इसी प्रकार के कुछ अन्य नकारात्मक प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर पड़ने लगते है तब इस विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि के द्वारा कार्यकर्त्ता अपने प्रयासों के द्वारा सेवार्थी के वातावरण में परिवर्तन लाने का प्रयास करता है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप सेवार्थी की अवरुद्ध और तनावपूर्ण स्थिति में परिवर्तन होता है व उसकी अहम्शक्ति का विकास होता है और अपनी क्षमताओं को अधिक रचनात्मक ढंग से प्रयोग करने का अवसर भी सेवार्थी को प्राप्त होता है। पर इस विधि का प्रयोग उसी समय किया जाता है जब कि सेवार्थी को स्पष्ट रूप से यह महसूस होने लगता है कि बिना दूसरों की सहायता के उसकी समस्या का निराकरण नहीं हो सकता है।

आलम्बन––इस प्रविधि के द्वारा कार्यकर्त्ता सेवार्थी को कोई नयी जानकारी नही देता है वरन् तादात्मीकरण, शिक्षण, निर्देशन, विश्वासीकरण तथा सामान्यीकरण आदि उप प्रविधियों के द्वारा सेवार्थी को साहस और उत्साह दिला कर उसकी अहम्शक्ति में वृद्धि करता है। इसके फलस्वरूप उसके मानसिक तनाव तथा दोष-भावना का शमन होता है और उसमें आत्म-विश्वास तथा स्वस्थ रूप से कार्य करने की उचित शक्ति का विकास होता है। इस विधि के प्रयोग के पूर्व सेवार्थी से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापन करना आवश्यक होता है

तथा उसकी सामाजिक परिस्थितियों और योग्यताओं का भी भलीभाँति ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए ताकि गलत ढंग से सम्बल नही दिया जाय।

इस विधि के प्रयोग के द्वारा सेवार्थी की आत्मश्लाघा को बढ़ावा देकर उसमें आशा और उत्साह का संचार किया जाता है——फलस्वरूप उसमें अपनी समस्याओं को सुलझाने की प्रेरणा स्वतः जागृत होती है व इसके अतिरिक्त सामाजिक परिस्थितियों के अस्थायी दबाव से भी सेवार्थी की रक्षा की जाती है; साथ ही साथ अन्य प्रविधियों के प्रयोग के द्वारा सेवार्थी पर जो दबाव पड़ता है उससे भी उसकी रक्षा की जाती है। इस प्रविधि के अन्तर्गत कुछ उपप्रविधियो का भी प्रयोग किया जाता है जो निम्नलिखित है :——

तादात्मीकरण——इसके अन्तर्गत कार्यकर्त्ता सेवार्थी के साथ आत्मीयता और सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए उसकी भावनाओं के साथ तादात्म्य स्थापित करता है अर्थात् कार्यकर्त्ता यह प्रदर्शित करता है कि किसी परिस्थिति विशेष में सेवार्थी के मन में जो भावनाएं उत्पन्न होती है वहीं भावनाएँ उसके (कार्यकर्त्ता के) मन में भी उत्पन्न हो रही है। इससे सेवार्थी के मन में कार्यकर्त्ता के प्रति आत्मीयता की भावना का उदय होता है व दोनों के सम्बन्ध भी कुछ और घनिष्ठ होते है; सेवार्थी को कुछ राहत-सी महसूस होती है और उसके मानसिक तनाव भी कुछ कम हो जाते हैं।

स्वीकृति——इस विधि के द्वारा कार्यकर्त्ता सेवार्थी को आदर और प्रेम के साथ अपनाने की भावना का प्रदर्शन करता है। इसके द्वारा सेवार्थी कुछ विशेष आश्वस्त-सा महसूस करता है, उसमें एक नवीन आशा और उत्साह की भावना जागृत होती है——परिणामस्वरूप वह अपनी समस्याओं का अपेक्षाकृत अधिक साहस और धैर्य के साथ सामना करने के लिए तैयार हो जाता है। कार्यकर्त्ता जब उसके विचारों, भावनाओं, अच्छाइयों और बुराइयों को आदर के साथ स्वीकार करने लगता है तो वह कभी-कभी उत्साहित होकर अपनी उन समस्याओं को भी कार्यकर्त्ता से बतला देता है जिन्हें उसने भय और लज्जावश अभी तक किसी को नही बतलाया था। फलस्वरूप सेवार्थी को एक विशेष प्रकार की राहत मिलती है तथा कार्यकर्त्ता को भी समस्याओं को समझने का अच्छा अवसर प्राप्त होता है।

कार्यकर्त्ता सेवार्थी द्वारा प्रयुक्त रक्षात्मक उपायों को भी स्वीकार करता है। यदि सेवार्थी का कोई व्यवहार स्वीकार करने योग्य नहीं हो तो भी कार्यकर्त्ता उक्त व्यवहार के पीछे छिपी हुई भावनाओं का अन्वेषण करता है और आवश्यकतानुसार स्वीकृति प्रदान करता है। इन बातों के द्वारा दोनों के सम्बन्ध दृढ़ होते है तथा सेवार्थी कुछ अधिक आश्वस्त सा महसूस करने लगता है।

पुष्टीकरण——इस विधि के द्वारा कार्यकर्त्ता सेवार्थी की स्वयं अपने प्रति या अन्य लोगों के प्रति महसूस की गयी यथार्थ भावनाओं और विचारों का पुष्टीकरण करता है। इससे

सेवार्थी के मन में अपने प्रति एक विश्वास की भावना का जागरण होता है और उसकी अहम्‌शक्ति भी अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली होती है।

प्रोत्साहन—इस कार्य के द्वारा कार्यकर्त्ता सेवार्थी द्वारा किये गये सफल और उचित कार्यों के लिए उसकी प्रशंसा करता है—परिणामस्वरूप सेवार्थी में एक नवीन उत्साह एव साहस की भावना का उदय होता है और उसकी अहम्‌शक्ति का भी विकास होता है।

सामान्यीकरण—जब परिस्थिति विशेष से सेवार्थी अत्यधिक घबड़ा जाता है अथवा यह महसूस करने लगता है कि उसने बहुत अधिक गलत कार्य किया है और इस अनुभूति से उसमें एक प्रकार की दोष भावना का उदय होता है जिसका प्रभाव उसके अन्य कार्यों पर भी पड़ने लगता है तो इस उपप्रविधि का प्रयोग किया जाता है। इस उप-प्रविधि के द्वारा सेवार्थी में रक्षात्मक वृत्तियों का पुर्ननिर्माण किया जाता है। उसे यह बोध कराया जाता है कि ऐसी परिस्थिति में प्रायः सभी लोग उक्त प्रकार के कार्य कर बैठते हैं। इस अनुभूति से सेवार्थी को कुछ राहत मिलती है और उसकी परेशानी भी कुछ कम हो जाती है।

संक्षिप्तीकरण—किसी परिस्थिति विशेष में जब अनेक प्रकार के प्रभाव सेवार्थी के मन में उत्पन्न होते हैं और वह इन प्रभावों की व्यापकता से परेशान होकर अपना कार्य निश्चित नहीं कर पाता है तो इस प्रविधि का कार्यकर्त्ता प्रयोग करता है। इसके अन्तर्गत कार्यकर्त्ता विभिन्न कारणों और प्रभावों तथा विचारधाराओं को एक दूसरे से अन्त सम्बन्धित करके संक्षिप्त रूप में सेवार्थी के समक्ष रखता है—फलस्वरूप सेवार्थी अपेक्षाकृत अधिक आसानी से अपनी समस्याओं और उनके कारणों को जानते हुए उनके निराकरण के मार्ग पर अग्रसर होता है।

व्याख्या—कभी-कभी भ्रम और वास्तविक जानकारी के अभाव मे सेवार्थी व्यर्थ की समस्याओं अथवा उनके गलत प्रभावों की आशंका से परेशान रहता है। ऐसी दशा में कार्यकर्त्ता उचित व्याख्या के द्वारा सेवार्थी की गलत धारणाओं का निराकरण करता है और वास्तविकता का बोध कराते हुए नवीन सिरे से कार्य करने के लिए उसे उत्साहित करता है।

पुर्नविश्वासीकरण—यह एक सीधा और स्पष्ट कथन है जिसके द्वारा वैयक्तिक कार्यकर्त्ता सेवार्थी को यह संकेत करता है कि उसकी भावनाएँ और व्यवहार समझने योग्य हैं अथवा उसकी समस्याओं का हल सम्भव है। इसके द्वारा सेवार्थी की चिन्ता तथा डर की भावना में कमी आती है और वह अपने को आश्वस्त महसूस करने लगता है। इस विधि के उचित एवं प्रभावपूर्ण उपयोग के लिए वास्तविक स्थिति का जानना आवश्यक होता है ताकि गलत और झूठा विश्वास न दिला दिया जाय।

विभक्तीकरण—कभी-कभी एक ही साथ सेवार्थी अनेक प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त रहता है और समय तथा साधन के सीमित होने के कारण कार्यकर्त्ता सभी समस्याओं का एक साथ ही हल नहीं कर सकता। अतः कार्यकर्त्ता सेवार्थी की सहायता से समस्याओं को कई भागों में विभाजित कर लेता है तथा सबसे पहले अत्यावश्यक समस्याओं को हल करता है।

निर्देशन—कभी-कभी सेवार्थी की कुछ विशिष्ट भावनाओं और स्थितियों के नियन्त्रण हेतु कार्यकर्त्ता सेवार्थी को कुछ विशेष और अधिकारयुक्त निदशन भी देता है। पर यह कार्य तभी करना चाहिए जब सेवार्थी और कार्यकर्त्ता का सम्बन्ध अति घनिष्ठ हो और कार्यकर्त्ता को यह विश्वास हो कि सेवार्थी उसकी सलाह को मान जायेगा। इसके अतिरिक्त जिस विषय में सलाह दी जा रही है उस विषय की पूर्ण और निश्चित जानकारी भी कार्यकर्त्ता को होनी चाहिए।

शिक्षण—इस कार्य के द्वारा सेवार्थी को कार्यकर्त्ता उसकी समस्याओं, सामाजिक वातावरण, अथवा उपचारात्मक उपायों के बारे में कोई ऐसी नवीन जानकारी कराता है जो अबतक सेवार्थी को नही थी। उक्त जानकारी के उचित उपयोग से सेवार्थी को अपनी समस्याओं के हल में विशेष सहायता मिलती है।

स्पष्टीकरण—इस प्रविधि के द्वारा सेवार्थी को उसके व्यवहारों के सम्बन्ध में बौद्धिक जानकारी करायी जाती है। उसे यह पता चलता है कि उसके व्यवहारों की सचेतन प्रेरणा क्या है, व्यवहारों के चारों ओर कौन-कौन-सी चेतन भावनाएँ कार्य कर रही हैं। इन सबसे सेवार्थी को यह पता चलता है कि उसके व्यवहार उसके उद्देश्यों की पूर्ति में समर्थ हैं या नही। इस जानकारी के फलस्वरूप वह अपने व्यवहारों में स्वयं ही रचनात्मक परिवर्तन कर अपने उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयास करता है। इस प्रविधि के द्वारा सेवार्थी की गलत धारणाओं को दूर किया जाता है और उसे नवीन बातों की जानकारी करायी जाती है। साथ ही साथ उसकी अहम्‌शक्ति को इस तरह बढ़ा दिया जाता है कि वह विभिन्न परिस्थितियों को अपेक्षाकृत अच्छी तरह समझने लगता है और उनके अनुसार अपने व्यवहारों में भी परिवर्तन कर सकता है।

इस विधि की सबसे बड़ी विशेषता होती है कि अपने आप ही सेवार्थी में आवश्यक जानकारी का आ जाना। कार्यकर्त्ता कुछ प्रश्न इस प्रकार से करता है अथवा सेवार्थी के व्यवहारों के प्रति कुछ इस प्रकार की टिप्पणी करता है कि अपेक्षित जानकारी अपने आप ही सेवार्थी को हो जाती है। कभी-कभी इसके लिए प्रक्षेपण विधियों का भी सहारा लेना पड़ता है। सामान्यतः इस प्रविधि का प्रयोग चेतन और छोटी-छोटी समस्याओं के संबंध में किया जाता है।

इस प्रविधि का प्रयोग उसी समय किया जाता है जब कि कार्यकर्त्ता और सेवार्थी का सम्बन्ध अति घनिष्ठ हो और कार्यकर्ता द्वारा सेवार्थी के व्यवहारों की आलोचनात्मक परीक्षा करने पर भी सेवार्थी के मन में वैयक्तिक कार्यकर्त्ता के प्रति कोई नकरात्मक भावना न उदित होती हो। साथ-ही-साथ सेवार्थी में सहन शक्ति का भी यथोचित विकास होना चाहिए ताकि समय-समय पर वह स्वयं ही अपने व्यवहारों का आत्मपरीक्षण तथा मूल्यांकन कर सके। इन बातों के अतिरिक्त इस विधि के प्रयोग के समय इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि इसके द्वारा जिस बात की जानकारी दी जाय वह सेवार्थी के लिए ग्राह्य हो।

सामान्यत: इस विधि का प्रयोग उसी समय किया जाता है जब कि सेवार्थी की समस्याओं का समाधान आलम्बन की प्रविधि के द्वारा सम्भव न हो।

प्राख्या

प्राख्या—इसके द्वारा सेवार्थी को अर्धचेतन स्तर के नजदीक की समस्याओं और उनके पीछे छिपे कारणों, व्यवहारों तथा भावनाओं की जानकारी करायी जाती है। स्पष्टीकरण और प्राख्या में मुख्यत: दो अन्तर हैं। स्पष्टीकरण का प्रयोग मुख्यत: चेतन और सामान्य कोटि की समस्याओं के लिए किया जाता है और प्राख्या का प्रयोग मुख्यत: अर्धचेतन और गम्भीर समस्याओं के समाधान हेतु किया जाता है। स्पष्टीकरण की स्थिति में वैयक्तिक कार्यकर्त्ता सेवार्थी से कुछ इस प्रकार के प्रश्न पूछता है अथवा उसकी विभिन्न समस्याओं पर कुछ इस प्रकार की टीका करता है कि सेवार्थी को अपने आप ही अपेक्षित बातों की जानकारी हो जाती है। इसके विपरीत प्राख्या की विधि के प्रयोग के समय आवश्यक प्रश्न और टीका इत्यादि के अतिरिक्त कार्यकर्त्ता को अपने आप भी कुछ बातों की जानकारी स्पष्ट और सीधे शब्दों में सेवार्थी को देनी पड़ती है।

सेवार्थी का सम्बन्ध कभी-कभी कुछ ऐसे विचारों और भावनाओं से होता है जो सचेतन स्तर पर उसे ग्राह्य नहीं होती हैं। उनसे बचने के लिए वह उन्हें या तो दमित करके उपचेतन मस्तिष्क में भेज देता है तथा अथवा विभिन्न प्रकार के प्रतिरक्षात्मक युक्तियों का प्रयोग करता है। इस प्रकार उसके व्यवहार वास्तविक तथ्यों और भावनाओं से प्रेरित न होकर अवास्तविक और सुरक्षात्मक प्रेरकों से परिचालित होने लगते हैं। इस प्रविधि के प्रयोग के द्वारा सेवार्थी के साथ सम्बन्ध स्थापन करके, आवश्यकतानुसार समय-समय पर प्रश्न पूछते हुए तथा सीधे-सीधे शब्दों में नवीन अन्तर्दृष्टि देते हुए सेवार्थी को वास्तविक जानकारी करायी जाती है। इसके लिए कभी-कभी उसके प्रतिरक्षात्मक युक्तियों को भी भंग करना पड़ता है जिसके कारण सेवार्थी को दुःख की अनु-

भूति होती है और उसे दूर करने के लिए आलम्बन की प्रविधि का पुनः सहारा लेना पड़ता है। इस प्रविधि के प्रयोग के फलस्वरूप सेवार्थी को अपनी गम्भीर समस्याओं और उनके कारणों की वास्तविक जानकारी हो जाती है और वह अपने आप ही अपने व्यवहारों में रचनात्मक परिवर्तन करके अपनी समस्याओं को सुलझाने की दिशा में प्रयत्नशील हो जाता है। इस प्रविधि का प्रयोग उसी समय किया जाता है जबकि सेवार्थी और कार्यकर्त्ता के बीच घनिष्ठ तथा धनात्मक सम्बन्ध स्थापित हो तथा सेवार्थी के व्यवहारों का कार्यकर्त्ता द्वारा गम्भीर जाँच करने पर भी सेवार्थी के मन में कार्यकर्त्ता के प्रति अस्वीकृति की भावना न उत्पन्न हो रही हो तथा इसके साथ ही साथ सेवार्थी की अहम्‌शक्ति भी काफी सशक्त हो। सेवार्थी की उन्ही समस्याओं के निराकरण हेतु इसका प्रयोग करना चाहिए जो गम्भीर आन्तरिक दबावों से उत्पन्न हुई हों और उनका तब तक निवारण नहीं हो सकता है जब तक कि उन समस्याओं के पीछे छिपे हुए अचेतन कारकों की जानकारी सेवार्थी को न करायी जाय।

प्राख्या एक प्रविधि भी है और अपने में एक प्रक्रिया भी। प्रविधि प्रक्रिया का ही एक अंग है जिसके द्वारा हम प्रश्नों और व्याख्यात्मक विवरणों के द्वारा सेवार्थी की अन्तर्दृष्टि का विकास कर उसे नवीन और वास्तविक तथ्यों की जानकारी कराते हैं। प्रक्रिया के अन्तर्गत हम आलम्बन (विशेष कर तादात्मीकरण और सामान्यीकरण), अन्वेषण तथा स्पष्टीकरण की प्रविधि का भी यथासमय प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रक्षेपण विधि का भी कभी-कभी सहारा लेना पड़ता है।

प्राख्या की प्रक्रिया के तीन चरण होते हैं। प्रथम चरण में सेवार्थी को इस बात के लिए तैयार किया जाता है कि वह सुरक्षात्मक उपायों को त्याग दे जिनके कारण उसे वास्तविकता का बोध नहीं हो पाता है। इसके लिए कार्यकर्त्ता सेवार्थी से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर कुछ प्रश्नो या टीकाओं के द्वारा सेवार्थी का ध्यान उसके सुरक्षात्मक व्यवहारों की ओर आकर्षित करता है। यह कोई आवश्यक नही कि कार्यकर्त्ता को इस बात का ज्ञान ही हो कि उसके सुरक्षात्मक व्यवहारो के पीछे कौन-कौन से अग्राह्य तत्त्व छिपे हुए हैं। उसे केवल इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि उसकी टीकाओं और प्रश्नो की सेवार्थी के ऊपर जो प्रतिक्रिया हुई है उसे अनुकूल दिशा में मोड़ते हुए सेवार्थी की भावनाओं का अन्वेषण वह कर सके। दूसरे चरण मे कार्यकर्त्ता सेवार्थी को वास्तविक तथ्यों की जानकारी कराता है। सामान्यतः सीधे और स्पष्ट विवरण के द्वारा इस प्रकार की जानकारी सेवार्थी को करायी जाती है। यह जानकारी उन्ही तथ्यों के बारे में करायी जाती है जो चेतन मन के लगभग नजदीक हों। यथाशक्ति सम्बल की विभिन्न उपप्रविधियों का प्रयोग करते हुए इस जानकारी को सेवार्थी के लिए ग्राह्य भी बनाना चाहिए।

तीसरे चरण में कार्यकर्त्ता यह देखता है कि सेवार्थी द्वारा अपनाये गये सुरक्षात्मक उपायों को भंग करते हुए उसे जो अन्तर्दृष्टि दी जाती है उसका उसके व्यक्ति व पर क्या प्रभाव पड़ रहा है; यदि प्रभाव प्रतिकूल पड़ रहा हो और सेवार्थी के व्यक्तित्व पर कोई घातक प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो तो सामान्यीकरण आदि उप-प्रविधियों का सहारा लेकर सेवार्थी के लिए प्रतिरक्षात्मक युक्तियों का पुनर्निर्माण किया जाता है। इसके विपरीत यदि प्राख्या के द्वारा सेवार्थी में नवीन अन्तर्दृष्टि और उत्सुकता की भावना का जागरण हुआ हो और उसने अपनी समस्याओं को सुल्झाने के लिए अधिक प्रभाव-शाली ढंग से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया हो तो यह समझना चाहिए कि अनुकूल प्रभाव पड़ रहा है।

उपर्युक्त सभी प्रविधियों के समयानुकूल प्रयोग के द्वारा कार्यकर्त्ता सेवार्थी की समस्याओं के उपचार का प्रयास करता है। प्रविधि का चुनाव सामान्यतः कार्यकर्त्ता की योग्यता और समस्या के निदान पर निर्भर करता है। उपचार की क्रिया को और अधिक प्रभाव-शाली वनाने के लिए निम्नलिखित अतिरिक्त उपायों का भी इसके अन्तर्गत प्रयोग किया जाता है :—

संयुक्त साक्षात्कार प्रणाली—कभी-कभी कार्यकर्त्ता को एक ही साथ कई लोगों से साक्षात्कार करना पड़ता है। सामान्यतः पारिवारिक समस्याओं से ग्रस्त सेवार्थियों के साथ इस विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि के द्वारा खास कर समस्या के अध्ययन और निदान में विशेष मदद मिलती है। एक साथ ही समस्या से सम्बन्धित सभी लोगों से साक्षात्कार किया जाता है तो सबकी भावनाओं को समझने में तो मदद मिलती ही है साथ ही साथ अन्वेषण की प्रविधि के प्रयोग के द्वारा सभी लोगों को यह आभास हो जाता है कि समस्या की उत्पत्ति और समाधान मे उनका क्या योगदान है। इस प्रकार के साक्षात्कारों में कार्यकर्त्ता व्यवहार के कारणों की अपेक्षा प्रभाव पर अधिक जोर डालता है। सामान्यतः कार्यकर्त्ता ऐसी समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है जिनका सम्बन्ध अनेक व्यक्तियों से रहता है। पर इस प्रकार के साक्षात्कारों में कार्यकर्त्ता को अत्यधिक सावधान रहना चाहिए और इस बात का यथाशक्ति प्रयास करना चाहिए कि कोई एक ही व्यक्ति अन्य दूसरे व्यक्तियों के ऊपर अपना प्रभाव न जमा ले।

सलाह—कार्यकर्त्ता को कभी-कभी अपने विभाग के लोगों से अथवा समस्या से सम्ब-न्धित दूसरे विषय के विशेषज्ञों की सलाह का भी उपयोग अपने कार्य के लिए करना पड़ता है। सामान्यतः कार्यकर्त्ता को संस्था में अपने सहयोगी कार्यकर्त्ताओं से ही सलाह लेनी चाहिए, अधिकारियों से नही। सलाह पारस्परिक विचार विनिमय की एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत कार्यकर्त्ता विषय से सम्बन्धित अनुभव, ज्ञान और भावनाओं को सलाह

देने वाले व्यक्ति से बतलाता है और सलाह देने वाला व्यक्ति अपने विशिष्ट ज्ञान के द्वारा निदान और उपचार कार्य को और भी प्रभावशाली बनाने में तथा असंगत शंकाओं के समाधान में विशेष मददगार होता है। इस क्रिया के द्वारा जो सुझाव कार्यकर्त्ता को दिये जाते हैं उनका उपयोग करना या न करना कार्यकर्त्ता की इच्छा पर निर्भर है।

सहयोग—इस प्रक्रिया के अन्तर्गत दो या दो से अधिक व्यावसायिक कार्यकर्त्ता जिम्मेदारी पूर्वक एक दूसरे के साथ सहयोग करते हुए किसी व्यक्ति या परिवार की समस्याओं का उपचार करते हैं। साधारणतः कई बार में दो या दो से अधिक सेवार्थी सम्मिलित रहते हैं। पारिवारिक समस्याओं में सामान्यतः यह बात पायी जाती है, ऐसी दशा में कभी-कभी प्रत्येक सेवार्थी के साथ अलग-अलग कार्यकर्त्ता कार्य करते हैं और दोनों कार्यकर्त्ता समय-समय पर एक दूसरे से मिल कर सेवार्थियों से सम्बन्धित अनुभवों और भावनाओं को एक दूसरे से अवगत कराते रहते हैं—फलस्वरूप अधिक प्रभावशाली ढंग से उपचार की योजना और उसका कार्यान्वियन हो पाता है। इस प्रकार के कार्य में विषयगत दृष्टिकोण और आत्मानुशासन की अत्यधिक आवश्यकता पड़ती है। कार्यकर्त्ताओं से यह आशा की जाती है कि वे एक दूसरे से पूर्ण सहयोग के साथ काम करते हुए स्पष्ट और ईमानदारी पूर्वक अपने विचारों का आदान-प्रदान करेंगे और आपसी मतभेद को कम करते हुए अधिक प्रभावशाली ढंग से समस्या के समाधान का प्रयास करेंगे।

उपचार की प्रक्रिया के अन्तर्गत कार्यकर्त्ता सेवार्थी से उचित व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित कर विभिन्न प्रविधियों के प्रयोग के द्वारा उसकी अहम्‌शक्ति को शक्तिशाली बनाते हुए उसे उचित रूप से अपनी सामाजिक भूमिका निभाने में मदत करता है। इस प्रक्रिया में कार्यकर्त्ता को अपने 'स्व' को बहुत ही चेतन रूप में प्रयोग करना पड़ता है और सेवार्थी को भी इस प्रकार सहायता दी जाती है कि वह अपनी समस्या और उसके चेतन तथा अचेतन कारकों को अधिक अच्छी तरह जान कर के, अपनी अहम्‌शक्ति तथा रक्षात्मक युक्तियों को रचनात्मक रूप में प्रयोग करते हुए स्वयं अपने ही प्रयास के द्वारा अपेक्षित लक्ष्यों की प्राप्ति कर सके। वैयक्तिक कार्यकर्त्ता भौतिक सहायता की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक सहायता पर अधिक जोर देता है और एक नियमित तथा नियोजित तरीके से सहायता की प्रक्रिया सम्पादित करता है। सेवार्थी और कार्यकर्त्ता के पारस्परिक व्यावसायिक सम्बन्धों की गहनता और कुशलता पूर्वक उनके उपयोग की क्रिया का उपचार की प्रक्रिया पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। 'हालिस' के अनुसार उपचार दो प्रकार का होता है। पहले प्रकार के उपचार के अन्तर्गत वे क्रियाएँ आती हैं जिनके द्वारा कार्यकर्त्ता स्वयं प्रयास करके सेवार्थी के पर्यावरण में सुधार लाता है। इसके अन्तर्गत कार्यकर्त्ता या तो स्वयं ही सेवार्थी के लिए कार्य करते हुए उस पर पड़ने वाले बाहरी दबावों को कम करता है अथवा

संस्था के माध्यम से कुछ विशेष प्रकार की सेवाओं या साधनों–आर्थिक सहायता, इत्यादि–की व्यवस्था करते हुए सेवार्थी की परिस्थितियों में कुछ सुधार लाता है। दूसरे प्रकार के उपचार के अन्तर्गत विशेष कर वे मनोवैज्ञानिक क्रियाएँ आती है जिन्हें साक्षात्कार के माध्यम से प्रयोग करते हुए कार्यकर्त्ता सेवार्थी को स्वयं अपने प्रयासो के द्वारा अपने में परि-वर्तन लाकर समस्याओं को हल करने के योग्य बनाने में मदद करता है। इस कार्य के अन्त-र्गत प्रारम्भ में कार्यकर्त्ता अन्वेषण और आलम्बन की प्रविधि के द्वारा उसकी परेशानियों को कम करते हुए उसमें आशा तथा विश्वास और स्वस्थ रूप से कार्य करने की भावना को जागृत करता है, साथ ही साथ उसकी नष्ट हुई क्षमताओ को पुनर्जागृत करते हुए धनात्मक योग्यताओं का भलीभाँति उसे ज्ञान कराता है तत्पश्चात् स्पष्टीकरण और प्राख्या प्रविधियों के उचित प्रयोग द्वारा उसे उसकी समस्या से सम्बन्धित भावनाओ, अचेतन तथा चेतन स्तर के व्यवहार तथा उनके कारणों का बोध कराते हुए इस योग्य बनाता जाता है कि वह स्वयं ही आत्मपरीक्षण करते हुए अपनी समस्याओं के निराकरण के कार्य में लग जाय।

इस समस्त प्रक्रिया में जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कार्यकर्त्ता और सेवार्थी का सम्बन्ध अत्यन्त धनात्मक और वास्तविकता पर आधारित होना चाहिए। पर समय-समय पर उचित सम्बन्ध स्थापन के पश्चात् कार्यकर्त्ता का व्यवहार सेवार्थी के प्रति आलो-चनात्मक और असहानुभूति पूर्ण भी होना चाहिए ताकि सेवार्थी को अपनी कमियों का बोध हो और आवश्यकतानुसार वह उन्हें दूर करे। कार्यकर्त्ता जब इस कार्य में प्राख्या की प्रविधि का प्रयोग कर रहा हो तो उससे आशा की जाती है कि वह प्रतिस्थापन की प्रक्रियाओं का पूरा-पूरा उपयोग करे। स्पष्टीकरण की प्रक्रिया में वह पूरी तौर से इन्हें नहीं भी प्रयोग कर सकता है। उपचार की प्रक्रिया की समाप्ति के पश्चात् कार्यकर्त्ता से यह भी आशा की जाती है कि वह अपने कार्य का मूल्यांकन करते हुए अपनी कमियों को दूर करे।

अध्याय ५

सामूहिक कार्य

सामूहिक कार्य समाज-कार्य की एक पद्धति है। इसमें समूह ही सेवार्थी हुआ करता है। समाज-कार्य की अन्य पद्धतियों की भाँति इस पद्धति के भी सफल कार्यान्वयन के लिए अभिकरण के माध्यम से इसका प्रयोग अच्छा समझा जाता है। यद्यपि इस पद्धति में प्रधानत: ध्यान पूरे समूह की स्थिति और विकास पर रखा जाता है किन्तु यह स्वभावत: तभी सम्भव होता है जब कि उसके निर्माता अवयव व्यक्ति की स्थिति और विकास पर भी ध्यान दिया जाय। कहने का तात्पर्य यह कि सामूहिक कार्य में व्यक्ति और समूह दोनों पर ध्यान रखा जाता है और चेष्टा की जाती है कि इन दोनों का पारस्परिक विधायी सहयोग हो। माना जाता है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है अर्थात् मनुष्य जो कुछ है वह समाज का परिणाम है तथा वह जो कुछ हो सकता है समाज के ही कारण हो सकता है। चूँकि बाल्यावस्था के प्रारम्भिक दिनों के बाद व्यक्ति को समाज में अथवा समाज के विभिन्न समूहों में रहना है इसलिए उसके इनसे समुचित समंजन के लिए यह आवश्यक है कि उसमें इनमें रहने के तौर-तरीके विकसित हों और स्वाभाविक रूप से उत्पन्न इस जरूरत की पूर्ति के साधन भी उपलब्ध हों। सीधे-सीधे कहा जा सकता है कि समूह में रह कर ही व्यक्ति सामूहिक जीवनयापन की कला को सीखता है। ऊपर कही गयी मान्यता पर ही सामूहिक कार्य आधारित है। व्यक्ति को समूह से होने वाला लाभ भलीभाँति हो इसके लिए यह जरूरी होता है कि कोई कुशल व्यक्ति इन दोनों के बीच इस हेतु कार्यरत हो।

उपर्युक्त चर्चित तत्त्वों का एक संश्लेषण यह हो सकता है कि सामूहिक कार्य समाज कार्य की वह पद्धति है जिसमें अभिकरण के माध्यम से एक कुशल सामूहिक कार्यकर्त्ता समग्र रूप से समूह तथा उसके निर्माता अवयव व्यक्ति की ऐसी हितकारी शक्तियों के विकास और परिमार्जन का कार्य उन्हीं के द्वारा करता है जो कि उनमें ही निहित हैं। यहाँ चर्चित निहित शक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामूहिक कार्य में जो समूह बनाये जाते हैं उनमें एक बात यह भी ध्यान में रखी जाती है कि उनका आधार गुण और क्षमता विशेष भी हुआ करती है, किन्तु यह एक आधार है। कभी-कभी ऐसे भी समूह बनाये जाते हैं जो कि उनके सदस्यों में प्रत्यक्षत: निहित गुणो के विकास हेतु न होकर

उन्हें कुछ बाह्य आवश्यक गुणों से अभिभूत करने के लिए होते हैं जिससे कि वे व्यापक पैमाने पर समाजीकृत हो सकें।

समाज कार्य के सिद्धान्त और सामूहिक कार्य में उनका व्यवहार

समाज कार्य के अनेक प्रमुख सिद्धान्तों का व्यवहार सामूहिक कार्य में भी होता है। सामूहिक कार्य में जनतंत्रीकरण के सिद्धान्त का तात्पर्य है कि समूह निर्माण के प्रारम्भिक चरण से लेकर समूह की समाप्ति (यदि कभी आवश्यक हो तो) तक होने वाली समस्त अन्तःक्रियाएँ अधिकाधिक स्वप्रेरित हों अर्थात् उसके निर्माण की आवश्यकता का एहसास, निर्माण का ढग, कार्य पद्धति एवं कार्यक्रम का निर्धारण, सचालन एवं नेतृत्व, लक्ष्य या उद्देश्य का निर्धारण एवं साधनों का जुटाव तथा उनके उपयोग की विधि तथा निर्णय की प्रक्रिया इत्यादि स्वयं समूह के सदस्यों द्वारा ही निश्चित की जानी चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि उनकी भावनाएँ एवं इच्छाएँ कुछ हों और अभिकरण या सामूहिक कार्यकर्त्ता उनका कुछ और ही ढंग से उपयोग करे हों। सामूहिक कार्यकर्त्ता को इन तमाम अवसरों पर मात्र उनकी सुषुप्त शक्तियों को जागृत करके उन्हें हितकारी दिशा प्रदान करने का ही कार्य करना चाहिए। इसमें सामाजिक साधनों के ज्ञान का बोध कराना भी सम्मिलित है। जनतंत्रीकरण के सिद्धान्त का एक दूसरा पक्ष भी है। समूह अथवा समूह के सदस्य स्वयं से, स्वयं के बारे में और स्वयं के लिए जो कुछ भी, जब कभी भी करें वह इस प्रकार होना चाहिए कि उनमें से प्रत्येक की भावना को कम से कम आघात पहुँचाते हुए तथा उन्नत समाजगत स्वीकृत मूल्यों यथा प्रेम, सौहार्द, शालीनता, सज्जनता से युक्त होकर करें अर्थात् आपस में शिष्ट आचार-विचार के माध्यम से प्रकृतिगत कुप्रवृत्तियों के दमन और सत्वृत्तियों के विकास द्वारा करें। जब कभी भी इस अपेक्षित स्थिति में कमजोरी के लक्षण दिखें तो सामूहिक कार्यकर्त्ता को भी कथित जनतांत्रिक तरीकों से ही समग्र सेवार्थी अथवा उसके अवयव सदस्यों के ज्ञान धरातल को उन्नत कर या परिवेशगत परिमार्जन द्वारा अन्तःक्रियाओं की स्थिति एवं स्वरूप को ऐसी दिशा देनी चाहिए जो अधिकाधिक हितकारी हो। जनतंत्रीकरण के सिद्धान्त को व्यवहार में लाने से एक फायदा तो यह होता है कि समूह अथवा समूह के सदस्यों की अनेक छिपी क्षमताएँ सामने आती है और अन्य दृश्य क्षमताएँ भी विकसित होकर उनके व्यक्तित्व गठन एवं निर्माण में सहायक बनती हैं तथा आज के उन्नत समाज की कल्पना को साकार होने के आधार को बल मिलता है अर्थात् चूँकि व्यापक समाज विभिन्न व्यक्तियों और समूहों का ही समुच्चय होता है इसलिए यदि इनका गठन एवं निर्माण जनतंत्रीकृत है तो समाज भी जनतंत्रीकृत और इनके मूल्यों से अभिभूत होगा जो कि आज सारे विश्व में एक आधारभूत मानवीय आवश्यकता के रूप में स्वीकृत है।

दूसरा सिद्धान्त नियोजन सम्बन्धी है। समूह का निर्माण सदैव सुनियोजित होना चाहिए। स्वाभाविक है कि यदि बिना किसी नियोजन के समूह का निर्माण किया जायगा तो वह अपने लक्ष्यों को शायद ही प्राप्त कर सके। नियोजन में जनशक्ति, साधन शक्ति, माध्यम, प्रक्रिया और ध्येय सभी सम्मिलित होते है। इन तमाम का यदि अच्छा उपयोग करना है तो इन सबको अच्छी प्रकार एक दूसरे के पूरक के रूप में संगठित करना होता है। यदि इनका संगठन न किया गया तो एक तो ये स्वयं ही अलग-अलग अनुपयोगी सिद्ध होते हैं, दूसरे इनके मिलन से एक जो अन्य नवशक्ति उत्पन्न होने की संभावना होती है वह भी नष्ट हो जाती है। नियोजन होने से ही ठीक-ठीक यह जाना जा सकता है कि कौन-सी ताकतों का कहाँ तक और किस रूप म इस्तेमाल हो सकता और तदनुसार ही ध्येय और लक्ष्य होने से सामूहिक कार्य अपनी अभीष्ट प्राप्ति में समर्थ हो सकता है। समूह अथवा इसके कार्य के सम्बन्ध में नियोजन के समय समूहगत, अभिकरणगत तथा समाज में उपलब्ध अन्य साधनों को भी ध्यान में रखना चाहिए। साधनों और क्षमताओं के अलावा सामाजिक मूल्यों, राष्ट्रीयता और राज के संदर्भो को भी अछूता नही छोड़ना चाहिए क्योंकि इन सबका भी काफी प्रभाव हुआ करता है।

तीसरे ऐसा माना जाता है कि यदि समूह के सदस्यों के कार्य का संगठन पर्याप्त लोच रखता हो तो समूह का कार्य अच्छी तरह चलता है। इसका मतलब यह है कि सबको ठीक-ठीक यह मालूम होना चाहिए कि किसका क्या कार्य है, किन्तु यह ऐसा नहीं निश्चित होना चाहिए कि उसमें कोई तबदीली की ही न जा सके। चूँकि व्यक्ति की सामर्थ्य और समूह की आवश्यकताओं में परिवर्त्तन आने स्वाभाविक होते है इसलिए कार्य का दायित्व या उनकी संगठनात्मक संरचना भी नमनीय होना चाहिए जिससे कि आवश्यकतानुसार सम्भव परिवर्त्तन द्वारा व्यक्ति और समूह एक दूसरे से अधिकाधिक समंजित रह सकें। ऐसा न होने से बहुधा समूह या उसके सदस्यों में टूट की संभावना बढ़ती है और सामूहिक कार्य पद्धति अपने लक्ष्य के मार्ग से विरत हो सकती है।

चौथा सिद्धान्त साधनों के उपयोग से सम्बन्धित है। ऐसा माना जाता है कि सभी समूहों के कार्य क्षेत्र में कुछ ऐसे साधन प्राय: उपलब्ध रहते है जिनका कि उपयोग समूह अपने हित में कर सकता है चाहे वे साधन अभिकरण में हों अथवा पास-पड़ोस, समुदाय या समाज में हों। इन साधनों में उपकरण, स्थान, भवन तथा सामाजिक संस्थाएँ या व्यक्ति इत्यादि सम्मिलित होते हैं। समूह को और कार्यकर्त्ता को चाहिए कि वह इनका लाभ उठाये और समूह अपना हित साधे। प्राय: इन साधनों का उपयोग इसलिए भी सहज सुलभ हो सकता है क्योंकि समूह का अस्तित्व उसी परिस्थिति, समुदाय या समाज की जरूरतों के एहसास के ही फलस्वरूप होता है। जब अपनी ही जरूरत से हमने किसी कार्य को

जन्म दिया है तो उसको संबल देना भी हमारा स्वाभाविक कर्त्तव्य होता है। यदि इसके विपरीत समूह ऐसा हो जो कि उस परिस्थिति का प्रतिफल न हो तो भी ऐसी संभावनाएँ तो उन परिस्थितियों में निहित होती ही हैं जिनका कि उपयोग किया जा सकता है। चेष्टा करने पर हर जगह कुछ-न-कुछ व्यक्ति अपने मतलब के मिल ही जाते हैं तथा कतिपय भौतिक साधन भी उपलब्ध हो ही जाते हैं। ऐसा इसलिए कि उपसंस्कृतिगत (सभ्यता समेत) वैभिन्य होने पर भी व्यापक मानवीय संस्कृति की मूल प्रवृत्तियाँ तो मोटे तौर पर एक-सी ही हुआ करती हैं।

सामूहिक कार्यकर्त्ता को चाहिए कि वह समूह की गतिविधियों का बीच-बीच में आवश्यकतानुसार मूल्यांकन करता रहे। इस प्रकार किये गये मूल्यांकन से समूह की शक्तियों का समुचित नियोजन, नियंत्रण और आवश्यक परिमार्जन करने में सुविधा होती है और सामूहिक कार्यकर्त्ता को अपने कृत्यों को समझने और सुधारने का अवसर मिलता है। यदि बीच-बीच में मूल्यांकन न किया जाय तो संभावना रहती है कि लक्ष्य से विरत होकर या समूह के सदस्यों, भौतिक साधनों या सामूहिक कार्यकर्ता की सेवाओं का दुरुपयोग हो। मूल्यांकन से एक लाभ और भी होता है कि समूह के सदस्यों और सामूहिक कार्यकर्त्ता को स्वयं को समझने की क्षमता भी बढ़ती जाती है। इस मूल्यांकन के सिद्धान्त के साथ ही एक सिद्धान्त और जुड़ा हुआ है कि समूह की क्षमता के ह्रास-विकास के साथ ही साथ उसके सदस्यों की इच्छाओं, अनुभवों और माद्दा का भी विकास सन्नद्ध होता है। जैसे-जैसे सम्पूर्ण समूह प्रगति करता है उसी क्रम से उसके अवयव सदस्यों में भी प्रगति आती है या आनी चाहिए। यदि स्थिति इससे इतर हो तो इस सिद्धान्त के अनुसार सामूहिक कार्य का सम्पादन अनुपयुक्त है और सामूहिक कार्यकर्त्ता को इस पर ध्यान देना चाहिए तथा इसके कारणों की खोजबीन करके ऐसी स्थिति लानी चाहिए कि इन दोनों की प्रगति की दिशा और गति एक खास क्रम की हो सके।

सामूहिक कार्य के सिद्धान्तों में निर्देशित सामूहिक अन्त:क्रिया के सिद्धान्त का बड़ा महत्त्व है। समस्त सामूहिक कार्य की उपलब्धियाँ समूह के सदस्यों के बीच तथा समूह के सामूहिक कार्यकर्त्ता के बीच होने वाली अन्त:क्रियाओं पर ही निर्भर करती है। इन अन्त:क्रियाओं का स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि समूह के सदस्य तथा सामूहिक कार्यकर्ता की इच्छाएँ, क्षमताएँ तथा कार्य के ढंग इत्यादि किस प्रकार के हैं। जहाँ कहीं भी दो पक्ष विद्यमान होते हैं अन्त:क्रियाएँ होती ही है। यदि ये अनिर्देशित हों अर्थात् इनकी दिशा या तरीके तय न हों या उन्हें बीच-बीच में सँवारा न जाय तो दोनों पक्षों की क्षमताओं का एक तो हितकारी उपयोग कठिन होता है दूसरे इसकी भी संभावना रहती है कि वे पक्ष अहितकारी अन्त:क्रियाएँ कर बैठें और यदि समूह में यह स्थिति काफी मात्रा में विद्यमान

हो जाय तो सारा समूह या तो विश्रृंखलित हो सकता है या अपने लक्ष्य को कठिनाई से पा सकता है या उसकी सारी सृजनात्मक शक्तियाँ नष्ट हो सकती हैं। प्रायः इस बात की बहुत संभावना होती है कि यदि समूह को स्वयं ही कार्यरत रहने दिया जाय तो ऐसी स्थिति आ सकती है इसलिए यह जरूरी समझा जा सकता है कि सामूहिक कार्यकर्ता समूह की समस्त अन्तःक्रियाओं को उचित तरीके और दिशा में निर्देशित करता रहे। यहाँ ऐसे समूह को नहीं सम्मिलित किया जा रहा है जो कि अत्यन्त विकसित हो अथवा जिनमें कि अन्तः क्रियाओं के निर्देशन की बहुत ही कम जरूरत हो। चूँकि व्यक्ति-व्यक्ति में भेद होते ही हैं और उनके भेद से अन्तःक्रियाएँ भिन्न-भिन्न दिशाओं में बहक सकती हैं इसलिए उनको एक सुपथगामी बनाने के लिए तथा उनकी हर गतियों को अधिक-से-अधिक पारस्परिक अनुपूरक उपयोग करने के लिए कार्यकर्त्ता द्वारा अन्तःक्रियाओं का निर्देशन बहुत ही कौशल से किया जाना चाहिए। अन्तःक्रियाओं के निर्देशित होने से ही यह सम्भव होता है कि समूह निर्माण, कार्यक्रम निर्धारण, कार्यविधि का निश्चय, मूल्यांकन तथा सक्रियता आदि का भरपूर लाभकारी उपयोग हो सके; क्योंकि सामूहिक कार्य के हर स्तर पर अन्तः क्रियाओं का जटिल जाल बिछा रहता है। अन्तःक्रियाओं की गति की तीव्रता और मन्दता को भी सामूहिक कार्यकर्त्ता को निर्देशित करना पड़ता है। चूँकि अन्तःक्रियाओं की उप-स्थिति सतत् या निरन्तर है इसलिए सारा सामूहिक कार्य इससे आवेष्टित रहता है और इसी से अन्तःक्रियाओं पर ही सारे सामूहिक कार्य का दारोमदार है, इसीसे इसके समुचित निर्देशन की सदा आवश्यकता रहती है।

सामूहिक कार्य में लक्ष्य, वैशिष्ट्य और निश्चितता होने से बड़ी सुविधा होती है। इससे समूह के सदस्य यह साफ-साफ समझ सकते है कि उन्हें क्या करना है या उनसे क्या अपेक्षाएँ है और वे कितनी शक्ति से किस प्रकार कार्य करें। यदि लक्ष्य या उद्देश्य स्पष्ट नहीं होते तो वे घपले में पड़े रहते हैं और उन्हें कुछ भी निर्णय लेने में असुविधा होती है। यदि लक्ष्य स्पष्ट हों तो समूह अच्छा नियोजन कर सकता है, उसकी अन्तःक्रियाएँ अधिक सोद्देश्य हो सकती है और उनको इधर-उधर बहकने का कम अवसर मिलता है। उद्देश्य वैशिष्ट्य से समूह के सदस्यों को और पूरे समूह को नियंत्रित रखने में भी मदद मिलती है क्योंकि इससे बिखराव की सम्भावनाएँ कम होती हैं। चूँकि उद्देश्य वैशिष्ट्य का निर्धारण अभिकरण, समूह निर्माता उसके सदस्य एवं कार्यकर्त्ता की इच्छा एवं शक्ति के सम्मिलित चेष्टा का फल होता है इसलिए इस बात की स्वाभाविक तौर पर काफी सम्भावना होती है कि वह उनके लिए अधिक हितकारी हो।

सामूहिक कार्य में वैयक्तीकरण के सिद्धान्त का सतत उपयोग होना चाहिए। बहुधा हर समूह में ऐसे व्यक्ति सम्मिलित रहते है जो कि या तो समूह से पूरी तौर पर समंजित

रहने में सदैव असमर्थ रहते है या समूहगत परिवर्तन के समय उनमें समंजन की भरपूर क्षमता नहीं दिखाई देती। ऐसे लोगों के साथ सामूहिक कार्यकर्त्ता को वैयक्तीकरण के सिद्धान्त का प्रयोग सतत् करते रहना पड़ता है। इसके अलावे चूँकि सदस्य विभिन्न सामर्थ्य और इच्छाओं से समूह में सम्मिलित होते हैं और समूह के लाभों को भिन्न-भिन्न ढंगों से ग्रहण करते हैं इसलिए भी इस सिद्धान्त का प्रयोग प्रायः सभी के साथ कमोबेश करते रहना पड़ता है। यदि ऐसा न किया जाय तो सदस्यों की भिन्नता से जनित अन्त.क्रियाओं से सम्पूर्ण समूह की तमाम हरकतों के संगठन के स्वरूप में अनपेक्षित लक्षण या तत्त्व क्रियाशील हो सकते हैं और इससे सामूहिक कार्य का अभीष्ट नष्ट हो सकता है। सामूहिक कार्यकर्ता को चाहिए कि वह हर सदस्य के साथ इस सिद्धान्त का प्रयोग करता रहे और समूह के संगठक तत्त्वों को बलशाली बनाता रहे और विघटनकारी तत्त्वो में न्यूनता लाता रहे। समूह और व्यक्ति परिवर्तनशील होते है इसलिए इस सिद्धान्त का प्रयोग और भी लाजमी हो जाता है। यदि सामूहिक कार्यकर्ता वैयक्तीकरण न करे और केवल सामूहिक अन्तःक्रियाओं पर ही ध्यान केन्द्रित रखे तो व्यक्ति और समूह की प्रकृति के कारण ही ऐसी स्थितियाँ आ सकती है जिनसे कि समूह के घटक अवयव उसको शिथिल या कमजोर बना सकते हैं। हर परिवर्तन के समय समंजन के पक्षों में अनुपूरकता की स्थिति का निर्माण करना कार्यकर्ता का कर्तव्य होता है और एक कुशल सामूहिक कार्यकर्ता से इसकी सदा अपेक्षा रहती है।

सामूहिक कार्य के सिद्धान्तों मे कार्यकर्ता और समूह के बीच सोद्देश्य सम्बन्ध का सिद्धान्त भी काफी महत्त्व का है। इसका अर्थ यह होता है कि सामूहिक कार्यकर्त्ता का अपने समूह के सदस्यों के साथ जो सम्बन्ध हो वह निश्चित उद्देश्य सहित हो और इसकी स्वीकृति सहजता से सेवार्थी से मिली हो। वे ऐसा समझें कि सामूहिक कार्यकर्ता हमारी मदत के लिए है और हम सबका उसके ऊपर पूर्ण विश्वास है तथा हमारा उसके साथ जो सम्बन्ध है वह अभिकरण के हित से तालमेल रखता है। ऐसी भावना की उपस्थिति से जन-तांत्रिक मूल्यों के अनुसार कार्य करने की संभावना बलवती होती है; सबका एक दूसरे पर विश्वास होता है; सब काफी अच्छी प्रकार एक दूसरे के आचार-विचार को जान-बता पाते है और उनके संबंध भी प्रगाढ़तर होते जाते हैं। इससे सामूहिक संगठन और सामूहिक कार्य में मदत मिलती है। इस सम्बन्ध के गुण और शक्ति के स्वरूप के ही अनुसार समूह लाभान्वित हो सकता है। यदि कार्यकर्त्ता और समूह का एक दूसरे में विश्वास नहीं है, वे एक दूसरे से खिचे-खिचे रहते है या उनके सम्बन्धों में कटुता है तो जाहिर है कि वे अपने धर्म पालन में असमर्थ होंगे और इससे सामूहिक कार्य ठीक से नहीं हो पायेगा।

सामूहिक कार्य के अन्तर्गत यह ध्यान रखना जरूरी होगा कि सामूहिक कार्य के दरम्यान सभी सिद्धान्तों के समन्वित प्रभाव पर ध्यान रखना चाहिए, न कि अलग-अलग।

समाज-कार्य की प्रविधियों का सामूहिक कार्य में व्यवहार

सामूहिक कार्य में समूह निर्माण से लेकर समूह की आवश्यकता के अन्त तक अनेक ऐसे अवसर आते रहते है जबकि सामूहिक कार्यकर्ताको समाज-कार्य की अनेक प्रविधियों की मदत से अपना कार्य-सम्पादन करना पड़ता है। जितनी कुशलता से उनका व्यवहार किया जाता है उतना ही अधिक ये फलदायी होती है और समूह के सदस्यों के व्यक्तित्व का विकास और तदनन्तर समाज का सुगठन होता है। सारे कार्य के दरम्यान स्वाभाविक तौर पर ऐसे अवसर आते है जबकि इन प्रविधियों का व्यवहार करना जरूरी होता है। अनेक ऐसी बातें हो सकती है जो कि समूह के सदस्यों को न मालूम हों; अनेक ऐसी बातें हो सकती है जो कि समूह के सदस्यों को ठीक-ठीक समझ में न आ पाती हों; बहुत से ऐसे अवसर हो सकते है जबकि समूह के सदस्य अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति में कठिनाई महसूस करते हों या उनकी मानसिक या वैचारिक दशा ऐसी हो कि कार्यकर्त्ता से संबल की आवश्यकता हो। अभिकरण या वाह्य परिवेश में ऐसे साधन हो सकते हैं जिनका कि या तो समूह उपयोग न कर पा रहा हो या वह उसके उपयोग को न समझ पा रहा हो। अनेक ऐसी क्षमताएँ हुआ करती है जो कि अन्तर्निहित होती हैं और स्पष्टतः जानी समझी नही जा सकतीं और इसलिए एक तो उनका उपयोग नही हो पाता दूसरे उनका उपयुक्त तौर पर व्यवहारों में प्रतिफलन नही हो पाता है। ये ही कतिपय ऐसी प्रमुख स्थितियाँ है जिनमें कि प्रविधियों की मदत से लाभान्वित हुआ जा सकता है।

सम्बन्ध की प्रविधि से ही शुरू करें। कहा जाता है कि सम्बन्ध ही सभी सहायताओं का मूलाधार होता है। यदि समूह और कार्यकर्ता के बीच का सम्बन्ध अच्छा है तभी यह सम्भव है कि वे एक दूसरे का भरपूर लाभ उठा सकें अन्यथा नहीं। जब सम्बन्ध ही विश्वास योग्य, मृदु और सहायक प्रकृति का न होगा तो सदस्य एक दूसरे से समुचित विचार-विनिमय तथा आचार-संचार न कर सकेंगे और जब ऐसी स्थिति होगी तो समूह में विखराव बढ़ेगा और समुचित कार्य सम्पादन में रुकावट आयेगी। इसलिए कार्यकर्त्ता को चाहिए कि वह समूह के सदस्यों के साथ ऐसा सम्बन्ध स्थापित और विकसित करे जो कि उन दोनों में पारस्परिकता को बढ़ावा दे और हर मौके पर एक दूसरे की जनतांत्रिक तरीके से मदत करने की स्थिति को बल दे।

सामूहिक कार्य में संबल की प्रविधि का भी भरपूर उपयोग होता है। यह सामूहिक और वैयक्तिक दोनो स्तरों पर प्रयुक्त होती है। समूह में किसी भी कारण से जब कोई ऐसी स्थिति आती है कि वह किसी प्रकार का निर्णय करने में वैचारिक या मानसिक स्तर पर कठिनाई महसूस करता है तो सामूहिक कार्यकर्त्ता ऐसे सुझाव या विचार व्यक्त करता है जिससे कि समूह को ढाढ़स बंधता है या उसे प्रोत्साहन मिलता है। समूह के सदस्यों के साथ

क्षणिक अथवा लम्बी अवधि तक किये जाने वाले वैयक्तीकरण के दरम्यान भी सामूहिक कार्यकर्त्ता को संबल की प्रविधि का अनेक बार प्रयोग करना पड़ता है। सेवार्थी अपनी न्यून क्षमता के कारण अनेक बार अपने प्रयत्नों से विरत होने लगते हैं या उन्हें निराशा होती है या अपनी अभिव्यक्ति में हिचकिचाहट महसूस करते है। ये स्थितियाँ कई बार इसलिए भी आती है कि या तो समूह में कुछ लोग प्रतिभाशाली या प्रभावशाली होते हैं और उनमे नेतृत्व का गुण ज्यादा विकसित होता है जिसके फलस्वरूप या तो वे अन्य सदस्यों को पूरी तौर से अपनी बातों को व्यक्त करने का मौका नहीं देते या कुछ संकोची स्वभाव के कारण अपने को व्यक्त नहीं कर पाते। इसके अलावे अभिकरण के उद्देश्य, कार्यक्रम या साधन और प्रशासन इत्यादि इस प्रकार के नही होते कि उनसे समूह के सदस्यों को अपनी इच्छाओं और जरूरतों की पूर्ति का स्पष्ट एहसास हो सके। कभी-कभी समूह के कार्यक्रम के मूल्यांकन से भी ऐसी स्थिति नजर आने लगती है कि हिम्मत छूटती है। वाह्य परिस्थितियों, यथा सामाजिक अपेक्षाओं, राजनीतिक प्रभावों या सांस्कृतिक पहलुओं में रद्दोबदल से भी समूह में या उसके सदस्यों में ऐसी मानसिक-वैचारिक स्थिति आ सकती है जिसमें कि उसे संबल की आवश्यकता हो अथवा इसकी अनुपस्थिति में बिखराव के तत्त्व प्रभावकारी होने लगें। संबल देने का कार्य कार्यकर्त्ता प्रायः सदस्यों द्वारा व्यक्त विचारों से सहमति व्यक्त करते हुए उनमें थोड़ा-सा परिमार्जन करके करता है। कभी-कभी यदि विचार या भावनाएँ व्यक्त न हो पा रही हों तो भी समूह के व्यक्ति या व्यक्तियों की इस स्थिति को समझ कर ही वह उनको स्वयं ही व्यक्त करता है और उस पर उन सदस्यों के विचारों को आमंत्रित करते हुए उनको संबल देता है। मानसिक तौर पर संबल की प्राप्ति कई अन्य प्रविधियों के प्रयोग के द्वारा भी हो जाती है। जब कभी किसी अवसर पर वस्तुस्थिति का ज्ञान कराया जाता है, विषय को सरलीकृत किया जाता है या व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती है और इनका तालमेल व्यक्ति की भावनाओं को बल देने के साथ होता है तो भी संबल प्राप्त होता है और बीच-बीच में आवश्यकतानुरूप इन प्रविधियों के प्रयोग के माध्यम से भी सामूहिक कार्यकर्त्ता संबल देने का कार्य करता है।

सामूहिक कार्य के बीच ऐसे अवसर भी बार-बार आते हैं कि सदस्यों को स्पष्टीकरण की आवश्यकता होती है। अनेक सामाजिक अभिकरणों के उद्देश्य, कार्यक्रम तथा साधन इतने बहुरूपी होते हैं जिनसे कि समूह को या उसके सदस्यों को अनेक बार वे ठीक-ठीक समझ में नही आते। सदस्यों के बीच या सामूहिक कार्यकर्त्ता और सदस्यों के बीच अन्तःक्रिया के मध्य बहुत सी ऐसी स्थितियाँ आती हैं जिनमें कि स्पष्टीकरण की आवश्यकता होती है। स्पष्टीकरण की आवश्यकता का एहसास इसलिए भी होता है कि कभी-कभी समूह के सदस्य भिन्न सामाजिक मूल्यों से आये हुए होते है या उनकी व्यक्तिगत भिन्नताएँ

उनको स्वयं दूसरों के सम्मुख समुचित रूप में व्यक्त करने या दूसरों द्वारा भली प्रकार उनकी इच्छाओं एवं विचारों को समझने में अवरोधक होती हैं। समूह-निर्माण की आवश्यकता को अच्छी प्रकार समझने, उसके कार्यक्रमों का सदस्यों के हित में होने और साधनों के उपयोग के तरीके और उपयोग के अवसरों को समझने की मादा भी समूह में समूह के विकास के स्तर से जुटी रहती है। यदि समूह बहुत विकसित नहीं है तो ऐसे अवसरों पर सम्यक् हितों को दृष्टि में रखते हुए स्पष्टीकरण की आवश्यकता हुआ करती है। स्पष्टीकरण से समूह के व्यक्तियों की शक्तियाँ समन्वित होकर उद्देश्य प्राप्ति की दिशा में आसानी से सक्रिय होती हैं। यदि सामूहिक कार्य में स्पष्टीकरण की प्रविधि का प्रयोग आवश्यकतानुसार न किया जाय तो हो सकता है कि सामूहिक कार्य दिशाहीन या व्यर्थ हो जाय। स्पष्टीकरण की प्रविधि के प्रयोग से संबल भी मिल सकता है और समूह के सदस्यों का स्व मजबूत और सामूहिक नैतिकता उन्नत हो सकती है।

कभी-कभी समूह को स्वयं से स्वयं के हित के लिए किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए विकल्पों में से हितकारी तथ्य का चयन करना पड़ता है। इस हितकारी तथ्य को प्राप्त करने की प्रविधि को समाज-कार्य में खोज की प्रविधि कहा जाता है। इस प्रविधि के प्रयोग से एक ओर जहाँ समूह को इच्छित वस्तु या तथ्य की जानकारी हासिल होती है वहीं समूह के सदस्यों में तन्मयता और स्वचेष्टा विकसित होती है जिससे कि वैयक्तिक और तदनन्तर सामूहिक विकास होता है जो कि सामूहिक कार्य का अभीष्ट है। सामूहिक कार्यकर्त्ता समूह के सदस्यों को ऐसे प्रेरित करता है कि वे स्वयं ही इस खोज-कार्य में प्रवृत्त हों और इसके माध्यम से अपनी हितकारी शक्तियों का उपयोग कर सकें और वैयक्तिक विघटन के तत्वों से बचाव कर सकें। ऐसा होने से समूह पुष्ट होता है और सामूहिक कार्य की प्रगति काफी निर्बाध गति से होती है। कभी-कभी जब सदस्य मतिभ्रम में होते हैं तो सामूहिक कार्यकर्त्ता अनेक विकल्प उपस्थित कर उनमें से हितकारी तथ्य को खोजने के लिए उनको यह खास स्थिति प्रदान करता है।

समाज कार्य की व्याख्या की प्रविधि का प्रयोग भी सामूहिक कार्य में किया जाता है। समूह के सदस्यों की धारणाओं, उनके ज्ञान, समाज में प्रचलित विचारों और मान्यताओं की कई ऐसी व्याख्याएँ करनी आवश्यक होती हैं जिनसे कि समूह को और उसके सदस्यों को अपने लाभ के लिए मदत मिल सके। बातों और विचारों के सामान्य अर्थों से इतर अर्थ भी हुआ करते हैं और सामूहिक कार्यकर्त्ता को चाहिए कि उनके हितकारी अर्थ को सम्मुख लाकर समूह की मदत करे। विचारों की व्याख्याओं से समूह के सदस्यों की सूझ-बूझ और चिन्तन की शक्ति बढ़ती है और वे धीरे-धीरे इसके लिए अधिक समर्थ होते जाते हैं कि वे किन बातों का किस प्रकार अपने लिए अधिक-से-अधिक अच्छा उपयोग करें। व्याख्या

के समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विचार का मूल मन्तव्य नष्ट न हो या व्याख्याता मे समूह की आस्था न घटे अथवा उसके समूह के साथ के सम्बन्ध का प्रभावकारी स्वरूप न बिगड़े। व्याख्याएँ बहुत ही समझदारी, नेक-नीयती और दीर्घकालीन प्रभाव को दृष्टि मे रख कर की जानी चाहिए। व्याख्याएँ भी संबल देती है। व्याख्या की प्रविधि का प्रयोग करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि ये लादी न जा रही हो बल्कि समूह के सदस्यों से ही फूट रही हो अर्थात् सामूहिक कार्यकर्त्ता को केवल संकेत रूप में ही विकल्प सुझाने चाहिए और विकल्पों की तादात समूह के सदस्यों द्वारा ही बढ़ायी-घटायी जानी चाहिए या ऐसी स्थिति लानी चाहिए कि पूरे जनतांत्रिक मूल्यों की सुरक्षा और बढ़ावे के साथ समूह इस प्रविधि का व्यवहार करे।

सामूहिक कार्य में कभी-कभी ऐसी भी आवश्यकता होती है कि सम्पूर्ण समूह के साथ एक समान कार्य व्यवहार न किया जाय अर्थात् उनमें स्थिति विशेष के कारण उपसमूहों का निर्माण करके उसकी सहायता की जाती है। हो सकता है कि किसी समूह में ऐसे सदस्य सम्मिलित हों जिनकी क्षमताएँ भिन्न स्तर की हों और उनका उपयोग भिन्न स्तर पर ही किया जा सकता हो किन्तु उन सबका मूल अभीष्ट एक ही हो। ये भिन्नताएँ शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सांवेगिक इत्यादि किसी भी अथवा सम्मिलित कारण से हो सकती हैं। कभी-कभी लैंगिक या सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषता के कारण भी समूह के सदस्यों के स्तर भिन्न होते है। इन भिन्नताओ के कारण स्वाभाविक है कि उनकी आवश्यकताएँ और शक्तियाँ भिन्न हों। जब आवश्यकताएँ और शक्तियाँ भिन्न होंगी तो सबके साथ एक स्तर या तरीके से कार्य करना उपादेय होगा, इसकी कम सम्भावना होती है। समूह की तमाम ताकतों का भरपूर उपयोग करते हुए उसके हर स्तर के सदस्यों के समुचित विकास को ध्यान में रखते हुए यह जरूरी हो जाता है कि पूरे समूह को कई ऐसे पक्षों या उपसमूहों में विभाजित कर लिया जाय जिनमें कि सदस्यों की क्षमता और जरूरतें लगभग एक-सी हों। ऐसा करके ही हम सामूहिक कार्य को सार्थकता दे सकते हैं। ऐसा विभाजन कर लेने से सामूहिक कार्यकर्ता को कार्य करने में सुविधा होती है, समूह के सदस्यों को कार्यकर्त्ता से लाभ उठाने की संभावना बढ़ती है और उनकी पारस्परिक अन्तःक्रियाएँ अधिक स्वस्थ दिशा में प्रवृत्त होती है अन्यथा बिखराव के तत्व बलशाली हो सकते हैं। आवश्यकतानुसार समूह में पक्ष-निर्माण और उनकी स्थिति विशेष के अनुसार उनकी सेवा-विशेष के कार्य को ही पक्षीकरण की प्रविधि के नाम से जाना जाता है। पक्षीकरण की आवश्यकता सामू-हिक कार्य के प्राथमिक चरणों में अधिक हो सकती है किन्तु धीरे-धीरे सम्यक् समूह-विकास के साथ-साथ इसका ह्रास होना शुभ लक्षण है। पक्षीकरण से कभी-कभी समूह के अन्दर स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा और नेतृत्व-शक्ति को भी बढ़ावा मिलता है। इसके कारण समूह के

सदस्यों को ऐसी स्थिति उपलब्ध होती है कि वे अपनी विधायी क्षमताओं का ज्यादा से ज्यादा उपयोग कर सकें या किसी पक्ष विशेष के विकास की संभावना में कमी न आ पाये। सामूहिक कार्यकर्त्ता की चतुरता इस बात पर निर्भर है कि वह पक्षीकरण के बावजूद भी सारे समूह में कितनी मृदुता और एकात्मकता बनाये रखता है।

सामूहिक कार्यकर्त्ता को समूह के साथ कार्य करते समय कभी-कभी खुद भी समूह का एक अंग या सदस्य बन जाना पड़ता है। हमेशा समूह के बाहर से ही समूह की अन्त:-क्रियाओं को निर्देशित करते रहने से किन्ही दशाओं मे ऐसा हो सकता है कि समूह के सदस्य आवश्यक लाभकारी तौर पर अन्त:क्रिया के स्वरूप का व्यवहार न ग्रहण कर सकें और फलत: उनकी शक्तियों का पूरा-पूरा लाभ उन्हें न मिल सके। जब सामूहिक कार्यकर्त्ता स्वयं समूह का अंग बन कर कार्य करता है तो एक तो उसे खुद ही समूह के सदस्यों की अन्त:क्रियाओं का अच्छा अन्दाजा लगता है और वह फलत: अपनी कार्यविधि का परिमार्जन करने में ज्यादा आसानी अनुभव करता है, दूसरे उसकी आदर्श अन्त:क्रियाओं का प्रभाव तत्क्षण ही अन्य सदस्यों पर पड़ता है और वे उससे ज्यादा सुविधापूर्वक प्रेरित होते हैं। समूह में खुद भाग लेने से आदर्श अन्त:क्रिया से तादात्मीकरण तो सरल होता ही है, समूह और कार्यकर्त्ता के सम्बन्ध भी प्रगाढ़तर होते जाते हैं जिससे कि उसे कार्य करने में और समूह की सेवा करने में तत्क्षण और कालान्तर में सुविधा होती है। समूह के क्रियाकलापों मे भागीदारी की इस प्रविधि के उपयोग की आवश्यकता प्राय: प्रारम्भ मे अधिक होती है और कार्यकर्त्ता को चाहिए कि समूह को धीरे-धीरे ऐसी स्थिति में आने दे जिसमें कि उसमें उसके सम्मिलन की आवश्यकता कमतर होती जाय। यदि कार्यकर्त्ता हमेशा उसमें बना रहता है तो इससे लगता है कि समूह स्वशक्तिमान् नहीं हो पा रहा है और यह सामूहिक कार्य की अकुशलता समझी जाती है। अच्छे कार्यकर्त्ता को भागीदारी के साथ-साथ सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि वह समूह के सदस्यों में ही न खो जाय या उसके सम्बन्ध का वृत्तिक स्वरूप न नष्ट हो जाय। उसे समूह में सम्मिलित रहते हुए भी अपने को ऐसा नियंत्रित रखना चाहिए कि उसकी अन्त:क्रियाओं से दूसरों को अपनी माद्दाओं के विकास की प्रेरणा और स्थिति सुलभ हो और इस प्रकार समूह और उसके सदस्यों का विकास हो तथा उनका स्तर ऊंचा उठे।

सामूहिक कार्य में समाज-कार्य के सिद्धान्तों के व्यवहार की चर्चा करते समय साधनों के उपयोग की आवश्यकता और उसके लाभ की चर्चा की जा चुकी है। कभी-कभी साधन के उपयोग से समूह को संतोष प्राप्त होता है और उसमें आशा को बल मिलता है। कहीं-कही इसकी आवश्यकता होती है और कार्यकर्त्ता को इसका उपयोग करना चाहिए।

प्राय: प्रत्येक समूह के साथ सामूहिक कार्य के दौरान कार्यकर्त्ता को प्रत्येक प्रविधियों

का कमोबेश सहारा लेना पड़ता है। किसी प्रविधि के व्यवहार को एकदम नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता और चेष्टा ऐसी ही करनी चाहिए कि इन प्रविधियों में कहीं भी अहित-कारी स्थिति न हो वरन् इनका प्रयोग ऐसे समन्वित समंजित रूप में हो जिससे कि एक तो ये प्रविधियाँ अपने में अधिक परिपूरक हो सकें, दूसरे सामूहिक कार्य के सिद्धान्तों का अच्छी प्रकार परिपालन हो सके और ऐसी सम्भावनाएँ उभरें और बढ़े जिनमें कि सामूहिक कार्य के उद्देश्य सरलता से पूरे हो सके। कुशल कार्यकर्त्ता वही है जो ऐसी स्थिति ला सके। सामूहिक कार्यकर्त्ता में ऐसी क्षमता होने के लिए यह जरूरी है कि उसे समाज-कार्य का अच्छा शिक्षण और प्रशिक्षण मिला हो और वह खास तौर पर सामूहिक कार्य के सिद्धान्तों और व्यवहारों में अच्छी पैठ रखता हो तथा उसका व्यक्तित्व सन्तुलित और परिपक्व हो।

समूह निर्माण

समूह निर्माण के संदर्भ में इसके निर्माता व्यक्ति, अभिकरण, उद्देश्य, प्रक्रिया, महत्त्व तथा साधन इत्यादि पर विचार किया जाना चाहिए। इनमें से कुछ खास पर यहाँ संक्षेप में चर्चा की जायेगी।

पहले समूह निर्माण के महत्त्व से शुरू करें। यह जानना आवश्यक है कि समूह के निर्माण का महत्त्व क्या और क्यों है। यदि अन्य स्थितियाँ यथावत् हों तो व्यक्ति को समाज में उपलब्ध समूहों से जो भी लाभ होते हैं उनमें उस अवस्था में निश्चित रूप से वृद्धि की संभावना होती है जब कि किन्ही जरूरतों से उसी समाज में उन्हीं व्यक्तियों के लिए और नये-नये समूह बनें या बनाये जायें। जितने अधिक समूह होंगे उतनी ही उनकी विशिष्ट प्रकृति होगी और इस विशिष्ट प्रकृति के अनुसार वे लाभ उठा सकेंगे। इसके अलावे हो सकता है कि सामान्य से भी कम समूह या समुदाय उपलब्ध हों और वहाँ अन्य समूह निर्माण की आवश्यकता हो जिससे कि उसके सदस्य समूह से होने वाले लाभों को ज्यादा से ज्यादा प्राप्त कर सकें। ऐसे समूह जो स्वयं ही निर्मित हो गये होते हैं, उनकी अपेक्षा जो औपचारिक ढंग से बनाये जाने वाले समूह हैं से अधिक कारगर या उपादेय होते हैं। शंका यह की जा सकती है कि जो समूह औपचारिक ढंग से बनते हैं वे ज्यादा प्राकृतिक होते हैं और इसलिए उनसे उनके सदस्य अधिक लाभ पा सकते हैं, किन्तु यह शंका अब उचित नहीं मानी जाती, अब ऐसा माना जाता है कि स्वयं ही बन जाने वाले समूह में एक तो एकीकृत करने की शक्ति का समुचित उपयोग होते रहने की दशा का स्थायी रूप से विद्यमान होना कठिन होता है, दूसरे जो समूह समाज-कार्य के सिद्धान्तों के अनुसार कुशल कार्यकर्त्ता द्वारा बनाये जाते हैं वे उनकी समस्त क्षमताओं, योजनाओं और आवश्यकताओं के वैज्ञानिक संयोग के अनुरूप होते हैं जिससे कि एक तो समूह के सदस्यों को उनसे अपेक्षाकृत अधिक लाभ मिलता है, दूसरे उनमें इतनी ज्यादा संभावनाएँ होती हैं कि वे स्थायी और विधायी

हों; इसी कारण से यह माना जाता है कि बनाया गया समूह अधिक फलप्रद होता है। समूह के निर्माण करने का महत्त्व इसलिए भी होता है कि बहुधा सामाजिक अभिकरण अपने हित साधन के लिए भी इस कार्य को जरूरी समझते हैं। समूह निर्माण के माध्यम से ये सामाजिक अभिकरण अपनी अनेक विध सेवाओं का विस्तार करते हैं तथा बहुत सी सेवाओं को अधिक फलदायी बनाते है। ऐसा हो सकता है कि किसी ऐसे सामाजिक अभिकरण में जहाँ कि वैयक्तिक कार्य होता हो, सेवार्थी के लिए वैयक्तिक कार्यकर्त्ता यह जरूरी समझे कि उसे किसी समूह में रख कर उसकी ज्यादा अच्छी सेवा की जा सकती है या उसे ऐसा अवसर दिया जा सकता है जिसमें कि वह अपनी उपादेय शक्तियों का अधिक विकास कर अपनी समस्या से मुक्ति पा सकता है, तब भी वह उसके लिए उसके अनुरूप समूह खोजता है। जब सामाजिक अभिकरण में ऐसे कई सेवार्थी होते है तो वह अभिकरण ऐसे व्यक्तियों की अन्य बातों का ध्यान रखते हुए समूह बनाता है और उसके माध्यम से अपनी सेवाओं को अधिक फलदायी बनाता है। वैयक्तिक कार्य में इस प्रविधि के उपयोग को समूहगत उपचार के नाम से पुकारा जाता है। यह तो हुई अपनी दी जाने वाली सेवाओं को अधिक फलप्रद बनाने की बात। इसके अलावे तथा कथित कारण से बन गये अथवा समाज या समुदाय की अन्यान्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति की भावना से प्रेरित होकर भी सामाजिक अभिकरण समूह के निर्माण का कार्य करते हैं और इसके माध्यम से अपनी सेवाओं का इस प्रकार विस्तार भी करते हैं। इस विस्तार से उनकी उपादेयता में बढ़ोत्तरी होती है और इसलिए समूह के निर्माण का उनके लिए अपना महत्त्व है। समूह निर्माण का महत्त्व इसलिए भी है कि जब कोई समूह बनाया जाता है तो उसके कुछ विशिष्ट आधार होते हैं और इन विशिष्ट आधारों से विभिन्न समूहों में भिन्नता होती है जिसके कारण समूह के सदस्य वैशिष्ट्यज लाभ को ग्रहण करने की अधिक संभावना रखते हैं। विशिष्टता के आधार पर समूह जितना ही वर्गीकृत होगा उतनी ही उसके सदस्यों की प्रकृति तथा क्षमताएँ उनसे अधिक सम्बन्धित होंगी और इससे वे उसके लाभकारी तत्त्वों को उतनी ही सूक्ष्मता से ग्रहण कर सकेंगे। यह प्रक्रिया दो तरफी होती है। मान लीजिए कि एक व्यक्ति सेवार्थी है और दस समूह उपलब्ध हैं तो इस अवस्था में सेवार्थी जो लाभ समूहों से उठाना चाहेगा वह दस होगा और समूह जो लाभ सेवार्थी को देना चाहेंगे वह भी दस होगा। यदि समूह की संख्या घटा दी जाय या बढ़ा दी जाय तो इसी प्रकार लाभ देने और लेने दोनों की संख्या क्रमशः घट या बढ़ जायेगी। इसलिए यदि संख्या बढ़े तो एक तरफ तो सेवार्थी अधिक लाभ ले सकता है और दूसरी तरफ से समूह उसे अधिक लाभ दे भी सकते हैं और चूँकि समूह-संख्या में बढ़ोत्तरी का कारण वैशिष्ट्य-वैभिन्न्य भी है, इसलिए इससे समूह निर्माण का महत्त्व स्पष्ट होता है।

अब समूह के निर्माण प्रक्रिया की सूक्ष्म चर्चा की जायेगी। किसी भी समूह के निर्माता

मूलतः कुछ व्यक्ति ही होते हैं। वे कुछ व्यक्ति दो पक्षों की प्रेरणा या इच्छा के कारण समूह का निर्माण करते हैं। एक तो स्वयं की इच्छाशक्ति या प्रेरणा से तथा दूसरे सामाजिक अभिकरण की जरूरत या प्रेरणा से। ऐसा हो सकता है कि किसी दशा में इन दो पक्षों में किसी एक की ही प्रेरणा से समूह बना हो या बनाया जा रहा हो अथवा यह हो सकता है कि इन दोनों ही पक्षों की प्रेरणा से समूह का निर्माण हो रहा हो। समूह का निर्माण चाहे किसी एक पक्ष की प्रेरणा से हो अथवा उनमे उभय पक्षों की प्रेरणा हो, इसकी शुरुआत के कुछ लक्षण स्थिर किये गये हैं। लक्षणों के आधार पर समझा जाता है कि अब समूह-निर्माण की प्रक्रिया शुरू हो रही है और यह समूह आगे कार्यरत होगा। इन लक्षणों में सर्वप्रथम तो यह है कि कुछ व्यक्तियों को स्वयं की आन्तरिक अथवा बाह्य प्रेरणा पर मानसिक और शारीरिक तौर पर एकत्रित होना चाहिए। ऐसा नहीं हो सकता कि कुछ व्यक्ति भौतिक रूप से एकत्रित हों ही न, या उनको मानसिक स्तर पर कोई अन्तःक्रिया हो ही न और समूह बन जाय। इस स्थिति के उपरान्त इन व्यक्तियों को आपस में प्रारम्भिक विचार विनिमय के उपरान्त एक ऐसी सबके द्वारा मान्य शर्त का निश्चय या विकास कर लेना जरूरी होता है जो उनको एक सूत्र में बांधती हो। इनके अलावे हर समूह प्रारम्भ में इतना तो मोटे तौर पर तथा लचर ढंग से तय ही कर लेता है कि भविष्य में किन व्यक्तियों को उसकी सदस्यता दी जा सकती है अथवा वह अपने में कैसे व्यक्तियों को सम्मिलित करेगा और उसी समय यह भी तय कर लिया जाता है कि समूह का मूल स्वरूप क्या होगा अर्थात् यह कोई क्लब होगा, परिषद् होगी या कक्षा इत्यादि। इन प्रारम्भिक निर्णयों में अभिकरण की इच्छा तथा समूहगत नेता काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं और तब समुदाय या अभिकरण में समूह कार्यरत होते हैं।

जब भी सामाजिक अभिकरण समूह का निर्माण करता है तो उसकी अपनी कुछ खास विशेषताएँ होती है। सामाजिक अभिकरण समूह निर्माण का कार्य अपने ही कार्यकर्त्ता के माध्यम से करता है न कि ऐसे व्यक्ति के माध्यम से जो कि किसी भी प्रकार से उस अभिकरण का अंग न हों। हर सामाजिक अभिकरण या तो समूह निर्माण का कार्य अपनी सेवाओं के फैलाव के लिए करते हैं या उनको अधिक से अधिक उपादेय और फलप्रद बनाने के लिए। समूह के निर्माण की माँग या तो समुदाय के लोग किसी विशेष आवश्यकता की पूर्ति के लिए करते है या अभिकरण ही समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने आप समूह का निर्माण करता है। समुदाय की यह जरूरत मात्र कुछ व्यक्तियों की व्यक्तिगत स्तर की या सम्पूर्ण समुदाय की हो सकती है या बृहत्तर सामाजिक मूल्यों की स्थापना और विकास हेतु कोई भी सामाजिक अभिकरण जब किसी भी प्रकार के समूह का निर्माण करेगा तो वह सर्वदा यह ध्यान रखेगा कि उसकी आर्थिक, वैयक्तिक तथा

प्रशासनिक सामर्थ्य क्या है और समुदाय या व्यक्तियों की आवश्यकताएँ और क्षमताएं क्या है। वह इन दोनों ही पक्षों की सम्पूर्ण सामर्थ्य और जरूरत के संतुलन को ध्यान मे रखते हुए ही समूह का निर्माण करता है।

जब किसी भी समूह का निर्माण व्यक्तियों की स्वप्रेरणा से होता है तो उसमें उस स्थिति से थोड़ी-सी भिन्नता होती है जिसमें कि समूह का निर्माण सामाजिक अभिकरण द्वारा किया जाता है। यह अन्तर कथित भिन्न स्थितियों में समूह निर्माण प्रक्रिया के चरण पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है। व्यक्तियों की स्वप्रेरणा से निर्मित होने वाले समूह की प्रक्रिया के चरण भिन्न हो सकते है। पहले कुछ व्यक्ति किसी ऐसी प्रेरणा के वशीभूत होकर एकत्रित होते है जो व्यक्त (जो उन्हें अच्छी प्रकार मालूम) अथवा अव्यक्त (जो उन्हें स्पष्टतः मालूम नहीं है किन्तु उसमें अन्तर्निहित है) होती है। इसके बाद अपनी-इच्छाएँ जाहिर करते है। एक तो वे मात्र स्वकेन्द्रित होकर अभिव्यक्ति करते हैं दूसरों का ख्याल रखते हुए अभिव्यक्ति कर रहे है। इस अभिव्यक्ति से ही लिपटा हुआ एक दूसरा भी पक्ष है कि या तो समूह व दूसरे अपनी कतिपय इच्छाओं का दमन करे या उसके कुछ सदस्य मात्र अपनी-अपनी ही इच्छा का दमन करें। इसके बाद ऐसा देखा जाता है कि समूह के कुछ सदस्य अपना कुछ प्रभाव चाहते है और कोई या कुछ समूह में प्रभाव हासिल कर लेते हैं, फिर एक या कुछ एक उद्देश्य निश्चित करते है। उद्देश्यों के निर्धारण पर विचार-विनियय होता है और वह सर्वसम्मति या सर्वाधिक सम्मति से निश्चित होता है। इसके बाद अनेक शर्ते निश्चित की जाती है, कार्यक्रम बनाये जाते हैं, नियम बनाये जाते है तथा कार्यों का बंटवारा किया जाता है। ये निर्णय ऐसे कठोर भी हो सकते है जिनका कि दृढ़ता से पालन किया ही जाय या ऐसे लोचपूर्ण हो सकते है जिनको कि आगे बदला जा सके। कभी-कभी इन निर्णयों के निर्धारण के समय समूह में दलबन्दी भी होती है। इसके बाद ऐसा हो सकता है कि कुछ व्यक्ति समूह निर्माण से विरत हो जायें और कुछ नये व्यक्ति समूह में सम्मिलित हो जायें फिर अन्तिम चरण यह होता है कि किसी अन्य व्यक्ति अथवा सामाजिक अभिकरण की मदत ली जाय और दोनों के तालमेल से समूह निर्माण की प्रक्रिया का अन्त हो। प्रक्रिया के चरणों का यह क्रम सर्वदा एक-सा ही निश्चित नहीं होता। इनमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन भी संभव है किन्तु मूल रूप से ये चरण या घटनाक्रम हर समूह निर्माण की प्रक्रिया में पाये जाते हैं। यह तो हुई व्यक्तियों की स्वप्रेरणा की दशा में समूह निर्माण की प्रक्रिया के चरणों की बात। सामाजिक अभिकरण द्वारा जब समूह निर्माण होता है तो उसमें भी प्रायः इस प्रक्रिया के ये ही समस्त कथित चरण मुख्यतः प्रयुक्त रहते है। अन्तर मात्र इतना होता है कि प्रारम्भ में अभिकरण अपनी सामर्थ्य और समूह निर्माण की जरूरत का अन्दाजा लगाता है या उसका अध्ययन करता है

तदुपरान्त समूह निर्माण करने का निर्णय करता है और फिर उसके बाद अपने कार्यकर्त्ता के माध्यम से समुदाय मे जनजागृति तथा जनप्रेरणा का कार्य करता है और इस प्रकार अनुकूल स्थिति-निर्माण करने के उपरान्त समुदाय के व्यक्तियों से सम्बन्धित कथित सभी कार्य अपने कार्यकर्त्ता की देख-रेख में अभिकरण के नियमों एवं हितों को ध्यान में रखते हुए संचालित करता है।

चाहे किसी भी कारण से, जिसके द्वारा भी और जब जहाँ कहीं भी कोई समूह बनाना पड़ता है तो यह आवश्यक होता है कि वह किसी सामाजिक सामूहिक कार्यकर्त्ता की देख-रेख में बने। सामूहिक कार्यकर्त्ता की देख-रेख में बनने वाले समूह ज्यादा फलप्रद होने की संभावना रखते हैं। यहाँ अत्यन्त संक्षेप में उन पक्षों की चर्चा की जा रही है जिनपर कि सामूहिक कार्यकर्त्ता को समूह निर्माण के समय अवश्य ही ध्यान देना पड़ता है या जिनका कि समूह की प्रकृति और क्षमता से गहरा सम्बन्ध है। कार्यकर्त्ता के अलावे तीन ऐसे पक्ष होते हैं—पहला समूह के व्यक्ति; दूसरा सामाजिक अभिकरण और तीसरा समुदाय। व्यक्ति की अन्तर्निहित शक्तियों की स्थिति को जानना जरूरी होता है व इसके अलावे व्यक्ति की बौद्धिक स्थिति को भी जानना जरूरी है। यह बौद्धिक स्थिति भी व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही प्रकार की होती है और इसे भी ठीक-ठीक वैज्ञानिक तरीकों से जानना अनिवार्य होता है। व्यक्ति की आर्थिक दशा, उसका उसके व्यक्तित्व और अन्त:क्रिया पर प्रभाव तथा उसकी संभावनाओं को भी जानना चाहिए। जहाँ पर कि समूह बनाने हों या जिस समुदाय से व्यक्ति आये हों वहाँ के राजनीतिक वातावरण, व्यक्ति का उससे लगाव और उसके व्यक्तित्व पर उसके दाब या प्रभाव को नजरअन्दाज करना उचित नहीं होता। व्यक्तित्व पर प्रभावकारी कथित इन पहलुओं का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि उनका सम्मिलित प्रभाव होता है और उनके सम्मिलन के प्रभाव से निर्मित या उत्पन्न व्यक्तित्व और संभावनाओं में ही हितकारी तालमेल बैठाने का कार्य कार्यकर्त्ता को करना होता है। समूह के प्रत्येक सदस्य के इन कथित समस्त पक्षों का अलग-अलग समुचित अध्ययन करने की इसलिए आवश्यकता होती है क्योंकि वे सभी सदस्य मिल कर समूह बनाते हैं और उन सबको भिन्न-भिन्न क्षमताओं के आधार पर लाभ प्राप्त करने की सम्भावनाएँ होती हैं या लानी पड़ती हैं। यदि हर व्यक्ति की हर क्षमता का ज्ञान कार्यकर्त्ता को न होगा तो वह उनकी प्रकृति के अनुरूप उन्हें लाभ ले सकने में मदत नहीं कर सकेगा और समूह में प्रारम्भ से ही विखराव के तत्व प्रभावकारी हो सकते हैं।

समूह निर्माण के समय अभिकरण के बारे में भी अच्छी जानकारी होनी चाहिए। यह अच्छी प्रकार मालूम होना चाहिए कि अभिकरण के मूल उद्देश्य क्या हैं। जैसे उद्देश्य होंगे उन्हीं के अनुरूप समूह निर्माण करना चाहिए और इसी में समूह का भविष्य सुरक्षित

रहता है। सामाजिक अभिकरण के संगठनात्मक स्वरूप को भी जानना चाहिए अर्थात् यह स्पष्टतः मालूम होना चाहिए या इसकी जानकारी हासिल करनी चाहिए कि यहाँ का प्रधान कौन है, इनमें कौन-कौन सी समितियाँ है, कितने अधिकारी एवं कर्मचारी है, उनके क्या-क्या अधिकार एवं कर्तव्य हैं और उनके आपसी एवं सामाजिक सम्बन्ध कैसे हैं, प्रशासन का स्वरूप कैसा है—तानाशाही का है या प्रजातांत्रिक इत्यादि। संस्था या अभिकरण की अर्थव्यवस्था का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। इसके लिए हमें यह मालूम करना चाहिए कि इसके आय के विभिन्न स्रोत क्या है, व्यय की मदें क्या हैं और उनके बंटवारे के सिद्धान्त इत्यादि क्या है। अभिकरण के नियमों का गहराई से अध्ययन करना चाहिए जिससे कि अपने कार्य की सम्भावना और प्रणाली को स्थिर और निरूपित करते समय सुविधा हो और कहीं विपर्यय न हो। संस्था के कार्यकर्त्ताओं के बारे में भी पूरी जानकारी होनी चाहिए। यह मालूम होना चाहिए कि कौन कार्यकर्त्ता कितना शिक्षित-प्रशिक्षित है और उसका व्यक्तित्व कैसा है; साथ ही साथ कार्यकर्ताओं की संख्या भी मालूम होनी चाहिए। इस बात का भी स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए कि अभिकरण के मुख्य उद्देश्य एवं आवश्यकताएँ क्या हैं? अर्थात् वह किन कार्यों में अपनी भलाई समझता है तथा किन से नहीं। अभिकरण से सम्बन्धित इन तमाम बातों का ज्ञान होने से ही ऐसा समूह निर्माण करना सम्भव होता है जो कि अभिकरण से पूरा लाभ उठाते हुए उसकी ज्यादा से ज्यादा सेवा करते हुए अपने सदस्यों की अधिकतम सेवा कर सके और सामूहिक कार्य की अभीष्ट प्राप्ति में संलग्न रहने की अधिकाधिक क्षमता वाला हो।

चूँकि कोई भी समूह किसी-न-किसी समुदाय में ही बनता है या बनाया जाता है और उसी में उसे पल्लवित-पुष्पित होना है या उसके साधनों या सामर्थ्य से लाभ उठाना है इसलिए यह आवश्यक है कि समुदाय को भी अच्छी तरह जाना और समझा जाय। यदि समुदाय को नहीं समझा जाता तो एक तो उसके साधनों या क्षमताओं का उपयोग नही किया जा सकता, दूसरे चूँकि किसी समूह निर्माण का व्यापक उद्देश्य समुदाय-विकास ही होता है इसलिए उस अर्थ में भी असफलता हो सकती है। कभी ऐसा भी हो सकता है कि समुदाय और समूह की अपेक्षाएँ और प्रणालियां इतनी विपरीत हो जायें कि वे एक दूसरे की रक्षक होने के बजाय भक्षक बन जायें और यदि यह स्थिति समूह निर्माण के प्रारम्भ में ही हो गयी तब तो समूह बन ही नही सकता और इस प्रकार समूह निर्माण का कार्य असम्भव हो जायेगा। समुदाय के जिन पक्षों पर ध्यान देना जरूरी है उनमें समुदाय की आर्थिक संरचना, उसकी सामाजिक संरचना, सामुदायिक भावना, सामुदायिक कल्याण की सम्भावना तथा राज-नीतिक संरचना के अलावे समुदाय में स्थित हर प्रकार की संस्थाओं या अभिकरणों की संरचना एवं उनके सहयोग एवं असहयोग की सम्भावना को भी जानना अत्यन्त हितकारी

होता है। आर्थिक शक्ति, सामाजिक मूल्यों की स्थिति विभिन्न अभिकरणों के कार्यक्रमों तथा कल्याण के स्तर इत्यादि को समझ कर ही उनमें परिपूरकता लायी जा सकती है और तदनुरूप ही समूह बनाये जा सकते हैं। ऐसा इसलिए कि सारे समुदाय का स्वरूप इनकी पारस्परिकता के आधार पर ही बनता है और उसकी एक भिन्न शक्ल भी हो सकती है।

समूह निर्माण के समय इन तीनों पक्षों के अलग-अलग समस्त पक्षों पर ध्यान रखने से ही यह सम्भव हो पाता है कि बनाये जाने वाले समूह के हर पक्ष की पारस्परिकता को भलीभाँति समझा जा सके और ऐसा समूह बनाया जा सके जो कि तीनों की मूलभूत प्रकृति के अधिकतम निकट हो।

समूह निर्माण के हर पक्ष की हर स्थिति में प्रायः तीन ऐसे तत्त्व विद्यमान रहते हैं जिनपर कि सदैव सतर्कतापूर्वक ध्यान रखना आवश्यक होता है। ये तत्त्व क्रमशः वैभिन्य, छद्मवेष और परिवर्तन हैं। इसका तात्पर्य क्रमशः यह है कि सभी पक्षों की सभी स्थितियों में कुछ-न-कुछ भिन्नता होती ही है चाहे उनमें कितनी भी समानता क्यों न दिखे; इसके अलावे समूह निर्माण के हर पक्ष और स्थिति प्रायः अपने छद्मवेश अर्थात् ऐसे रूप में रहते हैं जिनके वाह्य स्वरूप एवं आन्तरिक स्वरूप में प्रायः विभिन्नता ही रहती है। सम्भव है कि किसी समूह में खेल की योजना बनाने में नेतृत्व या संगठन के पीछे सहयोगी वृत्ति या इसी प्रकार की अन्य बातें हों। कभी-कभी समुदाय या परिवेश की उपसंस्कृति भिन्नतायुक्त दीखती है किन्तु व्यापक अर्थ में उसकी एक ही संस्कृति होती है या कभी-कभी इसके विपरीत की अवस्था भी होती है। इसी प्रकार कभी-कभी सामाजिक अभिकरणों के ध्येय या कार्यक्रम जिस रूप में दिखाई देते हैं उस रूप में न होकर उनका मूल कुछ और ही हो सकता है। प्रत्येक पक्ष की प्रत्येक स्थिति गत्यात्मक होती है न कि स्थैतिक—अर्थात् उनमें प्रतिक्षण परिवर्तन की प्रक्रिया जारी रहती है चाहे वह दृश्य हो अथवा अदृश्य। बहुत से परिवर्तन तो साफ-साफ जाने जा सकते हैं किन्तु बहुत से या तो नहीं जाने जा पाते या बहुत कठिनाई से जाने जा सकते हैं। कथित इन तीनों तत्त्वों का विचार करके ही समूह निर्माण का कार्य करना उचित होता है।

अन्त में समूह निर्माण के सिलसिले में सामूहिक कार्यकर्त्ता के कुछ प्रमुख कर्त्तव्यों की चर्चा करना उपयोगी होगा। समूह निर्माण के द्वारा सामूहिक कार्यकर्त्ता को चाहिए कि वह सभी पक्षों की सभी स्थितियों की जानकारी हासिल करे तथा सभी पक्षों को हितकारी दिशा में प्रेरित होने में मदद करे। कार्यकर्त्ता को चाहिए कि वह सभी पक्षों को विशेष दशाओं में स्थितियों को समझाये, उनकी व्याख्या करे और उन्हें मानने को रजामन्द करे। सभी पक्षों की अहितकारी वाह्य तथा आन्तरिक बाधाओं को दूर करने में मदत करे तथा हितकारी संभावनाओं पर विशेष प्रकाश डाले और उसी दिशा में प्रोत्साहन को बढ़ावा

दे। इसके अलावे समूह के सदस्यों की अन्तःक्रिया को निर्देशित भी करे तथा पुष्ट और जनतांत्रिक नेतृत्व को प्रोत्साहित करे और सदस्यों के अन्तर्ज्ञान तथा सामर्थ्य का समुचित विकास होने की संभावना को बल दे। यह ध्यान देने की बात है कि ये सभी कार्य वर्णित तीनों ही पक्षों के साथ एक तो अलग-अलग तथा दूसरे परस्परावलम्बी दोनों ही दृष्टियों से किये जाने चाहिए।

समूह-नियन्त्रण

किसी भी समूह के माध्यम से सामूहिक कार्य के अभीष्ट की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि समूह में वैयक्तिक और सामूहिक दोनों ही स्तरों पर नियंत्रण हो। वैयक्तिक नियंत्रण सामूहिक नियंत्रण को बल देता है तथा साथ ही साथ नियंत्रण से कार्यकलाप में सुगमता आती है तथा सहयोग, सहकार और जिम्मेदारी बढ़ती है। सामूहिक कार्य के ये ध्येय भी हैं। सामूहिक नियंत्रण का विकास उस अवस्था में ज्यादा निश्चित और सरल होता है जब कि समूह के सदस्यों की अन्तःक्रिया को कोई कुशल कार्यकर्त्ता निर्देशित करता रहता है। ऐसे निर्देशन से समूह की प्रकृति ऐसी अनुभूति-परक बनती है जो कि सम्पूर्ण समूह को पूर्वकथित समस्त पक्षों अर्थात् समूह, अभिकरण और समुदाय के प्रति जिम्मेदार बनाती है। जिम्मेदारी भी ऐसी होनी चाहिए जो कि परिपक्व हो। परिपक्व जिम्मेदारी से समूह के सदस्यों में स्व-अनुशासन की शक्ति तथा संभावना के विकास में मदत मिलती है। सामूहिक कार्य में ऐसा माना जाता है कि हर कार्य अधिक से अधिक जनतांत्रिक हो इसलिए समूह में व्याप्त अनुशासन ऐसा होना चाहिए जो कि उसके सदस्यों की अन्तःक्रियाओं के समन्वय से ही उद्भूत हो, न कि वह अभिकरण के कठोर नियमों या पाबन्दियों अथवा सामुदायिक दबाव से लाचार होकर हो। स्वयं से विकसित जिम्मेदारी की भावना में यह शक्ति होती है कि वह व्यक्तियों के व्यवहार को परस्पर अधिक सन्तुष्टिदायी बनाता है तथा इसके फलस्वरूप समूह के कार्यक्रम को उसके सदस्य एकजुट होकर ज्यादा अच्छी तरह चरितार्थ करते हैं। नियंत्रण की उपादेयता को देखने पर स्वाभाविक तौर से यह प्रश्न उठता है कि यह जाना जाय कि ऐसी कौन सी परिस्थितियाँ होती हैं जो कि इसको सबल या निर्बल बना सकती हैं। जब हम इन परिस्थितियों का ज्ञान रखेंगे तभी यह संभव होगा कि अपने कर्त्तव्यों को ऐसा स्वरूप दे सकें जो कि इनमें सार्थक हो सके। यदि समूह को अपनी समस्त क्षमताओं, अभिकरण और समुदाय की क्षमताओं तथा इन तीनों ही पक्षों की इच्छाओं का समुचित ज्ञान होता है तो इस बात की ज्यादा संभावना होती है कि उसमें नियंत्रण की शक्ति बढ़े। समूह के सदस्यों को अपने कार्यक्रम, व्यवहारों की व्याख्या, नियम, आचार-संहिता, क्रियाकलाप, भौतिक साधनों एवं वैयक्तिक उपलब्धियों का इस हेतु ज्ञान होना आवश्यक होता है। यदि समूह के सदस्य समूह की गतिविधियों से सहृदयता रखते हैं और

उनमें एकजुट होकर कार्य करने की गहरी अनुभूति होती है तो समूह नियंत्रण विकसित होता है। ऊपर जो स्थितियाँ बतायी गयी हैं मात्र उनका ज्ञान ही पर्याप्त नही है वरन् कार्य-कर्त्ता द्वारा उनके हितकारी उपयोग के अवसर सुलभ कराने और उससे सदस्यों को सामूहिक अनुभव एवं लाभ की भी आवश्यकता होती है। समूह में नियंत्रण को बल इस बात से भी मिलता है कि समूह में कुछ हल्के और लोचपूर्ण ऐसे नियम भी लागू हों जो कि उसके सदस्यों की मानसिक चंचलता को सद्स्वभावी बनाने वाले हों। ये नियम प्रायः समूह में सदस्यों की उपस्थिति, शुल्क तथा भागीदारी के क्रम या कर्तव्य के बँटवारे आदि से सम्बन्धित होते हैं। हानिकारक अन्तःक्रियाओं के कर्त्ता के लिए समानता के आधार पर शारीरिक, मानसिक या आर्थिक दंड का भी विधान किया जाना चाहिए। इससे समूह के आदर्श और निश्चितता की प्राप्ति होती है। व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक वैयक्तिक नियंत्रण हेतु मानसिक शक्ति के अनुरूप दिये जाने वाले दंड का अपना प्रभाव और औचित्य होता ही है इसलिए सामूहिक कार्य में भी इस सत्य का उपयोग करना वर्जित नहीं वरन् अच्छा माना जाता है। दंड विधान और तदनुरूप उनके भोग हेतु सदस्यों में स्वीकृति और तत्परता लाने का कार्य सामूहिक कार्यकर्त्ता करता है और इस प्रकार वह सदस्यों को वस्तुस्थिति परक और आत्मविश्लेषण के योग्य बनाता है। सामूहिक कार्यकर्त्ता सतत् ऐसे तथ्यों को भी प्रकाश में लाता रहता है जो कि समूह नियंत्रण में बाधक हो सकते हैं और इस प्रकार वह समूह-सदस्यों को उससे बचने की स्थिति में रहने में मदत देता है और यह सारा कार्य वह समाज-कार्य की इस व्यापक कुशलता के साथ करता है जिसका आधार है कि सेवार्थी को सीधे-सीधे कोई आदेश-निर्देश नही दिया जाना चाहिए वरन् उनके समक्ष ऐसे प्रभावात्मक प्रश्न रखने चाहिए जिनसे कि उत्तर स्वयं ही टपक सा पड़ता हो। सामूहिक नियंत्रण के विकास से व्यक्तियों में नियंत्रण बढ़ता है और वे समाज में इस गुण से युक्त होकर उसके एक जिम्मेदार सदस्य बन पाते हैं। एक का प्रतिबन्धित जीवन दूसरे के लिए स्वतंत्रता के अवसर को बढ़ावा देता है और इस प्रकार प्रतिबन्धिता और स्वतंत्रता की अन्योन्याश्रयिता और परिपूरकता से समाज सबल होता है। यह एक नाजुक बात है और इसलिए इस बात की जरूरत होती है कि प्रतिबन्धों को लागू करने और पालन करने में पक्षपात-रहितता अवश्य होनी चाहिए। यदि प्रतिबन्ध तथ्यगत होते हैं तो इनकी उपादेयता की संभावना अधिक होती है, इसलिए यह आवश्यक है कि इनकी भलीभाँति परीक्षा कर ली जाय और तब ही प्रतिबन्ध के उपायों को व्यवहृत किया जाये। किसी समूह में उन स्थितियों में नियन्त्रण कम होता है जब कि वे अपनी शक्ति से अधिक कार्य के बोझ से दबे होते हैं या उनमें अपनी शक्ति भर का काम उपलब्ध ही नहीं होता, इसलिए यह आवश्यक है कि समूह को उसकी शक्ति के संतुलन में ही कार्यभार सौंपा जाय। समूह के सदस्यों के बीच

या समूह, अभिकरण या समुदाय के बीच बहुत अधिक प्रतिस्पर्द्धा नहीं होनी चाहिए। अत्यधिक प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति मे जनतांत्रिक मूल्यों के नष्ट होने की संभावना बढ़ जाती है। समूह में हर परिवर्तन के अवसर और कारक को भलीभाँति दृष्टिगत रखना चाहिए क्योंकि इसके फलस्वरूप समूह नियंत्रण पर प्रभाव पड़ता है। परिवर्त्तन के समय कर्त्तव्यो के अनुपालन मे व्यवधान आते है और इसके फलस्वरूप नियंत्रण ढीला हो सकता है। कोई भी ऐसा समूह अनियंत्रित होने की अधिक सभावना रखता है जिसमे कि कोई कुशल सामूहिक कार्यकर्त्ता कार्यरत न हो क्योंकि इसके बिना अन्त:क्रिया निर्देशन का अभाव होता है। ऐसी स्थितियाँ तो स्वाभाविक तौर से समूह नियंत्रण में बाधक होंगी ही जिनमे कि या तो समूह नया-नया हो, उसके कार्यक्रम या क्रियाकलाप के तरीकों का निर्धारण नया-नया हो, सदस्य संख्या काफी अधिक हो अर्थात् समूह बहुत बड़ा हो और सदस्यो में व्यक्तिगत आवश्यकता की दृष्टि से बहुत अधिक अन्तर हो, सदस्यों को अपनी भावनाओं या आकांक्षाओं के व्यक्तीकरण या संतुष्टि की समुचित सुविधा उपलब्ध न हो या वह उनको ज्यादा-से-ज्यादा दमित करने के लिए लाचार हों, अभिकरण या समाज की विधि, नीति, शर्त या मूल्य इत्यादि अस्पष्ट हों और या तो समूह में नेतृत्व बहुत कमजोर और शिथिल हो। जब ऐसा लगे कि समूह के सदस्य समूहगत भावना के प्रति जागरूक तथा उसकी पूर्ति की चेष्टा में प्रवृत्त है, उनमें एकजुट होकर कार्य करने की भावना है और वे उसमें ही ज्यादा सुखी हैं तथा वे मात्र आत्मपरक न रह कर अभिकरणानुरूप या अभिकरण के हित में कार्य करने के इच्छुक है तो समझा जाता है कि समूह मे नियंत्रण की विकसित अवस्था है। सामूहिक नियंत्रण की शक्ति की बढ़ोत्तरी के साथ ही उसमे परिपक्वता आती है और परिपक्वता के विकास के साथ ही सामूहिक नियंत्रण भी विकसित होता है।

अन्त:क्रिया

समूह दो या दो से अधिक व्यक्तियों के एकत्रीकरण से बनता है। जहाँ दो या दो से अधिक व्यक्ति या पक्ष होते है वहाँ उनमें आपस में कुछ-न-कुछ क्रिया-प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक ही है। सामूहिक कार्य में समूह के सदस्यों के बीच की इस क्रिया-प्रतिक्रिया को ही अन्त:क्रिया कहते हैं। आशा की जाती है कि यह अन्त:क्रिया एक दूसरे के प्रति भागीदारी से पूर्ण होगी। अंत:क्रिया का स्वरूप व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही हो सकता है। हो सकता है कि हम अन्त:क्रिया को देख सकें या सुन सकें या एहसास कर सकें या ऐसा भी हो सकता है कि सदस्यों के बीच अन्त:क्रिया मानसिक स्तर पर होती रही हो किन्तु सामान्य तौर पर देखी-समझी न जा सके। अन्त:क्रिया का व्यक्त रूप दो प्रकार का होता है। एक तो मौखिक या वाणी संचार का अर्थात् सदस्य एक दूसरे के प्रति बोल कर या कह कर अन्त:क्रिया

करते है और दूसरे शारीरिक हाव-भाव का रूप अर्थात् जब सदस्य एक दूसरे के प्रति अपने शरीर के अंग-प्रत्यंग को विभिन्न तरीको से हिला-डुला कर या आकृति बना कर अन्तःक्रिया करते है। अन्तःक्रिया के दो स्तर भी होते है। पहला स्तर तो वह है जब कि कोई सदस्य कोई क्रिया स्वयं शुरू करता है और दूसरा स्तर वह है जब कि इस क्रिया के उत्तर में कोई प्रतिक्रिया की जाती है। समूह में मतभेद होने पर एक तो ऐसा हो सकता है कि अन्त.क्रिया की संख्या और जटिलता बढ़ जाय, दूसरे वह दिशाहीन हो सकती है, तीसरे समूह निर्बल या कमजोर हो सकता है तथा चौथे ऐसा हो सकता है कि सामूहिक कार्यकर्त्ता की बहुत अधिक जरूरत महसूस की जाय। समूह में एकमत होने पर भी ऐसा होता है कि अन्तःक्रिया की संख्या मे वृद्धि हो जाय, किन्तु यह संख्या हितकारी होती है और ऐसी अवस्था मे अन्तःक्रिया से समूह मजबूत होता है, सदस्य लक्ष्य की ओर प्रेरित रहते है तथा सामूहिक कार्यकर्त्ता की कम ही जरूरत महसूस की जाती है। कभी-कभी मतभेद और एकमत की परस्पर हितकारी स्थिति भी होती है और ऐसी स्थिति में अन्तःक्रिया स्वस्थ दिशायुक्त, निरन्तर तथा अबाध या मुक्त हो सकती है। अवचेतन अवस्था से उद्भूत व्यवहार का अन्तःक्रिया पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और इससे दिशाहीनता भी बढ़ सकती है और अहितकारी जटिलता भी। बहुत से सदस्य द्विभाविता से ग्रस्त हुआ करते हैं और वे अन्तःक्रिया के स्वरूप पर कुप्रभावी हो सकते है। समूह पर प्रभावी समस्त बाह्य और आन्तरिक कारक समूह की अन्तःक्रिया के स्वरूप पर प्रभाव रखते हैं और इसलिए इस ओर सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए। अन्तःक्रिया के दरम्यान ऐसा हो सकता है एक समूह के कुछ सदस्य तो ज्यादा अन्तःक्रिया कर रहे हों और कुछ कम या बिल्कुल ही नही। इसके अलावे बहुत से सदस्य समस्त अन्तःक्रियाओं की अवधि में से अधिकांश अवधि का स्वयं ही उपयोग कर लेते हैं और बहुत से इस मामले में पिछड़ जाते हैं। कई सदस्य कभी-कभी लम्बी अवधि तक या कभी-कभी कम ही अवधि तक के लिए किन्तु बार-बार अन्तःक्रिया या क्रिया-प्रतिक्रिया करते रहते है जब कि कुछ अपेक्षाकृत कम। बहुधा समूह के अन्दर की इस क्रिया-प्रतिक्रिया अथवा अंतःक्रिया के दरम्यान ऐसा भी पाया जाता है कि कुछ विशिष्ट लोग कुछ विशेष अवसरोंपर या सर्वदा इसकी शुरुआत या अन्त या मध्य आदि मे भी भागीदार होते हैं जबकि कुछ लोग कभी भी अन्तःक्रिया कर सकते हैं। बहुत से लोग कुछ खास मसलों या व्यक्तियों से सम्बन्धित अवसरों पर ही क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। इन तमाम स्थितियों को सूक्ष्मता मे इसलिए जानना आवश्यक है कि सारे सामूहिक कार्य का यह अन्तःक्रिया ही सूत्रधार है। इन बारीकियों को दृष्टि में रख कर ही सामूहिक कार्यकर्त्ता सदस्य विशेष एवं समूह के साथ अपने कर्तव्य का निर्धारण करता है। यदि समूह के सदस्यों को यह ज्ञान हो कि वे जिन कार्यो में प्रवृत्त है वे किन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए है, वे सामाजिक और भौतिक

परिस्थितियाँ क्या हैं जिनमें कि उनका अस्तित्व और स्थिति है, समस्त सदस्यों का आपस में और सामूहिक कार्यकर्त्ता तथा समूह के बीच का सम्बन्ध कैसा है तथा वह किन ऐसी ज्ञात शर्तों के आधार पर एक दूसरे से अनुबद्ध हैं जो कि उनकी जरूरतो और हितों के अनुरूप हैं तो समूह की समस्त अन्त:क्रिया स्वस्थ, एक दूसरे की परिपूरक तथा विकासात्मक प्रकृति की होती है। उपर्युक्त स्थितियों की अनुपस्थिति में समूह की अन्त:क्रिया का स्वरूप हानिकारक और दोषपूर्ण होता है। समूह की अन्त:क्रिया पर सामहिक कार्यकर्त्ता का कई स्तरों एवं रूपों में प्रभाव हुआ करता है। एक तो वह समूह को समूह निर्माण में मदद करके प्रभावित करता है दूसरे समूह को संगठन के विकास-क्षेत्र में मदत देकर और समूह को सामूहिक निर्णय लेने में मदत करके। इसके अतिरिक्त अभिकरण या समाज का समुदाय के बारे में समूह को जानकारी कराके और समूह के पर्यावरण को स्वस्थ और हितकारी बना कर भी समूह की अन्त:क्रिया को वह प्रभावित करता है। सामूहिक कार्यकर्त्ता द्वारा की गयी यह क्रिया-प्रतिक्रिया भी व्यापक अर्थ मे समूह की ही अन्त:क्रिया के अन्तर्गत मानी जाती है और उसकी अन्त:क्रिया के कारण समूह के व्यक्ति, कार्यक्रम तथा सम्पूर्ण समूह निर्देशित होते हैं जिससे कि उनके समस्त कर्तव्य अधिकाधिक समूह-कल्याण की ओर उन्मुख हों।

कार्यकौशल और सामूहिक कार्यकर्त्ता

सारा सामूहिक कार्य अच्छी प्रकार से हो इसके लिए जरूरी है कि सामूहिक कार्यकर्त्ता अनेक कौशलों से युक्त हो। सामूहिक कार्यकर्त्ता में इतनी कुशलता होनी चाहिए कि वह समूह के साथ जल्दी और अच्छी प्रकार से सम्बन्ध स्थापित कर सके और उसका यह सम्बन्ध दिनोंदिन अधिक मधुर और प्रगाढ़ बनता जाय जिससे कि सम्बन्ध की प्रविधि का उपयोग करके वह समूह की ज्यादा से ज्यादा अच्छी मदत कर सकने में सफल हो। उसका यह सम्बन्ध वृत्तिक होना चाहिए न कि निजी। वृत्तिक आचार संहिता से प्रतिबद्ध सम्बन्ध निर्माण और विकास की कुशलता हर सामूहिक कार्यकर्त्ता से अपेक्षित होती है और प्रत्येक सामूहिक कार्यकर्ता में ऐसी भावना और कुशलता होनी चाहिए जिससे कि वह हर स्तर के सदस्यों की भरपूर सहायता कर सके। सामूहिक कार्यकर्त्ता से यह कौशल भी अपेक्षित है कि वह अपने कर्तव्यों का ठीक-ठीक निर्धारण कर सके, जरूरत पर उनकी व्याख्या कर सके और यदा-कदा समूह के हित में उनको परिमार्जित और पुनर्परीक्षित भी कर सके। उसकी कुशलता इस बात से भी जानी जाती है कि वह सदस्यों को इस मामले मे कितनी मदत पहुंचा पाता है तथा वह जनतांत्रिक प्रबल नेतृत्व का विकास करने के साथ-साथ अपनी स्वयं की तथा दूसरों की जिम्मेदारियों को कितना अधिक वहन करता है। सामूहिक कार्यकर्त्ता के कौशल का एक पक्ष यह है कि उसे समूह में सम्मिलित व्यक्तियों को अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति, लक्ष्य और ध्येय निर्धारण, स्वनियंत्रण और परस्पर हितकारी अन्त:क्रिया मे

समर्थ बनाने वाला होना चाहिए। कार्यकर्त्ता को इतनी समझ रखनी चाहिए कि वह समूह के स्तर, उसकी जरूरतें, उसकी तात्कालिकता इत्यादि का समुचित विश्लेषण और संश्लेषण करके समूह की मदत कर सके। सामूहिक कार्यकर्त्ता में आत्मनियंत्रण की क्षमता होनी चाहिए। ऐसा न हो कि वह अपनी ही भावनाओं और अभिप्रेरणाओं से ग्रस्त हो जाया करे और इसके साथ ही उसे समूह के सदस्यों को भी उनकी भावनाओं के प्रवाह में बहने से रोकने की क्षमता होनी चाहिए। चाहे कैसी भी नयी से नयी और विकट परिस्थितियाँ आयें उसका और उसके प्रति लोगों का विश्वास अडिग हो और हर नयी परिस्थिति में वह अपने और अपने समूह को भली प्रकार समंजित कर सके——यह कौशल भी होना चाहिए। सामूहिक कार्य की समस्त क्रिया विधि और कार्यकलापों के आवश्यकतानुरूप बीच-बीच में तथा अन्त में मूल्यांकन की कुशलता से प्रत्येक सामूहिक कार्यकर्त्ता को अभिभूत होना चाहिए। हर अभिलेखों को ठीक प्रकार रखने-लिखने और उनका समय-समय पर उपयोग करने की कुशलता के साथ ही सामूहिक कार्यकर्त्ता से यह भी अपेक्षित है कि वह समूह को अपने मूल्यांकन के योग्य बनाये। वैयक्तिक विचार-विनिमय को आवश्यकता एवं समस्त उपलब्धियों की परिपूरकता के साथ निर्देशित करने का कौशल भी सामूहिक कार्यकर्त्ता में होना चाहिए। सामूहिक कार्यकर्त्ता से यह अपेक्षा होती है कि वह इस कौशल से भी युक्त होगा कि सामूहिक कार्य के साथ-साथ उसी की एक प्रविधि वैयक्तीकरण के माध्यम से समूह के कतिपय अपेक्षाकृत कम विकसित और समर्थ सदस्यों की भी सहायता कर सके जिससे कि वे समूह के सामान्य स्तर और मानव से तादात्मीकरण और सहकार करते हुए अपनी व्यक्तित्व सम्बन्धी आवश्यकताओं की परितृप्ति सामूहिक अनुभव के माध्यम से कर सकें।

सामूहिक कार्यकर्त्ता के कार्य

सामूहिक कार्यकर्त्ता का कार्यक्षेत्र सामूहिक कार्य के समस्त पक्षों और स्वयं से सम्बन्धित है। नीचे प्रत्येक पक्ष से सम्वन्धित प्रमुख कर्त्तव्यों की अलग-अलग संक्षिप्त सूची प्रस्तुत है।

(अ) समूह से सम्बन्धित कार्य——

(१) समूह की आवश्यकता का पता लगाना और किसी समुदाय को इसकी आवश्यकता का एहसास कराना।

(२) समूह निर्माण में मदत देना।

(३) समूह के सदस्य और सम्पूर्ण समूह की मानसिक, शारीरिक, बौद्धिक और सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों का पता लगाना और उनका ब्यौरा रखना।

(४) समूह को उद्देश्य, कार्यक्रम और कार्य बँटवारे इत्यादि में मदत करना।

(५) समूह की समस्त अन्तःक्रियाओं को स्वस्थ दिशा में निर्देशित करना।

(६) समूह के क्रियाकलाप को जनतांत्रिक बनाना और उसमें जनतांत्रिक नेतृत्व को विकसित होने में मदत देना।

(७) आवश्यकता पड़ने पर किन्ही सदस्यों के साथ वैयक्तीकरण, सरलीकरण, व्याख्या इत्यादि की प्रविधियों का उपयोग करना।

(८) समूह को अभिकरण और समुदाय से तादात्मीकृत होने में मदत करना।

(९) समूह को उसके क्रियाकलापों का अभिलेख रखने के लिए प्रेरित करना और बीच-बीच मे तथा कुछ खास अवधि के उपरान्त सभी क्रियाकलापों, समूह के विकास स्तर और उसके सदस्यों को मिले लाभ तथा इनमें बाधक स्थितियों इत्यादि का मूल्यांकन करना।

(१०) समूह और अभिकरण को एक दूसरे का परिपूरक बनाना और समूह को अभिकरण के समस्त साधनों का उपयोग करने में समर्थ बनाना।

(आ) अभिकरण से सम्बन्धित कार्य—

(१) अभिकरण के व्यक्तियों, साधनों, कार्यो, उद्देश्यों इत्यादि का पता लगाना।

(२) अभिकरण की उपर्युक्त सभी स्थितियों को समूह के हित में होने के लिए प्रेरित करना।

(३) अभिकरण के ऐसे समस्त कार्यक्रमों, वैठकों या क्रियाकलापों में भाग लेना जिनसे कि उसे उपर्युक्त कर्त्तव्य के पालन में सुविधा हो।

(४) अभिकरण के कार्यक्रमों और साधनों के विकास में मदत देना।

(५) आवश्यकता होने पर अभिकरण के पदाधिकारियों में हितकारी वैचारिक परिवर्त्तन लाना।

(इ) समुदाय से सम्बन्धित कार्य—

(१) समुदाय में समूह निर्माण की आवश्यकता एवं उपादेयता सम्बन्धी जनजागृति को बढ़ावा देना।

(२) समुदाय को ऐसे अभिप्रेरित करना कि उसमें उपलब्ध हर प्रकार के अनेक समूहोपयोगी साधनों को वे इस निमित्त नियोजित करें और समूह या अभि-करण उनसे जो लाभ लेना चाहें उसके लिए वह उन्हें तत्परता और सरलता से सुलभ हों।

(३) समुदाय के सांस्कृतिक-सामाजिक मूल्यों का ऐसा परिमार्जन करना जो कि समूह के हित में हो और जनतांत्रिक मूल्यों को सुरक्षा और बढ़ावा देता हो।

(४) समुदाय के विशिष्ट व्यक्तियों को समूह से सम्पर्क करा करके बीच-बीच में अच्छे आचार-विचार का अवसर लाना।

(ई) स्वयं से सम्बन्धित कार्य--

(१) समूह, अभिकरण तथा समुदाय के साथ सम्बन्ध स्थापित करना तथा इसको प्रगाढ़तर करते जाना।

(२) उपर्युक्त की स्थितियों, आवश्यकताओं सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान को हासिल करना और बढ़ाना।

(३) समूह, अभिकरण और समुदाय में भागीदार बनना और इस माध्यम से उनकी सहायता करना।

(४) आवश्यकतानुरूप अपने कर्त्तव्यों का निर्धारण, विकास और मूल्यांकन करना।

(५) अपने सम्बन्ध व ज्ञान इत्यादि का समय-समय पर समुचित उपयोग करना।

(६) अपने में आत्मनियंत्रण, संयम, धैर्य इत्यादि गुणों का विकास करना और स्व को स्वस्थ बना कर व्यक्तित्व को अधिक प्रभावकारी तथा वृत्तिक बनाना।

यह ध्यान रखना उचित होगा कि उपर्युक्त सूची किसी सामूहिक कार्यकर्त्ता के कार्यों की सम्पूर्ण सूची नही है। हो सकता है कि इससे मिलते-जुलते या अन्य कार्य भी सामूहिक कार्यकर्त्ता को करने पड़ें। चूँकि सम्पूर्ण समाज-कार्य और उसकी यह सामूहिक कार्य नामक पद्धति गत्यात्मक है इसलिए इन कर्त्तव्यों की कोई स्थिर निश्चित सूची बनाना ठीक भी नही हो सकता।

अध्याय ६

सामुदायिक संगठन

सामान्य भाषा में सामुदायिक संगठन का अर्थ किसी क्षेत्र में वहाँ की आवश्यकताओं एवं उपलब्ध साधनों के बीच समुचित एवं प्रभावपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करके उनमें सामंजस्य स्थापित करना और इसमे जो भी कठिनाइयाँ व समस्याएँ उत्पन्न हों उनका समाधान करना है।

एक प्रक्रिया के रूप में इसका अर्थ किसी भौगोलिक क्षेत्र अथवा समुदाय मे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह का आपस में मिल कर अपनी समाज-कल्याण कि आवश्यकताओं को निर्धारित करना, उनकी पूर्ति के उपाय निश्चित करना और उनके लिए आवश्यक साधनों को जुटाना है। इसका यह भी अर्थ है कि सामाजिक कार्यकर्त्ता व्यक्तियों को इस योग्य बनाने का प्रयत्न करे कि वे अपनी आवश्यकताओं तथा समस्याओं को स्वयं ही समझें और हल कर सकें। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रक्रिया का अर्थ आवश्यकताओं तथा समस्याओं को अभिकेन्द्रित करना, उनका क्षेत्र व अर्थ स्पष्ट करना, उनकी पूर्ति व हल के लिए कार्यक्रम बनाना, आवश्यक साधनों को जुटाना, कार्यक्रम की सामान्य लोगों के सामने व्याख्या करना और अन्त में लोगो को सामुदायिक कार्य में संलग्न कर देना है। इस प्रकार प्रक्रिया का अर्थ समस्याओं के अभिकेन्द्रीकरण से लेकर उनके समाधान तक का समुचित कार्य है। समुदाय की समस्याओं से सम्बन्धित अनेक प्रकार की प्रक्रियाएँ हो सकती है किन्तु समुदाय-संगठन की प्रक्रिया हम केवल उसी को कहेंगे जिसके द्वारा समुदाय की शक्ति व योग्यता को एक इकाई के रूप में विकसित किया जा सके और इस प्रक्रिया के प्रारम्भ करने, उसे समृद्ध बनाने तथा उसे विकसित करने का कार्य सामाजिक कार्यकर्त्ता के द्वारा किया जाय।

एक क्षेत्र के रूप में समाज-कल्याण संस्थाओं के कार्यो में समन्वय स्थापित करना, उनके लिए धन एकत्र करना, सामाजिक कानूनों को बनवाना तथा अन्य इस प्रकार के कार्य भी इसकी सीमा के अन्तर्गत आते हैं। सामुदायिक संगठन का सामाजिक सेवाओं के संगठन तथा उनके प्रशासन में विशेष महत्त्व है।

वैयक्तिक कार्य, सामूहिक कार्य व सामुदायिक संगठन

सामुदायिक संगठन, वैयक्तिक कार्य तथा सामूहिक कार्य के उद्देश्य लगभग समान हैं जिस प्रकार वैयक्तिक कार्य व सामूहिककार्य का उद्देश्य व्यक्ति अथवा समूह की इस प्रकार

सहायता करना है कि वे अपनी सहायता स्वयं कर सकें, उसी प्रकार सामुदायिक संगठन का उद्देश्य भी समुदाय की इस प्रकार सहायता करना है कि वह अपनी सहायता स्वयं कर सके। यदि हम वैयक्तिक कार्य अथवा सामूहिक कार्य को सामुदायिक संगठन की परिभाषा के शब्दों में कहें तो कहेंगे कि वैयक्तिक कार्य अथवा सामूहिक कार्य के द्वारा व्यक्ति अथवा समूह की इस प्रकार सहायता करते हैं जिससे वे अपनी समस्याओं को समझ सकें, उनके लिए साधनों को खोज सकें, उन्हें स्वयं हल कर सकें और वे स्वतः ही सामाजिक कार्यकर्त्ता की सहायता से इस प्रकार कार्य करें कि जिससे इस प्रक्रिया में संलग्न व्यक्ति अथवा समूह की शक्ति व योग्यता में वृद्धि हो तथा उनमें आत्म-विश्वास की भावना उत्पन्न हो। किन्तु इस तुलना को हम बहुत आगे नहीं ले जा सकते क्योंकि सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया तथा वैयक्तिक कार्य व सामूहिक कार्य में कुछ आधारभूत अन्तर भी है। वैयक्तिक कार्य का सम्बन्ध एक व्यक्ति विशेष से होता है और सामूहिक कार्य में सम्बन्ध व्यक्तियों के एक समूह से होता है। ये दोनों ही प्रक्रियाएँ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर व्यक्ति तथा समूह में व्यक्ति के व्यवहार की व्याख्या करती हैं; किन्तु सामुदायिक संगठन-कार्यकर्त्ता समस्त समुदाय के साथ कार्य करता है जिसमें व्यक्ति गौड़ होता है। वह व्यक्ति विशेष के व्यवहार को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देता। उसके लिए समुदाय का सम्पूर्ण ढाँचा जिसमें सामाजिक संस्थाएँ, रीति-रिवाज सामाजिक मान्यताएँ, सांस्कृतिक स्तर इत्यादि सम्मिलित हैं, विशेष रूप से महत्त्व रखता है और जिनकी कार्यविधि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की अपेक्षा समाज शास्त्रीय सिद्धान्तों पर अधिक आधारित होती है। वैयक्तिक कार्यकर्त्ता तथा सामूहिक कार्यकर्त्ता का उद्देश्य व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह के विकास में बाधा डालने वाली रुकावटों को दूर करना, उनको आन्तरिक शक्तियों की अभिव्यक्ति का अवसर देना और व्यक्तियों में मिल कर कार्य करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करना है, जब कि सामुदायिक संगठन का उद्देश्य समुदाय की विभिन्न समस्याओं के हल करने में लोगों को सामूहिक रूप से जुटाना है।

वैयक्तिक कार्य, सामूहिक कार्य तथा सामुदायिक संगठन की प्रक्रियाओं में लगभग समान सिद्धान्त व पद्धतियाँ प्रयुक्त की जाती हैं। वैयक्तिक कार्य में सेवार्थी को स्वीकार करने का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। सेवार्थी तथा कार्यकर्त्ता के बीच आवश्यक वृत्तिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। सेवा कार्य उसी स्तर पर प्रारम्भ किया जाता है जिस स्तर पर उस समय सेवार्थी है। सेवार्थी को अपनी स्थिति से अवगत कराया जाता है और सहायता प्रदान की जाती है। उसमें निर्णय लेने व कार्य करने की योग्यता उत्पन्न की जाती है। समाज-कार्य की जिस प्रक्रिया में सेवार्थी संलग्न है, उसके स्वभाव तथा उसकी आवश्यकताओं को उसे समझाया जाता है व उसे आत्मनिर्भर बनाने का प्रयत्न किया जाता है—

इत्यादि। सामुदायिक संगठन के सन्दर्भ में भी ये सभी सिद्धान्त उतने ही महत्त्वपूर्ण है जितने वैयक्तिक कार्य के लिए। समुदाय को उसी रूप में स्वीकार किया जाता है जिस रूप में वह है। समुदाय के साथ उसी गति के साथ कार्य किया जाता है जो उसके लिए उपयुक्त है। समुदाय की सहायता इस प्रकार से की जाती है कि वह अपनी समस्याओं को स्वयं ही हल कर सके। इसी प्रकार से वैयक्तिक कार्य के अन्य सिद्धान्त भी सामुदायिक संगठन के क्षेत्र में अपना विशेष महत्त्व रखते है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि तीनों पद्धतियों के उद्देश्यों व कार्यविधि में बहुत समानता है किन्तु इनमें कुछ आधारभूत अन्तर भी हैं।

सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया मुख्यतः उद्देश्य-मूलक होती है जब कि वैयक्तिक कार्य मूलरूप से आवश्यकता-मूलक व रोग-निवारक होता है। सामूहिक कार्य मूलतः कार्यक्रम-मूलक है और सामुदायिक संगठन कर्त्ता समाज-कार्य में व्यक्तियो तथा समूहों के साथ कार्य करता है किन्तु वह उनके साथ समुदाय की समस्याओं को हल करने के सम्बन्ध में ही कार्य करता है जब वह व्यक्तियों के साथ कार्य करता है तो उसका कार्य रोग निवारण का कार्य नहीं होता है और वह व्यक्ति के समाज में सामंजस्य के लिए भी कार्य नहीं करता, बल्कि वह समुदाय की तत्कालीन अवस्था में परिवर्तन लाने का प्रयत्न करता है। वह व्यक्ति में इस प्रकार का भी परिवर्तन लाने का प्रयत्न करता है जिससे कि वह व्यक्ति सामुदायिक संगठन कार्य के उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक हो सके और उनकी प्राप्ति के लिए कार्य कर सके। वह व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व में परिवर्तन लाने का प्रयत्न नही करता बल्कि समुदाय के सम्पूर्ण ढाँचे में परिवर्तन लाने का प्रयत्न करता है। यद्यपि सामुदायिक संगठन उद्देश्य-मूलक है फिर भी वह साधनों के लिए समान रूप से चिन्तित है। सामुदायिक संगठन की पद्धति समाज-कार्य के स्वीकृत मूल्यों—जैसे व्यक्ति के व्यक्तित्व के प्रति सम्मान का सिद्धान्त, समस्याओं से सम्बन्धित सभी लोगों का प्रक्रिया में पूर्ण सहयोग प्राप्त करने का सिद्धान्त, आत्म-निर्णय का सिद्धान्त, इत्यादि के अनुसार ही होती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वैयक्तिक कार्य, सामूहिक कार्य तथा सामुदायिक संगठन-कार्य के समान उद्देश्य, समान पूर्व धारणाएँ और समान कार्य-पद्धतियाँ होती हैं किन्तु सबके उद्देश्यों तथा कार्य पद्धतियों में अन्तर भी होते है। तीनों ही प्रक्रियाएँ समान परिस्थितियों में ही प्रारम्भ होती हैं किन्तु जब वे समान क्षेत्र से अपने-अपने विशिष्ट क्षेत्र में प्रविष्ट होती है तो उनमें से प्रत्येक की व्यक्ति, समूह अथवा समुदाय की समस्याओं को हल करने की भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हो जाती हैं। समाज-कार्य में वैयक्तिक कार्य, सामूहिक कार्य व सामुदायिक संगठन के अपने-अपने विशेष क्षेत्र होते है किन्तु तीनों पद्धतियों के

व्यवहार में एक दूसरे के ज्ञान की आवश्यकता होती है। वैयक्तिक कार्यकर्त्ता को अपने सेवार्थी की सहायता करने के लिए सामूहिक कार्य व सामुदायिक संगठन कार्य का भी ज्ञान हितकारी है क्योंकि कभी-कभी कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि सेवार्थी की समस्याओं को हल करने के लिए उसके निकट वातावरण को बदलने और उसमें सुधार करने की आवश्यकता होती है जिसके लिए सामूहिक कार्य व सामुदायिक सगठन-कार्य आवश्यक है।

इसी प्रकार सामूहिक कार्यकर्त्ता के लिए भी वैयक्तिक कार्य व सामुदायिक संगठन कार्य-पद्धतियों का ज्ञान हितकारी है। उसे अपने सामूहिक कार्य को सुचारु रूप से सफलता पूर्वक चलाने के लिए आवश्यक है कि समूह के प्रत्येक सदस्य समझे और वैयक्तिक समस्याओं को हल करे ताकि व्यक्ति विशेष उस समूह का उपयोगी सदस्य बन सके और समूह में उसका सामंजस्य हो सके। इसके लिए कार्यकर्त्ता को वैयक्तिक कार्य के ज्ञान की आवश्यकता होती है। सामूहिक कार्यकर्त्ता को सामुदायिक संगठन कार्य की भी आवश्यकता होती है। समूह की कभी-कभी ऐसी आवश्यकताएँ होती हैं जिन्हें हल करने के लिए समुदाय के साधनों का शोषण व समुदाय के परिवेश-रूपान्तरण की आवश्यकता होती है। ऐसी परिस्थितियों में सामूहिक कार्यकर्त्ता को सामुदायिक संगठन-कार्य की आवश्यकता होती है।

जिस प्रकार वैयक्तिक कार्य व सामूहिक कार्य के लिए सामुदायिक संगठन कार्य की आवश्यकता होती है उसी प्रकार सामुदायिक संगठन कार्य के लिए वैयक्तिक कार्य तथा सामूहिक कार्य की आवश्यकता है। सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ता के लिए व्यक्ति अथवा व्यक्तियों से साक्षात्कार करने और उनसे वृत्तिक सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता होती है। इन दोनों ही प्रवृत्तियों को वैयक्तिक कार्य के क्षेत्र में विकसित किया गया है। सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ता के लिए समूह के साथ कार्य करने तथा योजना बनाने की प्रविधियां सामूहिक कार्य के समुचित ज्ञान से प्राप्त होती हैं। समुदाय के लोगों में सामुदायिक भावना तथा साथ-साथ काम करने की भावना उत्पन्न करने के लिए भी सामूहिक कार्य के ज्ञान की आवश्यकता होती है।

सामुदायिक संगठन के अर्थ को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए 'सामुदायिक' तथा 'संगठन' शब्दों की विस्तार से व्याख्या करना आवश्यक है।

समुदाय की परिभाषा

समुदाय शब्द का भौगोलिक तथा प्रकार्य दो दृष्टियों से प्रयोग किया जाता है। भौगोलिक दृष्टि से समुदाय का अर्थ किसी एक निश्चित भू-भाग पर रहने वाले सभी लोगों के एक ऐसे समूह से होता है जिनके बीच आपस में सम्पूर्ण जीवन की बुनियादी बातों में

आदान-प्रदान हो। उनका केवल किसी एक विशिष्ट उद्देश्य के लिए ही मिलना-जुलना पर्याप्त नहीं होता। ऐसे समुदाय की विशेषता यह है कि उस समुदाय के समस्त सदस्य अपना सम्पूर्ण जीवन निर्वाह उसी समुदाय में रह कर कर सकें। इस प्रकार समुदाय उस भू-भाग के रहने वाले सभी लोगों के बीच का आपसी व्यवहार, निश्चित रीति-रिवाज तथा विशिष्ट संस्थाओं के संगठन का एक प्रतिमान है जिसके द्वारा उसके सदस्यों का जीवन एवं उनका व्यवहार नियंत्रित होता है। इस प्रकार के समुदाय का आधारभूत तत्त्व, एक निश्चित भू-भाग, उसके सदस्यों में सामुदायिक भावना तथा उनके बीच आदान-प्रदान की प्रक्रिया है।

किसी भी समुदाय के निर्माण के लिए उनके सदस्यों में सामुदायिक भावना का होना एक आवश्यक तत्त्व है, जिसके अभाव में समुदाय विच्छिन्न हो जाता है और इसके विपरीत इस भावना के होने पर वह भू-भाग जिस पर वह समुदाय स्थित है, एक भौगोलिक भू-भाग से अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। वह उनके लिए जन्मभूमि, मातृभूमि अथवा पितृभूमि व कर्मभूमि होता है। वह उनका केवल आवास ही नही होता अपितु उनका अपना घर होता है जिसके प्रति उनके हृदय में मोह की भावना होती है। समुदाय के सदस्यों में अपने भू-भाग के प्रति मोह की यह भावना सामुदायिक संगठन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी भावना से प्रेरित होकर लोग वहाँ के रीति-रिवाज, प्रचलन, सामाजिक व्यवहार तथा प्रथाओं एवं संस्थाओं को एक सम्मिलित सम्पत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके जीवन पर इस प्रकार की सामुदायिक भावना की छाप जन्म से ही पड़ती है जिसका दर्शन हम विभिन्न रूपों में करते है जैसे :—

(अ) **एकभाव :—**किसी समुदाय के सदस्यों में जब अपने समुदाय के प्रति मोह की भावना होती है, तो वे उसको एक परिवार के रूप में समझते है, और उनमें सब सदस्यों के लिए' हम की भावना' होती है। जब वे समुदाय के लिए 'हम' कहते हैं तो उनमें विभाजन की भावना नही होती और जब 'हमारा' कहते हैं तो उनमें विचार विभिन्नता नही होती। इस प्रकार की भावना उसी समय उत्पन्न होती है जब वे एक सामाजिक प्रतिमान में गठित होते हैं और व्यक्तिगत स्वार्थ सामूहिक हित में निहित होता है तथा प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि वह सम्पूर्ण समुदाय का ही एक अंग है।

(आ) **'कर्त्तव्य भावना' :—**जब व्यक्ति यह अनुभव करे कि समुदाय में उसका एक निश्चित स्थान है और उसके प्रति उसका एक निश्चित कर्त्तव्य है तो इसे कर्त्तव्य भावना कहते हैं। इस भावना के होने पर ही व्यक्ति समुदाय में अपनी सदस्यता का अनभव करता है और उसका पालन करके इस भावना का प्रदर्शन करता है।

(इ) **निर्भरता की भावना :—**प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समुदाय पर ही निर्भर करता है क्योंकि उसकी शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताएँ समुदाय में रह कर ही पूरी होती हैं। समुदाय के एकीकरण एवं संगठन के लिए उसके सदस्यों में इस प्रकार की निर्भरता की भावना का अनुभव करना अति आवश्यक है।

सामुदायिक भावना के ये तत्त्व विभिन्न समुदायों में अलग-अलग मात्रा में पाये जाते हैं किन्तु इनका होना किसी भी समुदाय के संगठन का प्रमाण है। जिन समुदायों में इन तत्वों का अभाव हो वहाँ सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया के द्वारा इनको उत्पन्न करना अनिवार्य है।

आज के तीव्रता से बदलते हुए औद्योगिक युग मे जहाँ आवागमन के साधन सुगमता से उपलब्ध है, लोगों के संगठन का रूप भी बदलता है और उसके साथ-साथ समुदाय की परिभाषा भी बदलती है। आज के युग में लोग अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने भौगोलिक क्षेत्र में उपलब्ध साधनों पर ही आधारित नही रहते। वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति बाहरी स्थानों से भी कर सकते हैं—इसलिए सामुदायिक संगठन के बहुत से कार्यक्रम भौगोलिक इकाई की अपेक्षा लोगों के समान हित, उद्देश्य अथवा कार्यों के आधार पर बनाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में लोगों का वह समूह जो किसी समान हित व उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामूहिक रूप से कार्य करे तो उसे कार्यकारी समुदाय कहते हैं। इस प्रकार के समुदाय में किसी भौगोलिक समुदाय के सभी सदस्यों को सम्मिलित नही करते बल्कि केवल उन्हीं व्यक्तियों तथा व्यक्तियों के समूहों को सम्मिलित किया जाता है जिनका विशिष्ट उद्देश्य अथवा कार्य सम्मिलित रूप से हो। इस प्रकार के समुदाय का मुख्य तत्त्व समान उद्देश्य अथवा समान हित की भावना है जो किसी एक समय पर उनमें पायी जाय।

भौगोलिक समुदाय तथा कार्यकारी समुदाय में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि किसी विशिष्ट भौगोलिक समुदाय का आकार लगभग समान रहता है किन्तु कार्यकारी समुदाय का आकार सम्मिलित हित व उद्देश्य के परिवर्तन के साथ बढ़ता-घटता रहता है। किसी एक समय में जितने लोगों का एक समान हित हो उन्हीं लोगों का समूह समुदाय कहलायेगा। इस दृष्टि से कभी-कभी एक भौगोलिक समुदाय में कई कार्यकारी समुदाय हो सकते हैं। जब कई भौगोलिक समुदाय के कुछ समान हित एवं उद्देश्य हों और उनके लिए वे मिल कर कार्य करें तो ऐसे सभी समुदाय मिल कर एक कार्यकारी समुदाय का निर्माण करते हैं।

सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि दोनों प्रकार के समुदायों को स्पष्ट रूप से समझा जाय। जब कोई सामुदायिक संगठन कर्त्ता समुदाय

में कार्य करे तो उसे इस बात का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए कि वह किस प्रकार के समुदाय में कार्य कर रहा है और उसका आकार व स्वभाव क्या है। यद्यपि दोनों प्रकार के समुदाय में कार्य करने की विधि और उसके सिद्धान्त लगभग समान है फिर भी यदि सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ता ने समुदाय के स्वभाव और रूप को स्पष्ट रूप से नहीं समझा है तो उसकी सफलता संदिग्ध है।

संगठन

समुदाय की परिभाषा के मूल में ही यह विचार निहित है कि उसमें कुछ न कुछ मात्रा में संगठन उपलब्ध है। सामुदायिक संगठन से तात्पर्य पूर्व स्थापित सम्बन्धों एवं संगठन मे सुधार करके उन्हें और अधिक दृढ़ बनाना है। इसकी आवश्यकता उस समय भी होती है जब या तो समुदाय के कुछ अंग सम्पूर्ण के प्रति अपने कर्त्तव्य पालन में असफल होते हैं अथवा सम्पूर्ण समुदाय अपने कुछ अंगों की आवश्यकताओं की पूर्ति मे असफल होता है।

समुदाय में विघटित तथा अगठित तत्त्व हो सकते हैं जिनके कारण उसका संगठन छिन्न-भिन्न हो जाता है और जिनको फिर से अधिक संगठित करने की आवश्यकता होती है। विगठित तत्व प्रायः समूहों तथा वर्गों के बीच संघर्ष के कारण अथवा सामाजिक परिवर्तन के कारण उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक दशा में समुदाय सुचारु रूप से कार्य करने में असफल रहता है इस प्रकार समुदाय में सुचारु रूप से कार्य करने में कोई गम्भीर संकट उत्पन्न हो जाने पर हम उसे विगठित समुदाय कहते हैं।

दूसरी ओर एक अगठित समुदाय वह है जिसमें संगठन की कमी हो। ऐसे समुदाय या तो कम संगठित होते है अथवा अतिसंगठित होते हैं। कम संगठित समुदाय वह है जिसमे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक सुविधाओं के अभाव मे पर्याप्त संगठन न हो—जैसे—किसी समुदाय में उद्यान, विद्यालय, पंचायत घर आदि का अभाव हो। इसके विपरीत एक अतिसंगठित समुदाय वह है जिसमें संस्थाओं एवं समूहों की बहुलता के कारण कार्य मे पुनरावृत्ति हो अथवा लोगों की कार्य क्षमता व्यर्थ के कार्यों में व्यय हो। इस प्रकार के समुदाय मे समग्रता एवं एकीकरण के रूप में पूर्ण संघटन की आवश्यकता होती है। अतः सामुदायिक संगठन के लिए हमें या तो सुधार की आवश्यकता होती है या तो समुदाय के ढाँचे मे कुछ आवश्यक अंगों को जोड़ देना होता है जिनसे उनका अभाव दूर हो सके अथवा समुदाय के उपलब्ध साधनों तथा सुविधाओं के बीच एक ऐसा क्रम व सामंजस्य उत्पन्न करना होता है जिससे समुदाय की समस्त आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो सके और समुदाय की कार्यक्षमता व्यर्थ में नष्ट न हो।

किसी भी समुदाय में सामुदायिक संगठन व सामुदायिक विघटन की प्रक्रियाएँ सदैव चलती रहती है चाहे सामाजिक कार्यकर्त्ता वहाँ कार्य करता हो अथवा न करता हो। ये

प्रक्रियाएँ किसी भी समुदाय के लिए स्वाभाविक हैं किन्तु इस प्रक्रिया को समाज-कार्य की प्रक्रिया उस समय कहते है जब यह समाज-कार्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सोच विचार कर पूर्ण निर्णय के साथ समाज-कार्य सिद्धान्तों व पद्धतियों में शिक्षित व्यक्ति जिसे समुदाय में स्वीकार किया गया हो, के द्वारा किया जाय।

अतः समाज-कार्य में सामुदायिक संगठन के लिए या तो उपलब्ध साधनों के बीच एक ऐसा क्रम बनाना होता है जिससे समुदाय की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके अथवा समुदाय के ढाँचे में कुछ आवश्यक अंगो को जोड़ देना होता है जिनसे उसका अभाव दूर हो सके। सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया को और अधिक स्पष्ट समझने के लिए उन क्रियाओं को समझना आवश्यक है जो सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत की जाती हैं।

भारत में सामुदायिक संगठन—यद्यपि सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया मूल रूप मे सभी समुदायों में समान रहती है किन्तु वे क्रियाएँ जो सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत की जाती है, समुदाय-समुदाय मे भिन्न-भिन्न होती हैं। वे किसी समुदाय विशेष के सांस्कृतिक व सामाजिक विकास के स्तर, विघटन के रूप, लोगों की महत्त्वाकांक्षाएँ इत्यादि पर निर्भर होती हैं। नगरी व ग्रामीण समुदायों में भी सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। विकसित पाश्चात्य देशों के समुदायो व कम विकसित एशिया, अफ्रीका, लेटिन, अमेरिका के समुदायों में भी सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया अलग होती है। सामुदायिक संगठन-प्रक्रिया का विकास धनी देशों में हुआ और उस प्रक्रिया का जो रूप अविकसित देशों में प्रयुक्त होता है उसे प्रायः सामुदायिक–विकास की संज्ञा दी जाती है। सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत समुदाय की समाज-कल्याण आवश्यकताओं तथा उपलब्ध साधनों के बीच समायोजन किया जाता है जब कि सामुदायिक विकास के अन्तर्गत समुदाय के समाज-कल्याण की अपेक्षा आर्थिक विकास पर अधिक बल दिया जाता है क्योंकि कम विकसित देशों के समुदायों की मूल समस्याएँ आर्थिक होतीं हैं। भारतवर्ष की गणना भी कम विकसित अथवा विकासशील देशों में की जाती है। इसलिए भारत के ग्रामीण समुदायों के विकासकेलिए सामुदायिक विकास योजनाप्रारम्भ की गयी। निःसन्देह भारतवर्ष के गाँवों की समस्याएँ आर्थिक है और यह भी सत्य है कि जब तक ग्राम-समुदायों का आर्थिक विकास नही होगा उनकी प्रगति नही होगी। किन्तु जितना यह तथ्य सही है उतना ही यह कहना भी सही है कि भारतीय ग्रामीण समुदायों की समस्याएं केवल आर्थिक व समाज-कल्याण की नही वल्कि वे समाज सुधार की भी हैं। भारतवर्ष एक प्राचीन देश है। यहाँ की अपनी संस्कृति और सभ्यता है और गाँव ही इस संस्कृति व सभ्यता के कभी केन्द्र रहे हैं। किन्तु इतिहास के परिवर्तन के साथ यहाँ की सभ्यता और संस्कृति में अनेक ऐसे दोष उत्पन्न हो गये हैं जिनके कारण सामाजिक नियंत्रण के यंत्र व

समुदायों को सुसंगठित रखने वाले तत्त्व छिन्न-भिन्न हो गये हैं जिसके फलस्वरूप समाज में अनेक बुराइयाँ आ गयी हैं। जब तक इन बुराइयों को दूर नहीं किया जायेगा और समाज की विकृत मान्यताओं, मूल्यों, रीति-रिवाज इत्यादि में सुधार नहीं लाया जायेगा तब तक ग्रामीण समुदायों की समस्याएँ पाश्चात्य धनाढ्य व विकसित देशों के समुदायों तथा अफ्रीका व लैटिन अमेरिका के देशों के समुदायों की समस्याओं से भिन्न रहेंगी। ये समस्याएँ समाज-कल्याण, आर्थिक व समाज सुधार की हैं। इन समस्याओं की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये मुख्यत: एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। जब तक सभी समस्याओं को साथ-साथ हल नहीं किया जायेगा इनमें से कोई एक समस्या को अलग से हल नहीं कर सकते। इसलिए भारतवर्ष में सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत समाज कल्याण, आर्थिक व समाज सुधार क्रियाओं को सम्मिलित किया जाना अनिवार्य है। व्यावहारिक दृष्टि से भी तीनों प्रकार की समस्याओं को साथ-साथ ही हल करना आवश्यक है।

भारत में सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत क्रियाएँ

सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत क्रियाएँ मुख्य रूप से आवश्यकताओं का पता लगाना, आवश्यक साधनों की खोज करना, उनके समायोजन का कार्यक्रम तैयार करना, उस कार्यक्रम को व्यावहारिक रूप में परिणत करना और फिर उनका मूल्यांकन करना है। किन्तु भारतवर्ष के ग्रामीण समुदायों में इन क्रियाओं के अतिरिक्त अनेक और भी क्रियाएँ आवश्यक हैं।

सर्वप्रथम समुदाय के लोगों को उनकी अपनी स्थिति, समस्याओं, उनके हल के उपायों, इत्यादि के विषय में शिक्षित करना आवश्यक है क्योंकि गाँव में लोग समस्याओं से पीड़ित होते हैं, किन्तु वे अपनी समस्याओं से परिचित नहीं होते क्योंकि या तो वे अपनी समस्याओं के साथ अपने को ऐसा मिला लिये हैं कि वे उनको अनुभव ही नहीं करते अथवा वे उन समस्याओं को अपने जीवन का अंग मान लेते हैं और यह नहीं सोच पाते कि वे उन समस्याओं को हल कर लेंगे। उनकी महत्त्वाकाक्षाएँ सोयी पड़ी रहती हैं और उन्हें यह विश्वास नहीं होता कि उस स्थिति में से निकलने का भी कोई रास्ता उनके पास हो सकता है। अत: आर्थिक विकास व समाज-कल्याण आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्न के पहले उनके इस दृष्टिकोण को बदल देना है जिससे वे यह अच्छी तरह समझ लें कि उनकी अपनी समस्याओं को हल करने की उनमें शक्ति है और वे निश्चित रूप से उन्हें हल कर सकते हैं। यदि यह आत्म-विश्वास उनमें आ जाय तो आर्थिक व समाज-कल्याण समस्याएँ आसानी से हल हो जायेंगी। इसके लिए सामाजिक संगठन संस्थाओं को सामाजिक शिक्षा व समाज-सुधार का कार्य करना आवश्यक है। इसके साथ ही लोगों में समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व

को समझने व उसको पूरा करने की भावना भी उत्पन्न की जानी चाहिए। यदि यह भावना उनमें उत्पन्न हो जाय तो फिर वे अपने समुदाय को अपना समझने लगेंगे और उनमें सामुदायिक भावना आ जायेगी।

लोगों को शिक्षित करने व समाज-सुधार कार्य करते समय इस बात को निरन्तर ध्यान में रखना चाहिए कि लोगों की महत्त्वाकांक्षाएँ इतनी अधिक न बढ़े कि उनकी पूर्ति सामुदायिक संगठन-संस्था की शक्ति व सामुदायिक साधनों से परे हो। लोगों की महत्त्वाकांक्षाओं में उसी अनुपात से वृद्धि होनी चाहिए जिस प्रकार से अन्य क्षेत्रों में उनका विकास हो। यदि कभी साधनों और शक्ति से परे महत्त्वाकांक्षाएँ उत्पन्न हो जायँ व यदि उनकी पूर्ति समय पर न हुई तो लोगों में निराशा की भावना उत्पन्न हो जायेगी और फिर अन्य सभी समस्याओं के प्रति भी उनमें एक प्रकार की निराशा की भावना उत्पन्न हो जायगी। संस्था को हर समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि समुदाय के लोगो में इस प्रकार की भावना उत्पन्न ही न हो।

दूसरी बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण समुदायों की आर्थिक स्थिति को सुधारा जाय। जब तक लोग गरीबी के गर्त में पड़े रहेंगे उनका मानसिक व आध्यात्मिक विकास सम्भव नहीं है। ग्रामीण समुदायों में अनेक ऐसे लोग मिलेंगे जिन्हें दो समय पेट भर भोजन भी उपलब्ध नही होता। उनके लिए धर्म, अध्यात्मवाद व अन्य ऐसी बातें जो प्रगति के चिह्न है, व्यर्थ है। उनके लिए सब कुछ रोटी है। वे दो समय भोजन के लिए सब कुछ न्योछावर कर सकते है और कठिन-से-कठिन कार्य भी कर सकते है। इसीलिए सामुदायिक संगठन संस्थाओं को समुदाय के आर्थिक विकास के लिए भी कार्य करना चाहिए।

भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है और ग्रामीण समुदायो के अधिकतर लोगों का व्यवसाय कृषि है अतः कृषि के विकास के लिए भी सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत कार्य किया जाना आवश्यक है। यदि वे संस्थाएँ सीधे रूपसे यह कार्य न भी कर सकें तो उन्हें अन्य संस्थाओं के माध्यम से यह कार्य कराना चाहिए। ग्रामीण समुदायों के आर्थिक जीवन की दूसरी कड़ी ग्रामीण उद्योग है। प्राचीन काल में ये उद्योग बहुत विकसित थे और लोग अपनी सभी प्राथमिक आवश्यकताओं को स्थानीय प्रयत्नों के द्वाराही पूरा कर लेते थे; किन्तु समय के चक्र के साथ इनका ह्रास हो गया और इनके ह्रास के साथ ही ग्रामीण जीवन भी छिन्न-भिन्न हो गया। अतः ग्रामीण समुदायों के विकास के लिए उन उद्योगों को पुनरुज्जीवित करना भी आवश्यक है। यह कार्य भी भारत वर्ष में सामुदायिक संगठन संस्थाओं के द्वारा किया जाना चाहिए, चाहे वे सीधे इस कार्य को करें अथवा अन्य संस्थाओं के माध्यम से। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कृषि व उद्योग एक दूसरे से जुड़े हुए

है। एक का विकास दूसरे पर निर्भर है। इसलिए कृषि व उद्योगों का साथ-साथ विकास किया जाना चाहिए।

भारत वर्ष के ग्रामीण समुदायों की समाज-कल्याण की स्थिति भी शोचनीय है। जन-स्वास्थ्य, आवास, जन-शिक्षा इत्यादि ऐसी समस्याएँ है जिनसे ग्रामीण समुदाय पीड़ित हैं। उनके विकास के लिए इन समस्याओं को भी हल किया जाना आवश्यक है। यह भारत वर्ष में सामुदायिक संगठन का तीसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसके अन्तर्गत लगभग उन सभी कार्यों को सम्मिलित किया जा सकता है जो सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत अन्य देशो में किये जाते हैं किन्तु अन्तर इतना है कि उनकी पूर्ति के लिए पर्याप्त साधन स्थानीय रूप से उपलब्ध न हों, उन्हें निकटवर्ती समुदायों से आपसी सहयोग के आधार पर प्राप्त करना चाहिए। यदि इससे भी पूर्ति न हो तो उन्हें बाहर से भी प्राप्त किया जा सकता है किन्तु यह ध्यान रहे कि समुदाय परावलम्बी व पराश्रित न हो। यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जायेगी तो फिर समुदाय का स्थायी विकास सम्भव नही होगा।

इससे स्पष्ट है कि भारतीय ग्रामीण समुदायो के लिए समाज-सुधार, आर्थिक विकास व समाज-कल्याण तीनों ही प्रकार की क्रियाएँ आवश्यक है। किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है तीनों ही प्रकार की क्रियाएँ साथ-साथ चलनी चाहिए। जब तक समुदायों का समग्र रूप से संगठन व विकास नही किया जायेगा कोई भी एक समस्या संतोषप्रद ढंग से हल नही की जा सकती।

सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया को व्यावहारिक रूप देने में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। वे अलग-अलग समुदायों में अलग-अलग प्रकार की हो सकती हैं और उन कठिनाइयों को स्थानीय स्थिति को ध्यान में रख कर ही दूर किया जा सकता है। उनका सामान्यीकरण करना कठिन है। फिर भी कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जो प्रायः सभी समुदायों में उत्पन्न होती हैं और जिनको हल करने के लिए कुछ ऐसे उपाय हो सकते है जो सभी समुदायों के लिए उपयोगी हैं।

जन-सहयोग की प्राप्ति

सामुदायिक संगठन में सबसे कठिन समस्या जन-सहयोग प्राप्त करने की होती है। जब तक समुदाय के लोगों का किसी समस्या को हल करने के लिए सहयोग प्राप्त न हो उस समस्या का निराकरण प्रायः कठिन होता है। सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ताओं के सामने सदैव यही कठिन प्रश्न रहता है कि जन-सहयोग कैसे प्राप्त करें। किसी भी समुदाय में यह तो सम्भव नहीं है कि समुदाय के सभी व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हो सके किन्तु अधिक-से-अधिक लोगों का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है। प्रत्येक समुदाय में

लोग कुछ छोटे-बड़े अनेक समूहों मे बँटे रहते हैं और प्रत्येक समूह के एक या कुछ नेता भी होते है जो व्यक्तिगत रूप से अपने समूह का और सभी समूहों के नेता मिल कर उस समुदाय के दृष्टिकोण व मनोकामना का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए सामुदायिक संगठन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ता ऐसे समूहों का पता लगायें जिनका समुदाय में विशेष महत्त्व हो और दूसरे उन समूहों के नेताओं का भी पता लगाया जाय। यदि इन नेताओं को एक ही मंच पर एकत्रित किया जा सके और उनमें अपने समुदाय के प्रति व अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूकता उत्पन्न की जा सके तो इससे समुदाय के सभी लोगों का प्रतिनिधित्व हो जाता है और उन्हें कार्य करने के लिए भी प्रेरित किया जा सकता है।

समुदाय के विभिन्न समूहों को समझने के लिए समुदाय के सामाजिक संगठन को समझना आवश्यक है। किसी भी समुदाय में कुछ समूह तो प्रत्यक्ष होते है जिन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है, जैसे-पंचायत, शिक्षा-संस्था, युवक-मंगल-दल इत्यादि; किन्तु ऐसे समूहों का पता लगाना कठिन होता है जो अप्रत्यक्ष होते है और वे किसी भी अर्थ में कम महत्त्वपूर्ण नही हैं बल्कि कभी-कभी वे अधिक महत्त्वपूर्ण होते है—जैसे छोटी-छोटी मित्र-मण्डिलियाँ, जाति समूह, पारिवारिक गुट इत्यादि। सामुदायिक संगठन में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों ही समूहों को सम्मिलित किया जाना चाहिए। कार्यकर्त्ता को इन्ही समूहों के द्वारा साथ मिल कर कार्य करना चाहिए।

समुदाय के प्रमुख समूहों का पता लगाने के पश्चात् दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न उन्हें संगठित करने का है। इसके लिए उन्हें कुछ सामूहिक व सम्मिलित समस्याओं के प्रति संगठित करना चाहिए। यह कार्य समुदाय के विभिन्न नेताओं के द्वारा किया जा सकता है किन्तु नेता ऐसे होने चाहिए कि जिन्हें समुदाय के द्वारा स्वीकार किया गया हो और जिनका किसी समूह के साथ अभिन्न सम्बन्ध हो। प्रायः ऐसे लोगों को नेता बना लिया जाता है जो शिक्षित होते है, क्योंकि वे स्वाभाविक नेता से लगते है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। प्रायः ये लोग वे होते हैं जो समाज में अपना स्थान बनाना चाहते हैं और शक्ति अपने हाथ मे केन्द्रित करना चाहते हैं किन्तु ये लोग समूह के वास्तविक नेता नहीं होते। यदि किसी समूह से अपना नेता चुनकर प्रतिनिधित्व करने के लिए भेजने को कहा जाय तो भी वे इस प्रकार के शिक्षित व्यक्ति को ही अपना प्रतिनिधि बना कर भेजते हैं। ऐसा इसलिए नही होता कि वे उस समूह के वास्तविक नेता हैं बल्कि वे इनको इसलिए चुनते है ताकि ये अन्य समूहों के नेताओं के समान हो सकें और उनकी-सी भाषा में उनके साथ बातचीत कर सकें, किन्तु समूह में उनका पूर्ण रूप से विश्वास नहीं किया जाता।

यदि सामुदायिक संगठन-संस्था वास्तविक रूप से कार्य करना चाहती है तो उसके लिए

समुदाय के वास्तविक नेतृत्व का, जिन्हें समुदाय में स्वीकार किया जाता है, जो समुदाय के लोगों का वास्तविक रूप से प्रतिनिधित्व करते हों, और जो लोगों की मनोवृत्ति को समझते हों और जिनकी मनोवृत्ति को लोग समझते हों, पता लगाना अनिवार्य है। ऐसे नेता विश्वास के साथ अपने समूह के सम्बन्ध मे बोल सकते है क्योंकि उनके और समूह के बीच आदान-प्रदान की क्रिया बराबर होती है। जब किसी समूह को ऐसा नेतृत्व प्राप्त हो जाता है तो समूह में आत्म-विश्वास की भावना उत्पन्न हो जाती है और वे इस विश्वास के साथ निरन्तर कार्य करते जाते है कि उनका हित सुरक्षित है।

विभिन्न समूहों के द्वारा स्वीकृत नेता जब मिल कर एक साथ कार्य करते हैं तो समुदाय में संगठित रूप से कार्य करने का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। वास्तविक नेताओं को इसलिए नेता नहीं बनाया जाता कि वे देखने में अच्छे लगते हैं अथवा मधुरभाषी है और सभाओं में चतुराई के साथ कार्य कर सकते हैं अथवा किसी विषय को मोड़-तोड़ कर रख सकते है बल्कि उनके नेतृत्व का आधार उनकी अपने समूह की भावनाओं का सही रूप से प्रतिनिधित्व करने की शक्ति होती है जिससे वे अपने समूह-सदस्यों की भाषा बोलते हैं और भावनाओं को व्यक्त करते हैं।

समुदाय में कुछ औपचारिक नेता भी होते हैं—जैसे, अध्यापक, पुरोहित, वृद्ध इत्यादि। सामुदायिक कार्य में ऐसे नेताओं का भी सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य है।

यदि सामुदायिक संगठन-संस्था समुदाय में उपलब्ध समूहों को एकत्रित करने और उनके नेताओं में आपसी सहयोग से कार्य करने में सफल हो जाये तो उनके लिए जन-सहयोग प्राप्त करना आसान हो जायेगा; किन्तु उन समूहों को एक संस्था के अन्तर्गत एकत्र करना बहुत कठिन कार्य है। वास्तव में इसका कोई निश्चित उपाय भी नही है, फिर भी यदि प्रयत्न किया जाय तो ऐसा करना कठिन भी नहीं है। यदि विभिन्न समूहों के लोगों को आपसी समस्याओं के सम्बन्ध में सामूहिक चिन्तन व चर्चा करने के लिए एकत्र कर लिया जाय तो समूहों के बीच पारस्परिक सहयोग उत्पन्न करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम होगा। यदि समुदाय में कोई आकस्मिक संकट उत्पन्न हो जाय तो ऐसा करना और भी आसान होता है। इसके अतिरिक्त कुछ सामूहिक उद्देश्यों के लिए भी उन समूहों व समूह नेताओं को एकत्रित किया जा सकता है किन्तु उन उद्देश्यों को निर्धारित करना भी एक कठिन कार्य है।

सामूहिक उद्देश्य का निर्णय करने में लोगों के असन्तोष की भावना बहुत सहायक होती है। यदि सामुदायिक संगठन-संस्था अपने उद्देश्यों में समुदाय के असंतोष का सही रूप से प्रतिनिधित्व करती है तो उन उद्देश्यों को विभिन्न समूह आसानी से स्वीकार कर लेंगे।

समुदाय के लोगों को सामुदायिक कार्य करने के लिए अनेक प्रकार की प्रेरणाएँ होती हैं

किन्तु सबसे अधिक शक्तिशाली प्रेरणा समुदाय के सम्पूर्ण जीवन अथवा उसके कुछ विशेष अंग के प्रति असन्तोष की भावना है। यदि लोगों में इस प्रकार का असन्तोष हो तो उनमें कठिन-से-कठिन कार्य करने और बड़े-से-बड़ा कष्ट सहने की शक्ति आ जाती है। कभी-कभी लोग ऐसा कार्य भी कर डालते हैं जिसकी कि वे कभी कल्पना भी नहीं कर सकते और वे अपनी ऐसी विशाल शक्ति का प्रदर्शन करते हैं जिसको देख कर लोग स्वयं ही चकित रह जाते हैं।

इस दृष्टिकोण की मनोविकास विज्ञान व मनोविज्ञान शास्त्र के इस सिद्धान्त से भी पुष्टि होती है कि परिवर्तन के लिए कष्ट आवश्यक है। यदि लोगों को यह विश्वास हो जाय कि बदली हुई अवस्था में उनके कष्टों का निवारण हो जायेगा, अथवा वे बहुत कम हो जायेंगे तो वे परिवर्तन का विरोध नहीं करेंगे बल्कि इसके विपरीत परिवर्तन लाने का प्रयत्न करेंगे। कभी-कभी कोई भावना अथवा उत्साह भी लोगों को कार्य करने के लिए प्रेरित करता है किन्तु यह आने वाली बहुत-सी कठिनाइयों को सहन करने के लिए पर्याप्त प्रेरणा नहीं देता।

अपनी अवस्था के प्रति असन्तोष की भावना लोगों को सामुदायिक कार्य में भाग लेने के लिए प्रेरित करने वाली एक मात्र प्रेरणा तो नहीं है किन्तु यह अन्य प्रेरणाओं की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होती है। सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया में समुदाय के लोगों के आपसी झगड़े, तनाव, ईर्ष्या इत्यादि अनेक बाधाएँ आती हैं किन्तु यदि लोगों में यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाय कि समुदाय की उपलब्ध स्थिति गलत है और इसको बदलने की आवश्यकता है, तो लोगों में सामुदायिक कार्य करने के लिए और अनेक कठिनाइयों व कष्टों को सहन करने की शक्ति आ जाती है।

यहाँ इस तथ्य को भी स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि लोगों में असन्तोप वास्तविक होना चाहिए न कि उसे बनावटी रूप से उत्पन्न किया गया हो। कभी-कभी लोगों में इस प्रकार का असन्तोष अकस्मात् ही उत्पन्न हो जाता है और कभी-कभी बहुत दिनों से दबा हुआ असन्तोष प्रस्फुटित हो जाता है जो लोगों को आपसी चर्चा करने के लिए प्रेरित करता है और जब सही नेतृत्व प्राप्त होने की दशा में यह चर्चा एक दृढ़ निश्चय के रूप में बदल जाती है तो लोगों में एक नये जीवन का संचार होता है और लोग अपनी बहुत-सी सामूहिक समस्याओं को आपसी सहयोग से हल करने में सफल होते हैं।

यदि लोगों में असन्तोष की भावना एक बार जागृत हो जाय तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वे लगातार कार्य करते रहें। कभी-कभी ऐसे अवसर होंगे जब लोग बड़े-बड़े कार्य करने के लिए प्रस्तुत होंगे और कभी-कभी ऐसे भी अवसर हो सकते हैं जब कि वे कोई कार्य न करना चाहें; किन्तु यदि समुदाय को उचित और सही नेतृत्व प्राप्त है तो ऐसे अवसरों

से भी लाभ उठा सकते हैं। जब लोग बड़े कार्य करने के लिए तैयार न हों, तो उस समय पहले से किये हुए कार्यो को सुगठित व सुदृढ़ बनाने के लिए प्रयत्न किये जा सकते हैं। इससे लोगों में विश्वास तथा आशा की भावनाएँ टूटेंगी नहीं। जब लोगों में थकान की वृत्ति दूर हो जाय तो उन्हें फिर से कार्य में लगा देने की आवश्यकता होती है।

यदि समुदाय के लोगों में सामुदायिक कार्यो के प्रति निराशा तथा अरुचि की भावना हो तो उन्हें सामुदायिक कार्यो के लिए प्रेरित करना कठिन होता है किन्तु इस प्रकार के दृष्टिकोण को दूर करना कठिन नहीं है। लोगों में सामुदायिक समस्याओं के सम्बन्ध में मित्रतापूर्ण चर्चा करने, उनको अपनी भावनाओं को प्रदर्शित करने व व्यक्तिगत अनुभवों का आदान-प्रदान करने के लिए अवसर प्रदान करने से लोगों में यह विश्वास उत्पन्न किया जा सकता है कि वे अपनी समस्याओं को हल करने और अपने सामुदायिक जीवन को अच्छा बनाने के लिए कुछ कर सकते हैं। इस प्रकार का विश्वास लोगों में कार्य करने की इच्छा उत्पन्न करता है।

असंतोष अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है। असन्तोष लोगों को प्रेरणा तब देता है जब कि वह किसी एक निश्चित अवस्था के प्रति हो। यदि ऐसा नहीं है और असन्तोष सामान्य रूप से अपनी सम्पूर्ण अवस्था के प्रति है तो यह लोगों को कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करने के बजाय उनमें और अधिक निराशा की भावना उत्पन्न करता है; क्योंकि वे यह नही समझ पाते कि किस समस्या को पहले हल करें और किस समस्या के लिए क्या करें। अत: सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ताओं को लोगों के सामान्य असन्तोष को कुछ विशेष तत्त्वों पर आर्काषित करना चाहिए और उसे ऐसी दिशा में मोड़ना चाहिए जिससे कि उनकी कुछ समस्याओं का समाधान हो सके। इसके अतिरिक्त कार्यकर्त्ताओं को पहले ऐसे लोगों के साथ कार्य करना चाहिए जिन्हें अपनी समस्याओं के विषय में ज्ञान है और जो उनको हल करने के लिए उत्सुक हैं। ऐसे लोगों को एक जगह एकत्र करके समुदाय की समस्याओं के विषय में उनमें आपस में चर्चा प्रारम्भ करानी चाहिए और उनको योजना बनाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए जिसके अनुसार वे समस्या समाधान के लिए कार्य कर सकें। सामुदायिक संगठन के लिए केवल कुछ वर्ग विशेष में ही असंतोष होना पर्याप्त नही है। चूँकि सामुदायिक संगठन का सम्बन्ध पूरे समुदाय से होता है इसलिए असन्तोष की भावना अधिक-से-अधिक लोगों में होनी चाहिए। जिन समस्याओं के सम्बन्ध मे असन्तोष हो वे ऐसी होनी चाहिए जिसे समुदाय के अधिकतर लोग स्वीकार करते हों और उसे हल करने के इच्छुक हों। समुदाय में अनेक ऐसी समस्याएँ हो सकती हैं जिन्हें लोग सामूहिक रूप से स्वीकार करते हों। इसलिए असन्तोष को ऐसी समस्याओं पर केन्द्रित करना चाहिए जो सामूहिक हों और अधिक महत्त्वपूर्ण हों।

अतः सामूहिक उद्देश्यों को निश्चत करने में लोगों की असन्तोष की भावना बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि सामुदायिक संगठन-संस्था समुदाय के लोगों के असन्तोष का वास्तविक रूप में प्रतिनिधित्व करती है तो लोग उस संस्था के उद्देश्यों को आसानी से स्वीकार कर लेंगे।

सामुदायिक संगठन-संस्था का विकास एक परिवार के रूप में होना चाहिए। जिस प्रकार से कि परिवार के सदस्यों में बहुत-सी बातों पर मतभेद होने के उपरान्त भी उनमे एकता व अपनेपन की भावना होती है उसी प्रकार से सामुदायिक संगठन संस्था के सदस्यों में भी एकता और अपनत्व की भावना होनी चाहिए। जिस प्रकार से पारिवारिक जीवन में कभी सुख होता है, कभी दुःख होता, कभी कठिनाइयाँ व आपत्तियाँ आती है और कभी झगड़े होते हैं, तब भी परिवार के सभी सदस्य आपसी विश्वास व सहयोग के साथ कार्य करते है उसी प्रकार से जो संस्था समुदाय को एक स्थान पर समान उद्देश्यों के लिए एकत्रित करती है उसके भी अनेक उत्तरदायित्व होते है। उसे लोगों को इस प्रकार से तैयार करना चाहिए जिससे कि वे समुदाय की सभी कठिनाइयों व लाभों का समान रूप से उपयोग कर सकें और मिल कर समुदाय की भलाई के लिए कार्य कर सकें।

प्रत्येक समुदाय में बड़ी संख्या में ऐसे व्यक्ति होते हैं जो रचनात्मक सामुदायिक कार्यो में भाग लेने तथा कार्य करने के लिए व अपना सहयोग देने के लिए इच्छुक होते हैं। वास्तव में जो लोग यह कहते है कि समुदाय मे लोग उदासीन हैं वे इस वास्तविक तथ्य को भूल जाते हैं। समुदाय में सहयोग तथा स्वेच्छा की भावना होती है किन्तु उसे समझने और पहचानने की आवश्यकता होती है। प्रायः सामाजिक कार्यकर्त्ता इस प्रकार के सहयोग की भावना से जो समुदाय में होती है अनभिज्ञ होते है। यदि वे उसको पहचान लें और उसका रचनात्मक रूप से उपयोग कर लें तो सामुदायिक संगठन बहुत आसान हो जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इस सहयोग भावना का किस प्रकार उपयोग किया जाय। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नही बनाया जा सकता, यह समुदाय की परिस्थितियों तथा वहाँ की वस्तु स्थिति पर निर्भर करता है। इस बारे में कुछ मोटी-मोटी बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि समुदाय के औपचारिक और अनौपचारिक समूहों के नेताओं से यह परामर्श लिया जाय कि किस प्रकार कार्य करने से लोगों का सहयोग प्राप्त हो सकता है; क्योंकि वे ऐसे व्यक्ति होते हैं जो समुदाय के बीच आदान-प्रदान की क्रिया को, लोगों की रुचि को, उनकी महत्त्वाकांक्षाओं को, उनकी कठिनाइयों व समस्यों को और सबसे अधिक उनकी मनोभावनाओं को समझते हैं। इसलिए सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ताओं को समुदाय के नेताओं की बुद्धिमत्ता पर विश्वास करना चाहिए।

दूसरे, सामुदायिक कार्यकर्त्ताओं को यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि समुदाय

के साथ सामूहिक सम्पर्क ही पर्याप्त नही है, उन्हें लोगों के साथ व्यक्तिगत रूप से भी सम्पर्क स्थापित करने की आवश्यकता होती है।

तीसरे, लोगों के साथ उसी स्तर पर कार्य करने की आवश्यकता है जिस पर वे आसानी से कार्य कर सकें और जिस ढंग से वे कार्य करना चाहें उसी ढंग से उन्हे कार्य करने का अवसर दिया जाना चाहिए। सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ताओं के लिए यह समझना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि लोग किस स्तर पर कार्यक्रम में सहयोग दे सकते हैं। यदि कार्यक्रम प्रारम्भ करने के साथ ही इस बात का ज्ञान हो जाय तो लोगों का सहयोग अधिक अर्थपूर्ण व क्रियाशील होगा।

सामुदायिक संगठन के लिए जन-सहयोग प्राप्त करने में लोगों के आपसी मतभेद, झगड़े व तनाव बहुत अधिक बाधा डालते हैं, किन्तु लोगों के एक साथ मिल कर पारस्परिक सहयोग के साथ कार्य करने का यह अर्थ नहीं है कि समुदाय में मतभेद व झगड़े पूर्णतः समाप्त हो जायेंगे। वास्तव में यह सब सामुदायिक जीवनके अभिन्न अंग है और ये ऐसे तत्त्व हैं जो सामुदायिक जीवन को शक्ति प्रदान करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझने की आवश्यकता है कि कुछ मतभेद व तनाव रचनात्मक व विधायक होते हैं और कुछ नकारात्मक व विनाशक होते हैं। इनके कारण कभी लोगों में अधिक सहनशीलता व एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की भावना उत्पन्न होती है, जिससे समुदाय की शक्ति में वृद्धि होती है और कभी इनके कारण लोगों में अविश्वास, घृणा और मनमुटाव उत्पन्न होता है जिससे लोगों में दूसरों को हानि पहुँचाने की भावना उत्पन्न हो जाती है। मतभेदों के ये विरोधी परिणाम अनेक कारणों से होते हैं जिनको समुदाय की स्थिति के सन्दर्भ में सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को समझना चाहिए और उनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि लोगों में सामुदायिक हित की भावना उत्पन्न हो जाय और वे सामुदायिक जीवन को अधिक अच्छा बनाने का दृढ़ संकल्प कर लें तो फिर मतभेदों का रचनात्मक रूप में उपयोग किया जा सकता है। सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया को प्रारम्भ करने और दृढ़ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रारम्भ में अधिक-से-अधिक ऐसे लोगों को संगठित किया जाय जिनमें सामुदायिक भावना हो और वे समुदाय के हित के लिए कार्य करने के लिए प्रस्तुत हों। कभी-कभी यह प्रक्रिया बहुत धीमी होती है किन्तु इसकी गति उसी रूप मे बढ़ती है जैसे-जैसे लोगों में सामूहिक हित की भावना और साथ कार्य करने की इच्छा दृढ़ होती है।

सामुदायिक संगठन में यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है कि क्या-क्या कार्य पूर्ण किये गये, बल्कि यह अधिक महत्त्वपूर्ण है कि समुदाय के लोगों में साथ कार्य करने की कुशलता, सामुदायिक भावना, समस्याओं को समझने की शक्ति व दूरदर्शिता किस हद तक उत्पन्न हुई है और लोगों ने अपने मतभेदों का किस हद तक रचनात्मक ढंग से उपयोग किया है।

आदर्श रूप में सामुदायिक संगठन का उद्देश्य लोगों में समुदाय की भावना उत्पन्न करना है। इसके द्वारा विभिन्न समूहों में पारस्परिक सम्पर्क उत्पन्न होता है और उनमें अन्तःक्रिया उत्पन्न होती है जिसके द्वारा प्रभावपूर्ण आदान-प्रदान उत्पन्न होता है। आदान-प्रदान सामुदायिक संगठन प्रक्रिया का मूल तत्त्व है। इसके बिना अन्तःक्रिया नही हो सकती है और अन्तःक्रिया के बिना सामूहिक जीवन, सामूहिक मूल्य व मान्यताएँ स्थापित नही होती। आदान-प्रदान का अर्थ केवल मात्र सन्देश लेने व देने की क्रिया से नहीं होता बल्कि यह ऐसी प्रक्रिया है जो सामुदायिक मूल्यों व मान्यताओं को जन्म देती है और उनका क्षेत्र विस्तृत करती है।

जब किसी समुदाय के लोग अपनी समस्याओं तथा आवश्यकताओं के प्रति सचेत हो जायें, उनमें सामुदायिक भावना का उदय हो जाय तथा अपनी समस्याओं को स्वयं हल करने के लिए तैयार हो जायँ तो सामुदायिक संगठन संस्था को लोगों के उत्साह व शक्ति को रचनात्मक दिशा में मोड़ देना चाहिए। इसके लिए कुछ ऐसे कार्यक्रम तैयार किये जायँ जिनमें लोग अपनी इच्छा व शक्ति के अनुसार कार्य कर सकें। ये कार्यक्रम ऐसे हों जो न केवल लोगों को कार्य करने का अवसर दें बल्कि समुदाय की समस्याओं का समाधान करें। कार्यक्रम बनाना और उनका कार्यान्वियन सामुदायिक संगठन का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

अध्याय ७

समाज कल्याण प्रशासन

सामाजिक अभिकरण तथा सरकारी या गैर सरकारी कल्याण-कार्यक्रमों से सम्बन्धित प्रशासन को समाज-कल्याण-प्रशासन कहते हैं। यद्यपि इसकी विधियाँ—प्रविधियाँ या तौर तरीके इत्यादि भी लोक-प्रशासन या व्यापार-प्रशासन की ही भाँति होते हैं किन्तु इसमें उनसे एक बुनियादी भेद यह होता है कि इसमें सभी स्तरों पर मानवता और जनतांत्रिकता का अधिक-से-अधिक ख्याल करके ऐसे व्यक्तियों या वर्ग से सम्बन्धित प्रशासन किया जाता है जो कि बाधित होते हैं। जैसे-जैसे समाज-कार्य या कल्याण-कार्यक्रमो का सरकारी अथवा गैर सरकारी तौर पर विकास होता गया उसी के साथ-साथ समाज-कल्याण-प्रशासन की आवश्यकता और व्यवहार को भी बल मिलता गया। आज दुनियाँ के अनेक विकसित व अर्धविकसित देशों में समाज-कल्याण से सम्बन्धित कार्यक्रम छोटे-बड़े सरकारी या गैर सरकारी पैमानों पर चलते है और इन सबसे सम्बन्धित प्रशासन को समाज-कल्याण-प्रशासन के अन्तर्गत समझा जाता है और दिनोदिन ऐसी चेष्टाएँ हो रही है कि इनके सारे स्वरूप को अधिक-से-अधिक मानवीय और जनतांत्रिक बनाया जाय। प्रशासन में मानवता और जनतंत्रीकरण का अर्थ यह होता है कि प्रशासन के अंग-प्रत्यंग या व्यक्ति सबकी कार्य-विधि या उनकी संरचना ऐसी हो कि वह उदारता, सद्भाव और मानव-प्रकृति की सुरुचि की हो तथा ऐसे प्रशासन के हर पहलू से यह उम्मीद होती है कि वह मानवता-पूर्ण, मानवता-अभिप्रेरित तथा मानवता-हेतु होगा।

सरकारी या गैर सरकारी, राष्ट्रीय अथवा स्थानीय किसी भी प्रकार के सामाजिक अभिकरण के प्रशासन के अनेक घटक होते है और आगे हम इन्ही घटकों में से कुछ प्रमुख की चर्चा करेंगे। प्रशासन के इन घटकों या अंगों में पंजीकरण, नियमावली, संगठन, व्यक्ति, कार्य-विधि, आय-व्ययक, वार्षिक-प्रतिवेदन, लेखा-जोखा, समन्वय, सहकार, मूल्यांकन इत्यादि खास तौर से उल्लेखनीय हैं।

यदि अभिकरण सरकार अथवा मान्यता प्राप्त संगठनों से पंजीकृत करा लिये जाते है तो एक तो उनका नियंत्रित होना ज्यादा स्वाभाविक हो जाता है दूसरे ऐसे अभिकरण उन लाभों को भी प्राप्त कर सकते हैं जो कि सरकार ऐसे अभिकरणों को नियमानुसार

देती है। जो अभिकरण पंजीकृत नही है वे इनसे बंचित रहते हैं। हर पंजीकरण हेतु कुछ नियम, शर्त और पद्धतियाँ होती हैं जिनके मुताबिक ही काम करके पंजीकरण कराया जा सकता है। यद्यपि ये नियम एवं पद्धतियाँ प्रकार भिन्नता के अनुसार थोड़ी बहुत भिन्न होती है किन्तु मोटे तौर पर ये सब लगभग एक समान ही हुआ करती हैं। इनका ज्ञान और अध्ययन करके निश्चित प्रपत्र और शुल्क के साथ आवेदन करके अभिकरणों को पजीकृत कराया जा सकता है। आमतौर पर इस हेतु जो प्रपत्र प्रयुक्त होते है उनमें लगभग पाँच, सात या दस तदर्थ समिति के सदस्यों के नाम, पता और कार्य इत्यादि का विवरण माँगने के साथ ही अभिकरण के अध्यक्ष, मंत्री, कोषाध्यक्ष इत्यादि का नाम पता तथा हस्ताक्षर आदि माँगा जाता है। संक्षेप में अभिकरण का परिचय देना हो सकता है। प्रपत्र के साथ जो शुल्क जमा करना होता है उसकी राशि नाम मात्र की ही अर्थात् ५० या १०० रुपया हुआ करती है। पंजीकरण के लिए भेजे जाने वाले प्रपत्र और शुल्क के साथ ही अभिकरण या संस्था से सम्बन्धित एक नियमावली भी भेजना आवश्यक होता है। इस नियमावली में अभिकरण का नाम, उद्देश्य, कार्यक्रम, उत्तरदायित्व, आधार और सत्र, प्राधिकारी, अधिकारी तथा कर्मचारी इत्यादि के अधिकार एवं कर्त्तव्य इत्यादि का पूरा-पूरा विवरण होता है। इन विवरणों की एक खाशूसियत यह होती है कि किसी विशेष व्यक्ति, वर्ग या प्राधिकारी, अधिकारी को ही मात्र यह समर्थन नहीं देते बल्कि इनके जो अधिकार व कर्त्तव्य होते है उनमें ऐसी व्यवस्था और सम्भावना होती है कि किसी का एकाधिपत्य न स्थापित हो सके और सबका सहकारी दायित्व प्रमुखता पा सके। सामान्यतः ऐसे अभिकरण पंजीकृत नही हो सकते जो कि उपर्युक्त शर्तों को पूरा नही करते तथा अपंजीकृत अभिकरण को कई प्रशासनिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। पंजीकरण, नियमावली निर्माण तथा स्पष्ट उद्देश्य निर्धारण से अभिकरण को एक तो अपनी सीमाएँ मालूम रहती हैं दूसरे अन्य व्यक्तियों या समाज में विद्यमान अनेक प्रकार के अभिकरणों को भी उनके बारे में ठीक-ठीक ज्ञान हो पाता है। ऐसा होने से एक तो अभिकरण को स्वसंगठन और कार्यक्रम निर्धारण-संचालन में सुविधा होती है दूसरे अन्य संगठनों को भी उससे सहयोग और सहकार की सम्भावनाओं का ठीक-ठीक पता चलता है। पंजीकरण से नियंत्रण को बल मिलता है और नियंत्रण के फलस्वरूप कार्य क्षमता में वृद्धि होती है।

प्रशासन में संगठन और इसके स्वरूप का बहुत ही महत्त्व होता है। स्वाभाविक है कि जैसा संगठन का स्वरूप होगा तदनुरूप ही उसके कार्य-कलाप के तौर-तरीके होंगे। सामाजिक अभिकरणों का प्रशासन चूँकि मानवता और जनतांत्रिकता पूर्ण होना चाहिए इसलिए इन अभिकरणों के संगठन का स्वरूप भी ऐसा होना चाहिए जिसमें कि श्रेणी क्रमानुसार श्रेष्ठता तो हो किन्तु साथ ही सभी स्तरों पर इस बात की सम्भावना रहे कि

कोई भी अपनी बात नियंत्रित तरीके से ही किन्तु पूर्ण रूप से हर प्रभावकारी व्यक्ति के सम्मुख प्रस्तुत कर सके। ऐसा नही होना चाहिए कि कही एक जगह से ही आदेश-निर्देश दिये जायें और सब नीचे के लोग उसको यथावत् मानने को मजबूर ही हों। इसका यह अर्थ नही कि आदेशो-निर्देशों का नियंत्रक कोई एक व्यक्ति या निकाय हो ही नही वरन् यह है कि अधिनायकता से बचना चाहिए। किसी अभिकरण में कुछ सर्वोच्च अधिकार युक्त प्रमंडल हो सकते हैं तथा इसके अलावा कई समितियाँ हो सकती है और समितियों की उप-समितियाँ भी हो सकती हैं। प्रमंडल में एक अध्यक्ष होना चाहिए और कई सदस्य होने चाहिए, इसके अलावा आवश्यकतानुरूप संरक्षक, उपाध्यक्ष, मंत्री, उपमंत्री, इत्यादि बनाये जा सकते है। समितियों में आमतौर पर अर्थ सम्बन्धी समिति, प्रबन्ध-समिति, भवन-निर्माण-समिति, जन-सम्पर्क-समिति, चुनाव-समिति, मूल्यांकन-समिति, तथा कानून सलाहकार-समिति इत्यादि हुआ करती हैं। इनमें से बहुत-सी समितियाँ तो स्थायी होती है और कुछ विशेष अवसरों पर बना दी जाती हैं। कभी-कभी कोई अभिकरण परामर्शदात्री समिति का भी निर्माण करता है और इसमें ऐसे लोग भी रखे जा सकते हैं जो कि संस्था की अन्य समितियों में न हों या उससे अन्य रूपों में सम्बन्धित न हों। प्रायः इसमें समाज के ख्यातनामा ऐसे सामाजिक कार्यकर्त्ता एवं बुद्धिजीवी रखे जाते है जिनको कि सामाजिक कार्यों में और इस निमित्त बने संगठनों या अभिकरणों इत्यादि में दिलचस्पी हुआ करती है। हर अभिकरण में कोषाध्यक्ष भी हुआ करते है जिन पर कि संस्था या अभिकरण की सभी चल अथवा अचल सम्पत्ति के नियंत्रण की महती जिम्मेदारी हुआ करती है। संस्था में आय-व्ययक का प्रतिवेदन तैयार करना और आवश्यक समितियों में उनको उपस्थित करना इनका प्रमुख काम होता है और इसके अलावा संस्था की सम्पत्ति सम्बन्धी समृद्धि के प्रयत्न में संलग्न होना भी इनका कर्त्तव्य हुआ करता है। अभिकरण में प्रमंडल या समितियों के अध्यक्ष प्रायः ऐसे व्यक्ति बनाये जाते हैं जिनको कि सामाजिक अभिकरण के कार्य संचालन का ज्ञान और उससे अनुराग होने के साथ ही उनमें इतनी प्रौढ़ता, ईमानदारी, निष्पक्षता और कार्य कुशलता हो कि वे सभी सदस्यों और समाज में अभिकरण के प्रति आस्था और प्रेम को बढ़ाते हुए कार्य कर सकते हों। प्रायः अध्यक्ष का काम होता है कि वह बैठकों की अध्यक्षता करे और उनका कार्य संचालन करे। बैठकों की विषयसूची की स्वीकृत भी वही देता है और बैठकों में सभी सदस्यों के सहकार और सहयोग को प्रोत्साहन देना और उसका उपयोग करना भी उसका काम हुआ करता है। अनेक प्रकार के सामाजिक अभिकरणों में अनेक प्रकार से सदस्यों का नामांकन किया जाता है। बहुत से सदस्य दानदाता सदस्य होते हैं, बहुत से अपनी ख्याति के कारण मनोनीत किये जाते हैं, बहुत से पदेन होते हैं और अनेक चुनावों द्वारा या सदस्यता शुल्क जमा करके बने होते हैं। जो दान अथवा ख्याति के

कारण सदस्य बनते हैं वे प्रायः सम्मानित सदस्य कहे जाते हैं और जो चुनाव या शुल्क आदि के आधार पर बनते हैं उन्हें साधारण सदस्य कहते हैं। कुछ दानदाता या ख्याति प्राप्त व्यक्ति अपनी विशेष स्थिति के कारण आजीवन सदस्य होते हैं और अन्य कुछ अवधि विशेष के लिए बनाये जाते हैं। बहुत-सी संस्थाओं में बहुत बड़ी राशि देने वाले दानदाता सदस्यों की सदस्यता उनके जीवन के उपरान्त उसके उत्तराधिकारियों को भी हासिल रहती है। आमतौर पर साधारण सदस्य साधारण सभा के सदस्य होते हैं और इन्हें ही यह अधिकार होता है कि वे अवधि-विशेष पर अभिकरण या संस्था के पदाधिकारियों का चुनाव करें, कुछ सदस्यों का मनोनयन करें और नियमावली इत्यादि में संशोधन-परिवर्धन के अलावे सामान्य रूप से संस्था के वार्षिक क्रिया-कलापों पर विचार-विनिमय करें। विशेष या सम्मानित सदस्य प्रायः साधारण सभा के भी सदस्य होते हैं और इसके अतिरिक्त हर प्रमुख समितियों में भी इनको महत्त्वपूर्ण स्थानों पर रखा जाता है।

समितियों और उपसमितियों की बैठकें नियमित रूप से पखवारे वार, महीने वार, या द्वैमासिक, त्रैमासिक आधारों पर हुआ करती हैं जब कि साधारण सभा की बैठकें प्रायः वर्ष-दो वर्ष पर या किसी विशेष स्थिति पर ही आपत्तिकालीन बैठक के रूप में हुआ करती हैं। समितियों की बैठकों में दैनंदिन कार्य पर विचार-विनिमय और उनका सम्पादन किया जाता है तथा साधारण सभा में अनेक ऐसी उपलब्धियों या वारदातों की चर्चा होती है जो कि संस्था के सामान्य उद्देश्यों, हितों और संकल्प से सम्बन्धित हुआ करते हैं। अभिकरण में उपाध्यक्ष अथवा उपमंत्री का काम क्रमशः अध्यक्ष और मंत्री की अनुपस्थिति में उनके कर्त्तव्यों का पालन या निर्वाह करना हुआ करता है। ऐसी स्थिति में प्राय. यह ध्यान रखा जाता है कि यदि अध्यक्ष अथवा मंत्री छोटी अवधि मे ही कार्यभार संभाल सकने वाले हों तो ये कार्याधिकारी अध्यक्ष या मंत्री कोई नीति-विषयक या नीति-निर्धारण सम्बन्धी कार्य नही करते, वे मात्र दैनंदिन कार्य का ही निर्वाह करते हैं।

सामाजिक अभिकरण के प्रशासन मे संगठन का कोई अंग-प्रत्यंग या अधिकारी या पदाधिकारी जो भी कार्य करता है, वह उन व्यक्तियों से अच्छी प्रकार विचार-विनिमय करके और उन्ह विश्वास में लेकर करता है जो कि उससे सम्बन्धित हुआ करते हैं। ऐसा नहीं कि उन पर कुछ थोप दिया जाय। समितियों की बैठकों में हर व्यक्ति की भावनाओं और इच्छाओं का समुचित आदर किया जाता है और बिना किसी दलबन्दी के इस बात की चेष्टा होती है कि हर अच्छे परामर्श को उचित रूप में व्यवहार में लाया जा सके। दैनंदिन कार्यों में कोई अधिकारी.ऐसे आदेश-निर्देश नहीं देता जिसका कि भाव या भाषा ऐसी हो कि उससे सम्बन्धित व्यक्ति को मानसिक आघात पहुँचे या उसके व्यक्तित्व में कोई विघटनकारी प्रवृत्ति बलवती हो। किसी भी व्यक्ति के किसी पहलू से सम्बन्धित मसले पर वह उससे

सम्बन्ध या साक्षात्कार कर सारी स्थितियों को समझ या समझाकर ऐसी सम्भावना को बढ़ावा देने की चेष्टा करता है जो कि संस्था और व्यक्ति दोनों के विकास मे सहायक हो। सामाजिक अभिकरणों में कोई भी व्यक्ति किसी भी व्यक्ति से जाकर मिल सकता है, अपनी बात कह सकता है और दैनंदिन व्यवहार में ऊपर के अधिकारी नीचे के व्यक्तियों से कोई स्तरीकरण नही करते बल्कि उनका सारा आचार-विचार समानता और सद्-भावना के मानवीय गुणों से ओत-प्रोत हुआ करता है।

सामाजिक अभिकरण में कार्य करने वाले कार्यकर्त्ताओं या व्यक्तियों का अपना विशेष महत्त्व होता है। व्यक्ति या कार्यकर्त्ता ही संस्था के प्राण होते हैं और इनकी स्थिति पर ही सस्था की स्थिति निर्भर करती है। सारे प्रशासन में यदि कहा जाय कि व्यक्तियों या कार्यकर्त्ताओं की ही सर्वाधिक भूमिका होती है तो अतिशयोक्ति न होगी। इतने महवत्पूर्ण प्रशासनिक अंग का संस्थानुरूप होना अत्यन्त ही आवश्यक है। इसके लिए यह आवश्यक है कि जो व्यक्ति रखे जायँ उनके सम्बन्ध में ठीक-ठीक नीति निर्धारित कर ली जाय, भर्ती की प्रणाली का निरूपण और स्थिरीकरण कर लिया जाय और इनके अतिरिक्त उनकी सेवाओं की शर्तो और शिक्षण-प्रशिक्षण के सम्बन्ध में सोच-समझ लिया जाय। सामाजिक अभिकरण की प्रबन्ध-समितियाँ कार्यकर्त्ताओं के चुनाव के सम्बन्ध में नीतियाँ निर्धारित कर लेती है। कुछ कार्यकर्त्ता अधिकारी स्तर के हो सकते है। सबके सम्बन्ध में नियुक्ति सम्बन्धी अलग-अलग नीतियाँ हो सकती है किन्तु सबमें ऐसा ध्यान रखा जाता है कि वे कार्य के आधार पर तो स्तरीकरण करती हों किन्तु अन्य किसी भी आधार पर उनमें स्तरीकरण की सम्भावना न हो। सामाजिक अभिकरणों में युक्त होने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित नीति को जनतांत्रिक मूल्यों से युक्त होना चाहिए अर्थात् उनमें जाति, धर्म, वर्ण या लिग इत्यादि के आधार पर कम-से-कम भेद की स्थिति होनी चाहिए। भर्ती की शर्त भी ऐसी होनी चाहिए जिनमें कि कार्य और योग्यता के आधार पर भेद हो, किन्तु उपरोक्त आधारों पर नही। जिन पदो पर भर्ती करना होता है उनका नाम, उनसे सम्बन्धित योग्यताएँ और अर्जी के प्रपत्र इत्यादि तैयार कर लिये जाते हैं और पदो को समाचार पत्रों इत्यादि के माध्यम से विज्ञापित कर दिया जाता है। कभी-कभी सभीपस्थ रोजगार दफ्तरों से भी मदत ली जाती है। सारी अर्जियों को आमंत्रित करने की भी एक तिथि निश्चित रहती है और उसके अन्तर्गत प्राप्त अर्जियों को व्यवस्थित करके चयन समिति के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। चयन-समिति उनकी अच्छी प्रकार जाँच-पड़ताल करती है तथा उम्मीदवारों से लिखित, मौखिक, चिकित्सकीय या अन्यान्य परीक्षोपरान्त सन्तुष्ट होकर उपयुक्त उम्मीदवारों के चयन की संस्तुति करती है जिस पर कि प्रबन्ध-समिति विचार करके अगली कार्यवाही अर्थात् चुने हुए व्यक्ति को निमंत्रित करती है।

इस प्रकार चुनाव सम्पन्न होता है। कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार और नियमानुसार चयन समितियाँ एक ही पद के लिए प्राथमिकता क्रम से दो या तीन नाम की संस्तुति करती हैंजिनमें से किसी को किसी के पद ग्रहण से इनकार करने पर नियुक्त किया जा सकता है। नियुक्तियों में यह ध्यान रखा जाता है कि नियुक्त व्यक्ति न सिर्फ बौद्धिक रूप से पद के उपयुक्त हो वरन् उसके बोलचाल का ढंग, उसका शारीरिक गठन तथा मानसिक स्थिति भी ऐसी हो कि वह अन्य में आकर्षण पैदा करने के साथ-साथ विषम परिस्थितियों में भी अपने को समंजित रख सके। प्रायः सामाजिक अभिकरणों में ऐसे लाभार्थी या व्यक्ति सेवा प्राप्त करने हेतु आते हैं जिनकी कि सामाजिक, मानसिक या अन्यान्य स्थितियाँ बाधित हुआ करती है और वे सामान्य अपेक्षाओं से कहीं अधिक मानवीय अपेक्षाओं से युक्त होते है और यदि उनके साथ तदनुरूप व्यवहार न किया गया तो उनकी समस्याओं में सहायता देने को कौन कहे, वे और भी बढ़ सकती हैं। सामान्यतः सामाजिक अभिकरणों में जो व्यक्ति नियुक्त किये जाते हैं उनमें समाज सेवा की भावना और बाधितों से सहानुभूति होना अनिवार्य है। इसके अलावा जो कुछ अधिकारी वर्ग की नियुक्तियाँ हों उनमे यह भी ध्यान रखा जाता है कि उन्हें व्यक्तिगत व्यवहार और मनोसामाजिक विज्ञान का ज्ञान हो तथा उन्हें इनके साथ कार्य का अनुभव तथा प्रशिक्षण प्राप्त हो। संस्था में कार्य करने वाले अधिकारियों तथा कर्मचारियों को कार्यानुरूप उस अवस्था में समय-समय पर प्रशिक्षण देते रहने की जरूरत होती है जब कि या तो वे भलीभाँति पूर्व प्रशिक्षित न हों या उनके कार्य की विधि-प्रविधि में कोई उल्लेखनीय वैज्ञानिक परिवर्तन हो गया हो। बहुत बार बीच-बीच में शिक्षण-प्रशिक्षण की इसलिए भी आवश्यकता पड़ती है कि इससे कार्यकर्त्ता उन उपांगों को भी स्मरण कर पाता है जिनका कि उसके कार्य में गौड़ रूप में प्रयोग होता हैऔर वह उसे मूल कार्यो के बोझ में ही भूल गया रहता है। बहुत बार ऐसा होता है कि जब व्यक्ति की नियुक्ति की गयी होती है तब उससे लिया जानेवाला कार्य ऐसा नही होता कि उसमें किसी विशेष कौशल की आवश्यकता हो और इसलिए साधारण किस्म के ही व्यक्ति को नियुक्त कर लिया गया रहता है। ऐसे साधारण व्यक्ति को कार्य के स्वरूप के परिवर्तन के साथ-साथ उपादेय बने रहने के हेतु यह जरूरी होता है कि उसे प्रशिक्षित किया जाता रहे। बहुत बार ऐसा भी होता है कि बहुत से विशेष प्रकार के कार्यों के लिए पहले से ही पूर्व प्रशिक्षित व्यक्ति उपलब्ध ही नही होते और इस अवस्था में यह जरूरी हो जाता है कि कार्य विशेष के अनुसार नियुक्ति-उपरान्त व्यक्तियों को प्रशिक्षित किया जाय। प्रशिक्षण के लिए व्यक्तियों की समस्त क्षमताओं और साधनों की भरपूर जाँच-पड़ताल कर ली जानी चाहिए। अच्छे उपकरण और प्रशिक्षक के द्वारा कार्य के दौरान और उसी के माध्यम से दिया गया प्रशिक्षण अभिकरण विशेष के कार्य विशेष के लिए बहुत

ही उपादेय होता है। कभी-कभी ऐसे भी प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम चलाये जाते हैं जिनसे कि एक से कार्य के लिए अनेक अभिकरणों के कार्यकर्त्ता प्रशिक्षित होते है। ऐसा भी होता है कि अनेक प्रशिक्षण-केन्द्र चलते रहते है और उनमें अभिकरण विशेष अपने कार्यकर्त्ता विशेष को भेज कर प्रशिक्षित होने का अवसर सुलभ कराते है। बहुत-से प्रशिक्षण आर्थिक सहायता के साथ-साथ दिये जाते है और बहुतों में कुछ दिया नही जाता या शुल्क आदि लिये जाते हैं।

सामाजिक अभिकरणों को चाहिए कि वे अपने कर्मचारियों को बीच-बीच में प्रोत्साहन हेतु नियमित पदोन्नति के अतिरिक्त विशेष पदोन्नतियाँ भी दिया करे। ठीक ढंग से काम न करने वालों को मानवीय आधारों पर पदावनत करते रहने से भी वैयक्तिक नियंत्रण व संगठन में मदत मिलती है तथा इससे अन्ततोगत्वा अभिकरण और कार्यकर्त्ता दोनों को लाभ पहुँचता है। पदोन्नति अथवा पदावनति के जो भी आधार निर्धारित किये जायँ वे ऐसे होने चाहिए जिनमें कि समानता और स्वतंत्रता के मूल्यों की रक्षा और विकास की सम्भावना हो। यदि इनसे सम्बन्धित नियमों और आधारों को पहले से ही स्पष्ट कर दिया जाता है तो पारस्परिक सद्भावना और सौहार्दता में बढ़ोत्तरी की सम्भावना रहती है अन्यथा कटुता की। प्रत्येक कर्मचारी को उपस्थिति और अनुपस्थिति या कार्य और अवकाश सम्बन्धी शर्तों का ज्ञान होना चाहिए और ये शर्तें ऐसी होनी चाहिए जिनसे कि अभिकरण में अपने कर्त्तव्य निर्वाह के साथ-साथ हर कार्यकर्त्ता अपने परिवार और समाज की संस्कृतिगत अपेक्षाओं को भी पूरा करता रह सके। कार्य के घण्टे तथा उसकी भौतिक दशाएँ ऐसी होनी चाहिए कि जिनमें शारीरिक-सांवेगिक तनाव को अनावश्यक बढ़ावा न मिलता हो। कार्यकर्त्ताओं का परीक्षाकाल, उनके वेतन और भत्ते, उनका स्थानान्तरण, कार्यावकाश या पद-त्याग इत्यादि से सम्बन्धित नियम आदि भी पूर्व निर्धारित और ज्ञात होने चाहिए। बीच-बीच में कार्यकर्त्ताओं का मूल्यांकन होता रहना चाहिए और इसके अलावा उनका निरीक्षण भी होता रहना चाहिए। जहाँ मतभेद हो उन पर सतर्कता पूर्वक ध्यान देकर उन्हें दूर करना चाहिए। हर कार्यकर्त्ता से सम्बन्धित एक विशेष अभिलेख रखा जाना चाहिए और बीच-बीच में उसका मूल्यांकन कर यथोचित कार्यवाही करनी चाहिए। इन सारे कार्यों में यह बराबर ध्यान रखना चाहिए कि अधिकारी और कार्यकर्त्ता के बीच किसी आशंका, मनमुटाव या विचार बन्धन की स्थिति न आने पाये।

सामाजिक अभिकरण के प्रशासन तभी अच्छे हो सकते हैं जब कि उनके सम्पूर्ण की और अलग-अलग क्रिया-कलापों की नीतियाँ पूर्व निर्धारित हों। नीतियों के अतिरिक्त समस्त क्रिया-कलापों का विभिन्न स्तरों पर नियोजन भी आवश्यक है। नीतियों के अन्तर्गत संस्था अथवा कार्यक्रम के ध्येय और उनके कार्यान्वयन के तौर-तरीकों का वर्णत होता

है। सामाजिक अभिकरणों की नीतियाँ और कार्यक्रमों के दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक आधार मानवीय और जनतंत्रीकृत होते हैं और नीतियों के अन्तर्गत लाभार्थी और कार्यक्रम इत्यादि का आधारभूत वर्णन होता है। नीति-निर्धारण का कार्य संस्था की सर्वोच्च समिति या सर्वोच्च प्राधिकारी करता है। सामाजिक अभिकरण की नीतियाँ उससे सम्बन्धित सभी व्यक्तियों को ज्ञात होनी चाहिए तथा कोशिश यह होनी चाहिए कि जो भी नीति निर्धारित की जाय वह एक तो संस्था के सदस्यों से ताल्लुक रखती हो, दूसरे जहाँ तक बन पड़े उनकी इच्छा और भावनाओं का आदर करते हुए उनके राय-परामर्श से बनें। नीतियाँ ऐसी नही होनी चाहिए कि संस्था का जिस परिवेश में अस्तित्व हो उससे उनका कोई सम्बन्ध न हो, यदि ऐसा होता है तो उस समुदाय में उपलब्ध साधनों का लाभ संस्था को नही मिल सकता और समुदाय विशेष के हितों और आवश्यकताओं को भी अपने कार्यक्रमों द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता। अच्छी और उपादेय नीतियों के निर्धारण के लिए यह जरूरी होता है कि पहले अपने ध्येय निश्चित कर लिये जायँ और परीक्षा के तौर पर कुछ लचर नीतियाँ बना ली जायें और फिर उनको उन व्यक्तियों के पास राय जानने के लिए भेज दिया जाय जो कि इससे प्रभावित होने वाले हों। राय प्राप्त होने पर उनके प्रकाश में उनका अन्तिम रूप से निर्धारण करना चाहिए। नीतियों को बीच-बीच में देखते रहना चाहिए और उनका समयानुरूप परिमार्जन-परिवर्धन भी करते रहना चाहिए। नीति निर्धारण के उपरान्त कार्यक्रम का निर्धारण करना चाहिए। कार्यक्रम-निर्धारण के समय संस्था के ध्येय, और नीतियाँ, उसके भौतिक साधन, उपलब्ध कार्यकर्त्ता और जरूरतों का ध्यान रखा जाता है। उनका विश्लेषण, संश्लेषण करना चाहिए। इसके उपरान्त विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमों का अलग-अलग क्रमवार नियोजन करना चाहिए। कार्यक्रम को लागू करने और उसके बीच-बीच में और अन्त में मूल्यांकन का कार्य भी नियोजन का ही एक उपांग होता है। जैसा कि नीति निर्धारण की चर्चा करते हुए कहा जा चुका है, नियोजन में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह कहीं ऊपर से आरोपित न हो बल्कि इससे सम्बन्धित सभी पक्षों का इसके निर्माण में सक्रिय हाथ हो और सबकी अधिकाधिक सन्तुष्टि के उपरान्त ही इसका निर्धारण किया गया हो। नियोजन के समय बुनियादी तथ्यों को प्राप्त कर लेना आवश्यक होता है और इसके मूल्यांकन के लिए यह जरूरी होता है कि नवीनतम वैज्ञानिक तरीकों का ज्ञान एवं प्रयोग हो। सामाजिक अभिकरण के कार्यक्रमों या क्रिया-कलापों का नियोजन एक गत्यात्मक प्रक्रिया के रूप में होता है न कि स्थैतिक। यह सतत् चलता ही रहता है और हर स्तर पर इसमें थोड़े बहुत परिमार्जन की सम्भावना विद्यमान रहती है। ऐसा नहीं होना चाहिए कि एक बार जो नियोजन कर दिया जाय वही अन्तिम माना जाय। मानवीय सन्दर्भों मे अनुमानों की स्थिति प्रायः परिवर्तनशील हुआ करती है इसलिए ऐसा करना उपयोगी होता है।

सामाजिक अभिकरणों के कार्यक्रमों के संचालक अथवा नियंत्रक-निरीक्षक, जो भी व्यक्ति होते हैं उनकी गहन जिम्मेदारियाँ होती हैं। बड़ी-बड़ी संस्थाओं में अनेक कार्यक्रम चलते हैं और इन सबके अलग-अलग संचालक या अधिकारी बनाये जाते हैं जब कि छोटे अभिकरणो मे एक ही ऐसे अधिकारी से काम चलाया जाता है। यही व्यक्ति या अधिकारी प्राधिकारी या उच्च-समितियों एवं कार्यकर्त्ता के बीच की कड़ी होते हैं और एक ओर जहाँ इनसे ऊपर की समितियाँ जवाब तलब किया करती हैं वही दूसरी ओर मातहत कार्यकर्त्ताओं के कार्यों की देखरेख और उनकी अनुभूतियों और शक्तियों को जानने-समझने और समयानुकूल उनको नियोजित करने की जिम्मेदारी भी इन पर हुआ करती है। चूँकि इनकी जिम्मेदारियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण होती हैं और ये पद बड़े ही जिम्मेदारी के पद हैं तथा एक प्रकार से संस्था के सभी कार्यक्रम इनके ऊपर बहुत कुछ निर्भर करते हैं इसलिए यह जरूरी होता है कि इन पदों पर ऐसे ही व्यक्ति हों जिनमें कि इन्सानियत तो हो ही साथ-साथ यह माद्दा भी हो कि वे समय-समय पर उठने वाली परेशानियों का समुचित समाधान निकाल सकें और परमुखापेक्षिता से बचें। इसके अलावा इन अधिकारियों को प्रशासन और कार्यक्रम संचालन की विधियों-प्रविधियों का अच्छा ज्ञान होना चाहिए और यदि इस ज्ञान का मानवी सन्दर्भो में प्रयोग करने का पूर्व अनुभव या प्रशिक्षण प्राप्त हो तो और भी अच्छी बात है। इन अधिकारियों को धैर्यवान, साहसी, प्रत्युत्पन्नमति और ईमानदार होना चाहिए। इन्हें समाज और राज्य के ऐसे नियम एवं कार्यक्रम मालूम होने चाहिए जिनका उपयोग वे अपने कार्यक्रमों के लिए कर सकते हों। सहकारिता और सहभागिता के तत्त्वों का इन्हें ज्ञान होना चाहिए और इसका लाभ उन्हें अवश्य ही उठाना चाहिए। यदि ये अधिकारी जनतांत्रिक आधार पर संगठनात्मक कौशल से युक्त हों तो समाज-कल्याण-प्रशासन का काम सुचारु रूप से होता है। सामाजिक अभिकरण के अधिकारियों का यह भी दायित्व है कि वे क्रियाकलाप निर्देशन, निरीक्षण और संचालन के अतिरिक्त अन्य कार्य यथा—प्रतिवेदन, लेखन, मूल्यांकन, रखरखाव, धन-संग्रह एवं लेखा-जोखा रखने तथा उच्च समितियों को आवश्यक परामर्श देते रहने का भी काम करें।

प्रशासन तभी फलप्रद हो सकता है जबकि कार्यालय की कार्य पद्धति ठीक-ठीक हो। कार्यालय की कार्य पद्धति ठीक रखने के लिए उसे अनेक पंजिकाएँ तथा पत्र-सूचियाँ या पंजिकाएँ इत्यादि रखनी पड़ती हैं। अलग-अलग तरीके के प्रसंग के पत्रों को वर्गीकृत करके नियमित रूप से दैनन्दिन ब्योरेवार रखना चाहिए या जवाब इत्यादि देना चाहिए। पत्रों पर पत्रांक, तिथि एवं विषय का वर्णन अवश्य ही होना चाहिए। इससे खोजबीन करते समय काफी सुविधा होती है। विभिन्न प्रकार के कार्यों के लिए यदि पहले से ही निश्चित प्रपत्र-प्रारूप तैयार कर लिये जाते हैं तो भी आवश्यक जानकारी देने-लेने में सुविधा होती है।

यदि हर दिन का काम हर दिन निबटा दिया जाय तो कार्यक्षमता बनी रहती है और सम्बन्धित संस्थाओं या व्यक्तियों को भी सुविधा होती है। कोई भी पत्राचार करते समय यह बराबर ध्यान रखना चाहिए कि पत्र प्राप्त करने वाले की भावना का अधिक-से-अधिक आदर हो और शालीनता और भद्रता बनी रहे। दफ्तरों मे आमतौर पर जो पंजिकाएँ होतीहैं उनमें उपस्थिति पंजिका, कार्य पंजिका, अवकाश-पजिका, वेतन पंजिका, भुगतान पजिका, व्यय-पजिका, व्यक्तिगत अभिलेख पंजिका, सूचना पंजिका, वैठक या कार्यवाही पजिका इत्यादि प्रमुख हैं।

किसी भी अभिकरण में आय-व्ययक का निर्माण एक अत्यन्त प्रमुख काम होता है। आय-व्ययक में आय के समस्त स्रोत एक ओर और व्यय की समस्त मदे एक ओर दिखाई गयी रहतीहै और अन्त में बचत अथवा घाटे की रकम एवं अन्त में सन्तुलन स्पष्ट किया गया रहता है। इसी के आधार पर यह जाना जा सकता है कि संस्था की क्या स्थिति है और उनके कौन से कार्यक्रम कितने व्यापक और प्रभावकारी हो सकते है। आय-व्ययक के ही द्वारा हम जान सकतेहैं कि संस्था को कहाँ-कहाँ से और कितना धन मिल सकता है या प्राप्त करना है तथा वह कैसा कार्यक्रम बनाये जिसमे कि उनके अनुरूप व्यवस्था हो। यदि आय के स्रोत मालूम होते है तो उनसे सम्पर्क करना सरल होता है तथा यह ठीक-ठीक तय किया जा सकता है कि उन स्रोतों से लाभ उठाने के लिए कौन से तरीके प्रयुक्त किये जायें। आय-व्ययक के ज्ञान के आधार पर ही प्राधिकारी, अधिकारी, कार्यकर्त्ता अपने प्रयत्नों को तदनुरूप अभियोजित करके कार्यक्रम को सफलता की ओर बढ़ा सकते है। आमतौर पर आय-व्ययक का निर्माण करने की जिम्मेदारी कोषाध्यक्ष या वित्ताधिकारी पर होती है किन्तु वह इस मामले में अपने मातहत कर्मचारियों, अन्य संस्थाओं और समाज-कल्याण से सम्बन्धित व्यक्तियों तथा सरकारी विभागों से भी सम्बन्ध स्थापित करता है। आय-व्ययक बना लेने के बाद वह उसे वित्त-समिति तथा प्रबन्ध-समिति मे उपस्थित करता है और उन समितियों के अनुमोदन के उपरान्त वह आय-व्यय स्वीकृत समझा जाता है। संस्था के विभिन्न अगों, उपांगों, कार्यक्रमों, कर्मचारियों इत्यादि की ठीक-ठीक वित्तीय आवश्यकता को समझने के लिए वित्ताधिकारी प्रायः उन सबसे सम्पर्क करते है और उनसे तथ्य एकत्रित करके ही आय-व्ययक की मदें इत्यादि बनाते है। सामाजिक अभिकरणो के आय-व्ययक निर्माण में ऐसा करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि इससे संस्था के कार्यो में सहभागिता की भावना बढ़ती है और इस प्रकार जनतांत्रिक मूल्यों को महत्त्व मिलता है। आय-व्ययक के निर्माण के समय पिछले कुछ वर्षो का आय-व्ययक और सरकारी आय-व्ययक देख लेने से यह लाभ हो सकता है कि एक ओर जहाँ अपनी आवश्यकताओं और शक्तियों का पता चल जाता है वहीं सरकार से सम्पर्क सम्बन्धी संभावना को भी अच्छी तरह से

आँका जा सकता है। चेष्टा यह होनी चाहिए कि आय-व्ययक सन्तुलित हो यदि आय बहुत अधिक है और व्यय बहुत कम (जैसा कि बहुत ही कम होता है) तो आम धारणा यह बन सकती है कि अभिकरण के लोग सजाज-कल्याण-कार्य में कम अभिरुचि रखते हैं और हो सकता है कि भविष्य में आय कम हो जाय। यदि व्यय अधिक है और आय कम या इनमें काफी अन्तर है तो एक तो अनेक कार्यक्रम चलाये ही नहीं जा सकते, दूसरे लोगों में यह धारणा भी हो सकती है कि अभिकरण के लोग अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी हैं। आय-व्ययक की अवधि एक वर्ष की होनी चाहिए अर्थात् कोई भी आय-व्ययक एक वर्ष के लिए ही तैयार किया जाना चाहिए और यदि यह वर्ष सरकार के वित्तीय वर्ष के साथ-साथ चले तो और भी सुविधा होती है। आय-व्ययक वास्तविक आधारों पर तैयार किया जाना चाहिए न कि काल्पनिक। इसके अंक एवं संख्या स्पष्टत: और अभिनव लेखा-जोखा के तौर तरीकों के हिसाब से लिखी जानी चाहिए। किन्ही अंशों में यदि इनमें कुछ नमनीयता हो तो इस मामले में अच्छाई होती है कि यदि किसी आपत्ति कालीन स्थिति मे इसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन किया जाना अपेक्षित हो तो ऐसा किया जा सकता है। व्यय की मदें एवं राशियाँ ऐसी नहीं होनी चाहिए किकार्यक्रम पर तोकम और प्रशासन पर अधिक व्यय हो। इनका अनुपात उचित होना चाहिए। कार्यकर्त्ताओं के वेतन उन्ही सिद्धान्तों पर तय होने चाहिए जिन पर कि सरकारी विभागों में तय होते हैं। आमतौर पर किसी आय-व्ययक की मदों में आय में प्राय: सरकारी अनुदान, सामग्री, विक्रय, दान और शुल्क तथा व्यय में वेतन, क्रय, रख-रखाव तथा अनुदान इत्यादि प्रमुख होते हैं। आय और व्यय के बहुत से मद आवर्तक अर्थात् स्थायी रूप से चलने वाले होते हैं तथा बहुत से अनावर्त्तक अर्थात् कार्य विशेष के लिए ही होते हैं। सरकारी अनुदानों से प्राय: जो राशि मिलती है, वह संस्था की स्वयं की राशि के अनुपात में आंशिक रूप से हुआ करती है और इसके पीछे सिद्धान्त यह होता है कि एक तो संस्था को कुछ बराबर अपनी आर्थिक सक्षमता रखनी चाहिए, दूसरे कालान्तर में जब किस रकारी अनुदान बन्द हो जाय (जैसा कि अधिकांश अनुदानों की शर्तों में होता है) तब भी वह अपनी आर्थिक क्षमता के बलबूते पर जीवित रह सके।

सभी संस्थाओं को अपने खर्च का हिसाब-किताब रखना पड़ता है। जितना ही अच्छा हिसाव-किताब रखना है उतना ही नये-नये तरीके को अपनाना चाहिए। अच्छे लेखा-जोखा से कार्यक्रम संचालन में सुविधा होती है और इससे जिम्मेदारी और लोगों में विश्वास की भावना बढ़ती है। यदि लेखा-जोखा वैज्ञानिक तौर पर, गठित और सांख्यिकी के सिद्धान्तों के अनुसार सरल और ठीक-ठीक तथा व्यापक और सूक्ष्म स्थितियों को स्पष्ट करने वाला हो तो अच्छा रहता है। लेखा-जोखा रखने के लिए नकद पुस्तिका, आय

पुर्जों, लाभ पुस्तिका, दान पंजिका, आय-व्ययक की प्रति, संक्षिप्ती, पत्राचार, सम्पत्ति-पंजिका, स्वैच्छिक सेवाओं की पंजिका, वेतन पंजिका इत्यादि बनाना और रखना पड़ता है। अच्छी प्रकार लेखा-जोखा रखने के लिए इस कार्य में निपुण और प्रशिक्षित व्यक्ति को ही लगाना चाहिए अर्थात् इसमें गड़बड़ी होने से लोगों में संस्था के प्रति नाना प्रकार की शंकाएँ उठने लगती है।

आय-व्ययक के निर्माण और तदनुरूप आय और व्यय करने तथा उसका लेखा-जोखा रखने के साथ ही यह भी जरूरी होता है कि हर लेखे-जोखे को बीच बीच में संपरीक्षित भी किया जाता रहे। संपरीक्षण के कार्य से एक तो लेखा-जोखा रखने में जो भूलें हो रही होती हैं उनको सुधारने का मौका मिल जाता है दूसरे उनसे संलग्न व्यक्तियों की हरकतों का भी पता चलता है। सामाजिक अभिकरण में जो संपरीक्षण का कार्य होता है उसका ध्येय यही होता है कि लेखा-जोखा रखने के ठीक तौर-तरीकों को बताया जा सके और उनका पालन किया जा सके। संपरीक्षण से लोगों में विश्वास बढ़ता है और लोग आर्थिक रूप से सहायता करने के ज्यादा इच्छुक हो सकते हैं। संपरीक्षण का कार्य एक तो एक ही वर्ष में बीच-बीच में कई बार होता है, दूसरे वर्ष के अन्त में एक बार होता है। पहले को आंशिक संपरीक्षण और दूसरे को सम्पूर्ण संपरीक्षण कहा जा सकता है। अनेक अभिकरण अपने लेखा-जोखा विभाग में ही आवश्यकता-अनुसार एक या अनेक संपरीक्षक रखते हैं तथा ये ही लेखा-जोखा को संपरीक्षित किया करते हैं। कभी-कभी कानूनों से बाध्य होकर या अपने में लोगों का अधिक विश्वास पैदा करने के लिए संस्थाएँ ऐसा भी करती है कि सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त पंजीकृत संपरीक्षकों से संपरीक्षण का कार्य कराती हैं। इन दोनों ही प्रकार के संपरीक्षकों से वर्ष में कई बार या वर्ष के अन्त में एक बार संपरीक्षण कराया जा सकता है। जब सरकारी अनुदान का लाभ कोई संस्था उठाती है तो उसके लेखा-जोखा को सरकारी संपरीक्षक भी जाँच सकते है। संपरीक्षक लोग सम्पूर्ण लेखा-जोखा का परीक्षण करके एक प्रतिवेदन तैयार करते हैं जिसमें कि आय और व्यय के हिसाब का ब्यौरा होने के साथ ही लेखा-जोखा के तरीकों और मदों पर उनकी टिप्पणियाँ या सुझाव आदि होते हैं और वे समस्त लेखा-जोखा को प्रमाणित भी करते हैं। संपरीक्षकों द्वारा प्रमाणित प्रतिवेदन को संस्था की विभिन्न समितियों के सम्मुख विचार-विनिमय के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इन प्रतिवेदनों को सरकार के पास भी भेजना होता है और ऐसे व्यक्तियों के यहाँ भी भेजना होता है जिन्होंने संस्था को किसी प्रकार का दान इत्यादि दिया हो। चूँकि सामाजिक अभिकरण सार्वजनिक संस्थाएँ हैं इसलिए इन्हें नाम मात्र के मूल्य पर कार्य हेतु रखा जाता है। बहुत बार ऐसा पाया जाता है कि सामाजिक अभिकरणों में कार्य करने वाले सामाजिक कार्यकर्त्ता या अधिकारी यद्यपि आय

और व्यय तो करते हैं किन्तु इन्हें इसका ठीक-ठीक हिसाब रखने का तरीका ज्ञात नहीं हुआ करता। ऐसी स्थिति मे संपरीक्षक लोग उनको उनके द्वारा रखे जाने वाले लेखे-जोखे मे राय-मसविरा भी देते हैं जिससे कि वे ठीक-ठीक लेखा-जोखा रख सके।

प्रशासन मे मूल्याकन का बहुत महत्त्व होता है। मूल्यांकन द्वारा ही हम यह समझ सकते है कि संस्था के प्रशासन की क्या खामियाँ है, उनको किस तरह से दूर किया जा सकता है और इसी के आधार पर इससे सम्बन्धित नियोजन किया जा सकता है। संस्था में अनेक कार्यक्रम चला करते हैं और उनमे अनेक साधन और सामाजिक कार्यकर्त्ता संलग्न रहते हैं। इन सबकी उपलब्धियों और आवश्यकताओ को हर स्तर पर जानना आवश्यक होता है और यह ज्ञान बीच-बीच में उनके मूल्यांकन से ही सम्भव है। बिना मूल्यांकन के ऐसा हो सकता है कि उनकी शक्ति और उपादेयता का भरपूर लाभ न उठाया जा सके या उनमें बिखराव बढ़े। यों तो मूल्यांकन एक सतत् प्रक्रिया है किन्तु लक्ष्यों और चेष्टाओं का अच्छी प्रकार मूल्यांकन कुछ इतनी लम्बी अवधि के उपरान्त ही किया जा सकता है जिसमें कि वे स्पष्टतः जाने-समझे जा सकें। इस दृष्टि से प्रायः ऐसा किया जाता है कि या तो किसी कार्यक्रम या क्रियाकलाप की समाप्ति पर या वर्ष के अन्त मे मूल्याकन का कार्य किया जाता है। मूल्यांकन एक तो संस्था के अधिकारी या सामाजिक कार्यकर्त्ता स्वयं ही करते हैं, दूसरे कभी-कभी बाहर के अधिकारी या विशेषज्ञों द्वारा भी मूल्यांकन का कार्य सम्पादित होता है। मूल्यांकन के लिए संस्था के तमाम प्रकार के कागजात या पत्र-पत्रिकाओ इत्यादि को देखा जाता है और साथ ही अवलोकन, साक्षात्कार एवं लिखित-अलिखित प्रश्नो आदि की मदत भी ली जाती है। जो कोई भी मूल्यांकन किया जाय उसमे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि हर प्रकार से निष्पक्षता और ईमानदारी बरती जाय। यदि पक्षपाती मूल्यांकन किया जायेगा तो उससे वह लाभ नही मिल सकता जो कि एक सामाजिक अभिकरण से अपेक्षित होता है। मूल्यांकन के दरम्यान हर स्तर के सम्बन्धित व्यक्तियों का सहयोग लेना चाहिए और ऐसी कोशिश करनी चाहिए कि किसी को ऐसा न लगे कि वे अपनी स्थिति को ठीक-ठीक उपस्थित नहीं कर पा रहे हैं। सामाजिक अभिकरणों के क्रियाकलाप के मूल्यांकन में आर्थिक दृष्टिकोण को तरजीह नही देनी चाहिए, वरन् कोशिश करनी चाहिए कि सामाजिक और मानवीय दृष्टि से उपलब्धियों का मूल्यांकन हो। एक बात यह अवश्य ही ध्यान रखनी चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो मूल्यांकन की प्रणाली या विधि बहुत खर्चीली नही होनी चाहिए लेकिन यह जरूर ध्यान रखना चाहिए कि धन की बचत के चक्कर में समुचित मूल्यांकन में कमी न पायी जाय।

संस्था के कार्यो एवं कार्यक्रमो का आन्तरिक और वाह्य रूप से समन्वय एवं सहकार होना बहुत ही जरूरी है। ऐसा होने से ही यह सम्भव होता है कि एक तो हमें संस्था से

ज्यादा-से-ज्यादा लाभ मिल सकता है दूसरे वे एक दूसरे के लिए अधिक-से-अधिक लाभ-दायी हो सकते हैं। सहकार और समन्वय होने के लिए यह जरूरी है कि संस्थाओं और कार्यक्रमों के मामलों में लोगों की समान सद्भावना हो और वे एक दूसरे के बारे में अच्छी चेष्टाएँ और अभिलाषाएँ रखते हों और हर पक्ष किन्ही न किन्ही कर्त्तव्यों के लिए अपने को जिम्मेदार समझे। समन्वय और सहकार एक पक्षीय प्रयत्नों के आधार पर कभी भी सम्भव नही होते। समुचित समन्वय के लिए एक दूसरे के मध्य समुचित संचार होना चाहिए और सभी को एक दूसरे के क्रिया-कलाप की विधि, समय और शक्ति का भरपूर अन्दाजा होना चाहिए। सहकार और समन्वय प्रशासन के वे तत्त्व हैं जिनसे कि समानता और भागीदारी के जनतांत्रिक मूल्य शक्ति पाते हैं और इन्ही के द्वारा सामाजिक अभि-करणों से लाभ प्राप्त करने वाले किन्ही रूपों में बाधित सेवार्थी अपने को अधिक सन्तुष्टि दे सकने में समर्थ हो पाते हैं। मूल्यांकन एवं शोध के द्वारा सहकार और समन्वय की स्थिति का अनुमान लगाना चाहिए और इनके ऐसे तरीके विकसित करने चाहिए जो कि मानवीय होने के साथ-साथ संस्था के मूल अभीष्ट की ओर इन्हें अग्रसर करते हो। आजकल सहकार और समन्वय का कार्य स्थानीय से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक होने लगा है।

प्रशासन को अधिक से अधिक संगठित और प्रभावशाली बनाने के लिए संस्था सम्बन्धी अनेक किस्म के आँकड़ों एवं तथ्यों का संकलन करना और विभिन्न दशाओं या आवश्य-कताओं सम्बन्धी सर्वेक्षण और शोध करना बड़ा उपयोगी होता है। हर अभिकरण को चाहिए कि वह बीच-बीच में ऐसे कार्य किया करे। ध्यान यह रखना चाहिए कि एक तो इनमें खर्च कम हो, दूसरे ये स्पष्ट, सरल, सुलभ और निष्पक्ष हों। सामाजिक अभिकरणों को ऐसी साजसज्जा, उपकरणों, भवनों, एवं जगह-जमीन से युक्त होना चाहिए जिनसे कि मानसिक तुष्टि मिलती हो और प्रशासनिक कार्य-संचालन एव सस्था की सामग्रियों का ठीक से रख-रखाव हो सके। प्रत्येक सामाजिक अभिकरण को अपना एक वार्षिक प्रतिवेदन अवश्य ही तैयार करना चाहिए।

समाज-कार्य विषय एवं वृत्ति मे समाज-कल्याण-प्रशासन एक सहायक विधि के रूप मे स्वीकृत है। इसे सहायक विधि के रूप में इसलिए मान्यता है क्योंकि सारे समाज-कार्य मे प्रमुख रूप से प्रयुक्त होने वाली वैयक्तिक कार्यविधि, सामूहिक कार्यविधि एवं सामुदायिक संगठन मे इसका सहायक के रूप में उपयोग होता है। कोई भी अभिकरण मात्र प्रशासन हेतु नही होता वरन् वह कथित कार्य हेतु होता है; लेकिन उसके ये कार्य बिना प्रशा-सित हुए हो नही सकते और वे उतने ही अधिक उपादेय होते है जितना कि अच्छा उनका प्रशासन होता है।

अध्याय ८

सामाजिक शोध

समाज-कार्य में सामाजिक शोध एक सहायक पद्धति के रूप में उपयोग में लाया जाता है। व्यक्ति और समाज नामक दो अन्योन्याश्रयी पक्षों में हितकारी स्थिति को लाने या विकसित करने मे समाज-कार्य की पद्धतियों को अधिकाधिक समर्थ बनाने के लिए इसका उपयोग करना नितान्त आवश्यक होता है। इसके उपयोग से व्यक्ति अथवा समाज से सम्बन्धित हर प्रकार के तथ्यों का उद्‌घाटन होता है जिससे कि उनकी सहायता करने में मदत मिलती है। इतना ही नहीं, समाज-कार्य की प्रमुख पद्धतियों के सिद्धान्तों, प्रविधियों और अवधारणाओं को परीक्षित और विकसित करने का काम भी इसके द्वारा आसान हो जाता है जिससे कि समाज-कार्य की उपादेयता अधिकाधिक निश्चितता और सफलता की ओर अग्रसर होती है। समाज-कार्य में मानवी पहलुओं से अत्यधिक सरोकार होता है इसलिए इससे सम्बन्धित शोध में भी मुख्यतः उन्हीं सिद्धान्तों, अवधारणाओं, प्रविधियों और कौशल इत्यादि का प्रयोग किया जाता है जिनका कि अन्य मानवीय या सामाजिक विषयों से सम्बन्धित शोध में। इस अध्याय में हम सामाजिक शोध के सम्बन्ध में संक्षेप में चर्चा करेंगे।

सामाजिक शोध से हम उन तथ्यों का पता लगाते है जो हमें या तो ज्ञात न हों या जिनके बारे में हमारी धारणाएँ स्पष्ट न हों। कभी-कभी इसके माध्यम से हम अपनी धारणाओं और सिद्धान्तों का मूल्यांकन और परीक्षण भी करते हैं। इस प्रकार हम सामाजिक शोध के द्वारा अज्ञान को दूर करते हैं, गलत धारणाओं के सम्बन्ध में सत्य स्थिति को प्रकाशित करते हैं, ज्ञान का विकास करते हैं अथवा नया ज्ञान हासिल करते हैं, समाज में उपलब्ध साधनों को परिपूरक रूप में उपयोग करने में मदत पाते हैं और एक व्यापक समाजोपयोगी उद्देश्य निर्धारण और नियोजन में सहायता प्राप्त करते हैं। हर शोध का अपना एक या अनेक ध्येय हुआ करता है और उसके लाभ भी तदनुरूप ही होते हैं। सामाजिक शोध का क्षेत्र इसलिए अत्यन्त व्यापक है क्योंकि जीवन का सम्बन्ध या उस पर प्रभावकारी तत्त्व समाज के कोई भी घटक हो सकते हैं। इनमें मानव अथवा जीवधारियों के अतिरिक्त सभ्यता और संस्कृति की सभी उपलब्धियाँ या नियामक शक्तियाँ समाहित है। इसका अर्थ यह

नही है कि प्रकृतिस्थित अजीव या भौगोलिक, भौतिक, रासायनिक पहलुओं से स्वतंत्र रूप से सम्बन्धित विषय भी सामाजिक शोध के ही अन्तर्गत आते है। सामाजिक शोध के अन्तर्गत वे ही विषय या पक्ष सम्मिलित है जिनसे कि सामाजिक सम्बन्धो या व्यवहारो का स्वरूप उद्भूत, नियन्त्रित और हर हालत में किन्ही न किन्ही अंशों में अन्योन्याश्रयिता रखता है। यदि इस बात को और साफ-साफ कहा जाय तो कहा जा सकता है कि सामाजिक शोध सामाजिक पहलुओं का शोध है अर्थात् उनका शोध है जो कि समाज बनाते या बिगाड़ते है। सारे सामाजिक विज्ञानों में समाज का तात्पर्य व्यक्तियो के समाज से होता है और उनमें समाज के अवयव व्यक्ति, समूह या समुदाय का ही किन्ही न किन्ही रूपों मे अध्ययन किया जाता है अर्थात् सामाजिक शोध भी उन्ही मसलो से सम्बन्धित है जो कि उपरोक्त पक्षों से ही सीधे-सीधे ताल्लुक रखते है। इन पक्षों में व्यक्ति का स्वभाव, उसकी प्रेरणाएँ, विधायी और विघटनकारी शक्तियाँ, उसका पूरा व्यक्तित्व, समाज या समुदाय की परम्पराएँ, प्रथाएँ, रीतियाँ, मूल्य और समस्त संरचना इत्यादि सम्मिलित हैं। चूँकि व्यक्ति और समाज पर वैयक्तिक व्यक्तित्व और व्यापक अर्थो में सामाजिक संरचना का प्रभाव होता है इसलिए इन दोनो के अलग-अलग और अन्तर्सम्बन्धित तत्वो का शोध सामाजिक शोध है। जब व्यापक अर्थो में सामाजिक संरचना की बात कही जाती है तो इसका तात्पर्य होता है कि यह अपने मे समाज में स्थित राजनीतिक, आर्थिक, दार्शनिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संरचना को समाहित किये हुए है। इस प्रकार हम देखते है कि सामाजिक शोध का क्षेत्र इन सभी पहलुओ से सम्बन्धित होता है और यदि उनमें से किसी पर भी शोध किया जाय तो उसे सामाजिक शोध कहा जाता है। किन्तु व्यवहार में सुविधा की दृष्टि से ऐसा किया जाता है कि कभी-कभी अर्थ सम्बन्धी शोध को आर्थिक शोध, राजनीति सम्बन्धी शोध को राजनीतिशास्त्रीय शोध या इसी प्रकार सामाजिक संरचना के अन्य अंगों के नाम पर शोध विशेष का नामकरण कर लिया जाता है। इन सब में विधि-प्रविधि की दृष्टि से काफी एकरूपता होती है इसलिए इन सबको प्राकृतिक शोध की श्रेणी से अलग सामाजिक शोध की श्रेणी में ही रखा जाता है। समाजकार्य एक सामाजिक विज्ञान होने के नाते सामाजिक शोध की विधि-प्रविधि का ही प्रयोग करता है। सामाजिक शोध और प्राकृतिक शोध के जो अन्तर है वे ही समाजकार्य शोध और प्राकृतिक शोध के भी है। चूँकि सामाजिक शोध और प्राकृतिक शोध क्रमशः जीव और जड़ से सम्बन्धित होते हैं इसलिए सामाजिक शोध अपेक्षाकृत अधिक परिवर्तनशील संभावनाओं में सम्पादित होते हैं जब कि प्राकृतिक शोध का सम्बन्ध स्थैतिक संभावनाओं से है। जीव में क्षणप्रतिक्षण परिवर्तन ही नही होते वरन् इसके परिवर्तनों का रूप अमूर्त्त होता है। इसलिए इसे ठीक से जाना-समझा भी नही जाता, जबकि जड़ का रूप मूर्त्त होता है और उसे आसानी

से जाना-समझा जा सकता है। कितना भी प्रयत्न किया जाता है व वैज्ञानिकता का सहारा लिया जाता है किन्तु फिर भी मानवी पहलुओं और उससे निर्मित होने वाले समाज के पहलुओं की स्थिति और उसमें संभावित परिवर्तनों को बिल्कुल सही-सही जान पाना और निर्धारित कर पाना बड़ा दुरूह होता है। देश, काल और परिस्थिति की भिन्नता से सामाजिक और मानवी तथ्यों को पता लगाने का कोई सार्वभौम, निश्चित और स्थायी तरीका भी सुविधा से नही ज्ञात हो पाता। इसके किसी ज्ञान अथवा सिद्धान्त को सार्वभौमिक और स्थायी तौर पर लागू नहीं किया जा सकता जबकि प्राकृतिक शोध के मामले में ठीक इसका उलटा होने की ज्यादा सम्भावना होती है। प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्धित शोध की तुलना में सामाजिक विज्ञानों या समाजकार्य के शोध एक मामले में और भिन्न होते हैं। समाज-कार्य के शोध में दोनों ही पक्ष अर्थात् जिनका कि शोध किया जाता है और जिनके द्वारा किया जाता है, जीवन्त होते है। इसका परिणाम यह होता है कि दोनों एक दूसरे पर क्रिया प्रतिक्रिया या प्रभाव रखते हैं जिससे कि उनकी स्थिति व्यक्त या अव्यक्त अथवा मूर्त्त या अमूर्त्त रूप से प्रभावित होती रहती है। ऐसा होने से दशाओं की निश्चितता का कार्य कठिन हो जाता है और इससे प्राप्त परिणामों में दोष आते हैं जब कि प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्धित शोध में ऐसी स्थिति नही हुआ करती। सामाजिक शोध एक व्यापक शब्द है। इसके अन्तर्गत वे सभी अध्ययन आते हैं जो या तो मात्र पुस्तक-पुस्तिकाओं के माध्यम से ही कर लिये जाते हैं या व्यक्तियों या समूहों इत्यादि से प्रश्नावली या साक्षात्कार के आधार पर किये जाते हैं अथवा इन दोनों के सम्मिलित आधार पर किये जाते हैं। बहुत से लोग सामाजिक सर्वेक्षण की तुलना सामाजिक शोध से करने लगते हैं, ऐसा करना उचित नहीं है। सामाजिक सर्वेक्षण सामाजिक शोध का ही एक प्रकार है जिसका कि किन्हीं खास दशाओं में उपयोग किया जाता है। आजकल सामाजिक शोध में क्षेत्रगत अध्ययन का अधिक उपयोग किया जाता है और इसमें बुनियादी अथवा द्वैतीयक तथ्यों के संकलन में सामाजिक सर्वेक्षण का काफी सहारा लिया जाता है। आगे हम सामाजिक शोध के प्रकार, चरण और प्रविधियों इत्यादि के बारे में संक्षेप में चर्चा करेंगे।

शोध-प्रकार

सम्पूर्ण शोध को हम तीन भागों में उनकी प्रकृति के आधार पर बाँट सकते हैं। एक को अन्वेषणात्मक या निरूपणात्मक, दूसरे को वर्णनात्मक या व्याख्यात्मक और तीसरे को प्रयोगात्मक या परीक्षणात्मक कहा जा सकता है। उस शोध को अन्वेषणात्मक या निरूपणात्मक कहते हैं जिसमें कि शोध की समस्या को ही खोजना या निर्धारित करना रहता है। समस्या पहले से स्पष्ट नहीं रहती और इसी कारण समस्या से सम्बन्धित एक लोचपूर्ण ही

उपकल्पना का निर्माण इसमें किया जा सकता है। इस शोध में शोधकर्त्ता जो अपनी बुद्धि, उपलब्ध लिखित-अलिखित साहित्य और सम्बन्धित समाज या क्षेत्र में कार्यरत विभिन्न प्रकार के विशेषज्ञों या व्यक्तियों के अनुभव और ज्ञान पर ही आधारित रहना पड़ता है। इनके आधार पर ही वह शोध की समस्याओं की अनेक संभावनाओं को निश्चित करता है और फिर एक लोचपूर्ण प्रविधि के माध्यम से सर्वेक्षण कर अभीष्ट शोध-समस्याका निरूपण करने की चेष्टा करता है। यह कार्य अनिश्चत वातावरण मे होने से बड़ा ही कठिन होता है क्योंकि शोधकर्त्ता इसमें मात्र संभावनाओं पर ही आश्रित रहना है और हो सकता है कि उसकी उपकल्पनाएँ बिल्कुल ही निराधार हों और वह समस्या का ठीक-ठीक पता न लगा पाये। इसमें प्रयत्न और भूल का सिद्धान्त लागू होता है और कुछ सामान्य सर्वेक्षणों के उपरान्त ही ठीक-ठीक समस्या का पता लग पाता है। इस प्रकार के शोध का प्रचलन प्रायः बहुत कम होता है क्योंकि समाज विज्ञान के सिद्धान्तों की व्यापकता काफी बढ़ गयी है और आजकल प्रायः यह ज्ञात रहता है कि किसी क्षेत्र विशेष में शोध की क्या समस्या स्थिर की जा सकती है। यदि किसी नये क्षेत्र मे अन्वेषणात्मक शोध की आवश्यकता होती है, तो यह उसी अवस्था में अधिक फलप्रद हो पाता है जब कि शोधकर्त्ता की अन्तर्दृष्टि और ज्ञान काफी विकसित हो और वह समस्या के ऐसे विकल्प ही चुने या समझ सके जो कि अभीष्ट समस्या के काफी निकट हो।

वर्णनात्मक या व्याख्यात्मक शोध मे समस्या से सम्बन्धित पहलुओं का विस्तार से वर्णन या उनकी व्याख्या की जाती है। इसमें समस्त ऐसी सूचनाओं को एकत्रित करके उनकी सिद्धान्तोन्मुख व्याख्या की जाती है जो कि मनोसामाजिक दायरे के होते हैं। आजकल इस प्रकार के शोध का सर्वाधिक उपयोग किया जाता है और ऐसे सिद्धान्त निरूपित करने की चेष्टा की जाती है जोकि समाज के हित के हों। ऐसे अध्ययन में समस्या के उत्तर के रूप में अनेक उपकल्पनाएँ बना ली जाती हैं और कमोबेश उन्ही से निर्देशित होकर आवश्यकता और शक्ति के अनुरूप क्षेत्र, प्रविधियों और अन्वेषकोंइत्यादि का चुनाव किया जाता है। ऐसा शोध करते समय समस्या से सम्बन्धित अधिक से अधिक लिखित अथवा अलिखित साहित्य का अध्ययन किया जाता है, विद्वानों से परामर्श किया जाता है और अपनी सूझबूझ से काम लिया जाता है। इस शोध में चूँकि समस्या निश्चित होती है इसलिए उपकल्पना का निर्माण पहले शोध की अपेक्षा सरल होता है और इस बात की ज्यादा सम्भावना होती है कि ये उपकल्पनाएँ ज्यादा सत्य हों। यह शोध सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक संरचना, परम्परा तथा नियामक कारकों इत्यादि से सम्बन्धित होता है और इसमें तथ्य संकलन हेतु अनुसूची, प्रश्नावली, पर्यावलोकन और मनोवैज्ञानिक प्रविधियों इत्यादि की सहायता ली जाती है। ऐसे वर्णनात्मक शोध ज्यादा

सफल होते है जिनमें कि उनका ध्येय, तथ्य संकलन की पद्धति, नमूने या उदाहरण तथा अच्छे अन्वेषकों का पहले ही ठीक-ठीक चुनाव कर लिया जाता है। इस प्रकार के शोध से व्यापक अर्थो में सामाजिक नियोजन में सुविधा होती है। बहुत बार ऐसा भी होता है कि उपकल्पना का पूर्व निर्धारण नहीं किया जाता और जो निष्कर्ष निकलते है उन्ही के आधार पर सिद्धान्त स्थिर किये जाते है। किन्तु उपकल्पना के पूर्वनिर्धारण से अध्ययन को नियोजित और सुगठित करने में मदत मिलती है इसलिए प्रायः इसमें उपकल्पनाएँ निर्धारित कर ही ली जाती हैं जब कि अन्वेषणात्मक शोध में उपकल्पना का निर्माण करना सर्वदा आवश्यक नही हुआ करता। बहुत से लोग ऐसा मानते है कि हर व्याख्यात्मक शोध का ध्येय समस्या का मात्र निदान कर देना ही न होकर बल्कि उसके निराकरण का उपाय सुझाना भी होता है किन्तु यह कोई आवश्यक नही है। समस्या के निराकरण का सुझाव तो समाज विज्ञान वेत्ता करेंगे, शोधकर्त्ता का काम तो इतना ही है कि वह सम्बन्धित पहलुओं को प्रत्यक्ष कर दे।

प्रयोगात्मक या परीक्षणात्मक शोध वे शोध हैं जिनमें कि कुछ निश्चित उपकल्पनाओं या सिद्धान्तों को निश्चित परिस्थितियों में जाँचा जाता है। चूँकि इसमें उपकल्पनाओं की जाँच की जाती है इसलिए ऐसे शोधों में उपकल्पनाओं का होना नितान्त आवश्यक है। ये शोध प्रकृति विज्ञान में तो निश्चित और उपादेय नतीजे दे सकते हैं किन्तु समाज विज्ञान में इनकी उपादेयता संदिग्ध रहती है। चाहे व्यक्तिगत आधार पर ये शोध हों या इनका दायरा किसी समुदाय तक हो—चूँकि ये दोनों परिवर्तनशील होते है और इनकी अनेक शक्तियाँ अन्तर्निहित या अमूर्त्त होती है इसलिए ऐसे शोध के लिए शोध वस्तु की एकरूपता, स्थायित्व अथवा निश्चितता सर्वदा संदिग्ध होने की सम्भावना रखती हैं। ऐसा होने से दो सत्यों या तथ्यों की उचित तुलना और जाँच नहीं की जा सकती। फिर भी कमोबेश तुलनात्मक स्थितियों को आधार मानकर प्रयोगात्मक शोध किये जाते है और इससे समाज वैज्ञानिकों को हितकारी सिद्धान्त परिमार्जन में सुविधा होती है। दो भिन्न स्थितियों की तुलनात्मकता की अच्छाई इस बात पर निर्भर है कि उन दोनों में अधिक-से-अधिक समानता हो। इस हेतु शोधकर्त्ता यह कोशिश करता है कि वह जो दो भिन्न समूह या व्यक्ति को परीक्षणात्मक शोध हेतु चुने उनमें वह यह देख ले कि उनकी शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अवस्थाओं में काफी साम्य हो। परीक्षणात्मक प्रयोग कई प्रकार के होते है। इनको प्रायः तीन नामों से पुकारा जाता है। एक को पश्चात् परीक्षण दूसरे को पूर्वपश्चात् परीक्षण तथा तीसरे को कार्योत्तर परीक्षण कहते हैं।

पश्चात् परीक्षण उस परीक्षण को कहते हैं जिसमें कि परीक्षण के दो ऐसे नमूने या उदाहरण चुने जाते हैं जिनमें कि अन्य बातों में तो समानता होती है किन्तु फर्क यह होता

है कि एक के साथ कोई ऐसा कार्य नहीं किया गया रहता जिसके कारण कि उसकी दूसरे से भिन्न स्थिति हो सके जिसका कि अध्ययन करना होता है। जिस नमूने या उदाहरण के साथ कोई खास कार्य किया गया रहता है उसे परीक्षणात्मक नमूना या उदाहरण कहते हैं तथा जिससे इसकी तुलना की जाती है या जिसके साथ कोई कार्य नहीं किया गया रहता उसे नियन्त्रित समूह कहते हैं। इन दोनों के अन्तर को ज्ञात करना ही परीक्षणात्मक अध्ययन का ध्येय है और जो अन्तर खोजे या जाने जाते हैं वे ही इसके परिणाम होते हैं। चूँकि इसमें कार्य के बाद अवलोकन या निष्कर्ष निकालने का कार्य होता है इसलिए इसे पश्चात् परीक्षण कहते हैं। परीक्षणात्मक शोध के दूसरे प्रकार को इसलिए पूर्वपश्चात् परीक्षण कहते हैं क्योंकि इसमें एक ही व्यक्ति, समूह या समुदाय का उसके साथ कोई कार्य करने के पहले तथा बाद में परीक्षण या मूल्यांकन होता है। इसमें एक समान दो व्यक्ति, दो समूह या दो समुदाय को आधार मान कर तुलना नहीं की जाती। इसमें और पहले प्रकार में सुविधा की दृष्टि से अन्तर यह है कि पहले वाले में जहाँ एक ही साथ दोनों की तुलना कर ली जा सकती है वहाँ इसमें कुछ लम्बी अवधि तक एक ही का अवलोकन करते रहना पड़ता है। पहले में देश और परिस्थिति की भिन्नता के कारण साम्य खोजना कठिन होता है तो दूसरे में काल और परिस्थिति की भिन्नता के कारण। इसलिए निश्चित रूप से ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इनमें से कौन-सी पद्धति अच्छी है। यह तो शोधकर्त्ता के कौशल, ज्ञान, संयोग और परिस्थिति विशेष पर निर्भर करता है। तीसरे प्रकार के परीक्षणात्मक अध्ययन अर्थात् कार्योत्तर परीक्षण की यह विशेषता है कि इसमें ऐसे समूह चुने जाते हैं जिनमें कि शोधकर्त्ता कोई कृत्रिम रूप से कार्य करके परिवर्तन या अन्तर को नहीं देखता बल्कि स्वयं ही कुछ ऐसी विभेदी घटनाएँ उनमें घटित हो चुकी रहती हैं। ऐसे अध्ययन में भी अन्य बातों में दोनों समूहों में समानता होनी चाहिए जिससे कि उनसे निकले निष्कर्ष ज्यादा सही हो सकें। इस प्रकार के परीक्षण प्रायः ऐसे सत्यों की खोज के लिए किये जाते हैं जो कि इतिहासपरक हों अर्थात् जब भूतकाल में किन्हीं घटनाओं के कारण का पता लगाना होता है तो इसका सहारा लिया जाता है।

चाहे शोध अन्वेषणात्मक हो, व्याख्यात्मक हो या परीक्षणात्मक—सभी प्रकार के शोधों में कमोबेश ऐसे तत्त्व मौजूद रहते हैं जो कि भिन्न-भिन्न प्रकार के शोध के होते हैं। किसी शोध को बिल्कुल साफ-साफ यह कह पाना कि यह इस प्रकार का शोध है, मुश्किल होता है। सब में किन्हीं स्तरों पर एक दूसरे की मदत ली जाती है और तत्पश्चात् ही उसका अपना अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त हो पाता है। अन्वेषणात्मक शोध में भी व्याख्यात्मक शोध सम्मिलित हो सकता है और व्याख्यात्मक शोध में तो अन्वेषणात्मक शोध प्रायः रहता ही है। परीक्षणात्मक शोध को सम्पादित करने के लिए भी पूर्वकथित दोनों शोधों की आव-

श्यकता होती है। ध्येयगत प्रमुखता जिस प्रकार की होती है, उसी के अनुसार शोध के प्रकार का नामकरण सुविधा के हेतु कर लिया जाता है। आगे हम शोध के चरण और उनकी संक्षिप्त तफसील की चर्चा करेंगे।

शोध के चरण

सम्पूर्ण शोध या गवेषणा के कार्यक्रम को दस प्रमुख चरणों में विभाजित कर सकते हैं। ये चरण क्रमश :—

(१) अध्ययन के लिए समस्या, क्षेत्र के विषय का चुनाव,
(२) समस्या, क्षेत्र या विषय का परिसीमन,
(३) चुने हुए विषय पर जो कुछ सामग्री उपलब्ध हो उसका प्रारम्भिक अध्ययन,
(४) अभ्युपगम य उपकल्पना का निर्माण,
(५) अध्ययन की योजना का निर्माण,
(६) प्रश्नावली और सारणी आदि की प्रारम्भिक परीक्षा और उनका संशोधन,
(७) तथ्यों का संकलन,
(८) तथ्यों का विश्लेषण और उनकी व्याख्या,
(९) प्रतिवेदन का प्रारम्भिक प्रारूप तैयार करना और,
(१०) इस प्रारूप का संशोधन और अन्तिम प्रतिवेदन तैयार करना, हैं।

शोध कर्त्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने शोध की समस्या, उसका क्षेत्र व विषय सर्वप्रथम निश्चित कर ले। समाजकार्य के शोध की समस्या ऐसी कोई भी समस्या हो सकती है जो व्यक्ति या समाज के मनो-सामाजिक गठन से सम्बन्धित हो। व्यक्ति और समाज के गठन से सम्बन्धित समस्या का क्षेत्र और स्वरूप बहुत विशाल और वैभिन्य-युक्त हो सकता है। समाज का निर्माण करने वाली या उसकी संरचना पर प्रभाव रखने वाली कोई भी ताकत इसके अन्तर्गत आ सकती है। इसके अलावा वे तमाम परिस्थितियाँ भी इसकी समस्या का क्षेत्र हो सकती हैं जो कि व्यक्ति पर किन्ही रूपों में प्रभाव रखती हैं। कहने का तात्पर्य यह कि समाज कार्य के शीध की समस्या का क्षेत्र व्यक्तिगत व्यक्तित्व के अलावे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक इत्यादि संरचनाओं तक होता है। इन संरचनाओ के स्थूल, मूर्त्त या अमूर्त्त किन्ही भी पहलुओं को समाज-कार्य का शोध अपनी समस्या क्षेत्र के अन्तर्गत रख सकता है।

समाजकार्य के अध्ययन में क्षेत्र का तात्पर्य यह है कि शोधकर्त्ता यह निश्चय करता है कि वह किस भौगोलिक दायरे में या/की समस्या का अध्ययन करेगा। यद्यपि मानवीय समस्याओं की प्रकृति सार्वभौम हो सकती है, किन्तु भौगोलिक या स्थानीय भिन्नता से समस्याओं की प्रकृति का रूप बदल जाता है। इस कारण शोध को अधिक उपादेय और

सही बनाने के लिए यह आवश्यक होता है कि शोध का भौगोलिक क्षेत्र निश्चित कर लिया जाय। यह हो सकता है कि समाजकार्य का शोधकर्त्ता सामूहिक कार्य या सामुदायिक संगठन का सामाजिक परिवर्तन पर प्रभाव जानना चाहे या कृषक-मजदूरों की मनोसामाजिक दशा का अध्ययन करना चाहे अथवा औद्योगिक श्रम कल्याण कार्यक्रमों में समाजकार्य के तत्त्वों और उनकी उपादेयता का अध्ययन करना चाहे। यदि ये ही अध्ययन भारत, अमेरिका, इंग्लैण्ड और अफ्रीका के देशों में अलग-अलग किये जायें या किसी एक देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में किये जायें तो कथित एक ही समस्या से सम्बन्धित अलग-अलग तथ्य उपलब्ध होते हैं। यह भेद सम्पूर्ण समाज की संरचना के भेद के कारण होते है। चूँकि हर समाज की अपनी एक भौगोलिकता और उसके आधार पर अनेक समाजों मे भिन्नता होती है इसलिए शोधकर्त्ता को अच्छे परिणामों को प्राप्त करने के लिए समस्या के चुनाव के साथ-साथ ही यह भी निश्चित कर लेना पड़ता है कि वह उस समस्या को किस क्षेत्र में देखेगा या उसका अध्ययन करेगा।

हर शोधकर्त्ता को समस्या और क्षेत्र के साथ ही अपने विषय का भी चुनाव शुरू में ही कर लेना पड़ता । समस्या कोई भी मानवीय समस्या हो सकती है चाहे वह आर्थिक हो, सांस्कृतिक हो, राजनीतिक हो, धार्मिक, हो अथवा अन्य कोई भी। क्षेत्र भी इसी प्रकार दुनियाँ का कोई भौगोलिक क्षेत्र अलग-अलग या एक साथ हो सकता है। विषय के चुनाव का अर्थ यह है कि किसी क्षेत्र के अन्तर्गत समस्या के किसी खास अंग का निर्धारण होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि शोधकर्त्ता को शुरू में मात्र यही नही तय कर लेना होता है कि वह मानवीय पहलुओं के किस पक्ष का अध्ययन करे बल्कि उसे साफ-साफ उस पहलू विशेष के किसी अंग-प्रत्यंग का भी चयन कर लेना पड़ता है। यदि शोधकर्त्ता ने सामाजिक समस्या पर शोध करने का निश्चय किया है तो उसे शुरू में ही यह तय कर लेना होगा कि वह इसमें अस्पृश्यता की समस्या, नशाबन्दी की समस्या, व्यभिचार की समस्या अथवा पारिवारिक विघटन की समस्याओं में से किस खास सामाजिक समस्या अथवा विषय पर अध्ययन करेगा। इसी प्रकार आर्थिक समस्या का निश्चय करने पर उसे प्रारम्भ में ही मांग पूर्ति की समस्या, मंहगाई भत्ते की समस्या, मजदूरी की समस्या, कार्य करने की दशाओं की समस्या या उद्योग स्थापन में रुकावटों की समस्या में से किसी एक को चुन लेना पड़ता है और इसी प्रकार धार्मिक, सांस्कृतिक या राजनीतिक समस्याओं से सम्बन्धित अध्ययनों में भी शोधकर्त्ता के लिए यह अनिवार्य है कि वह उनकी किसी एक खास प्रकार की समस्या अथवा शोध विषय का चुनाव कर ले। इस प्रकार हम देखते हैं कि शोधकर्त्ताओं के लिए सबसे पहले यह अनिवार्य होता है कि वे अपनी शोध की समस्या, उस समस्या के खास क्षेत्र और समस्या के विषय का समुचित निश्चय कर लें। ऐसा करने के उपरान्त ही वे शोध के

आगामी चरणों की ओर उन्मुख हो सकते हैं और उसमें इनको सुविधा भी हो सकती है। हर शोधकर्त्ता की रुचि, अनुभव, शिक्षण-प्रशिक्षण, साधन और वृत्ति इत्यादि भिन्न-भिन्न हुआ करती है। यहाँ शोधकर्त्ता से तात्पर्य मात्र व्यक्ति से नहीं वरन् उन राजकीय और गैर राजकीय तमाम सगठनों से है जोकि शोधकार्य करते-करवाते हैं। जिस शोधकर्त्ता की जैसी इच्छा और शक्ति होती है उसको उसी के अनुसार शोध की समस्या, विषय और क्षेत्र का चुनाव और निर्धारण करना चाहिए और ऐसा करने से ही शोध के अच्छे परिणाम सम्मुख आने स्वाभाविक होते हैं। व्यवहार में प्रायः हम देखते है कि जो शोधकर्त्ता व्यक्ति अथवा संगठन जिस अभिरुचि एवं सामर्थ्य के होते हैं वे उन्ही के अनुरूप ऐसा करते भी है। आज इसका परिणाम यह हो रहा है कि शोध का व्यापक क्षेत्र और अनेक मानवीय समस्याएँ शोधकार्य मे अछूती रह जा रही हैं। तथाकथित शोधकर्त्ता व्यक्ति अथवा संगठन अपने हित पूरक समस्या और विषय पर ही शोध करते-कराते है और व्यापक अर्थों में मानवीय हित के अनेक शोधकार्य जस के तस रह जा रहे हैं। प्रयत्न होना चाहिए कि विविध विषयों और समस्याओं के अंग-प्रत्यंगों पर शोध कराये जायँ जिससे कि शोधकार्य अधिकाधिक व्यापकता प्राप्त कर सके।

शोध कार्य की समस्या, क्षेत्र और विषय के चुनाव के समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शोधकर्त्ता शोध के दरम्यान किन्हीं कारणों या परिस्थितियों से किन्ही खास भावनाओं के वशीभूत न हो जाय। जब शोध के विषय शोधकर्त्ता की भावनाओं से गलत तौर पर संयुक्त हो जाते है तो उसके परिणाम भी गलत आ सकते हैं जिससे कि ठीक-ठीक सिद्धान्तों का निरूपण नहीं किया जा सकता। मनोभावनाओं के प्रवाह के अतिरिक्त शोध के विषय के चयन के समय शोधकर्त्ता को अपनी शक्ति, अपने साधन और कालान्तर में शोध की उपादेयता व इन सबके समन्वित रूप पर विचार कर लेना चाहिए। यदि ऐसा होता है तो शोधकार्य सरल और अधिक सही होता है। यद्यपि सामाजिक शोधों में प्राकृतिक शोधों की तुलना में यह सब करना अत्यन्त कठिन है किन्तु निश्चितता की अनेक अवस्थाओं पर सतर्कतापूर्वक ध्यान रखते हुए ऐसा किया ही जाता है और सामाजिक शोधो की उपादेयता होती ही है। शोधकर्त्ता को शोध के लिए ऐसे ही समूह, समुदाय या व्यक्ति, क्षेत्र या समस्या का चुनाव करना हितकारी होता है जो कि अपनी एकरूपता बनाये रखने की अधिक सम्भावना रखते है। इसका अर्थ यह हुआ कि शोधकर्त्ता को ऐसी ही समस्याएँ लेनी चाहिए जिनकी प्रकृति शोध अवधि के दरम्यान कम से कम परिवर्तनशीलता की हो। इसी प्रकार न्यूनतम परिवर्त्तनशीलता के ही विषय व क्षेत्र भी चुनने चाहिए। देखा जाता है कि चूँकि समाज, व्यक्ति और परिस्थिति परिवर्तनशील है इसलिए बहुधा एक ही शोध की अवधि मे इनमें काफी तबदीली आ जाती है और इन पर प्रभावी कारकों की ताकत में भी भिन्नता आ

जाती है। बहुत-सी समस्याएँ, क्षेत्र या विषय कम परिवर्तनशील होते है या उनमें आसानी से नियन्त्रण की स्थिति बनायी जा सकती है और बहुत-से ऐसे होते है जो कि जल्दी-जल्दी बदल जाते है। जल्दी-जल्दी बदलने वाले विषयों, क्षेत्रों या समस्याओं से सम्बन्धित शोध की अवधि कम लम्बी होनी चाहिए और उन पर नियन्त्रण की कृत्रिम व्यवस्था अवश्य रखनी चाहिए तथा जिनके परिवर्तन की गति धीमी है उन शोधों की अवधि लम्बी हो सकती है और उनमें कृत्रिम नियन्त्रण की व्यवस्था की भी कम जरूरत रहती है। यह तो शोध की समस्या,उसका क्षेत्र और विषय जानने पर ही समझा जा सकता है कि वह उपरोक्त में से किस प्रकृति और आवश्यकता का है। बहुत से शोध ऐसे भी होते हैं जिनमे कि उत्तर-दाता या जिनसे तथ्य संकलन करना है वे जल्दी भयभीत होते है या उपलब्ध नही होते या जिनके बारे में अच्छा ज्ञान और साहित्य नहीं उपलब्ध होता। शोध की समस्या, क्षेत्र और विषय के चुनाव के समय इन बातों पर भी ध्यान रखना चाहिए और ऐसा चुनाव करना चाहिए जिनमें कि इन परिस्थितियों से आने वाली बाधाएँ कम से कम हों।

शोध का दूसरा चरण चुनी गयी समस्या, उसका क्षेत्र और विषय को परिसीमित करने का होता है। व्यक्तिगत अथवा सामाजिक पहलुओं से सम्बन्धित कोई भी समस्या हो प्रायः उस पर शोध की आवश्यकता इसलिए महसूस होती है कि उसकी कुछ व्यापकता होती है। कोई भी समस्या यदि एकदम व्यक्तिगत हो या अत्यन्त छोटे से समूह की हो तो उस समस्या पर शोध करना बहुत आवश्यक नहीं समझा जाता हालाँकि किन्ही विशेष दशाओं में ऐसी समस्याओ पर भी शोध किये जा सकते हैं। व्यापकता रखने वाली समस्या का ही चयन करने से शोध की उपादेयता भी व्यापक होती है। जब तक शोध की समस्या व्यापक प्रभाव वाली नहीं होती तो उस पर शोध की जरूरत ही क्या है? शोधकर्त्ता शोध के उपरान्त या तो किन्हीं खास स्थितियों या कारणों का ज्ञान प्राप्त करता है अथवा अपने संकलित तथ्यों के विश्लेषण से किन्हीं सिद्धान्तों को पुष्ट या प्रतिपादित करता है। प्रायः शोध इसी हेतु से संपादित होते हैं और शोधकर्त्ता समान परिस्थितियों में उन सिद्धान्तों के व्यवहार की सुविधा और संभावना समाज विज्ञानवेत्ताओं को उपलब्ध कराता है। यद्यपि प्रायः हर शोधकर्त्ता की इच्छा होती है कि उसकी खोज या शोध का फल व्यापकतर क्षेत्र में सुलभ हो और उसके सिद्धान्त बड़े से बड़े पैमाने पर लागू किये जायें किन्तु मानवीय शोधों में नाना प्रकार की विभिन्नता एवं गत्यात्मकता के कारण यह बड़ा ही कठिन होता है। इस कठिनाई के बावजूद भी मानवीय और सामाजिक शोध होते हैं और उनको भली-भाँति सम्पादित करने के लिए कार्यकर्त्ता को अपनी शक्ति और सामर्थ्य-अनुरूप चुनी गयी समस्या, क्षेत्र और विषय को इस प्रकार परिसीमित करना होता है कि एक ओर तो वह उसे सफलतापूर्वक सम्पादित कर सके और दूसरी ओर व्यापकतर पैमाने पर उसकी

उपलब्धियों का उपयोग भी सरल और सम्भव हो। ऐसा करने के लिए उसे समस्या के स्वरूप, उसकी गहराई, सामाजिक प्रभाव तथा अपनी बौद्धिक, वैयक्तिक, आर्थिक, उपकरण तथा समय सम्बन्धी सीमाओं का ख्याल रखना पड़ता है। इन्हीं को ध्यान में रख कर शोधकर्त्ता शोध के दूसरे चरण में अपने शोध के विषय और क्षेत्र को भली प्रकार अन्तिम रूप से संक्षिप्त और निश्चित करता है। प्रथम चरण में वर्णित समस्या के चुनाव के उपरान्त विषय का चुनाव एक प्रकार से समस्या का परिसीमन ही है। कभी-कभी मात्र इतने ही परिसीमन से शोध का काम चल सकता है, किन्तु बहुत बार शोधकर्त्ता को शोध की समस्या और विषय को इससे कहीं अधिक परिसीमित करने की जरूरत होती है। यदि और अधिक परिसीमन करना पड़े तो पिछले उदाहरणों को क्रमशः हिन्दुओं में अस्पृश्यता की समस्या, मजदूरों में नशाबन्दी की समस्या, अनाथ स्त्रियों में व्यभिचार की समस्या तथा संयुक्त हिन्दू परिवारों में विघटन की समस्या, अन्न की माँग-पूर्ति की समस्या, अध्यापकों की महँगाई-भत्ते की समस्या, खेतिहरों में मजदूरी की समस्या, इस्पात कारखानो या कोयले की खदानों में कार्य की दशाओं की समस्या तथा सीमेण्ट या पीतल के बर्त्तन के उद्योग की स्थापना में रुकावटों की समस्या, आदि रूपों में परिसीमित किया जा सकता है। यदि समस्याओ और शोध विषयों को और अधिक परिसीमित करना हो तो क्रमशः ग्रामीण, शूद्र या गरीब हिन्दुओं में अस्पृश्यता की समस्या, कोयला या उर्वरक उद्योग के मजदूरों में नशाबन्दी की समस्या, अनाथ-नाबालिग लड़कियों में व्यभिचार की समस्या, उच्च-स्तरीय संयुक्त हिन्दू परिवारों में विघटन की समस्या, अभिरुचि के अनुसार अन्न की मांग-पूर्ति की समस्या, बुनियादी पाठशालाओं या विश्वविद्यालयों के अध्यापकों की महँगाई-भत्ते की समस्या, चावल या चाय की खेती या बागवानी या कोयले की खदान में रोशनी या जल-पूर्ति सम्बन्धी या सुरक्षात्मक दशाओं सम्बन्धी समस्या तथा पीतल या सीमेण्ट उद्योग की स्थापना में, आर्थिक, वैयक्तिक राजकीय या सामाजिक रुकावटों की समस्या के रूप में परिसीमित किया जा सकता है। यहाँ परिसीमन को समझने के लिए कतिपय विकल्प ही सुझाये गये हैं। एक समस्या को कई प्रकार या रूपों में आवश्यकतानुरूप परिसीमित किया जा सकता है। यह तो हुई समस्या और विषय के परिसीमन की चर्चा; इसके अलावे शोधकर्त्ता को इस विषय को क्षेत्रीय रूप में भी सीमित करना पड़ता है। हो सकता है कि समस्या और विषय की व्यापकता बहुत बड़े भौगोलिक क्षेत्र मे हो और शोधकर्त्ता के पास इतना धन, समय और साधन न हो कि वह उतने बड़े क्षेत्र मे अपने शोध के काम को कर सके। ऐसी अवस्था में वह अपनी शक्ति और साधन के अनुसार भौगोलिक क्षेत्र को सीमित रूप में चुनता है और निश्चय करता है कि वह किस क्षेत्र में शोध करे। ऐसा करते समय वह ध्यान रखता है कि जो भी क्षेत्र चुना जाय वह ऐसा हो जो

कि उस व्यापक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता हो जिसके लिए शोध की आवश्यकता महसूस की गयी है या जिसके लिए कि शोधोपरान्त सिद्धान्त या कार्यक्रम स्थिर करने हैं। हो सकता है कि अस्पृश्यता, नशाबन्दी, व्यभिचार, पारिवारिक विघटन, माँग-पूर्ति, मंहगाई भत्ते, कार्य की दशाओं या उद्योग स्थापना में रुकावटों आदि की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय स्तर की हो। किन्तु इस स्तर पर सारे क्षेत्र को शोध का क्षेत्र बना कर शोध करने में बहुत अधिक खर्च, जन तथा समय लगने की सम्भावना होती है तथा साथ ही परिवर्त्तनों को नियंत्रित और एक रूपता की दशा में रखना असम्भव होता है। ऐसे स्तर के शोधों के लिए या तो शोध को कई भागों में बाँट कर भिन्न-भिन्न देशों में किया जाता है या देश के कुछ भूखण्डों को इसी हेतु चुन लिया जाता है। इस प्रकार क्षेत्र को परिसीमित करके उनसे प्राप्त तथ्यों के आधार पर सिद्धान्त, ज्ञान या कार्यक्रम सुलभ किये जाते हैं और उनका लोचपूर्ण उपयोग व्यापक क्षेत्रों में किया जाता है। दिये गये उदाहरणों में से कुछ को क्षेत्रीय रूप में इस प्रकार परिसीमित कर सकते हैं :—

उत्तर प्रदेश में ग्रामीण हिन्दुओं में अस्पृश्यता की समस्या, धनवाद के कोयला उद्योग के मजदूरों में नशाबन्दी की समस्या, दक्षिण भारतीय विश्वविद्यालयों में अध्यापकों की मंहगाई-भत्ते की समस्या, वाराणसी में पीतल उद्योग की स्थापना में रुकावटों की समस्या या राउरकेला इस्पात उद्योग में कार्य की दशाओं की समस्या आदि। प्रायः शोधों में समस्या, विषय और क्षेत्र के परिसीमन मात्र से ही नहीं काम चलता, इसमें भी नमूने या उदाहरण का चुनाव करना पड़ता है और तब कही शोध किया जा सकता है; किन्तु इस नमूने के चुनाव के लिए विषय और क्षेत्र का पूर्व चुनाव या निर्धारण तो कर ही लेना पड़ता है।

शोध के तीसरे चरण में शोध कर्त्ता को समस्या, विषय और क्षेत्र के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए समस्त ऐसी सामग्रियों का अध्ययन करना हितकारी होता है जो कि उससे सम्बन्धित हों और प्राप्त की जा सकें। इन सामग्रियों के अध्ययन के उपरान्त ही वह अध्ययन या शोध की दिशा और साधन इत्यादि का ठीक-ठीक निर्धारण कर सकता है या उसे ऐसा करने में सुविधा हो सकती है। सामग्रियों के अध्ययन के आधार पर ही वह विषय और क्षेत्र की प्रकृति को ठीक-ठीक समझ पाता है और उनमें उचित परिसीमन कर सकता है। अध्ययनोपरान्त ही वह शोध के अभ्युपगम का निर्माण करता है और उसी अनुसार सारे शोध की प्ररचना को तैयार और निश्चित करता है। बिना अध्ययन के उसे एक तो इन कार्यों को करने में बड़ी कठिनाई होती है दूसरे वह अपने अभीष्ट और कर्त्तव्य से विमुख हो सकता है तथा परिणाम यह हो सकता है कि वह इच्छित शोध कर ही न पाये। शोध के इस चरण में उन तमाम सामग्रियों का अध्ययन समाहित है जो कि या तो सहज उपलब्ध है या कठिनाई से प्राप्त की जा सकती हैं अथवा सम्बन्धित व्यक्तियों या विशेषज्ञों

से वार्त्ता या साक्षात्कार के द्वारा जानी-समझी जा सकती हैं। यह निश्चित नहीं है कि ऐसी सामग्री या ऐसे विशेषज्ञ शोधकर्त्ता को उसे वहीं मिल जायें जहाँ कि वह है— इसे उसे अनेक स्थलों या लोगों के पास जाकर हासिल करना पड़ सकता है। ये सामग्रियाँ छोटे-बड़े पुस्तकालयों, वाचनालयों, सरकारी-गैरसरकारी दफ्तरों, प्रतिवेदनों, अखबारों, सकलनों, पूर्व सर्वेक्षणो या शोधों, भाषणों, शिला-लेखों, ऐतिहासिक स्थलों, संग्रहालयों तथा जनता की छोटी-बड़ी समितियों, पत्रों या सम्पर्क आदि से मिल सकती है। हर शोधकर्त्ता इनको अपनी जरूरत और सामर्थ्य के अनुसार उपलब्ध करने की चेष्टा करता है और उनको प्राप्त कर उनका गहन अध्ययन कर उनमें से ऐसे तत्त्व या उपयोगी तथ्य संकलित करता है जो कि उसको शोध या शोध के परिणाम या सिद्धान्त निरूपण मे मदत दे सकती है और जिनके बिना कि उसके शोध की प्ररचना का ठीक-ठीक निर्माण कठिन या असम्भव हो सकता है। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि शोधकर्त्ता को अपनी सारी शोध योजना को ही रद्द करना पड़े। बहुत बार शोध के विषय और क्षेत्र भ्रमवश चुन लिये जाते है। ऐसा हो सकता है कि उन पर पहले ही शोध हो चुके हों या वह जो शोध करने जा रहा है उसकी कोई उपादेयता न हो। नमूनों की प्रकृति के ज्ञान और चुनाव के लिए भी इस अध्ययन का बड़ा महत्त्व है। इसी से उनको नियंत्रित किया जा सकता है व इसके अलावे शोध की प्रविधि का चुनाव और शोध कर्त्ताओं के शिक्षण-प्रशिक्षण की आवश्यकता और प्रकृति को भी समझने-जानने में सुविधा होती है।

अभ्युपगम

यह शोध का चौथा चरण हो सकता है। अभ्युपगम शोध के प्रारम्भ में ही की गयी वे कल्पनाएँ हैं जो कि शोध के उपरान्त प्राप्त होने वाले निष्कर्षों से मिलती-जुलती है। यह शोध के उपरान्त स्थिर होने वाला वह सत्य है जो कि शोध के पहिले ही कल्पित कर लिया जाता है। सीधे-सीधे यह शोध समस्या का शोधपूर्व हल या उत्तर है। शोधकर्त्ता शोध सम्पन्न करने के पहिले ही कुछ ऐसी बातों का निश्चय कर लेता है जोकि शायद उसे शोध-पश्चात् ज्ञात हों। इस निश्चय से उसे अपने शोध की दिशा, उसकी प्ररचना, उसकी प्रविधि और अन्यान्य सहायकों का अनुमान और निर्धारण करने में सुविधा होती है। इससे उसे ज्यादा भटकने की सम्भावना नहीं रहती और उसे अपने कार्य में सुविधा होती है। इस अभ्युपगम का ही वह शोधोपरान्त परीक्षण करता है और फिर इसमें सुधार या परिमार्जन कर अन्तिम सत्य की स्थापना करता है। प्रायः निरूपणात्मक शोधों में या तो अभ्युपगम का निर्माण किया ही नहीं जाता या उसके अभ्युपगम बहुत ही अधिक लोचपूर्ण होते है किन्तु व्याख्यात्मक और प्रयोगात्मक शोधों में तो अभ्युपगम प्रायः अवश्य ही बनाये

जाते है और इन शोधों के अभ्युपगमो मे इस बात की काफी सम्भावना होती है कि वे सत्य के काफी नजदीक हों या कम लोचपूर्ण या परिमार्जनापेक्षी।

शोध मे अभ्युगम के कई विकल्प रखने पड सकते है। एक समस्या के कई पूर्व-उत्तर (अभ्युपगम) होने से शोध की प्ररचना और प्रविधि के निर्धारण में सुविधा होती है। किसी भी शोध हेतु बनायी गयी परिकल्पना (अभ्युपगम) को बनाते समय यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि वह स्पष्ट, संक्षिप्त और सरल हो। ऐसा नही कि उसकी भाषा या शैली ऐसी हो कि उसके कई अर्थ निकलते हों या अर्थ समझ में ही न आते हों। जो भी बात कही जा रही हो, छोटे में और सरल वाक्यों में कही जानी चाहिए। अभ्युपगम का सम्बन्ध सीधे-सीधे समस्या या विषय से होना चाहिए ऐसा नही कि विषयान्तर हो। अभ्युपगम ऐसा ही होना चाहिए जिसे कि शोध के द्वारा जाँचा जा सके। शोध मे अभ्युपगम की स्पष्टता और संक्षिप्तता का यह अर्थ नहीं कि शोधकर्त्ता अपने पूर्व उत्तरों को किन्हीं दशाओं में अभिव्यक्त ही न कर सके, वरन् यह है कि वह जो कुछ कहे उसे अन्य भी आसानी से उन्ही अर्थों में समझ सकें जिनमे कि वह उन्हें कह रहा है।

शोध का अगला चरण प्ररचना या योजना का निर्माण करना होता है। इसके अन्तर्गत पुस्तकों की सूची तैयार करना, प्रश्नावली, अध्ययन विधि और यदि जरूरी हो तो साक्षात्कार का चित्र बनाना, मूल्यांकन के लिए उपयुक्त अनुमापक स्थिर या निर्माण करना, उदाहरण या नमूने की विधि तथा आबादी आदि निश्चित करना तथा विश्लेपण के प्रकारों का प्रारम्भिक नियोजन करना तथा कुछ सारिणी आदि बना लेना होता है। अब आगे इन सबकी अलग-अलग संक्षिप्त चर्चा की जायेगी।

पुस्तक-सूची का निर्माण

शोध-समस्या के चयन और परिसीमन के उपरान्त प्रारम्भिक अध्ययन और अभ्युपगम का निर्माण कर लेने पर शोधकर्त्ता ऐसी पुस्तकों, पत्रिकाओं, लेखों, अभिलेखों, निजी पत्रों या समाचार पत्रों में प्रकाशित वक्तव्यों या सूचनाओं आदि का क्रमबद्ध संकलन और ब्यौरा तैयार करता है जिनसे कि वह अध्ययन या शोध में बीच-बीच में मदत पायेगा तथा जिनके आधार पर वह शोध का प्रतिवेदन आदि लिखने में मदत पायेगा या जिसे वह सैद्धान्तिक वादविवाद और तथ्योद्घाटन के सम्बन्ध में प्रमाण रूप में प्रस्तुत या उपयोग में लायेगा। इन सूचियों को तैयार करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वे शोध की समस्या या विषय से सीधे-सीधे तो सम्बन्धित हों ही इसके अतिरिक्त शोध के प्रसंग में आने वाली बातों से भी सम्बन्धित हों। इन्हें अलग-अलग क्रम से तैयार करना चाहिए और ये इतनी प्रचुर या सम्पन्न होनी चाहिए कि इनसे ज्यादा से ज्यादा मदत ली जा सके। यह

चयन वैचारिक निष्पक्षता के साथ होना चाहिए। पुस्तक की सूची ऐसी होनी चाहिए कि उसमें कोई भी समझ सके कि शोध में कौन कौन सी पुस्तकों का उपयोग किया जायेगा या किया गया है। उनके लेखक कौन हैं, वे कब प्रकाशित हुई थी या उनके प्रकाशन का वर्ष और उनकी प्राप्ति के स्थान आदि क्या है ? यदि कभी पूरी पुस्तक का उपयोग न होता हो तो उसके उन अध्यायों या पृष्ठों की चर्चा करनी चाहिए जिनका कि प्रयोग होना है या हुआ है।

प्रश्नावली

आबादी के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए शोधकर्त्ता प्रश्नों की एक सूची तैयार करना है जिसे शोध की प्रश्नावली कहा जाता है। चूँकि यह प्रश्नावली किसी आबादी से सम्बद्ध होकर ही उपयोग में लायी जा पाती है इसलिए पहले यह जान लेना जरूरी है कि आबादी क्या है ?

आबादी एक व्यापक शब्द है। इसका अर्थ केवल मनुष्यों की संख्या नहीं बल्कि वे सभी वस्तुएँ हैं जिनका हम अन्वेषण करते हैं–जैसे–यदि वस्तुओं की कीमत का अध्ययन करना हो तो इन कीमतों के आँकड़े ही अबादी बन जायेंगे। सामाजिक अन्वेषण का कार्य मानव-आबादियों से आरम्भ हुआ था इसीलिए अन्वेष्य विषय का नाम आबादी पड़ गया है किंतु अब क्षेत्र विस्तार हो जाने के कारण इसका अर्थ अन्वेष्य विषय हो गया है। इस प्रसंग में 'कुल आबादी' अथवा 'मूल आबादी' अन्वेष्य सामग्री की उस पूरी संख्या या मात्रा को कहते हैं जिसमें से कि निदर्शन का कार्य या चुनाव होता है। अन्वेष्य विषय के कई विभाजन होते हैं—(१) अन्वेष्य विषय सीमित अथवा असीमित हो सकता है, सीमित जैसे कि गोष्ठी के सदस्यों की संख्या और असीमित जैसे कि भारत की आबादी। अगर भारत की आबादी में से एक लाख व्यक्तियों का अध्ययन किया जाय तो भारत की सारी आबादी इस नमूने या उदाहरण के मुकाबले में प्रायः असीम है।

(२) आबादी वास्तविक भी हो सकती है और परिकल्पित भी। अगर गणित सम्बन्धी सम्भावनाओं का अध्ययन करना हो, जैसे इस बात का अध्ययन करना हो कि यदि २००० सिक्के उछाले जायें तो उनके किस बल गिरने की कितनी सम्भावना है तो ये सम्भावनाएँ सिक्के उछालने से पहले काल्पनिक आबादी मानी जायगी।

(३) आबादी ज्ञात और अज्ञात हो सकती है। ज्ञात जैसे–ताश के कुल पत्ते जाने हुए होते हैं और अज्ञात जैसे–कोई जनसंख्या जिसके गुणों का पता नहीं है।

(४) आबादी गुण-भिन्न हो सकती है या मात्रा-भिन्न हो सकती है। गुण-भिन्न–जैसे–स्त्री-पुरुषों की आबादी जिसमें यह देखना है कि कितनी स्त्रियाँ हैं और कितने

पुरुष और आबादी में स्त्रियों तथा पुरुषों का समुदाय स्पष्ट रूप से अलग-अलग हो जाता है और मात्रा भिन्न—जैसे—किसी जनसंख्या के मनुष्यों की ऊँचाई जो उस आबादी को गुणों के अनुसार अलग-अलग समूहों में विभाजित नहीं करती वरन् सारी जनसंख्या में ऊँचाई की मात्रा लगातार भिन्न होती है अर्थात् एक दूसरे की ऊँचाई में मात्रिक भेद होता है, न कि गुणात्मक।

(५) आबादी निर्दिष्ट और अनिर्दिष्ट हो सकती है। निर्दिष्ट जैसे किसी देश में जीवन बीमा कराये हुए व्यक्तियों की संख्या जो कि किसी एक समय में निश्चित होती है और अनिर्दिष्ट जैसे किसी देश के बेकारों की संख्या जोकि हर समय बदलती रहती है।

(६) आबादी समरूप और विषमरूप हो सकती है। समरूप जैसे मनुष्यों की कोई प्रजाति जो अपने अन्दर ही विवाह करते रहने के कारण प्रायः समान गुण वाली होती है और विषमरूप—जैसे—किसी राज्य के निवासी जिनमे अनेक प्रकार के गुण दिखाई पड़ते हैं।

आबादियों से हमें जो जानकारी प्राप्त करनी होती है उसमें तीन गुणों का होना आवश्यक होता है—संगति, शुद्धता एवं प्रामाणिकता। इन तीन कसौटियो में से पहली अर्थात् संगति का अर्थ यह है कि जाँच का क्षेत्र जाँच के पूरे समय तक एक ही बना रहे और जो तुलनाएँ की जायें वे अभिमान्य हों। शुद्धता का अर्थ यह है कि जिन लोगों से जानकारी प्राप्त की जाय उनसे यथा शक्ति सारी प्रासंगिक जानकारी प्राप्त कर ली जाय। प्रश्नों की शब्दावली ऐसी होनी चाहिए जिनसे विश्वसनीय उत्तर प्राप्त हो सकें। हम यह मान कर चलते हैं कि हम जो जानकारी चाहते है वह प्रश्न पूछ कर प्राप्त की जा सकती है। प्रामाणिकता का अर्थ है कि जो आँकड़े इकट्ठे किये जायें उनकी परीक्षा कर ली जाय और यदि वे पूर्ण एवं पर्याप्त हों तो उन्हें प्रामाणिक समझना चाहिए।

प्रश्नों का सम्बन्ध शुद्धता से है—प्रश्न इतने सामान्य होने चाहिए कि सूचक या उत्तरदाता आसानी से अपनी कहानी कह सके यदि उसके बयान को शब्दों में निरूपित करने का उद्देश्य हो। एक अन्वेषक ने एक व्यक्ति का पूरा आत्मचरित्र उसी के शब्दों में लिखा था। सामाजिक कार्यकर्त्ता एवं मनोवैज्ञानिक, लोगों की जो जीवनियाँ लिखते हैं उसे वैयक्तिक अध्ययन कहा जाता है। इसके लिए दैनंदिनी को संक्षेप किया जा सकता है। इस सारे विवरण को सूचक की सामाजिक परिस्थिति के साथ सम्बद्ध किया जाता है अर्थात् इसमें यह देखा जाता है कि किसी विशेष सामाजिक ढाँचे में उसके अनुभव एक अंग के रूप में बैठ जाते हैं या नहीं या उसकी सूचियाँ तथा महत्त्वाकांक्षाएँ कहाँ तक उस समुदाय की रूचि और महत्त्वाकांक्षाएँ हैं।

विशिष्ट प्रश्न जो शोधकर्त्ता उत्तरदाता से पूछता है—चार रूपों में विभाजित किये जा सकते हैं—(१) स्वतंत्र प्रतिक्रिया—जैसे—'फाँसी की सजा के बारे में आपके क्या विचार हैं ?

(२) प्राथमिकता निर्धारण—जैसे—"यदि आपको दस हजार रुपये समाजोपयोगी कार्य में खर्च करना हो तो आप—

(क) सामाजिक अन्वेषण कार्य के लिए सहायता देंगे ?

(ख) अन्य प्रकार के या अन्वेषणों को प्रोत्साहन देंगे ?

या

(ग) एक शिशु गृह खोलने के लिए सहायता देंगे ?

(३) एक या अनेक चिह्नों वाली अंकन सूची—जैसे—अपराध और दंड के सम्बन्ध में आपके विचार किस बात से प्रभावित होते हैं—

(क) जो कुछ आप घर पर सुनते हैं उससे ?

या। और

(ख) जो कुछ आपने स्कूल में पढ़ा है उससे ?

या। और

(ग) बचपन में धर्माचार्यों से आपने जो उपदेश सुने हैं उससे ?

(४) हाँ या नहीं में उत्तर—जैसे—जेल के कर्मचारियों की तनख्वाह बढ़नी चाहिए—हाँ। नहीं।

हर प्रकार के प्रश्न का एक उपयोग होता है। चौथे प्रकार का प्रश्न पूछना आसान होता है किन्तु बहुत से लोग जो कुछ समझदार होते हैं, इस प्रकार का बँधा-बधाया जवाब देने में आपत्ति करते हैं। दूसरे लोग यह भी समझ सकते हैं कि जो विकल्प रखे गये हैं वे वास्तविक नहीं हैं जब तक कि उनके साथ कुछ और जानकारी न जोड़ी जाय। प्राथमिकता निर्धारण वाले प्रश्न भी बहुत से लोगों को ठीक नहीं मालूम पड़ते, किन्तु उनके पक्ष में यह कहा जा सकता है कि वास्तविक जीवन में भी हमें अनेक प्रश्नों के सम्बन्ध में अवास्तविक निर्णय करने पड़ते हैं, जैसे—किसी चुनाव में यह हो सकता है कि जितने उम्मीदवार खड़े हो उनमें से हम किसी को भी पसंद न करते हों किन्तु फिर भी हम यह समझते हैं कि हमें अपना मत देना है या मान लीजिए कि हमें किसी प्रस्ताव पर मत देना है और हम देखते हैं कि उस प्रस्ताव से हमारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं होती किन्तु यदि हम कोई निर्णय नहीं करते तो और भी असुविधाएँ बढ़ सकती हैं और हम किसी एक प्रस्ताव पर मत दे देते हैं।

प्रश्नों की प्रश्नावली ऐसी होनी चाहिए जो सूचक की मन:स्थिति के अनुकूल हो और वह उसे आसानी से समझ सके—जैसे—यदि यह प्रश्न पूछा जाये कि एकाधिकार के विरुद्ध

कानून बनाना आप को पसंद है या नही तो बहुतो के लिए यह प्रश्न निरर्थक हो जायगा और वास्तविक स्थिति मे से चुने हुए बहुत-से व्यक्ति यही नही जानते होगे कि एकाधिकारी कहते किसे है। इंगलैण्ड की जनगणना मे एक बार लोगों से यह प्रश्न किया गया था कि आप मालिक है या मजदूर ? यह प्रश्न इसलिए पूछा गया था कि बहुत से लोग अपने पेशे के प्रश्न पर राजगीर या ठेकेदार उत्तर दिया करते थे और इस प्रकार के गोल-मटोल उत्तरों से अधिकारी सन्तुष्ट नही थे, किन्तु मालिक और मजदूर के प्रश्न से उनमे आत्मसम्मान का विचार उद्भूत होता था इसलिए जनगणना में मालिकों की संख्या इतनी बढ़ गयी जितने कि वे वास्तव में थे ही नही। एक बार अमेरिका में पुस्तक पढने की आदतो पर अन्वेषण हुआ और प्रायः प्रत्येक व्यक्ति ने यह बताया कि उसने "जॉनविथ दी विंड" नामक पुस्तक पढ़ी है, क्योंकि उनको यह बताने मे शर्म मालूम पड़ती थी कि उन्होंने इतनी प्रसिद्ध पुस्तक को नही पढ़ा है। पढ़ने वालों की वास्तविक संख्या इस प्रश्न से ज्ञात हुई कि क्या आप "जॉन विथ दी विंड" नामक पुस्तक को पढ़ना चाहते हैं ? युद्ध काल मे जनता को हजामत बनाने के ब्लेडों की कितनी जरूरत थी, यह जानने के लिए सर्वेक्षण हुआ। आठ सौ व्यक्तियों के नमूने या उदाहरण में से एक सौ बत्तीस आदमियों ने इस प्रश्न पर 'हाँ' कहा कि आज प्रातः आपने नया ब्लेड निकाला या नही ? लेकिन जब दूसरा प्रश्न किया गया कि कल आपने नया ब्लेड लगाया था या नहीं, तब केवल इकतीस आदमियों ने 'हाँ' कहा। अगर यह प्रश्न पूछा जाय कि हमारी सरकार शराब की दूकानों की संख्या कम करने का जो कानून बनाने जा रही है उसे आप पसंद करते हैं या नहीं, तो बहुत से लोग जो प्रस्तावित कानून को पसंद करते है वे उत्तर 'नही' मे देंगे, क्योंकि वे सिद्धान्ततः सरकार द्वारा ऐसे कार्य किये जाने के विरोधी है। यदि यह प्रश्न पूछा जाय कि हमें हरिजनों के प्रति सहिष्णु होना चाहिए या नही तो बहुत से उदार व्यक्तियों को यह प्रश्न बुरा मालूम होगा क्योंकि इस प्रश्न में हरिजनों के सम्बन्ध में हीनता का भाव निहित है और यह भावना प्रगट होती है कि इनके साथ एक विशेष प्रकार का व्यवहार होना चाहिए।

कुछ शब्द ऐसे होते है जिन्हें रहस्यात्मक शब्द कहते हैं और जिनसे कुछ लोगों में अनुबद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है जिससे बचना आवश्यक है। बाजी लगाने के विषय में कई प्रकार के जवाब आयेंगे और यदि पूछा जाय कि आप जुआ खेलते है या नही, तो उत्तर इतने भिन्न नही होंगे। इसका मतलब है कि प्रश्न स्पष्ट होने चाहिए जिससे विभिन्न सूचकों को उसका एक ही उद्देश्य दिखाई दे। अगर यह प्रश्न पूछा जाय कि धर्म शक्तिशाली है या नही तो तुलनात्मक दृष्टि से इसके कई उत्तर दिये जा सकते हैं। यदि छोटे-छोटे अस्थायी संग-ठनों की तुलना में देखा जाय तो 'हाँ' कहा जायगा और यदि राज्य की तुलना में देखा जाय तो 'नही' कहा जायगा। इस प्रश्न की दूसरी कमजोरी यह है कि इससे यह नहीं पता

चलता कि जो भी उत्तर दिये जाते है उनका मूल्य क्या आँका जाय ? यदि जवाब 'हाँ' में है तो उससे पसंदगी और नापसंदगी दोनो प्रकार के भाव प्रकट हो सकते है। सम्भव है कि धार्मिक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा कर्म को अधिक शक्तिशाली समझें क्योंकि वे धार्मिक संगठनों के कार्यों से अधिक परिचित हैं। दूसरी ओर नास्तिक लोग भी धर्म के बारे मे अतिरंजित भावनाएँ रख सकते हैं। ऐसी स्थिति में नास्तिक लोग भी इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' मे देगे किन्तु उनके उत्तर से प्रशंसा के स्थान पर निन्दा प्रकट होगी। इसी तरह यदि यह पूछा जाय कि क्या यहूदी लोग बड़े शक्तिशाली है, तो इस प्रश्न के उत्तर में यहूदियों के प्रति विरोध स्पष्ट नही होता क्योकि बहुत से लोग शक्ति को सत्प्रयत्न का उचित फल मानते है।

अनुकूल मनःस्थिति के प्रसंग में हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रश्नों का क्रम ऐसा न हो जो सूचक मे किसी विशेष प्रकार का उत्तर देने की प्रवृत्ति उत्पन्न करे। उदाहरणार्थ, किसी सरकारी कारखाने के मजदूरों के अन्वेषण में दो प्रश्न पूछे जा सकते हैं, एक तो यह कि क्या बड़े अधिकारियो की संख्या तथा वेतन घटा देना चाहिए और दूसरा यह कि आप कारखाने की व्यवस्था में क्या सुधार चाहेंगे ? अगर दूसरा प्रश्न, जो सामान्य प्रश्न है, पहले पूछा जाय तो अधिक व्यक्ति यह कहेंगे कि हम नही बता सकते; किन्तु साथ ही साथ उत्तर के रूप में अनेक प्रकार के रचनात्मक प्रस्ताव भी आयेंगे और यदि पहला प्रश्न जो विशिष्ट प्रश्न है, पहले पूछा जाय, तो सूचक लोग प्रबंध-सम्बन्धी व्यय के प्रश्न पर विशेष रूप से विचार प्रकट करेंगे। स्पष्ट है कि दूसरा तरीका ही ठीक है। पहले आने वाला प्रश्न यथासंभव प्रासंगिक होना चाहिए। समय के हिसाब से बात करना अच्छा होता है—जैसे—हम यह जानना चाहते है कि कोई आदमी अपने फुर्सत के समय को किस प्रकार व्यतीत करता है तो उससे क्रम से कई प्रश्न पूछे जायें——जैसे——

(क) आप काम से कब छुट्टी पाते हैं ?

(ख) आप घर पहुँच कर क्या करते हैं ? इत्यादि–इसी प्रकार के कई प्रश्न करके उसके छुट्टी के घंटों के बारे में जानकारी पूरी की जा सकती है। ये प्रश्न उसकी छुट्टी के समय में ही पूछें जायें तो अच्छा होगा और ऐसे वातावरण में पूछना अच्छा होगा जिसमें कि वह इसके लिए तत्पर दीखता हो।

सन् १९४५ में ब्रिटेन में एक मनोवृत्ति सम्बन्धी शोध हुआ था जिसमें ३६७ विद्यार्थियों से यह पूछा गया था कि मद्यनिषेध के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ? यह देखा गया कि इस प्रकार के संमति सम्बन्धी अन्वेषणों की उपयोगिता बहुत सीमित होती है। अच्छे प्रश्न वही होते है जो किसी आदर्श का उल्लेख न करके व्यवहार का ही उल्लेख करते हैं–जैसे——क्या आप सुशिक्षित है ? यह पूछने से कहीं अच्छा यह पूछना है कि 'आप कितने

दिनों तक स्कूल में पढ़े हुए हैं ? इसमें सन्देह नही कि उत्तरों की व्याख्या करने में सावधानी आवश्यक है, क्योकि विश्वविद्यालय में ५ वर्ष रहने का अर्थ यह भी हो सकता है कि आप स्नातकोत्तर शिक्षा पा रहे थे और यह भी हो सकता है कि बराबर असफल होते रहे। इसके अतिरिक्त सैद्धान्तिक शिक्षा से सब लोग बराबर फायदा भी नहीं उठा पाते। इसलिए प्रश्नावली का प्रयोग सामाजिक तथ्यों की मात्रा जानने के लिए अधिक सरल है, उनके सम्बन्ध मे राय जानने के लिए नही। प्रश्नों में निम्नलिखित गुण होने चाहिए :—

१—प्रश्न थोड़े से हों।

२—उत्तर में 'हाँ,' 'नही' या कोई संख्या माँगी जाय।

३—प्रश्नों से अनावश्यक कौतूहल न प्रकट हो।

४—प्रश्न ऐसे हों कि आवश्यक जानकारी सीधे और असंदिग्ध रूप से प्राप्त हो सके।

५—सब प्रश्न एक दूसरे के सहायक हों।

प्रश्नावली को प्रयोग में लाने से पहले व्यवहार में उसकी परीक्षा कर लेना आवश्यक है। यह हो सकता है कि प्रश्नों के क्रम या रूप में परिवर्तन करना पड़े। प्राय: ऐसे परिवर्तन कई बार करने पड़ते हैं। यह भी देख लेना चाहिए कि प्राथमिक सर्वेक्षण और वास्तविक सर्वेक्षण के बीच में कोई ऐसी घटना न हो गयी हो जो सर्वेक्षण की योजना में विघ्न उपस्थित करे। श्रम सम्बन्धी शोध में मान लीजिए कि दोनों के बीच में कोई हड़ताल हो गयी है, ऐसी स्थिति में मजदूर लोग उस समय की तुलना में जबकि प्राथमिक सर्वेक्षण हुआ था, अपने मालिको के विषय में बिल्कुल ही दूसरी धारणा बना लेंगे; इसलिए प्रश्नावली को नयी स्थिति के अनुकूल बनाना पड़ेगा। सर्वेक्षण के परिणामों के प्रकाशन से भी जनता प्रभावित हो जाती है। सन् १९४८ में संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रेसिडेन्ट के चुनाव में जो सम्मति सूचक अन्वेषण हुए थे उनके परिणाम कुछ और ही थे और चुनाव का परिणाम कुछ और ही हुआ। इसका कारण यह बताया जाता है कि सम्मति सूचक अन्वेषण में अधिक मत रिपब्लिकन पार्टी को प्राप्त हुए थे और इस बात का बहुत प्रचार किया गया था। किन्तु जनता इस बात से भयभीत हो गयी कि कही रिपब्लिकन शासन और रिपब्लिकन कांग्रेस अत्यधिक बहुमत से न जीत जाय और इस कारण आखिरी वक्त में डेमोक्रैटिक उम्मीदवार की ओर झुक गयी।

बहुत-सी प्रश्नावलियाँ ऐसी होती है जिनमें कि प्रश्नों के उत्तर के विकल्प या तो मात्र चित्रों द्वारा या चित्रों के साथ-साथ शब्दों द्वारा भी चित्रित तथा लिखित रहते है। प्राय: ऐसी प्रश्नावलियों का उपयोग उन व्यक्तियों या आबादी से तथ्य संकलन हेतु किया जाता है जिनका बौद्धिक स्तर ऐसा नही है कि वे शब्दों या वाक्यों की अभिव्यक्ति मात्र से शोधकर्त्ता के प्रश्नों या उनके उत्तरों को ठीक-ठीक समझ सकें। इसके अलावा ऐसी प्रश्नावलियाँ

कुछ मनोहारी होती हैं और उत्तरदाताओं को इनके उपयोग मे सरलता होती है। आजकल जिन प्रश्नावलियों का सर्वाधिक उपयोग किया जाता है उनके प्रश्नों का स्वरूप एक सा ही निश्चित नही होता वरन् कोशिश यह की जाती है कि भिन्न-भिन्न पहलुओं से सम्बन्धित प्रश्नों का स्वरूप ऐसा भिन्न-भिन्न रखा जाय जिससे कि एक तो किसी खास पहलू को ठीक-ठीक समझने मे कोई बाधा न आये या उन्हें ठीक-ठीक समझा जा सके तथा दूसरे सम्पूर्ण प्रश्नावली मे जिन-जिन दायरो को समाहित किया गया है और इनके सम्पूर्ण सम्मिलन के उपरान्त जो अभीप्ट है उसे जाना जा सके। शोध के पहलू विभिन्नता रखते हैं इसलिए विभिन्नता युक्त प्रश्नो की अनिवार्य आवश्यकता होती है।

प्रश्नावलियों को बनाते समय उनमें स्पष्टता, प्रश्नों में अनुपूरकता, संख्या तथा सम्भावित उत्तरों इत्यादि के स्वरूप को तो ध्यान मे रखा ही जाता है साथ ही यह भी चेप्टा की जाती है कि बीच-बीच में कुछ प्रश्नों को ऐसे भिन्न रुप मे पूछ लिया जाय जिनसे कि एक तो उत्तरदाता या सूचक यह एहसास न कर सके कि उस पर कोई अतिरिक्त बोझ डाला जा रहा है या उसकी बौद्धिक या स्मृति सम्बन्धी क्षमता को जाँचा जा रहा है और साथ ही यह भी ज्ञात हो जाय कि इस प्रश्न के सम्बन्ध मे एक ही समय एक ही उत्तरदाता के क्या भिन्न विचार, मन्तव्य या प्रेरणाएँ है ? किस शोध में कैसी प्रश्नावली का प्रयोग कब किया जाय यह शोध के उद्देश्य और उसकी प्रकृति पर निर्भर करता है।

बहुत बार प्रश्नों की मालिका को प्रश्नावली कहा जाता है और बहुत बार अनुसूची। कई लोग प्रश्नावली और सूची में निरर्थक भेद करने की चेष्टा करते हैं। मूलतः इनकी प्रकृति में कोई भेद नही होता किन्तु प्रचलनों के आधार पर ऐसी प्रश्नमालिका जिनका कि शोधकर्त्ता उत्तरदाता या सूचक से सीधा सम्पर्क स्थापित करके उपयोग करता है अनुसूची कही जाती है और जिसका कि उपयोग शोध-कर्त्ता उत्तर दाता के हाथों सौप कर या उसके हाथों तक पहुँचा कर बिना अपनी भागीदारी के करता है उसे प्रश्नावली कहते हैं। ऐसी प्रश्नमालिका जिनका कि उपयोग शोधकर्त्ता उत्तरदाता से स्वयं प्रश्न पूछ-पूछ कर और तदुपरान्त उत्तरों को अंकित करके करता है, वह अनुसूची है।

जब प्रश्नमालिका का उपयोग सूचकों के व्यवहारों का अवलोकन करके अंकित करने की विधि से किया जाता है, जिसमें कि उनसे कुछ पूछा या बातचीत नहीं कि जाती, अनुसूची ही कहलाती है। ऐसी प्रश्नमालिकाएँ जिन्हें कि उत्तरदाता या सूचक स्वयं भरता है प्रश्नावली कही जाती है। जिन प्रश्नमालिकाओं का उपयोग उत्तरदाताओं को स्वयं ही करना है उन्हें उस आबादी में अन्य व्यक्ति या डाक से भी भेजा जा सकता है जहाँ कि या तो शोधकर्त्ता को पहुँचना शायद अधिक कठिन हो या वह वहाँ जाने की कोई आवश्यकता न समझता हो। स्वाभाविक है कि शोधकर्त्ता उत्तरदाता से शोधकार्य

निमित्त अधिक कुशल समझा जाय। इस स्वाभाविक स्थिति के कारण ही प्रायः ऐसा होता है कि दुरूह प्रश्नमालिकाओं का उपयोग शोधकर्त्ता साक्षात्कार में स्वयं भागीदार होकर करता है और इसलिए जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस भागीदारी के फल-स्वरूप ऐसी प्रश्नमालिकाओं को अनुसूची कहते हैं और अनुसूचियों का अपेक्षाकृत कुछ दुरूह होना सम्भव हो सकता है। चूँकि प्रश्नावलियों में प्रश्नोत्तरों का अंकन सूचक स्वयं करता है, इसलिए वे कुछ सरल और अधिक स्पष्ट प्रश्नमालिका की होती हैं। प्रायः गूढ़ या वैशिष्टय-युक्त विषयों से सम्बन्धित शोधों में अनुसूची का सहारा लिया जाता है जब कि सीधे-सीधे प्राप्त हो सकने वाले तथ्यों या अत्यन्त व्यापक और दूर-दूर की आबादियों से संकलित किये जाने वाले तथ्यों के लिए प्रायः शोध की सर्वेक्षण-पद्धति का सहारा लिया जाता है और इसके लिए जो प्रश्नमालिका बनती है उसे प्रश्नावली कहते हैं।

शोध की अन्य विधियाँ

अब तक हमने प्रश्नावली या अनुसूची के बारे में संक्षिप्त चर्चा की है। इनके अतिरिक्त अनेक शोधों के लिए कतिपय अन्य विधियाँ भी उपयोग में लायी जाती हैं। इनमें से प्रमुख दो-तीन विधियों की आगे अत्यन्त संक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

साक्षात्कार विधि

शोध में साक्षात्कार विधि वह विधि है जिसमें कि तथ्यों के संकलन हेतु शोधकर्त्ता सूचकों (व्यक्ति, समूह या समुदाय) से सम्पर्क करता है। इस विधि का उपयोग काफी व्यापक पैमाने पर किया जाता है। इस विधि के अन्तर्गत तथ्य-ज्ञान के ढग का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। जब शोधकर्त्ता सूचक से सम्पर्क करता है तो वह उससे मात्र वार्तालाप ही नहीं करता वरन् उसके हावभाव, उसकी मनोदशा और हरकतों पर भी ध्यान रखता है। शोधकर्त्ता मात्र वार्तालाप करे या अन्य हरकतों पर भी ध्यान रखे यह शोध के उद्देश्य और सूचक की प्रकृति और सम्भावना पर आधारित है। चाहे वार्तालाप के माध्यम से अथवा हावभाव का अवलोकन करके या इन दोनों के समिश्रण के आधार पर ही शोधकर्त्ता को तथ्यों का संकलन करना हो—उसके लिए जरूरी है कि या तो वह अपने तथ्य संकलन के क्षेत्र और सन्दर्भ को भली प्रकार निरूपित कर चुका हो या इस साक्षात्कार के उपरान्त निरूपित करने वाला हो। साक्षात्कार के उपरान्त निरूपित किये जाने वाले तथ्य निश्चित रूप से पूर्व अलिखित होते हैं जब कि पहले से ही निर्धारित सन्दर्भ लिखित और अलिखित दोनों हो सकते हैं। लिखित सन्दर्भ अनुसूची के रूप में हो सकते हैं या कभी-कभी मात्र विषयों के क्षेत्र को स्पष्ट करने के सूत्र या संकेत के रूप में। जब साक्षात्कार का ध्येय पूर्व लिखित होता है तो वह निश्चित और सीमित होता है और उसमें अनावश्यक बहकाव, धन-व्यय या श्रम-व्यय की सम्भावना नहीं रहती किन्तु अन्य साक्षात्कार में ठीक इसका

उल्टा होता है। किन्तु किन्ही स्थितियों में पूर्व अनिश्चित तौर पर भी साक्षात् करने ही पड़ने है और इनकी अपनी भी उपादेयता होती है। उपरोक्त वर्णित तथ्यों के आधार पर ही साक्षात्कार के अनेक प्रकार या भेद किये जाते है। इन प्रकारों में असंचालित साक्षात्कार, केन्द्रित साक्षात्कार तथा पुनरावृत्ति साक्षात्कार प्रमुख हैं। क्रमशः इनका अर्थ यह भी है कि जिसमे पहले से ही प्रश्न, वार्ता-क्रम इत्यादि निश्चित नही होते वह असंचालित साक्षात्कार, जिसमे अभ्युपगम प्रश्नमालिका और क्रम इत्यादि पूर्व निश्चित होते है और इन्ही पर केन्द्रित होकर साक्षात्कार किया जाता है वह केन्द्रित साक्षात्कार तथा जो दुबारा किया जाता है वह पुनरावृत्त साक्षात्कार कहा जाता है। साक्षात्कार हेतु यह जरूरी होता है कि जिस व्यक्ति, समूह अथवा समुदाय से साक्षात्कार करना हो उसकी तमाम स्थितियों और क्षमताओं का अच्छी प्रकार ज्ञान हासिल कर लिया जाय। ऐसा करने से ही साक्षात्कार सुविधाजनक, अधिक फलदायी और सम्भव हो पाता है। साक्षात्कार में शोधकर्त्ता को सूचकों से सम्बन्ध स्थापित करने के अलावे उसे प्रगाढ़तर भी करना होता है और इन सबके दरम्यान उसे यह बराबर ध्यान रखना आवश्यक है कि वे एक दूसरे की सामान्य नियंत्रित स्थिति को अधिक-अधिक स्थिर व एक रूपता में रखें न कि एक दूसरे से इतने प्रभावित हों कि उनका अपना स्वरूप ही बदल जाय और शोध का जो मूल अभीष्ट है वह नष्ट हो जाय। इन सबके लिए यह जरूरी है कि साक्षात्कार का समय, उसकी अवधि और उसका मानवीय और भौतिक परिवेश भली प्रकार जान-समझ कर ही चुना जाय। किन्तु यह सब प्रायः काफी कठिन होता है और शोधकर्त्ता तथा सूचक एक दूसरे की भावना से प्रभावित हो ही जाते है तथा सम्यक् अनुपूरक परिवेश की उपलब्धि भी प्रायः नही ही होती। ऐसी दशाओं में तथ्यों से निष्कर्ष निकालते समय इनके प्रभावों का भी भलीभाँति मूल्यांकन कर लिया जाना चाहिए।

वैयक्तिक अध्ययन-विधि

बहुत बार ऐसे भी शोध किये जाते है जब कि किसी एक इकाई के ही मूल दोषों का विवेचन करके उनके आधार पर व्यापकतर इकाई या समग्रता से सम्बन्धित तथ्यों या सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है। हम चावल पकाते समय यह जानने के लिए कि सम्पूर्ण चावल के दाने पक चुके है या नही किसी एक या दो दानों को निकाल कर देख लेते हैं और उसकी ही स्थिति के अनुसार सम्पूर्ण दानों की स्थिति आँक लेते हैं। ऐसे ही सामाजिक शोधों में भी बहुत बार किया जाता है। जब किसी एक व्यक्ति, समूह या समुदाय की ही परीक्षा की जाती है और उसी को सारे शोध की इकाई मान ली जाती है तो उसे वैयक्तिक अध्ययन प्रणाली कहते है। इसमें इसी इकाई की पूर्व से पश्चात् तक की अवस्थाओं का अध्ययन करके सत्य निरूपित किये जाते है। इस अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि

इकाई ऐसी हो जो कि लम्बे अरसे तक उपलब्ध रहे और व्यापक समाज या समूह का प्रतिनिधित्व करती हो। यदि हमें यह जानना है कि चावल पक गया है कि नहीं तो उसके लिए हमें चावल का ऐसा दाना चुनना होता है जो कि पूरे बर्तन मे ऐसी जगह रहा हो जो कि पकने की समान सुविधाओं से युक्त हो। वैयक्तिक अध्ययन से जो तथ्य सामने आते है वे मुख्यतः शुद्ध रूप से चुनी गयी इकाई विशेष के ही होते है। यदि जानना हो कि व्यक्ति का विकास कैसे होता है तो इसके दो तरीके हो सकते हैं। एक तो यह कि एक या कई व्यक्तियों को जन्म से मृत्यु पर्यन्त तक देखा-समझा जाय और उनके सारे विकास क्रम को अंकित कर लिया जाय तथा दूसरा यह कि हर प्रमुख आयु समूह के एक-एक या कई-कई व्यक्ति लिए जायें और उनका अलग-अलग अध्ययन करके सबकी उपलब्धियों को एक क्रम से सजा कर पूरे व्यक्ति का विकास समझा जाय। इसमें जो पहली विधि है वही वैयक्तिक अध्ययन विधि है। द्वितीय विधि के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे किन्हीं खास लक्षणों का पूर्व ज्ञान हो जिनके कि आधार पर आयु दिभेद और विभाजन किया जा सके। इसका अर्थ यह हुआ कि दूसरी विधि का प्रयोग आंशिक पूर्व ज्ञान द्वारा ही सम्भव है जब कि पहली विधि में ऐसे पूर्व ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। वैयक्तिक वैशिष्ट्य-ज्ञान हेतु पहली ही विधि ज्यादा वैज्ञानिक और उपादेय है किन्तु सामाजिक शोध के लिए जिसमें कि विभिन्नता का तत्त्व अधिक प्रचुर मात्रा में होता है, इस विधि का प्रयोग सीमित मात्रा में ही किया जा सकता है। शोधकर्त्ता को जब जिस प्रकृति या ध्येय से शोध करना होता है वह उसके अनुसार ही विधियों का अलग-अलग या सम्मिलित उपयोग करता है।

अवलोकन-विधि

उपरोक्त विधियों के अतिरिक्त कभी-कभी किन्हीं खास प्रकार के शोधों में शोध-कर्त्ता को सूचक का अवलोकन करके ही तथ्यो का संकलन करना पड़ता है। जब तथ्य मात्र अवलोकन पर आधारित हों तो ऐसी विधि को अवलोकन विधि कहते है। इस विधि का सबसे बड़ा फायदा यह है कि इसमें शोधकर्त्ता की उपस्थिति, उसके प्रश्नों के स्वरूप या हावभाव इत्यादि का प्रभाव सूचक पर नहीं पड़ता और न तो सूचकों से शोधकर्त्ता ही प्रभावित होते हैं। प्रायः इस विधि का उपयोग तब किया जाता है जबकि सूचक शोधकर्त्ता से प्रभावित हो सकते है, उनके प्रश्नों और इच्छाओं को जान-समझ कर तदनुसार उनका उत्तर नहीं दे सकते यथा—मानसिक रूप से विक्षिप्त तथा बच्चे तथा जब ऐसे विषय से सम्बन्धित तथ्य प्राप्त करना हो जिसमें कि पूर्व ज्ञान न सा ही हो या शोध निरूपणात्मक हो। प्रायः शोधों में अवलोकन विधि का उपयोग आंशिक तथ्य संकलन हेतु या प्राप्त तथ्यों की परीक्षा हेतु किया जाता है। बहुत से अवलोकन ऐसे हो सकते हैं जो कि पूर्णरूपेण दैव आधारित हों अर्थात् जिनकी कि रूपरेखा के बारे में पहले से कुछ भी तय न किया गया हो।

दूसरे प्रकार के अवलोकन ऐसे हो सकते हैं जिनमें कि अवलोकन के समय ध्यान रखे जाने वाली बातों और क्षेत्रों का समुचित पूर्व निरूपण कर लिया गया हो। दूसरे प्रकार के अवलोकन में जो पूर्व निरूपण किये जाते है वे काफी लोचपूर्ण प्रकृति के होते है। पहले प्रकार के अवलोकन को अक्रमबद्ध अवलोकन और दूसरे प्रकार को क्रमबद्ध अवलोकन कहते है। यहां क्रमबद्धता शब्द के अर्थ का क्षेत्र सामान्य से कुछ व्यापक है। यहाँ केवल अभ्युपगम या सन्दर्भ की ही क्रमबद्धता से नही बलिक सूत्र की तथा उनकी परिस्थितियों की क्रमबद्धता से भी तात्पर्य है। कभी-कभी अवलोकन और साक्षात्कार प्रणाली में भेद कर पाना मुश्किल होता है। दरअसल में, हर दशा में न तो इनमे भेद किया ही जा सकता है और न तो ऐसा कर ना समीचीन है। जव शोधकर्त्ता सूचक से सम्पर्क कर उनके क्रियाकलाप मे भागीदार बन कर अवलोकन का कार्य करता है तो वह साक्षात्कार विधि की सीमा में प्रविष्ट हो जाता है किन्तु यही उसकी अन्तिम सीमा है और वह इसके आगे बढ़ कर स्वयं कुछ प्रश्न न तो पूछता है न तो कोई अनुसूची इत्यादि पास में रखता है। जब शोधकर्त्ता पास में अनुसूची या सूत्र इत्यादि रखें और उसके आधार पर सूचना एकत्रित करें और चाहें कि वे अवलोकन विधि का ही प्रयोग करें तो उनके लिए यह आवश्यक है कि वे सूचक से परे उसके अज्ञान में ही ऐसा करें। अवलोकन विधि का उपयोग उन्ही दशाओं में सम्भव होता है जब कि शोधकर्त्ता के पास धन, समय और शोध कौशल की प्रचुरता हो। अवलोकन विधि से किये गये शोधों में इस बात की काफी सम्भावना होती है कि उनसे अनेक ऐसे पहलू भी जाने जा सके है जो कि पूर्व ज्ञान और विचार के दायरे में न आ पाये हों या सूचक मे नव प्रादुर्भूत हों। अवलोकन विधि का यह लाभ उस अवस्था में ज्यादा सम्भव है जव कि शोधकर्त्ता सूचकों से सम्पर्क करके या उनके क्रियाकलापों में भागीदार होकर अवलोकन का कार्य करता है।

उदाहरण का चुनाव

जब हम किसी आबादी के सम्बन्ध में शोध करना चाहते है और नमने के तौर पर उस आबादी के कुछ लोगों को छाँट कर उनका अध्ययन करते हैं तो इसी को उदाहरण का चुनाव कहा जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि उदाहरण किस दृष्टि से चुना जाय। जब हम अपनी प्रश्नावली लेकर सारी जनता के सामने जाते हैं—जैसा कि जनगणना में होता है—तब भी हमें गणना की तिथि और समय का चुनाव करना ही पड़ता है। इसी प्रकार हमारी प्रश्नावली मे अनेक सम्भव प्रश्नों मे से चुने हुए प्रश्नों की सूची होती है। इस प्रकार हमारा निर्णय उदाहरणों के चुनाव पर कई प्रकार से आश्रित होता है। यदि इस चुनाव में कोई पक्षपात हो तो निर्णय अशुद्ध होगा। पक्षपातयुक्त चुनाव उसे कहते हैं जबकि अध्ययन के परिणाम उस आबादी की विशेषताओं से भिन्न हों और शुद्ध चुनाव उसे कहते

जबकि वह आबादी के गुणों का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करता हो। उदाहरण में तीन गुणों का होना आवश्यक है :—

(१) प्रतिनिधित्व–अर्थात् उसमें सारी आबादी के और उसके सब अंगों के गुणों का समावेश हो।

(२) शुद्धता—अर्थात् उसमे कोई ऐसी बात न हो जो उसे विकृत कर दे और अशुद्धि की सम्भावना को बढ़ा दे।

(३) पर्याप्तता—अर्थात् उदाहरणों की संख्या इतनी हो कि आबादी का कोई क्षेत्र उसके बाहर न रह जाय।

उदाहरणों के चुनाव की तीन विधियाँ है जो कि शोधकर्त्ता के उद्देश्य और आबादी के गुणो के अनुसार बरती जाती हैं :—

(१) **आकस्मिक चुनाव**—इसमें अन्वेषक को चुनाव का कार्य नही करना पड़ता, जो व्यक्ति चुने जाते हैं उनके चुनाव में उसकी राय के लिए कोई स्थान नही होता।

(२) **सप्रयोजन चुनाव**—इसमें व्यक्तियों या उदाहरणों का चुनाव किसी सिद्धान्त के आधार पर होता है।

(३) **मिश्रित चुनाव**—इसमें बीच का रास्ता अपनाया जाता है और किसी विशेष आबादी को ऐसे टुकड़ों में विभाजित कर लेते है जो अपने आप में प्राय: सम हों, फिर उन पर आकस्मिक विधि या सप्रयोजन विधि का प्रयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति में आकस्मिक विधि या सप्रयोजन विधि का नाम आकस्मिक स्तरीकृत उदाहरण क्रमशः और सप्रयोजन स्तरीकृत उदाहरण हो जाता है। इन तीनों के अतिरिक्त कभी-कभी उदाहरणों का चुनाव एक चौथे प्रकार से भी किया जाता है जिसे गम्भीर स्तरीकृत या बहु-क्रमिक चुनाव कहते है। इनमें किसी आवादी को गुणों के अनुसार कई भागों में विभाजित करके इनके भिन्न-भिन्न भागों पर उपरोक्त तीन विधियों का अलग-अलग प्रयोग किया जाता है। आगे हम संक्षेप में इन प्रमुख चुनाव विधियों की चर्चा करेंगे।

आकस्मिक चुनाव

जब किसी आबादी के बारे में हमें कुछ नहीं मालूम होता तब इस पद्धति का प्रयोग किया जाता है। इस पद्धति की परिभाषा यह है कि इसमें थोड़े से व्यक्ति इस प्रकार चुने जाते हैं जिसमें कि आबादी के प्रत्येक व्यक्ति के चुने जाने की बरावर सम्भावना होती है।

आकस्मिक का अर्थ यह नही है कि चुनाव बिना किसी सिद्धान्त के होता है या उसमें कोई योजना नही होती—जैसे—यदि किसी शब्दकोष की संज्ञाओ की संख्या जाननी हो तो इस तरीके से काम नही चल सकता कि कही से भी कोष का कोई पन्ना निकाल लिया जाय, उसमें आयी हुई संज्ञाएँ गिन ली जायें और फिर कोष के पृष्ठों की कुल संख्या से गुणा करके कोष में आयी हुई कुल संज्ञाओं की संख्या निकाल ली जाय, यह पद्धति इसलिए गलत होगी कि किसी पृष्ठ में बहुत-सी संज्ञाएँ आ जाती है और किसी पृष्ठ में बहुत कम ही होती हैं। चुनाव को आकस्मिक बनाने का सबसे सीधा तरीका यह है कि आबादी के सब व्यक्तियों को अच्छी प्रकार मिला-जुला दिया जाये—जैसे कि ताश के पत्ते फेंटे जाते है या जिस प्रकार बवर्ची शोरवे को अच्छी तरह हिलाडुला कर उसे चखता है, क्योंकि एक चम्मच शोरवा सारे शोरवे का नमूना बन गया रहता है। इस विधि में सब व्यक्तियो के नामों की अक्षर-क्रम मे सूची बना ली जाती है या उनके रहने के मकानों के हिसाब से प्रत्येक मकान को अंकित कर दिया जाता है। फिर कागज़ के अलग-अलग टुकड़ों पर इन सब संख्याओं को लिख कर उन्हें अच्छी तरह मिला-जुला दिया जाता है, तब उसमे से एक कागज निकाल लिया जाता है और फिर सब कागज़ों को मिला जुला कर फिर दूसरा कागज़ निकाल लिया जाता है और इसी तरह आवश्यक संख्या में उदाहरण निकाल लिये जाते हैं।

यह पद्धति उन स्थितियों के लिए है जहाँ आबादी बहुत कुछ एक समान हो और उसकी संख्या सीमित हो। इसके प्रयोग में एक बात की सावधानी रखनी होती है वह यह कि कहीं एक विशेष प्रकार के उदाहरण ही बार-बार न चले आयें। ऐसी स्थिति में चुनाव एक विशेष प्रकार की आबादी के पक्ष में हो जाता है। ऐसा न हो इसके लिए जरूरी है कि जिन वस्तुओं का प्रयोग किया जाय वे सब एक तरह की हों और उनमें किसी प्रकार का अन्तर न हो। कहीं-कही बर्तनों का प्रयोग न करके सूची में ही निशान लगा दिये जाते है। फिर इस तरह की पूरी आबादी को जितने उदाहरण लेने है उतनी संख्या में बाँट दिया जाता है, जैसे—सौ की आबादी में यदि दस उदाहरण लेने हों तो सौ को दस से बाँटने से दस आता है। अब सूची में हर दसवें नाम पर निशान लगा दिया जायगा और इस तरह से दस उदाहरण निकल आयेंगे। इस तरीके में भी एक यह सावधानी आवश्यक है कि कहीं ऐसा न हो कि अपनी सूची को बाँटने के लिए जो संख्या आप लेते हैं उसी संख्या के अनुसार वह आबादी भी बाँटी हुई हो। उदाहरणार्थ, यदि किसी आबादी में दस-दस आदमी एक-एक गली में रहते हैं और आपने मकानों के क्रम से सूची बनायी है तथा सूची में हर दसवें आदमी को नमूने के तौर पर चुना है तो इसका नतीजा यह होगा कि आपके उदाहरणों में ऐसे लोग आयेंगे जो गलियों के अन्त में रहते हैं, बीच वाले लोग आ ही नहीं सकेंगे। इस तरह आपका चुनाव एक विशेष स्थिति में रहने वालों के पक्ष में हो जायगा और गलत होजायगा।

गणना वैज्ञानिकों ने आकस्मिक संख्याओं के प्रयोग का एक तरीका निकाला है। वे कुछ संख्याएँ निर्धारित कर देते हैं और उन्ही कुछ संख्याओं को चुन लिया जाता है। संख्याओं की एक सूची इस प्रकार है——

२९५९, ४१६७, २३७०, ०५६०, २७५४।

इन संख्याओं का प्रयोग कोष के पृष्ठों के चुनाव में किया जा सकता है किन्तु पृष्ठों की संख्या कम हो सकती है। जैसे 'शॉर्टर स्कूल डिक्शनरी' में कुल दो हजार चार सौ पचहत्तर पृष्ठ हैं। इसलिए इस सूची की तीन संख्याएँ बेकार हो जाती हैं। इस प्रकार की और भी कई सूचियाँ हैं और बन सकती हैं जो सब प्रकार की आबादियों के लिए काम दे सकती हैं—— जैसे——अगर ४८७९ विद्यार्थियों में से हमें ८० को चुनना है तो पहले हम किसी सूची का प्रयोग करके ८० विद्यार्थी चुन लेंगे। इसके बाद यह भी हो सकता है कि हम इन ८० विद्यार्थियों को अवांतर उदाहरणों में विभाजित कर दें और १४ गलियों में रहने वाले ६ मकानों को इसी आकस्मिक सूची से चुन लें। इस बात से चिंतित न होना चाहिए कि ऊपर की सूची में ३ संख्याएँ ऐसी है जो २००० और ३००० के बीच पड़ती हैं। दोनों ही संख्याएँ दूर-दूर पड़ती हैं। यह आकस्मिक पद्धति का आवश्यक अंग है। ऐसा हो सकता है कि कोई उदाहरण आकस्मिक प्रतीत होता हो किन्तु जब तक वह आकस्मिक पद्धति से न चुना गया हो तब तक उस उदाहरण को वस्तुत: आकस्मिक नही कह सकते।

इस पद्धति में शुद्धता आवश्यक नहीं होती है। बीमारी के एक अध्ययन में अन्वेषण को शीघ्र समाप्त करने के लिए यह निश्चय किया गया कि प्रत्येक सौवें व्यक्ति को चुनने के विषय में थोड़ी सी ढिलाई की जा सकती है, अगर ९९ संख्या वाला या १०१ संख्या वाला आदमी कार्यालय में पहले आ जाता है तो उसी को उदाहरण के लिए ले लिया जा सकता है। अधिकारियों को प्रारम्भ में कोई अन्तर नही ज्ञात हुआ किन्तु वास्तव में इस तरीके से चुनाव पक्षपातयुक्त हो ही गया और आगे चल कर यह मालूम हुआ कि चुनाव में अधिक संख्या उन्ही लोगों की आ गयी जो हफ्ते में कई बार दफ्तर में आया करते थे।

जो लोग अक्सर अपने घर पर नही मिलते उनसे ऐसे समय और स्थान पर बातचीत की जा सकती है जब कि वे मिल सकते हों किन्तु यदि उनके घर उदाहरणों के चुनाव में आ गये है तो उन्हें छोड़ा नही जा सकता। उनका एक रूपान्तर उदाहरण बना लेना चाहिए तथा अन्य लोगों के साथ उनका अध्ययन न करके, उपयुक्त समय और स्थान पर अलग-अलग अध्ययन होना चाहिए।

कभी-कभी घर के बाहर भी आबादियों का चुनाव किया जाता है—जैसे-एक युद्ध-काल में हवाई आक्रमणों से सुरक्षा के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक था कि किसी विशेष

समय मे कितने लोग गलियों और दूकानों में रहते हैं, इसके लिए यह तरीका अपनाया गया कि दो निरीक्षक उदाहरण के लिए आकस्मिक रीति से चुनी हुई कुछ गलियों में दोनों ओर से घुसे और जितने लोग उनके सामने से गुजरें उन सबकी गिनती कर लें।

ऐसे में निरीक्षको का समय और खर्च बचाने के लिए टोलावार चुनाव होता है—जैसे-प्रत्येक ४७ वाँ टोला ले लिया जाय और उस टोले के सब घरों का अन्वेषण कर लिया जाय। यह तरीका उन बड़े शहरों में अपनाया जा सकता है जहाँ पर बहुत कुछ एक ही तरीके या नमूने के घर बने होते है या फिर गावों मे अपनाया जा सकता है जहाँ अलग-अलग गलियों के हिसाब से बस्ती का विभाजन नहीं होता। इसप्र कार के क्षेत्रों मे अवान्तर चुनाव की सम्भावना होती है जो कि व्यक्तिगत चुनाव में नही होती और आबादी का सहयोग भी ऐसी स्थिति में अधिक मिलता और उस स्थान के सभी लोगों से सहयोग माँगा जा सकता है। इसमें बनी बनायी पुरानी सूचियों का प्रयोग नही करना पडता। इसमे जो एक त्रुटि है वह यह है कि परिणाम निश्चित नहीं होता और अन्वेषक तब तक अपने उदाहरण को नहीं जानता जब तक अन्वेषण पूरा नहीं हो जाता।

सप्रयोजन चुनाव

जब हम किसी आबादी के बारे में बहुत कुछ जानते हों और उसकी संख्या और गुण निश्चित हो किन्तु वह विषम गुण हो तो इस विधि का प्रयोग होता है। ऐसी स्थिति मे आकस्मिक पद्धति को छोड कर उदाहरणों का चुनाव आबादी के विभिन्न गुणों के अनुसार किया जाता है—जैसे—विवाह के सम्बन्ध में अन्वेषण करना हो तो स्त्रियों और पुरुषों दोनों की बराबर संख्या लेनी होगी। इसी तरह हम हर पेशे से एक निश्चित संख्या चुन सकते हैं और उसमें उम्र के हिसाब से भी लोगों को बाँट सकते हैं। आकस्मिक चुनाव में भी कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य होता है क्योंकि जिस प्रकार की आबादी का अन्वेषण करना है और जिस समय अन्वेषण करना, यह हम पहले से ही निश्चित कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त अपनी परिभाषाएँ और काम करने के बहुत से नियम बना लेते हैं और ये सब बातें उस जानकारी के आधार पर ही होती है जो हम उस आबादी के बारे में पहले से ही रखते हैं।

निश्चित या स्तरीकृत चुनाव

यह विधि आकस्मिक या सप्रयोजन विधियों का मिश्रण है। यदि आबादी कई वर्गों में विभाजित होती है तो स्तरीकरण द्वारा हम उसे समगुण बना सकते हैं और फिर प्रत्येक स्तर अथवा वर्ग में या तो आकस्मिक विधि का या सप्रयोजन विधि का प्रयोग कर सकते हैं; किन्तु वर्गो के निर्धारण में सप्रयोजन विधि का ही प्रयोग होगा, इसलिए कि सभी वर्गों

का अनुपात एक ही रहे। कुछ लोगों का विचार है कि मनुष्यों की आबादी के लिए स्तरीकृत चुनाव विधि ही उपयुक्त विधि है क्योंकि लोग कई प्रकार के होते हैं तथा प्रत्येक प्रकार के समुदाय को हम पहले से जानते हैं। बड़े-बड़े शहरों में अनेक जाति, अनेक धर्म, अनेक संस्कृति, अनेक आर्थिक स्थिति और अनेक पेशे के लोग होते हैं और उनकी अलग-अलग मनोवृत्तियाँ तथा रुचियाँ होती हैं।

स्तरों का भेद किस प्रकार किया जाय, यह आबादी के विश्लेषण से जाना जा सकता है। यों स्तरीकरण अनेक दृष्टि से होता है—जैसे—क्षेत्र, आबादी से आकार, स्त्री-पुरुष, उम्र, पेशा, आमदनी, उस स्थान के जीवन निर्वाह की सूची के अनुसार अथवा भौगोलिक विभाजन—जैसे—शहरों के निवास या गाँव के निवास, राजनीतिक विचार, सामाजिक, आर्थिक स्थान (जो इस बात से निर्धारित होता है कि एक परिवार कितना किराया या लगान देता है) आदि।

स्तर कई प्रकार के होते हैं। जीवनस्तर के अन्वेषण में वास्तविक आय, सांस्कृतिक योग्यता और भौतिक सम्पत्ति के गुण वर्गीकरण के आधार माने जाते हैं। मजदूरों के अन्वेषण में कौशल की मात्रा के अनुसार कुशल, अर्द्धकुशल और अकुशल का विभाजन आसानी से हो जाता है। खान मजदूरों और कृषक-मजदूरों का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से करना पड़ता है। स्तरीकृत चुनाव का एक उद्देश्य यह भी होता है कि इस बात की परीक्षा की जाय कि हमने आबादी का विभाजन जिन वर्गों में और जिस प्रकार किया है वह ठीक है या नहीं।

स्तरीकृत चुनाव मानव आबादियों के स्वरूप को अन्य विधियों की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह प्रकट करता है किन्तु इसके प्रयोग का सबसे बड़ा प्रयोजन यह होता है कि यह विधि अधिक शुद्ध होती है, इसके द्वारा उदाहरणों में विषमगुण कम हो जाता है और आकस्मिक विचलन की सम्भावना कम हो जाती है; चुनाव में गणना सम्बन्धी अशुद्धियाँ कम होती हैं।

क्रमिक चुनाव

अब तक जिन विधियों का उल्लेख हुआ है वे सब सरल विधियाँ थीं। एक बार जो उदाहरण मूल आबादी के रूप में चुन लिया गया है उसके और उसके अवान्तर उदाहरणों के अध्ययन के लिए एक दूसरी विधि का प्रयोग होता है। उदाहरण को उसके विभिन्न स्तरों में बाँट देते हैं और फिर प्रत्येक स्तर को पुनः अधिक समगुण विभागों में विभाजित करते हैं। इस प्रक्रिया को गहरा स्तरीकरण कहते हैं। इससे शुद्धता बहुत बढ़ जाती है। विशेष कर उस अवस्था में जब कि विभाजन के ऐसे आधारों का प्रयोग किया जाता है जो कि उस स्तर या वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों के प्रसारण-विचलन के अनुसार होते हैं। राष्ट्रीय पैमाने पर

एक आकस्मिक उदाहरण को हम क्षेत्रों में और क्षेत्रों को स्थानों में तथा स्थानों को आबादी के घनत्व के अनुसार हल्कों में, और फिर इन हल्कों को किसी और आधार पर बाँट सकते हैं। इस प्रकार इस उदाहरण के मूल स्तर को चार गहरे स्तरों में बाँटा गया अर्थात् उसके कुल ४×४×४×४=२५६ विभाग या स्तर हो गये।

सन् १९४६ में ग्रीस के चुनावों का अध्ययन करने के लिए मित्र राष्ट्रों का जो मिशन भेजा गया था उसने निश्चित सूची की शुद्धता की जाँच करने के लिए पहले सन् १९४० के जनगणना के आँकड़ों से मूल आबादी का पता लगाया। इस आबादी में उन्होंने सबसे पहले निवास स्थानों के हिसाब से आबादी का स्तरीकरण किया। आकार के हिसाब से विभिन्न गाँवों और नगरों के लिए एक अस्थिर आधार का प्रयोग किया गया। उदाहरण के लिए, किसी हल्के में ६५ टोले थे जिसमें १०,१७० मकान थे। इनमें से तीन टोले चुने गये जिसमें ९६६ घर थे और इन घरों में से हर १०० घर पीछे १ घर की जाँच की गयी। इन दस घरों का चुनाव आकस्मिक पद्धति से हुआ। यह जाँच बहुत ही शुद्ध सिद्ध हुई जिसमें प्रमाण अशुद्धि २,१ प्रतिशत थी। जहाँ तक क्षेत्र के अन्वेषण का कार्य था वह तीन सप्ताह में हो गया और इसमें कुल ६५ टोलियाँ लगी। प्रत्येक टोली में १ निरीक्षक, १ द्विभाषिया और १ ड्राइवर था। उदाहरणों के चुनाव और इस गणना में कुल सात हफ्ता लगे।

कभी-कभी चुनाव की कई विधियों का प्रयोग करके यह देखना पड़ता है कि हमारी व्यावहारिक आवश्यकताएँ किस विधि से पूरी होती हैं। कुछ प्राथमिक उदाहरणों की जाँच करके अन्त में एक निश्चित विधि तय करनी पड़ती है। अक्सर यह देखा जाता है कि चुनाव कम समय और कम खर्च में भी हो और उचित रीति से नियमित और शुद्ध भी हो, इसके लिए मिश्रित-विधि का प्रयोग करना पड़ता है। अमेरिका में उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति का अध्ययन किया गया। उसमें पहले स्तरीकृत चुनाव का प्रयोग किया गया—समुदायों का चुनाव इस प्रकार हुआ जिससे देश की विभिन्न भागों की तुलना की जा सके। इन विभिन्न भागों में अलग-अलग जलवायु, भौगोलिक स्थिति और सास्कृतिक गुण थे तथा विभिन्न प्रकार की कृषि और विभिन्न मात्रा में नगरीकरण दिखाई देता था। अन्य बातो को समान रखते हुए ऐसे क्षेत्र चुने गये जो बहुत ही समगुण थे और आबादी का अत्यधिक प्रतिनिधित्व करते थे तथा आर्थिक दृष्टि से बहुत महत्त्व के थे। चुने हुए क्षेत्रों में २ मुख्य नगर, ६ बड़े नगर, १४ मध्यम आकार के नगर, २९ छोटे नगर, १४० गाँव और ६४ कस्बे थे। इन स्तरों को चुनने के उपरान्त अस्थिर आधारों पर उदाहरणों का आकस्मिक चुनाव किया गया और आबादी के इन प्रत्येक स्तरों में से कुछ उदाहरण निकाले गये। प्रत्येक परिवार से सम्पर्क करना कठिन था इसलिए आकस्मिक चुनाव के द्वारा ४ प्रतिशत के हिसाब से न्यूयार्क में और १०० प्रतिशत के हिसाब से छोटे गाँवों में उदाहरण चुने गये।

दूसरी मंजिल पर सप्रयोजन विधि से चुनाव किया गया। इसके द्वारा आकस्मिक विधि द्वारा चुने हुए परिवारों मे से उन्ही परिवारों को लिया गया जो अन्वेषण कार्य मे सहयोग करने को तैयार थे। इसके बाद नियमित चुनाव के द्वारा सप्रयोजन चुनाव की परीक्षा की गयी और प्रत्येक समुदाय में प्रत्येक रंग, आय, पेशा और परिवार की इकाई मे से परि-वारों की प्रायः समान सख्या चुन ली गयी।

यदि कोई उदाहरण स्थिर हो जाता है और अनेक अन्वेषणो में काम आने लगता है तो उसे सामान्य उदाहरण कहते हैं। अमेरिका में कृषक समुदायों के अन्वेषण के लिए एक सामान्य उदाहरण तैयार किया गया था। यह उसी प्रकार का उदाहरण होता है जैसा कि सरल विधि से प्राप्त किया जाता है। इसमें प्रारम्भिक स्तर निवास स्थान के अनुसार विभाजित होते हैं—जैसे—कस्बे और शहर; १०० से अधिक निवासियो के मुहल्ले हों तथा देहात के गाँव।

माप के पैमाने

सामाजिक शोध में व्यक्ति, परिवेश या घटनाओ की स्थिति को वैज्ञानिक तौर पर एक दूसरे की तुलना में जानने-समझने के लिए सामाजिक माप के पैमानो का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि मानवीय सन्दर्भो की माप, उसकी परिवर्तनशीलता, छद्मवेष तथा वैभिन्न्य के कारण कर पाना अत्यधिक कठिन होता है किन्तु ज्ञान-विज्ञान के आधार पर ऐसा करने की कोशिश की जाती है। सामाजिक शोध में माप के कई पैमाने होते है और प्रायः हर शोध में कई पैमानों का उपयोग करके शोधकार्य-सम्पादन मे सुविधा व लाभ लिया जाता है। पैमानों के पूर्व निर्धारण और निर्माण से शोधकर्त्ता को प्रश्नमालिका के निर्माण में तथा आगे चल कर वर्गीकरण और व्याख्या में सुविधा होती है। यदि शोधकर्त्ता शोध की प्ररचना निर्माण के दरम्यान इन पैमानो का भी निर्धारण कर ले तो यह उपादेय ही होता है। सामाजिक शोध में मापन के प्रमुख चार प्रकार के पैमाने प्रयुक्त होते हैं। इनमे से एक को साधारण पैमाना कहते है। यह वह पैमाना है जिसमें कि उत्तर या सूचनाओं को मात्र दो या अधिक सरल श्रेणियों मे रखा जाता है। ऐसे पैमाने सामाजिक सर्वेक्षण या निरूपणा-त्मक शोधों मे ज्यादातर प्रयुक्त होते है। इसमें मात्र यह ख्याल रखा जाता है कि श्रेणियाँ अलग-अलग हो सकें या जानी-समझी जा सकें। इसमें ऐसा कुछ नही होता कि उनके परिमाण, परिमाणों का सम्बन्ध या अनुपात इत्यादि जानने की चेष्टा हो। इसका अर्थ यह हुआ कि इससे केवल किसी बात की उपस्थिति जानी जा सकती है न कि उस उपस्थिति की अच्छाई-बुराई, उपादेयता-अनुपादेयता या गुण-दोष इत्यादि। दूसरे प्रकार का जो पैमाना होता है उसे सामान्य क्रम पैमाना कहते हैं। इसमें यह जाना जाता है कि दो तुल-नात्मक स्थितियों की दिशाएँ क्या हैं? उनकी ऊर्ध्वगामिता या अधोगामिता समझी जाती

है। तीसरे प्रकार के पैमाने को मध्यान्तर पैमाना कहते है। इसके द्वारा तुलनात्मक स्थितियो की किसी एक दिशा के अन्तर की स्थिति को जाना जाता है और चौथे प्रकार के पैमाने में जिसे कि आनुपातिक पैमाना कहते है, दिशा की स्थितियो के अन्तर के अनुपात को जाना जाता है। चौथे प्रकार के पैमाने का प्रयोग सामाजिक शोधो मे बहुत ही कम होता है और जो होता भी है उसकी विश्वसनीयता अधिक वैज्ञानिक नही मनझी जाती। इन चार प्रकार के पैमानों के अन्तर्गत ही अन्य प्रकार के पैमाने समय-समय पर बनाये जाते रहे है। इनमें आंकिक पैमाना, अभिनिश्चयी पैमाना, व्यवस्थात्मक पैमाना, सामाजिक अन्तर पैमाना तथा सामाजिक पद पैमाना आदि प्रमुख हैं।

शोध के अन्य चरण

सामाजिक शोध की प्ररचना या प्रश्नावली इत्यादि के निर्माण के बाद शोधकर्त्ता शोध के क्षेत्र की आबादी से सम्पर्क करता है और प्रारम्भ में थोड़ा-सा ही तथ्य संकलन का कार्य करके वह अपने शोध की प्रश्नावली, प्ररचना तथा शोध की सम्भावनाओ पर पुन-विचार करता है और उनका आवश्यकतानुरूप संशोधन और परिमार्जन करके अपनी सारी प्ररचना को अन्तिम रूप देता है। इसके उपरान्त वह निश्चित विधियों, प्रविधियों और साधनों के माध्यम से तथ्य संकलन करता है। प्रायः हर शोध में अनेक प्रकार के तथ्य आते है और शोधकर्त्ता को इन तथ्यों का उपयोग करने के लिए यह जरूरी है कि वह उन्हे भिन्न-भिन्न आधारों पर वर्गीकृत कर ले। किसी समग्र तथ्य को भौगोलिक, वैयक्तिक, आर्थिक,सामाजिक,राजनीतिक या अन्यान्य आधारों पर सरल रूप से अथवा इनमें से एक को प्रमुख आधार मान कर तदुपरान्त अन्य या अनेक आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है। तथ्यों को इस प्रकार से वर्गीकृत कर लेने से उनके सम्बन्ध मे अन्य कार्य करने मे सुविधा हो जाती है। अलग-अलग वर्गों के तथ्यों की आवश्यकतानुरूप अलग-अलग तालिका बनाने में सुविधा होती है और आगे इन तालिकाओं की व्याख्या करके हम सुविधा नुसार किसी वर्ग विशेष के बारे मे जान सकते है तथा फिर अलग-अलग वर्गों से सम्बन्धित ज्ञान को एक में मिलाकर शोध की सम्पूर्ण उपलब्धि का अंकन करना सरल हो जाता है उदाहरणार्थ,यदि कोई शोध वाराणसी के हिन्दुओ मे परिवार नियोजन की ग्राह्यता जानने से सम्बन्धित हो और उसकी आबादी भिन्न-भिन्न स्थितियों की रही हो तो कुछ वर्ग उच्च जातियों में ग्राह्यता, निम्न जातियों में ग्राह्यता, धनिकों में ग्राह्यता, गरीबों में ग्राह्यता मूल आवासियों में ग्राह्यता तथा अप्रवासियो में ग्राह्यता इत्यादि हो सकते हैं।

वर्गीकरण के बाद शोधकर्त्ता हर वर्गो की आबादी से सम्बन्धित अनेक आवश्यक प्रश्नों का चुनाव करके अलग-अलग सारिणी बनाता है। इन सारिणियों में विभिन्न प्रकार के उत्तरों को संख्या और प्रतिशत के रूप में अंकित करता है। ये सारिणियाँ एक त

सरल अर्थात् ऐसी हो सकती है जिनमें कि एक ही वर्ग की आबादी के एक ही प्रश्न के उत्तर से सम्बन्धित आँकड़े हों, दूसरे कुछ सारिणियाँ ऐसी भी हो सकती हैं जिनमें कि एक से अधिक वर्गों या प्रश्नों को मिला कर आँकड़े लिखे गये हो। पहली सारिणी को एक गुण या सरल सारिणी तथा अन्य को बहुगुण या जटिल सारिणी कहते हैं। सारिणी-निर्माण से तुलनात्मक स्थितियाँ स्पष्ट हो जाती हैं और उनसे सामग्री या तथ्यों का विश्लेषण सरल हो जाता है।

सारिणियों को ध्यान से देख कर उनको शब्दों और वाक्यों के रूप में परिवर्तित करना ही विश्लेषण है। विश्लेषण में तुलनात्मक स्थिति को स्पष्ट करते हैं और कोशिश की जाती है कि यह शोध के ध्येय और तथ्य सम्बन्धित अभ्युपगम के क्रम में ही हो। तथ्य विश्लेषण के उपरान्त उपलब्धियों की व्याख्या की जाती है। इस स्तर पर यह स्पष्ट किया जाता है कि विश्लेषित सामग्री का अर्थ अभ्युपगम के सन्दर्भ में क्या हुआ, अर्थात् यह बताया जाता है कि किन तथ्यों का क्या भावार्थ है और वे क्या दिशा संकेत करते है।

इन सब कार्यों के बाद शोध के प्रतिवेदन की तैयारी का शोध सम्बन्धी अन्तिम चरण या कार्य शुरू होता है। शोधकर्त्ता अब शोध के आदि से अन्त तक के समस्त क्रिया-कलापों को स्पष्टतः क्रमबद्ध और सरल रूप में लिपिबद्ध करता है। ऐसा करते समय वह सारे शोध-प्रतिवेदन की अध्ययन-सूची बनाता है और तदनुरूप ही वह उन अध्यायों को लिखता है। प्रतिवेदन लिखने में यह तो जरूरी है कि पहले विषय की स्थापना और उसकी आवश्यकता और उपादेयता सम्बन्धी परिचयात्मक अध्याय लिखा जाय तदुपरान्त सारे शोध की पद्धति और प्रयुक्त प्रविधि सम्बन्धी विस्तृत अध्याय हों जिनमें कि शोध के दरम्यान प्रयुक्त सभी विषय-विशेष शब्दों की समुचित व्याख्या भी हो। साथ ही ऐसा किया जा सकता है कि वर्गीकृत सारिणीवार अध्याय प्रस्तुत हों जिनमें कि सारिणी वगैरह भी दिये गये हों। किन्तु ऐसा भी किया जा सकता है कि हर अध्याय में सारिणियाँ न दी जायें, मात्र उनकी व्याख्याएँ दी जायें। अलग-अलग क्रमवार विषयों और प्रश्नों से सम्बन्धित व्याख्याओं के उपरान्त एक अन्तिम उपसंहार का अध्याय होना चाहिए और इसमें ही बिना उलझाने वाले आँकड़ों के ही परिणामों को संश्लेषित करते हुए सिद्धान्तों और मान्यताओं की स्थिति का निरूपण करते हुए उनका नव प्रतिपादन या परिमार्जित स्वरूप स्थिर किया जाना चाहिए तथा सुझाव दिये जाने चाहिए। उपसंहार तक तो प्रतिवेदन के अध्याय होंगे और उसके उपरान्त वैज्ञानिक पद्धति से पुस्तकों, पत्रिकाओं, सूचनादाताओं, चित्रों या सन्दर्भों इत्यादि की सूची तथा प्रश्नावली होनी चाहिए। सारे शोध प्रतिवेदन के प्रस्तुतीकरण में यह अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए कि उसमें आद्योपान्त हर स्तर पर परस्पर तारतम्य बना रहे, ऐसा न हो कि विषयान्तर भ्रमण का एहसास हो। तारतम्यता के अतिरिक्त सारे प्रतिवेदन की भाषा सरल, प्रवाहमय तथा रोचक होनी चाहिए। पूरे प्रतिवेदन में हर प्रकार की स्पष्टता का होना आवश्यक है।

अध्याय ९

सामाजिक क्रिया

सामाजिक क्रिया समाज-कार्य की एक सहायक पद्धति है। जब समाज के व्यापक स्तर पर किसी सामाजिक परिवर्तन की चेष्टा की जाती है तो उसे सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत समझा जाता है। सामाजिक क्रिया के लिए यह आवश्यक है कि इसमें एक बड़ा समूह या समुदाय सचेष्ट हो। समूह अथवा समुदाय की सचेष्टता अच्छी प्रकार पूर्व नियोजित, सुसंगठित और निरूपित होने से इसकी सफलता की अधिक अच्छी स्थिति होती है। जो भी व्यक्ति समूह अथवा समुदाय सामाजिक क्रिया में संलग्न हों उनके लिए यह जरूरी है कि वे सामाजिक प्रगति और परिवर्तन की आकांक्षा रखते हों तथा उन्हें इसमें दृढ़ आस्था हो। कोई भी सामाजिक क्रिया ऐसे ही परिवर्तनों और तौर-तरीकों पर आधारित होनी चाहिए जो कि जनतांत्रिक हों या जनतांत्रिक मूल्यों के पोषक हों क्योंकि सारा समाज-कार्य का दर्शन और व्यवहार जनतंत्र से ओतप्रोत है। कोई भी सामाजिक क्रिया ऐसे नही नियोजित की जानी चाहिए कि वह सम्बन्धित शासन के विधान-संविधान के इतने प्रतिकूल हो कि उससे संभावित परिवर्त्तन की संभावना ही न हो; अर्थात् सामाजिक क्रिया का नियोजन करते समय अपने राज्य के विधान-संविधान की मान्यताओं और उसके अन्तर्गत प्रदत्त अधिकारों इत्यादि को अच्छी प्रकार समझ लिया जाना चाहिए। सामाजिक क्रिया के पीछे निहित व अनुपुंजित ताकत ऐसी ताकत होनी चाहिए जिसका कि एहसास या जिसकी कि इच्छा उन सभी व्यक्तियों को हो जो कि उससे सम्बन्धित हैं। सामाजिक क्रिया में नेतृत्व के विकास के समय यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि यह नेतृत्व सम्बन्धित समाज की रजामन्दी से उद्भूत हो। सामाजिक क्रिया का नियोजन या उसकी कल्पना करते समय यह बड़ा ही उपयोगी होता है कि समाज की तमाम भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, वैयक्तिक तथा राजनीतिक स्थितियों और संभावनाओं को भली प्रकार समझ लिया जाय। इन स्थितियों या संभावनाओं को समझते समय इनके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, तात्कालिक तथा दूरगामी प्रभावों को भी समझा जाना चाहिए। इनके समुचित ज्ञानोपरान्त ही सामाजिक क्रिया हेतु आवश्यक समस्या का चुनाव एवं उसके निराकरण की संभावनाओं का अन्दाजा लगाया जा सकता है। जब समूह या समुदाय सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित सामाजिक आवश्यकता या समस्या को भली-भाँति समझ जाते

है तो वे अपने कार्य की दिशा निश्चित करने में सहूलियत अनुभव करते हैं। स्थितियों के अध्ययन से न सिर्फ समस्या के निरूपण या चयन में मदत मिलती है वरन् समस्या समाधान के कुछ सूत्र भी जाने-समझे जा सकते हैं। किसी भी सामाजिक क्रिया के पूर्व किया जाने वाला उससे सम्बन्धित यह अध्ययन तभी उत्तम और पूर्ण हो सकता है जब कि हम उससे सम्बन्धित तमाम अभिलेखों एवं अन्य साहित्यों का भली-भाँति अध्ययन करें। ये साहित्य सरकारी दफ्तरों, पुस्तकालयों, अभिकरणों एवं कतिपय व्यक्तियों के पास से प्राप्त हो सकते हैं और इन्हें प्राप्त कर इनका अच्छी प्रकार अध्ययन करना चाहिए। समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ, चलचित्र इत्यादि से भी ऐसे संदर्भ का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और इनकी भी मदत लेनी चाहिए। बहुत बार व्यक्तिगत अनुभव और परिस्थितियों के स्वय के अवलोकन के माध्यम से या व्यक्तियों के शिकवे-शिकायतों या सर्वेक्षण और शोध इत्यादि के माध्यम से भी इनका ज्ञान होता है। सामाजिक क्रिया का लक्ष्य तभी प्राप्त हो सकता है जब कि सम्बन्धित समूह या समुदाय के व्यक्तियों में समस्या से तादात्मीकरण और कार्यक्रमों के निर्माण में स्वयं की भागीदारी हो। ऐसा होना समाजकार्य के मूल सिद्धान्तों के अनुसार आवश्यक है। जो व्यक्ति अथवा समूह सामाजिक क्रिया में लगें उन्हे ऐसे निर्देशन और ज्ञान की सुविधा मुहैया की जानी चाहिए जोकि उन्हें उनके कर्त्तव्यों की ओर उत्प्रेरित करें और समय-समय पर आने वाली कठिनाइयों का सामना करने में सक्षम बनाये रखें। उन्हें यह काफी स्पष्ट रूप से ज्ञात होना चाहिए कि उनकी उपलब्धियों का स्वरूप क्या होगा और उनकी सामाजिक उपादेयता की क्या आवश्यकता है। सामाजिक क्रिया की गति उसमें लगे नेतृत्व से बहुत कुछ सम्बन्धित होती है। यदि नेतृत्व समझदार, आस्था-वान्, धैर्यवान् तथा विचार और विवेक से युक्त है तो सफलता ज्यादा निश्चित होती है। सामाजिक क्रिया का आन्दोलन मानवीय भावनाओं के बीच से गुजरने वाला आन्दोलन है—इसलिए उसके संचालन के प्रमुख कर्त्ता में ये गुण होने ही चाहिए। प्रायः उनकी मानवीय कठिनाइयाँ ऐसे आन्दोलनों में बाधा स्वरूप उपस्थित हो जाया करती हैं। उनका सफल निराकरण तभी हो सकता है, जब कि नेतृत्व सक्षम और कुशल हो। सामाजिक आन्दोलनों या सामाजिक क्रिया के दरम्यान चूँकि एक बड़ा सामाजिक समूह संलग्न होता है इसलिए इस बात की काफी संभावना होती है कि उसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक स्थिति के व्यक्ति सम्मिलित हों और उनकी भावनाएँ या कार्यक्षमता भी भिन्न-भिन्न हों। बहुत बार यह भिन्नता इस हद तक होती है कि विचारों या कर्त्तव्यों में आपसी प्रतिकूलता भी पैदा हो जाती है। इस प्रतिकूलता से सामाजिक क्रिया की गति अवरुद्ध होती है और इस हेतु इसके बारे में सतर्क रहना चाहिए। सभी प्रकार के व्यक्तियों को समय-समय पर आवश्यक निरीक्षण और निर्देशन से बाँध कर उनको कर्त्तव्यनिष्ठ

बनाये रखना चाहिए। जो भी लोग सामाजिक क्रिया में संलग्न हों उन सबको सावधानी-पूर्वक और सतत समझदारी से काम लेना चाहिए तथा अपने कार्य के दौरान उन्हें यह हमेशा ही ध्यान रखना चाहिए कि उनके कार्य सामाजिक और वैयक्तिक न्याय पर आधारित हों। ऐसा नहीं कि उनके कर्त्तव्य के जो परिणाम हों उनसे वैयक्तिक अथवा सामाजिक तौर पर कोई विभेदीकरण या अन्याय की बात बढ़े।

यद्यपि सामाजिक क्रिया समाज-कार्य की एक स्वतंत्र-सहायक पद्धति के रूप में स्वीकृति पा चुकी है किन्तु इसका उपयोग व्यापक स्तर पर प्रायः नहीं होता। इसका एक कारण तो यह है कि यह व्यापक प्रयत्न से सम्बन्धित है, इसमें बड़ी शक्ति और सामर्थ्य की आवश्यकता होती है, दूसरे इसके परिणामों की संभावना के प्रति भी लोगों को काफी संदेह बना रहता है। आमतौर पर राजनीतिक या आर्थिक समूहों से सम्बन्धित क्रियाओं का प्रभाव इतना अधिक होता है कि बहुत कुछ सामाजिक मूल्यों की स्थिति तद्नियन्त्रित ही रहती है। कोई भी समाज हो उसमें परिवर्तन तो होते ही रहते हैं और प्रायः अनेक आवश्यकताएँ पूरे सामाजिक पैमाने पर महसूस की ही जाती रहती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक स्थिति लाना अन्य तरीकों के अतिरिक्त बहुत कुछ सामाजिक क्रिया से भी सम्भव होता है। समाजकार्य की यह सहायक पद्धति समाजकार्य के दर्शन और सिद्धान्तों द्वारा मान्यता प्राप्त जनतांत्रिक मूल्यों की स्थापना एवं विकास हेतु प्रयोग में लायी जाती है। आज के समाज में ऊँच-नीच, पिछड़े और विकसित तथा स्त्री और पुरुष के आधार पर जो भेद हैं उनको मिटाना जनतांत्रिक कार्य है। हरिजन और अनुसूचित जातियाँ, आदिम जातियाँ, श्रमिक, महिला, अशिक्षित, कृषक, विधवा, वेश्या इत्यादि ऐसे वर्ग हैं जिनका कि सामान्य समाज में सामान्य समंजीकरण होना चाहिए। सवर्णों या धनिकों में अछूतों या गरीबों के प्रति हेय भावना है जो कि दूर होनी चाहिए। शासन यंत्र और पद्धति के ऐसे अनेक दोष हैं जिनसे कि कुछ अत्यन्त साधारण स्थिति के व्यक्ति अपनी आवाज या प्रार्थना इच्छित मंजिल तक नहीं पहुँचा पाते। देश के एक बड़े तपके में अशिक्षा है और जीवन-यापन के लिए आवश्यक न्यूनतम साधनों की भी कमी है। इन सब सामाजिक समस्याओं को दूर करने के लिए बहुत-से प्रयत्न किये जाते रहे हैं और किये जा रहे हैं। ये प्रयत्न सरकारी और गैर सरकारी दोनों ही धरातलों पर हैं। इन प्रयत्नों के बावजूद ये सामाजिक समस्याएँ आज भी अत्यधिक व्यापक हैं और कुछ नयी ऐसी वैयक्तिक या पारिवारिक मूल्यगत समस्याएँ भी उपस्थित होती जा रही हैं जो कि औद्योगिक युग या औद्योगीकरण की देन हैं। इन सभी समस्याओं को कानूनों द्वारा या जनचेतना द्वारा काफी हद तक दूर करने की कोशिश की जा सकती है। चाहे शासन द्वारा कानून के निर्माण और उनके परिपालन की बात हो या सम्बन्धित वर्गों

और समुदायों के मध्य जनभावना, जनशक्ति या लोकशक्ति को विकसित और उनके अधिकाधिक उपयोग की बात हो, दोनों ही स्थितियों में सामाजिक क्रिया की पद्धति को प्रयोग में लाया जा सकता है और इसकी मदत से अनेक ऐसी सामाजिक समस्याओं को जो कि नव जनतांत्रिक मूल्यों के ढाँचे से दूर हों हल किया जा सकता है। नये जनतांत्रिक मूल्यों के अन्तर्गत सबको भोजन, आवास, वस्त्र, औषधि और शिक्षा की मूल आवश्यकताओं के साथ-साथ अभिभाषण और सहज उपलब्ध साधनों का समान रूप से उपभोग करने की स्वतंत्रता और संभावना होनी चाहिए। ऐसी स्थिति हेतु वैयक्तिक स्तर पर वैयक्तिक कार्य, छोटे-छोटे समूहों के स्तर पर सामूहिक कार्य व समुदायों के स्तर पर सामुदायिक संगठन से सम्बन्धित कार्य द्वारा प्रयत्न किये जाते हैं। किन्तु आज इन प्रयत्नों से न तो इतना अधिक लाभ ही हो पा रहा है कि पूरे समाज का स्वरूप बदला हुआ नजर आये और न तो इन प्रयत्नों द्वारा व्यापक स्तर पर कथित जनतांत्रिक मूल्यों की स्थापना और संभावना ही हो सकती है। आज का युग जनतांत्रिक युग कहा जाता है और राज्य और समाज का दायित्व सामाजिक न्याय, समानता और स्वतंत्रता का दायित्व है। समय की इस चुनौती का सामना तभी हो सकता है जब कि सामाजिक पैमाने पर इन मूल्यों की स्थापना की चेष्टा की जाय। कोई भी सामाजिक कार्यकर्ता इस कार्य को सामाजिक क्रिया के माध्यमसे ही कर सकता है। सामाजिक क्रिया की पद्धति का उपयोग कर समाजगत इस परिवर्तन की अपेक्षा को पूरा करना चाहिए। जब राजकीय कानूनों के स्वरूप को मानवीय दृष्टिकोण से ओतप्रोत और परिवर्तित करने की आवश्यकता महसूस की जाती है और इस हेतु सामाजिक क्रिया का अवलम्बन किया जाता है तो सामाजिक कार्यकर्त्ता, सामाजिक अभिकरण या इनके बड़े-बड़े संगठन इस हेतु आवाज उठाते हैं। जब ऐसी आवाजें उठानी होती है तो इसके लिए वे तमाम सम्बन्धित स्थितियों का अच्छी प्रकार अध्ययन और चिन्तन करते हैं। अपना दृष्टि-कोण और कार्यक्रम निश्चित कर लेने के उपरान्त वे शासन के पदाधिकारियों, विधान-सभा या लोकसभा के सदस्यों और सम्बन्धित क्षेत्र के विशेषज्ञों से सम्पर्क करते हैं। यह सम्पर्क पत्राचार द्वारा, प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा तथा समाचार-पत्रों में वक्तव्यों के माध्यम से हो सकता है। ये कार्य अलग-अलग भी किये जा सकते हैं और संयुक्त रूप से भी। कभी-कभी उचित अधिकारियों के पास अपने प्रतिनिधि-मण्डल को भेज कर भी ऐसा किया जा सकता है। अभिकरण या सामाजिक कार्यकर्त्ता सामाजिक जरूरतों से अभिप्रेरित इन कार्यों में समाज के उस वर्ग और व्यक्तियों को भी सम्मिलित करते हैं जिन पर कि इसका प्रभाव होता है। चारो ओर से विशेष सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता और उसकी आवाज उठने पर ही यह ज्यादा सम्भव होता है कि समाज के अन्य समूह

सम्बन्धित अधिकारी और सम्बन्धित शासन या सरकार भी इसका एहसास करें। इस एहसास के फलस्वरूप सरकारें ऐसी समितियाँ बना सकती हैं जो कि सम्बन्धित स्थिति की जाँच-पड़ताल करके उसके पास अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करें। कई बार बिना इन समितियों के प्रतिवेदनों के भी सरकारें समस्याओं पर ध्यान देती हैं और विचार-विनिमय करके अपना कदम निश्चित करती है। जब तक अपेक्षित सामाजिक परिवर्तन हेतु नियम-कानून-संशोधन या निर्माण नहीं हो जाता अथवा उसके लिए आवश्यक अन्य व्यवस्थाएँ नही कर दी जाती तब तक सामाजिक क्रिया के ये प्रयत्न जारी रखे जाते हैं। हम जानते हैं कि जब समाज में व्यक्तियों के व्यवहारों को जनतांत्रिक मोड़ देने होते हैं तो सामाजिक क्रिया से मदत ली जाती है। आज हमारे देश में जनतांत्रिक मूल्यों की स्थापना होनी शुरू हो गयी है और इसको अधिक से अधिक व्यापक स्तर पर स्थापित करना है। इसके लिए व्यापक स्तर पर इन मूल्यों की आवश्यकता को समझाना है और ऐसी जनजागृति और जनचेतना को बढ़ाना है जिससे कि व्यापक जन समुदाय इन्हें आत्मसात् कर सकें। जब ऐसे मूल्यों को व्यापक पैमाने पर व्यक्तियों और समुदायों को ग्रहण या आत्मसात् करना या कराया जाना होता है तो इसके लिए सामाजिक क्रिया की मदत बहुत ही उपयोगी होती है। जनजागृति या जनचेतना द्वारा मूल्यगत, सामाजिक परिवर्तनों की अभिलाषा की तृप्ति हेतु व्यवहृत इस सामाजिक चेष्टा या क्रिया के पूर्व सभी संभावनाओं और शक्तियों का समुचित मूल्यांकन अनुमान और ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। समाज में अनेक व्यक्तियों और वर्गों द्वारा अनेक सामाजिक प्रक्रियाओं का एक साथ ही प्रयोग होता रहता है। हम जानते हैं कि जहाँ सामाजिक प्रक्रियाएँ एक ओर विधायी होती हैं वहीं दूसरी ओर अन्य बहुत-सी प्रक्रियाएँ विघटनकारी भी होती हैं। विधायी प्रक्रियाओं का उपयोग करके सामाजिक क्रिया की गति को तीव्र करना चाहिए और विघटनकारी प्रक्रियाओं पर सतर्क दृष्टि रखके उनसे बचाव के उपाय भी करते रहना आवश्यक होता है। जन-भावना में परिवर्तन द्वारा सामाजिक मान्यताओं या मूल्यों के स्वरूप में परिवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि तदनुरूप जन-शिक्षा के कार्यक्रम चलाये जायें। यहाँ जनशिक्षा का अर्थ यह है कि जो भी रूढ़िगत मूल्य या परम्पराएँ हों उनकी आवश्यकता और हानिकारक स्थिति का वैचारिक स्तर पर आम लोगों को एहसास कराया जाय और जो अपेक्षित परिवर्तन या मूल्य अथवा मान्यता हो उसकी आवश्यकता और सम्भावना समझायी और दर्शायी जाय। ऐसा करने के लिए समुदाय या समूह के व्यक्तियों में आवश्यक प्रचार किया जाता है और समाज के भौतिक और मानवीय साधनों का उपयोग किया जाता है। ऐसा करने से सारा कार्यक्रम जनता को अपना कार्यक्रम मालूम होता है और जनतंत्र के लिए आवश्यक

यह शर्त भी पूरी होती है कि जो भी कार्य हों वे न मात्र जनता के लिए हों, वरन् जनता द्वारा भी हों। जनतंत्र का यह सिद्धान्त समाजकार्य का भी एक सिद्धान्त है और समाज-कार्य में भागीदारी को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है और इसकी बड़ी उपयोगिता समझी जाती है। सामाजिक क्रिया उतनी ही सबल और सार्थक हो सकती है जितना कि अधिक जन-सहयोग और जन-भागीदार की उपस्थिति होगी। जनता के मानस में परिवर्तन के इन संदर्भों में जन-जन में प्रेम, सौहार्द्र और आस्था भी होना जरूरी है। यह प्रेम और आस्था जितनी ही अधिक होती है उतनी ही अधिक सफलता की स्थिति होती है। सामाजिक कार्यकर्त्ता, अभिकरण या संस्थाओं को इनकी उपस्थिति और वृद्धि की चेष्टा मे संलग्न होना चाहिए। जब समस्या स्वयं की अनुभूत होती है और उसके निराकरण के उपाय स्वयं ही रचे जाते हैं तो कार्य में दिलचस्पी ज्यादा स्वाभाविक तौर पर होती है। सारी सामाजिक क्रिया के दरम्यान इस बात को सदैव मद्दे नजर रखना चाहिये और अपने तथा सेवार्थी जनसमुदाय के प्रयत्नों के दरम्यान ऐसी चेष्टा होनी चाहिए जिससे कि ज्यादा से ज्यादा ऐसा मालूम हो कि सारे क्रिया-कलाप जनसमुदाय के स्वयं के ही हैं।

समाज कार्य से सम्बन्धित भारतीय विद्यालयों के पाठ्यक्रमों, व्यावहारिक कार्यों और अन्यान्य गतिविधियों में सामाजिक क्रिया की पद्धति पर उतना आवश्यक बल नहीं दिया जाता जितना कि दिया जा सकता है या दिया जाना चाहिए। जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है यदि भारतीय परिवेश में जो कि एक विकासमान अर्थ-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था का परिवेश है, समाज-कार्य वृत्ति को अधिक फलदायी बनाना है या इसकी अपनी कुछ खास विशिष्टताओं के अनुरूप इसका अधिक सफल उपयोग करना है तो हमें सामाजिक क्रिया नामक इस पद्धति पर और अधिक ध्यान और बल देने की आवश्यकता है। अब यह अच्छी प्रकार स्थापित हो चुका है कि समाज-कार्य का ध्येय मात्र वर्तमान परिस्थितियों से ही सेवार्थी का समंजन करना नही है वरन् अवि-कसित समाज या सेवार्थी को तीव्र गति से बढ़ रहे जनतंत्र नामक नये मानवी मूल्य से भी अभिभूत करना है; अर्थात् समाज में प्रचलित मूल्यों में परिवर्तन लाकर नयी समाज-रचना भी करनी है। यह कार्य सामाजिक क्रिया के माध्यम से ज्यादा आसानी से किया जा सकता है। समाजकार्य के विद्यालयों को चाहिए कि वे भारत की अपनी खास आवश्यकताओं को समझते हुए सामाजिक क्रिया की पद्धति को एक प्रमुख पद्धति के रूप में प्रयुक्त करने की चेष्टा आरम्भ करें और इसके लाभों से भारतीय समाज को लाभान्वित करें। प्रारम्भ में इसमें कुछ कठिनाइयाँ हो सकती है किन्तु हमें विश्वास है कि यदि हम इस पर अच्छी प्रकार ध्यान दें तो हम इन कठिनाइयों से ऊपर उठ सकते है और वैयक्तिक कार्य या सामूहिक कार्य की श्रेणी में इस पद्धति को भी आसानी से ला सकते है।

खंड ३

अध्याय १०

प्रारम्भिक

समाज-कार्य का प्रयोग व्यक्तिगत माध्यम से कम तथा अभिकरणों के माध्यम से अधिक होता है। अभिकरणों के माध्यम से समाज-कार्य का प्रयोग किये जाने पर समाज-कार्य के क्षेत्र अभिकरणों के क्षेत्र-वैशिष्टच के अनुरूप भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। समाज में अनेक प्रकार के कल्याणकारी अभिकरण मानव जीवन के अनेक क्षेत्रों (यथा-पारिवारिक जीवन, शिक्षा, स्वास्थ्य, मानसिक संतुलन, रोजगार आदि) में कार्यरत रहते हैं, जिस प्रकार के उद्देश्य से ये अभिभूत होते हैं उसी के अनुरूप इसका नाम करण होता है और इसी कारण समाज-कार्य के क्षेत्र का नामकरण भी उन्ही के अनुरूप होता है। उदाहरण के तौर पर देखें तो समाज-कार्य का प्रयोग प्रायः—

(क) परिवार एवं बाल कल्याण अभिकरण,

(ख) अपराधी-सुधार अभिकरण,

(ग) शारीरिक उपचार अभिकरण,

(घ) विद्यालय एवं शैक्षणिक परामर्श अभिकरण तथा

(ङ) युवक-कल्याण अभिकरण आदि विभिन्न अभिकरणों के माध्यम से होता है। क्रमशः इनका उद्देश्य मोटे तौर पर—(क) पारिवारिक जीवन को सुखमय तथा सुखकारी बनाना, (ख) अपराधियों को सामान्य नागरिक बनाना, (ग) व्यक्ति को शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ बनाना, (घ) विद्यालय एवं विद्यार्थी को एक दूसरे का पूरक बनाना तथा (ङ) युवकों को उनके निजी तथा सामाजिक जीवन में अधिकाधिक उपयोगी बनाना आदि होता है, जो कि इनके नाम की यथार्थता को पुष्ट करते हैं तथा ये अभिकरण जीवन के जिस क्षेत्र विशेष की आवश्यकता की पूर्ति में संलग्न हैं उसी के नाम के अनुरूप समाज-कार्य के क्षेत्रों का नाम भी क्रमशः समाज-कार्य का (क) परिवार एवं बाल-कल्याण क्षेत्र, (ख) अपराधी-सुधार एवं प्रशासन का क्षेत्र, (ग) शारीरिक उपचार या चिकित्सालय का क्षेत्र, (घ) विद्यालयी एवं शैक्षणिक सेवा का क्षेत्र तथा (ङ) युवक-कल्याण का क्षेत्र आदि रखा जाता है।

मानव-जीवन के अनेक क्षेत्रों में कार्यरत इन अभिकरणों का अस्तित्व स्वतंत्र तथा

बड़े संगठनों या संस्थाओं के मातहत, दोनों ही ढंग से होता है। उदाहरण के लिए, परिवार एवं बाल-कल्याण अभिकरण तथा रोजगार-परामर्श अभिकरण दोनों ही किसी बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठान या बड़े विद्यालय के मातहत भी हो सकते है और समाज मे स्वतत्र कार्यकारी इकाई के रूप में भी। जब ये अभिकरण किसी बड़े संगठन या संस्था के मातहत होते है तो इनके कार्य करने का तरीका व्यापक तौर पर उस हित या उद्देश्य की ओर उन्मुख होता है जो कि उस संस्था या संगठन का अभीप्ट होता है और स्वतंत्र अस्तित्व होने पर इनके कार्य का तरीका अपने अभीष्ट तक ही सीमित होता है। किन्तु यही एक बात और ध्यान देने योग्य है, वह यह कि जब ये अभिकरण किसी बड़े संगठन या सस्था के मातहत होते है तो उनका कार्य व्यापार उन व्यक्तियों या समूहो अथवा समुदायों के साथ ही होता है जो कि उस संगठन या संस्था के हितों या उद्देश्यों से प्रतिबद्ध या सम्बद्ध हैं और इस प्रकार अभिकरण से लाभान्वित होने वाले व्यक्ति, समूह या समुदाय सहायता के लक्ष्य की दृष्टि से एक निश्चित प्रकार के होते है किन्तु स्वतंत्र अभिकरणों का कार्य व्यापार विभिन्न प्रकार के उद्देश्यों या हितों के व्यक्तियों, समूहों या समुदायों के साथ होता है और इस प्राकार सहायता के लक्ष्य की दृष्टि से वे अनेक प्रकार के होते हैं; किन्तु इन दोनों ही प्रकार की स्थितियों के अभिकरणों की सेवाओं का रूप जीवन की आवश्यकता के निश्चित क्षेत्र विशेष से ही प्रतिबद्ध होता है। उदाहरण के तौर पर देखें तो किसी औद्योगिक प्रतिष्ठान में यदि कोई परिवार तथा बाल कल्याण अभिकरण कार्यरत है तो उससे लाभ उठाने के हकदार सेवार्थी अमूमन उस प्रतिष्ठान के कर्मचारी या उनके परिवार अथवा सम्बन्धी लोग होंगे। इन सेवार्थियों की सहायता वह अभिकरण मुख्यत: इस बात को ध्यान में रख कर करेगा कि कर्मचारी सेवार्थी का पारिवारिक जीवन सुखमय हो तथा वह अपने सारे परिवार के लिए सुखकारी बन सके या कर्मचारी के परिवार के सेवार्थी का अन्य सदस्यों या सम्बन्धियों से उसके समस्त सन्दर्भो में क्रियाकलाप का स्वरूप ऐसा हो जिससे कि वह सुखी तथा सुखकारी बने या बना रह सके और अपनी भरपूर क्षमता के साथ उत्पादन का कार्य कर सके जो कि औद्योगिक प्रतिष्ठान की उससे अपेक्षा है; अर्थात् सेवा का अभीष्ट संगठन या संस्था का ही अभीष्ट है। अभि-करण की सेवा का अभीष्ट यह नही हो सकता कि कर्मचारी का जीवन सुखमय या सुखकारी यदि इस ढंग से भी हो पा रहा हो जिससे कि उसकी उपादेयता औद्योगिक प्रतिष्ठान के लिए नहीं रह जाती हो तो वह ऐसी अवस्था आने दे। किन्तु जब यही अभिकरण स्वतंत्र इकाई के रूप में कार्यरत होता है तो प्रथमत: तो इससे सेवा लाभ के लिए न सिर्फ मजदूर कर्मचारी या उसके परिवार या सम्बन्ध का व्यक्ति हकदार होता है वरन् मजदूर, विद्यार्थी, शिक्षक, विधिवेत्ता, प्रशासक आदि समाज के विभिन्न

प्रकार के सदस्य इससे सेवा लाभ ले सकने के हकदार होते हैं और इस कारण सेवा का अभीष्ट लक्ष्य भी न सिर्फ उत्पादन की अच्छी स्थिति या क्षमता के लिए सेवालाभ होकर जीवन के विविध अंगों—यथा—पारिवारिक जीवन, रोजगार तथा स्वास्थ्य आदि की अच्छी स्थिति के लिए सेवालाभ हो जाता है।*

चूँकि ये अभिकरण जब किसी संगठन या संस्था के मातहत होते है तो उनके एक विभाग के तौर पर कार्य करते है और संगठन या संस्था के प्रशासन से शासित होते है तथा जब स्वतंत्र इकाई के रूप में होते है तो स्वशासित और पूर्ण इकाई होते है तथा जैसा कि हमने देखा इस स्थिति वैभिन्य में इनके कार्य के उद्देश्य भिन्न होते है और चूँकि ये जिस उद्देश्य से अभिभूत होते है उन्हीं के अनुसार इनका नामकरण होता है इसलिए इनकी मातहती की स्थिति तथा स्वतंत्र स्थिति का समाज-कार्य के क्षेत्र के नामकरण पर गहरा असर होता है; उदाहरणार्थ, यदि कोई परिवार कल्याण अभिकरण किसी औद्योगिक प्रतिष्ठान के मातहत होगा तो उसका उद्देश्य मुख्यत: श्रम-कल्याण होगा और इस प्रकार उसके समाज कार्य के कार्यों को श्रम-कल्याण का कार्य या इस कार्य के क्षेत्र को श्रम-कल्याण का क्षेत्र कहेंगे। और चूँकि हर प्रकार के ऐसे अभिकरण चाहे वे स्वास्थ्य अभिकरण हों, शैक्षणिक परामर्श अभिकरण हों, मानसिक स्वास्थ्य अभिकरण आदि हों अपने एक उद्देश्य के कारण श्रम कल्याण अभिकरण कहलायेंगे और इस प्रकार इनके द्वारा प्रयुक्त सभी समाज-कार्य श्रम-कल्याण का समाज-कार्य अर्थात् श्रम-कल्याण के क्षेत्र का समाज कार्य होगा।

समाज मे अनेक आधारों पर अनेक वर्ग होते हैं—उदाहरणार्थ, वय के आधार पर बाल वर्ग, युवा वर्ग तथा वृद्ध वर्ग आदि, लिंग के आधार पर पुरुष वर्ग तथा महिला वर्ग, जाति के आधार पर अछूत वर्ग तथा सवर्ण वर्ग आदि, सभ्यता और संस्कृति की स्थिति के आधार पर पिछड़ा वर्ग, जन जातीय वर्ग तथा आर्यजात वर्ग आदि, कार्य के आधार पर शिक्षक वर्ग, श्रमिक वर्ग, व्यापारी वर्ग आदि तथा शारीरिक, मानसिक दशाओं के आधार पर सक्षम वर्ग तथा अक्षम वर्ग इत्यादि। समाज-कार्य के क्षेत्र का नामकरण वर्ग विशेष के साथ उसके सम्बद्ध होने के अनुरूप होता है—उदाहरणार्थ, यदि समाज-कार्य बाल वर्ग के साथ सम्बद्ध होगा तो वह समाज-कार्य बाल वर्ग के क्षेत्र का समाज-कार्य कहलायेगा अर्थात् यह उसका बाल वर्ग का क्षेत्र होगा और चूँकि समाज-कार्य

* **यद्यपि कथित अंग-प्रत्यंग एक दूसरे से बहुत मिले-जुले हैं और परस्पर एक दूसरे के परिपूरक भी किन्तु लक्ष्य-भेद से कार्य-प्रणाली पर असर आता है इसलिए इनका महत्त्व है।**

व्यवस्था कल्याणकारी है अर्थात् यह हर वर्गों के कल्याण के लिए प्रयुक्त होती है इस-लिए यह बाल वर्ग के लिए प्रयुक्त होने पर बालकल्याण हेतु कही जाती है और इस प्रकार कार्य के इस क्षेत्र का नाम बालकल्याण का क्षेत्र पड़ जाता है। इसी प्रकार समाज कार्य के विभिन्न क्षेत्रों का नाम युवा कल्याणकारी क्षेत्र, वृद्ध कल्याण का क्षेत्र, महिला कल्याण का क्षेत्र, अछूत कल्याण का क्षेत्र, जनजातीय या आदिम जातीय कल्याण का क्षेत्र, शिक्षा या विद्यालय-विद्यार्थी कल्याण का क्षेत्र, श्रम कल्याण का क्षेत्र, शारीरिक चिकित्सा का क्षेत्र तथा मानसिक चिकित्सा का क्षेत्र इत्यादि पड़ता है।

देश, काल, तथा परिस्थिति की भिन्नता परिवर्तनीय होने से समाज-कार्य के क्षेत्र भी परिवर्तनीय होते हैं; अर्थात् समाज की विशिष्ट दशा इनकी संख्या-सीमाओं के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण है—उदाहरणार्थ, किसी देश में आदिम जातीय वर्ग हो सकता है किसी देश में नही। जहाँ आदिम जातीय वर्ग नही होगा वहाँ यदि समाज कार्य है तो उसका यह क्षेत्र लुप्त होगा। किसी काल में अछूत वर्ग हो सकता है किसी काल में नही। जिस काल में अछूत वर्ग न होगा उस काल में समाज-कार्य का अछूत कल्याण का क्षेत्र न होगा। किसी परिस्थिति मे मानसिक अक्षमों का वर्ग हो सकता है, किसी परिस्थिति में नही। यदि किसी परिस्थिति में मानसिक अक्षमों का वर्ग न होगा तो उस परिस्थिति में समाज-कार्य का मानसिक अक्षमों के कल्याण का क्षेत्र न होगा। यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि ऊपर वर्ग विशेष की अनुप-स्थिति में क्षेत्र विशेष की अनुपस्थिति की निश्चितता की बात कही गयी है न कि यह कि वर्ग विशेष की उपस्थिति में समाज-कार्य के क्षेत्र विशेष की उपस्थिति की अनिवार्यता की बात। उत्तर की (बाद की) स्थिति में समाज-कार्य के क्षेत्र की उपस्थिति तो समाज-कार्य की सबल तथा निर्बल स्थिति पर आधारित होती है।

समाज के वर्ग विशेष की आवश्यकता, आधार, शक्ति तथा सम्भावना आदि के अनुसार विशिष्ट होती है तथा उसी के अनुसार समाज-कार्य के अन्दर के क्षेत्र विशेष के उद्देश्य, साधन तथा कार्य विधि आदि में विशिष्टता आ जाती है—उदाहरणार्थ, श्रमिकों की शक्ति, उनकी जरूरतें, उनके भविष्य तथा आधार आदि विद्यार्थियों की शक्ति, उनकी जरूरतें, उनके आधार तथा भविष्य आदि से भिन्न होते हैं और इसलिए श्रम-कल्याण के क्षेत्र के उद्देश्य, साधन तथा कार्य विधि विद्यार्थी कल्याण के क्षेत्र के उद्देश्य, साधन तथा कार्य विधि से भिन्न होते हैं।

वर्गों तथा तदनुरूप क्षेत्रों की गुणात्मक तथा मात्रात्मक क्षमताओं की विभिन्नता से समाज-कार्य के सिद्धान्त एवं प्रयोग की प्रांजलता एवं उपादेयता की वृद्धि की सम्भावना बढ़ जाती है। ऐसा इसलिए हो पाता है क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त होने पर

समाज-कार्य के सिद्धान्तों के वैभिन्न्य में प्रायोगिक सामर्थ्य तथा विभिन्न प्रयोगों से सार्वभौमिक उन्नत सिद्धान्तों के निरूपण की सम्भावना का पता चलता है जो कि सिद्धान्त एवं प्रयोग नामक एक दूसरे के पूरक पक्षों की उपादेयता वृद्धि के आधार हैं। उपरोक्त कारणों से समाज-कार्य के क्षेत्रों का निर्धारण होता है।

समाज-कार्य चाहे किसी क्षेत्र का हो यदि व्यापक दृष्टि से देखें तो मूल रूपेण सभी क्षेत्रों में सारी चेष्टाओं का प्रेरणा-स्रोत समाज-कार्य का मूल लक्ष्य व्यक्ति एवं समाज नामक दोनों हानि-लाभ कारक परस्परावलम्बी शक्तियों की एक दूसरे के हितार्थ विधात्री क्षमताओं का सामान्य तौर पर विकास तथा विशेष अवस्था में ऐसी क्षमता का सृजन और नकारात्मक शक्ति का ह्रास अथवा विशेष स्थिति में आविर्भाव की असम्भावना की स्थिति रखना, ही है।

अगले पृष्ठों में समाज-कार्य के मुख्य क्षेत्रों का संक्षिप्त वर्णन होगा।

अध्याय ११

परिवार-कल्याण

परिवार समाज की आधारभूत इकाई है। अनेक सांस्कृतिक, परम्परागत तथा कानूनी विभिन्नताओं के बावजूद परिवारों के सभी समाजों में गठक अवयव पति-पत्नी तथा इनके बच्चे होते हैं। ये आपस मे पारस्परिक अवलम्बन के आधार पर जीवन-यापन करते है। हर परिवार से ऐसी उम्मीद की जाती है कि ये अपनी क्षमताओं के अनुरूप किन्ही अंशों मे अपने गठक अवयवों की मूलभूत आवश्यकताओं——यथा भोजन, आवास, वस्त्र तथा अन्यत्र सहज रूप से न उपलब्ध हो सकने वाले प्यार एवं एकत्व की भावना का जुटाव करेंगे। इतना ही नहीं, परिवारों का एक बड़ा दायित्व इस मामले में भी होता है कि वे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त सांस्कृतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का वहन करें। इस प्रकार के दायित्व वहन की अपेक्षा एवं आवश्यकता प्रायः हर समाज को हुआ करती है। यद्यपि परिवारों में वर्णित मूल्यों का वहन सहज गति से होता है फिर भी परिवर्तनकारी शक्तियों के प्रभाव से वे अपनी सहज गति की रक्षा प्रायः नही कर पाते और उनके सदस्यों के पारस्परिक सामंजस्य एवं कार्य-पद्धति मे कमोबेश रुकावटें उपस्थित हो जाया करती हैं। भौतिक और सामाजिक दशाओं के परिवर्तनों के साथ-साथ परिवार की जिम्मेदारियों में भी परिवर्तन हो सकते हैं। बहुधा ऐसा होता है कि परिवारों में कर्त्तव्यों तथा सम्बन्धों इत्यादि में पूर्ण परिवर्तन न भी आये तो उनका स्वरूप बहुत कुछ नयी दशाओं के हिसाब से परिमार्जित हो जाता है।

चूँकि परिवार या परिवार के सदस्य किसी भी राष्ट्र के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साधन होते हैं इसलिए उनके कल्याण की बात पर चिन्तन आज कल हर सम्बन्धित राष्ट्र की सरकारों के लिए उचित एवं आवश्यक हो गया है। व्यक्ति और परिवारों के महत्त्व की मान्यता आज राष्ट्र-रचना एवं राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक विधान में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनेक राष्ट्र आज मानवीय साधन एवं क्षमता के उत्पादक उपयोग पर लगातार अधिकाधिक बल दे रहे हैं। आर्थिक एवं सामाजिक दशाओं और स्वरूपों के दुनिया के सभी हिस्सों में होने वाले निजी एवं प्रवाहयुक्त परिवर्तन के कारण यह जरूरी होता जा रहा है कि अनेक ऐसे कार्यभारों का वहन करने के लिए जिनको कि पहले

के परिवार अपने अन्तर्गत करते रहे हैं, अनेक संस्थाओं एवं अभिकरणों की बड़ी संख्या में उपलब्धि की व्यवस्था कर ली जाय। अगर परिवार के सदस्यों की आवश्यकताओं को भलीभाँति पूरा करना है और परिवार रूपी सामाजिक इकाई को इस अर्थ में सक्षम बनाना है कि वह अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों को पूरा कर सके तो व्यापक तौर पर परिवार समाज के कल्याण के कार्यक्रम तथा सेवाओं का इन्तजाम करना होगा। इन कार्यक्रमों एवं सेवाओं के लक्ष्यों, तरीकों तथा साधनों को इस प्रकार सुनियोजित करना होगा जिससे कि वे व्यक्ति तथा परिवार दोनों को उनके अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध तथा सामाजिक-आर्थिक पर्यावरण के साथ सम्बन्ध-स्थापन एवं विधायक निर्वाह में मदत कर सकें। इस प्रकार परिवार कल्याण की सेवाओं का रूप परिवारों के कार्य-सम्पादन के लिए सहायक होगा न कि उसमे दखलंदाजी का।

परिवार कल्याण की योजनाओं पर चिन्तन एवं व्यवस्था के दौरान चूँकि यह आवश्यक होता है कि उन पर प्रभावकारी शक्तियों तथा उनके प्रभाव के क्षेत्र का समुचित अध्ययन एवं ख्याल रखा जाय इसलिए यहाँ कतिपय प्रमुख ऐसी शक्तियों एवं उनके प्रभाव के क्षेत्रों पर कुछ विचार करना उपयुक्त होगा।

आज के पारिवारिक जीवन एवं कार्यकलाप पर प्रभाव डालने वाली सबसे पहली शक्ति स्वयं सामाजिक परिवर्तन है। किसी प्रकार का समाजगत परिवर्तन अपने अन्तर्गत के परिवारों के जीवन एवं स्वरूप, व्यक्तिगत सम्बन्ध एवं सामंजस्य तथा सामाजिक व्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है और फलस्वरूप नयी स्थितियों की नयी अपेक्षाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। सामाजिक परिवर्तनो से पैदा होने वाली नयी आवश्यकताओं एवं बोझों का वहन आमतौर पर बहुत काल तक अपनी क्षमता के हिसाब से परिवार अथवा समुदाय ही करते रहे हैं किन्तु इधर दशाब्दियों में परिवर्तनों ने व्यवस्थाओं के नये क्षेत्रों का श्रीगणेश किया है। तेजी से बढ़ते हुए वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास ने ग्रामीण एवं शहरी, सभी प्रकार के इलाकों के परिवारों को ऐसी नयी सुविधाओं से युक्त होने में मदत दी है। इन नयी सुविधाओं और इनकी व्यापक संभावनाओं से निरन्तर इस बात की माँग बढ़ती जा रही है कि परिवार-कल्याण की व्यवस्थाओं को अधिक संगठित, तथा परिवार हितकारी बनाया जाय।

परिवर्तन नियोजित अथवा अनियोजित दोनों ही प्रकार से हो सकते है। ऐसा हो सकता है कि परिवर्तन की योजना बनायी जाय और किसी खास सामाजिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसको लागू किया जाय। लेकिन ऐसा भी होता है कि परिवार की स्वयं की आर्थिक, सामाजिक तथा सांवेगिक आदि स्थितियों के परस्पर संघर्ष के फलस्वरूप कोई लाभकारी अथवा हानिप्रद परिवर्तन हो जाय। दोनों ही प्रकार के परिवर्तनों की संभा-

चना प्रायः सभी परिवारों में विद्यमान रहती हैं और परिवार परिवर्तनों पर तथा परिवर्तन परिवारों पर प्रभाव डाला करते हैं। परिवारों पर परिवर्तन के मुख्य प्रभावों को किसी सीमा तक प्रायः समझा जा सकता है और इसलिए परिवार कल्याण के कार्यक्रमों एवं सेवाओं के नियोजन की संभावना किसी हद तक अवश्य ही संभव रहती है। जब कि परिवर्तन तथा परिवर्तन के मुख्य परिणाम पहले से ज्ञात होते हैं तो कुछ सरलतापूर्वक कार्यक्रमों एवं सेवाओं का निर्धारण किया जा सकता है और परिवार का शोषण करने वाली नयी सामाजिक स्थितियों से रक्षा की जा सकती है। जहाँ कि आगामी परिवर्तन एवं परिणाम अदृश्य होते हैं वहाँ नये अवसरों का उपयोग संदिग्ध होता है और यदि कल्याणकारी सेवाएँ उपलब्ध होती भी हैं तो वे परिवार एवं परिवार के सदस्यों की संकट की स्थिति में सहायता करने में अत्यधिक सीमित हस्तक्षेप रख पाती हैं।

पारिवारिक जीवन पर प्रभावकारी दूसरी शक्ति जनसंख्या की वृद्धि है। पिछले दशकों में सारे संसार की जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ी है। पिछले ही दशक में यह जनसंख्या अपनी कुल का १।५ बढ़ गयी है और इस बढ़ाव की गति और भी तीव्रतर होती जा रही है। यद्यपि इस जनसंख्या वृद्धि ने सभी देशों के लिए अनेक समस्याएँ उपस्थित तथा विकसित कर दी हैं तथापि विकासमान देशों के लिए तो यह अभिशाप सी बनती जा रही है; क्योंकि ऐसे देशों के आर्थिक कार्यक्रम तथा सामाजिक, शैक्षणिक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी अनेक सुविधाओं का आवश्यक गति से विकास नहीं हो पा रहा है। इस बात की मान्यता कम हो सकती है कि तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या वृद्धि से सम्बन्धित सामाजिक समस्याओं का महत्त्व पारिवारिक स्तर पर भी समान होता है। चूँकि आधुनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रविधियों ने बाल-मृत्यु तथा मातृत्व मृत्यु की दरों को घटाया है और लम्बे जीवन की संभावना को बढ़ाया है इसलिए सदस्य संख्या की दृष्टि से परिवार बड़े होने लगे हैं। परिवारों की सदस्य संख्या बढ़ने से ग्रामीण तथा नगरीय दोनों ही समाजों के पारिवारिक जीवन में स्वास्थ्य, शिक्षा तथा व्यवहार आदि से सम्बन्धित कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। प्रायः ऐसी दशाओं में मकानों की संख्या बेतहाशा बढ़ जाती है और वे गन्दे रहते हैं। अर्थाभाव की स्थिति वाले परिवार जो कि पहले से ही निम्न स्तर पर जीवन-यापन करते रहते हैं और भी नीचे स्तर का जीवन बिताने लगते हैं। बच्चों की शिक्षा ठीक से नहीं हो पाती, सदस्यों को आवश्यक आहार नहीं मिल पाता तथा समाज में रोजगार की समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं। अपराध एवं असामाजिक कृतियों में भी अभिवृद्धि हो जाती है और इसका असर सदस्य परिवारों पर भी पड़ता है। परिवारों में भग्नता के लक्षण आ सकते हैं और उसके सदस्य घर छोड़ के अन्यत्र जा सकते हैं। इतना ही नहीं, देखा जाता है कि जनसंख्या वृद्धि होने पर व्यक्तियों एवं परिवारों में स्थानान्तरण की

गति तेज हो जाती है। ऐसे स्थानान्तरणों के कारण अनेक पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याएँ पैदा हो जाया करती है। इन समस्याओं से जूझने के लिए व्यापक व्यवस्थाओं की आवश्यकता पड़ जाती है। अनेक नये नगरों तथा उद्योगों की स्थापना करनी पड़ती है जिससे कि स्थानान्तरित व्यक्तियों तथा परिवारों के लिए जीवन-यापन की उपयुक्त व्यवस्था की जा सके। नगरीय स्थानान्तरण, औद्योगिक विकास तथा रोजगार के अवसरों में विकास की बात लम्बे अर्से में तो राष्ट्रीय आर्थिक उत्पादकता और उन्नत पारिवारिक जीवन-स्तर की लक्ष्य प्राप्ति मे सहायक से हो सकते है किन्तु छोटे अर्से मे देखा जाय तो इस प्रकार के शहरी एवं औद्योगिक विकास के कारण राष्ट्र को अनेक बड़े खर्चे करने पड़ते है और भवन-निर्माण, सड़क, पानी, सफाई, स्वास्थ्य सेवाओं, शैक्षणिक सुविधाओं, रोजगार, प्रशिक्षण तथा अनेक समाज-कल्याण के कार्यक्रमो और सेवाओं की व्यवस्था करनी पड़ती है। जब परिवारों अथवा राष्ट्रों के पास इन व्यवस्थाओं को करने के लिए पर्याप्त संपदा होती है तब भी अपरिचित तथा जटिल आवासीय तथा अर्जन सम्बन्धी परिस्थितियों के साथ अपने को समंजित करने में अनेक झंझटों तथा मानसिक-शारीरिक दाबों के बीच से इन्हें गुजरना पड़ता है। इतना ही नही सांस्कृतिक मूल्यों का वहन भी अवरोधग्रस्त हो जाता है और जीवन के आध्यात्मिक, नैतिक मूल्यों की नवस्थापना अथवा सृजन में शक्ति का अदृश्य रूप से बहुत व्यय होता है। छोटे अर्से में कुछ नहीं तो नगरीकरण और औद्योगीकरण के द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में आवासीय जीवन-यापन की दशाओं तथा रोजगार की सुविधाओं का विकास करके वहाँ के निवासियों का स्तर कुछ ऊँचा किया जा सकता है। प्रविधि-विकास तथा व्यापक तौर पर जन कल्याणकारी सेवाओं का विकास करके ग्रामीण अंचल के व्यक्तियों को स्थानान्तरित होने से रोका जा सकता है और इस ग्रामीण आर्थिक शक्ति का उपयोग ग्रामोत्थान के आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में किया जा सकता है।

परिवारों के जीवन पर परिवारों की रचना तथा क्रिया-कलाप के स्वरूप का स्वयं ही बहुत प्रभाव हुआ करता है। परिवार चाहे किसी प्रकार के हों उन सभी में (एकाकी अथवा सम्मिलित, बहुपत्नी। पति अथवा एक पत्नी। पति, मातृ सत्ताक अथवा पितृसत्ताक इत्यादि) अनेक आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे हैं और इनसे परम्परागत पारिवारिक रचना तथा स्थापित पारिवारिक क्रिया-कलाप के स्वरूपों में परिवर्तन आ रहा है। बहुत-से परिवारों में तो उनके अनुरूप नये अथवा विकसित ढंग के मूल्यों द्वारा खामियों की पूर्तिकी जारही है किन्तु बहुतसे परिवार अबभी अपने लिएउपयुक्त स्थापनाओं तथा मूल्यों की खोज में हैं। संक्रमण की अवस्था में परिवार के सदस्य अपनी सुविधाओं, जिम्मेदारियों तथा व्यक्तिगत और सामाजिक कर्त्तव्यों तथा सम्बन्धों के प्रति अनिश्चित

से हो जाते हैं। जहाँ कि परिवारों में पर्याप्त भौतिक साधन अथवा संपदा तथा व्यक्तिगत शक्ति और नमनीयता विद्यमान होती है वहाँ तो पारिवारिक स्वरूप तथा कार्य-कलाप की स्थिरता देखी जा सकती है किन्तु जहाँ भौतिक तथा व्यक्तिगत सामर्थ्य की कमी होती है, पारिवारिक कल्याण सेवाओं की इस हेतु बड़ी आवश्यकता उपस्थित हो जाती है कि उन्हें अभिभावकत्व के नये संबल तथा बच्चों की शिक्षा-दीक्षा, पालन-पोषण के नये तरीकों के विकास से सम्पन्न किया जा सके। परिवारों में इधर पिछले दशकों में एक बड़ा परिवर्तन औरतों के कर्तव्यों तथा स्थिति के सम्बन्ध में आया है। मात्रा-भेद के साथ अनेक देशों में, अनेक क्षेत्रों में औरतों के रोजगार तथा रोजगार में भागीदारी मे वृद्धि हुई है। रोजगार के अलावा सामुदायिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक इत्यादि जीवन के विविध पहलुओं में भी उनके कार्य-कलाप बढ़े हैं। यौन आधार पर अधिकारों एवं कर्त्तव्यों मे भेद-समापन की मान्यता में विकास के कारण ऐसा हुआ है। यद्यपि औरतों ने घर के बाहर के अनेक कामों मे हिस्सा लेना शुरू कर दिया है और परिवारों के लिए अर्थोपार्जन का कार्य करने लगी है किन्तु यह सब हमेशा राष्ट्रीय या आर्थिक उन्नति का ही प्रतीक नहीं हुआ करता। बहुत-सी औरतें अपने घर की आर्थिक दशा खराब होने के कारण भी परिवार से बाहर जाकर अर्थोपार्जन का कार्य करती हैं, जब कि वे यह कार्य आवश्यकता के कारण करती हैं न कि अपनी खास पसंदगी के कारण। औरतों के घर से बाहर काम करने पर परिवार के सम्बन्धों तथा कार्यकलाप के स्वरूप मे परिवर्तन आ जाता है और जो काम औरत के परिवार में रहने पर उसके द्वारा ही सहज रूप से सम्पादित किये जा सकते हैं, अन्य परिवार-कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों एवं सेवाओं के जरिये कृत्रिम तौर पर करने पड़ते है।

परिवार-कल्याण से सम्बन्धित कार्यक्रमों के स्वभाव पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि उनका प्राथमिक उद्देश्य परिवारों को शक्ति देना, उनकी आन्तरिक एकता की रक्षा करना, एकत्व की भावना का विकास करना, उनके सदस्यों की क्षमताओं को आलम्बन देना और विकसित करना तथा राष्ट्र के आर्थिक-सामाजिक जीवन में उपयोगी भागीदार बनाने के लिए उनकी सहायता करना हुआ करता है। खास कर विकासशील देशों में परिवार-कल्याण के कार्यक्रमों के अन्तर्गत मोटे तौर पर शैक्षणिक और परामर्श सम्बन्धी ऐसी सेवाओं का विकास करना अपेक्षित है जो कि बच्चों एवं अभिभावक-बच्चों के सम्बन्धों को उन्नत करते हों तथा परिवर्तनशील दशाओं के साथ परिवारों में समंजन को शक्ति देते हो। पारिवारिक जरूरतों तथा समस्याओं के सम्बन्ध में ऐसे परिवारों को सलाह एवं सहायता देना जो कि पहले संयुक्त थे तथा राष्ट्रीय-आर्थिक दशा में परिवर्तन की माँग के कारण होने वाली आवश्यकताओं के लिए विशेष सेवाओं की व्यवस्था करना भी जरूरी हुआ करता है।

अनेक विकासशील देशों में कथित तत्त्वों से युक्त अनेक कार्यक्रम चल रहे हैं। इन कार्यक्रमों में प्रायः थोड़ा बहुत अन्तर हुआ करता है। इनके उद्देश्य तथा कार्य-विधियों में भी कुछ फर्क होते हैं। बहुत-से देशों के ऐसे कार्यक्रम अन्तर्सम्बन्धित होते हैं तथा बहुत-से असम्बन्धित। प्रायः परिवार-कल्याणकारी कार्यक्रमों की व्यवस्था मातृ-शिशु-स्वास्थ्य-केन्द्रों, सामुदायिक केन्द्रों अथवा परिवार-कल्याण-अभिकरणों के मातहत हुआ करता है। ये केन्द्र अथवा अभिकरण स्वतंत्र रूप से तथा मिलजुल कर सहयोगी की भाँति, दोनों ही ढंग से काम करते है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत तौर पर भी सामाजिक कार्यकर्त्ताओं द्वारा इन सेवाओं का कार्य होता है। बहुत बार आर्थिक तंगी, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के असहयोग तथा कार्यक्रमों के असम्बद्ध होने से परिवार-कल्याण-अभिकरण तथा कथित केन्द्रों की सेवाओं का समुचित लाभ लाभार्थियों को नहीं मिल पाता। आमतौर पर परिवार-कल्याण सेवाओ के अन्तर्गत इनसे सम्बन्धित अभिकरण मिल-जुल कर अथवा स्वतंत्र रूप से जो व्यवस्थाएँ करते है उनमें मातृ-शिशु-स्वास्थ्य सदन की व्यवस्था, सामूहिक क्रिया-कलाप की व्यवस्था (जिनमें गृह-प्रबन्ध, बाल-पालन एवं प्रशिक्षण, स्वास्थ्य, सफाई, आहार, साक्षरता व नागरिकता की शिक्षा के लिए अवसर मिलते हों) वैयक्तिक मनोरंजन तथा अनौपचारिक समूह से सम्बन्ध की व्यवस्था, विद्यालय से बाहर युवकों के मनोरंजन की व्यवस्था, सामुदायिक उत्थान व विशेष कौशल में दक्षता तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था, प्रौढ़-शिक्षा तथा पारिवारिक मनोरंजन तथा पारिवारिक कामों में सहूलियत के साधनों की सुविधा तथा वैयक्तिक कार्य सहायता की सुविधा आदि उल्लेखनीय है। वैयक्तिक कार्य सहायता के अन्तर्गत जरूरत महसूस करने वाले अभिभावकों अथवा व्यक्तियों को परामर्श तथा निर्देशन इस भाँति दिये जाते हैं कि उनको पारिवारिक अन्तर्सम्बन्ध, पारिवारिक नियोजन, बच्चों के पालन-पोषण से सम्बन्धित समस्याओं तथा अनेक व्यक्तिगत जरूरतों और पारिवारिक तथा समुदाय में विद्यमान दिक्कतों से सामना करने के मामले में सहूलियत हो सके जबकि इन विभिन्न प्रकार के कल्याणकारी कार्यक्रमों की व्यवस्था किसी एक अभिकरण के मातहत होती है तो सेवा के दौरान अभिकरण का ध्यान सेवार्थी व्यक्ति अथवा परिवार पर हुआ करता है और वह अपनी सभी सेवाओं का नियोजन इस ढंग से करता है कि सेवार्थी व्यक्ति अथवा परिवार को उसकी अधिकाधिक उपादेयता उपलब्ध हो; किन्तु जब ये कथित कल्याणकारी कार्यक्रम किसी खास-खास कार्यक्रमों के लिए स्थापित खास-खास अभिकरणों द्वारा संचालित होते हैं तो अभिकरणों का व्यक्ति अथवा परिवार के लिए एकांगी उपयोग होता है और इस कारण उसे ऐसी दशा मे अपनी विविध जरूरतों की पूर्ति भिन्न-भिन्न अभिकरणों के माध्यम से करनी पड़ती है। खास कार्यक्रम

के संचालक खास अभिकरण से समाज को यह लाभ होता है कि उसकी खास प्रकार की सेवा का लाभ अधिक कारगर रूप में उठाया जाता है।

अनेक राष्ट्रों ने राष्ट्रीय स्तर पर परिवार-कल्याण के कार्यक्रम चलाये हैं और उनके लिए धन, प्रशिक्षण तथा पाठ्य-क्रम विकास आदि का प्रबन्ध करते हैं। ऐसा पाया जाता है कि पारिवारिक स्थिति मे बच्चों की पढ़ाई-लिखाई, उनके भोजन तथा वस्त्र आदि की पर्याप्तता का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इनकी व्यवस्था अनेक अन्य कार्यक्रमों के जरिये भी की जाती है और इस प्रकार कुछ अंशों तक परिवार-कल्याण में सहायता का कार्य इन अतिरिक्त व्यवस्थाओं के माध्यम से हो जाता है।

भारत एक विकासशील देश है और यहाँ के परिवार कृषक समाज की व्यवस्था से औद्योगिक समाज की व्यवस्था की ओर बढ़ रहे हैं। इस संकट एवं संक्रमण की स्थिति मे परिवारों को अनेक आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक मूल्यों के संकट से गुजरना पड़ रहा है। हमारे पास न तो इतनी उन्नत भौतिक उपलब्धियाँ है और न तो ऐसा बौद्धिक, मानसिक तथा वैयक्तिक स्तर है जिससे कि हम इस संकट पर आसानी से विजय पा सकें। यद्यपि सीमित शक्ति के अन्तर्गत ही हमने प्रायोगिक तौर पर बहुत कुछ विदेशी आधार पर अनुकरण करके तथा कहीं-कही स्वदेशी आधार पर नवनिर्माण करके कतिपय ऐसे छिटपुट कार्यक्रमों की शुरूआत की है जिनसे कि परिवार-कल्याण की अपेक्षाएँ किन्हीं अंशों में तुष्ट की जा सकती हैं किन्तु इस संदर्भ में अभी बहुत कुछ करना है। आज हमारे लिए बड़े पैमाने पर यह सम्भव नही है कि अमरीका आदि उन्नत देशों की भाँति हम परिवार एवं बाल-कल्याण अभिकरणों के व्यापक स्तर पर संचालन की व्यवस्था कर सकें। हमें तो अपनी भूमि में निहित बीज रूप शक्तियों और उपलब्ध साधनों को पहचान कर इनका कुछ ऐसा समन्वित उपयोग करना होगा जिससे कि भारतीय परिवारों की वर्तमान आर्थिक ढाँचे के अन्तर्गत ही अधिकाधिक सेवा की जा सके।

फिलहाल भारत में परिवार-कल्याण के कार्य संगठित रूप में सरकारी तथा स्वैच्छिक दोनों प्रकार के संगठनों द्वारा किये जाते हैं। सरकार के मन्त्रालय व समाज-कल्याण बोर्ड इन कार्यक्रमों के संचालन की व्यवस्था क्रमशः स्वयं तथा स्वैच्छिक संस्थाओं को अनुदान देकर करते है। प्रायः परिवार-कल्याण के कार्यक्रमों का संचालन, स्वास्थ्य-केन्द्र, मातृ-शिशु-कल्याण केन्द्र, विद्यालय अभिभावक-समिति, युवा-केन्द्र, पाठशाला, छात्र-संघ, मनोरंजन-केन्द्र, वाचनालय-पुस्तकालय, परिवार-नियोजन केन्द्र तथा वैयक्तिक सेवा-विधि इत्यादि के माध्यम से किया जाता है। परिवार-कल्याण से सम्बन्धित विषयों पर परिचर्चा तथा विचार गोष्ठियों के आयोजन द्वारा व समाज-कार्य-प्रशिक्षण द्वारा भी परिवार-कल्याण के कार्यक्रमों के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों पर बल पड़ता है। मजदूर

संगठनों, बाल स्काउट्स सिहशावक व निर्देशन संघ, वाइ० एम० सी० ए० तथा वाइ० डब्ल्यू० सी० ए० इत्यादि संगठनों के भी अनेक ऐसे कार्यक्रम होते है जो कि परिवार-कल्याण में मदत देते हैं। विभिन्न प्रकार के कल्याणकारी कार्यक्रमों में से एक पारिवारिक जीवन-शिक्षण-योजना के अनेक अभियान स्वस्थ पारिवारिक जीवन के कार्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इसके अतिरिक्त पारिवारिक परामर्श के कार्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुखी परिवार से सम्बन्धित साहित्य, चित्र एवं चलचित्र आदि के प्रसार से भी परिवारों पर कुछ प्रभाव डालने की सफल चेष्टाएँ की गयी हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इन तरीकों एवं साधनों का हर सम्भव विकास एवं प्रसार तो किया ही जाय, साथ ही साथ इनके ऐसे समन्वित और पारस्परिक सहयोगी उपयोग को बढ़ावा दिया जाय जिससे कि ये और अधिक कारगर रूप में अपने अभीष्ट, परिवार-कल्याण के लक्ष्य, को प्राप्त कर सकें।

अध्याय १२

बाल-कल्याण

अल्प विकसित होने के कारण बच्चों को अपनी भौतिक, बौद्धिक तथा मानसिक आदि आवश्यकताओं तथा साधनो का समुचित ज्ञान नही होता। उन्हें यह ठीक-ठीक नही मालूम रहता है कि उनको उपयुक्त शारीरिक, बौद्धिक तथा मानसिक विकास के लिए किन चीजों की आवश्यकता है; वे यह नहीं जानते कि उन्हें भोजन किस-किस मात्रा मे तथा किस-किस समय ग्रहण करना चाहिए, उन्हें यह नही पता होता कि उन्हें कैसी पुस्तकें, कितनी देर, किस-किस समय पढ़नी चाहिए, किस विद्यालय या व्यक्ति से पढ़ना चाहिए या ज्ञान के प्रश्न करने चाहिए, किस-किस माह में, किस मौसम में कौन वस्त्र धारण करने चाहिए, उनकी आदत व सुविधाएँ कैसी हों जो उनके शरीर, बुद्धि तथा मन पर अच्छा प्रभाव डालें, उन्हें उपयुक्त प्यार एवं लालन-पालन कहाँ से और कैसे प्राप्त हो सकता है, उन्हें रोग ग्रस्त होने की अवस्था में क्या करना चाहिए, क्या नही; इत्यादि।

बच्चे अपनी आवश्यकताओं या साधनों से अनभिज्ञ ही नही वरन् उन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों का जुटाव या उपयोग करने में भी अक्षम होते हैं। सभी क्षेत्रों में अर्द्ध-विकसित होने के कारण एक तो वे क्षेत्र विशेष के साधन का जुटाव या उपयोग नही कर पाते तथा दूसरे वे भिन्न क्षेत्रों के साधनों का परस्पर उपयोगी मेल नहीं करा पाते। क्रमशः उदाहरणार्थ, यदि कोई बच्चा यह जाने भी कि वह कोई श्रम करके पैसा प्राप्त कर सकता है और उससे अपनी आवश्यकता पूरी कर सकता है तो भी वह श्रम के लिए आवश्यक शारीरिक तथा बौद्धिक शक्ति से हीन होने के कारण या इन सामर्थ्यों में अक्षम होने के कारण ऐसा नही कर पायेगा और साधनों के जुटाव या उपयोग से वंचित रह जायेगा।

यदि किसी दूध पर निर्भर छोटे बच्चे की माँ बच्चे की पहुँच से दूर हो तो भूख लगने पर बच्चा अपने रुदन की भाषा में या कतिपय शब्दों द्वारा अपनी आवश्यकता के ज्ञान तथा उसके साधन के जुटाव में सन्तुष्टि को प्रकट कर सकता है किन्तु शारीरिक रूप से (ठीक से चलने की असमर्थता) अक्षम होने के कारण माता तक पहुँचने में असमर्थ होगा और इस प्रकार आवश्यकता की तृप्ति के साधन का जुटाव या उपयोग न कर पायेगा। यदि किसी

बच्चे को भौतिक क्षेत्र के साधन—यथा—समुचित भोजन और वस्त्र उपलब्ध हों तथा बौद्धिक व मानसिक क्षेत्र के साधन समझदार शिक्षक तथा माता-पिता उपलब्ध हों और बच्चे को यह कहा भी हो कि कैसे भोजन ग्रहण एवं वस्त्र धारण करने पर उनको शिक्षक उत्साह से ज्ञान तथा माता-पिता स्नेह देंगे तो भी बच्चे प्रायः उनके इच्छानुसार भोजन और वस्त्र धारण करने में चूक जाते हैं—फलस्वरूप वे शिक्षक के उत्साह-पूर्वक ज्ञानदान तथा माता-पिता के स्नेह की प्राप्ति से चूक जाते हैं अर्थात् तदनुसार आचरण करके उपलब्ध भौतिक साधनों एवं बौद्धिक तथा मानसिक साधनों का परस्पर उपयोगी मेल नहीं करा पाते। ऐसा इसलिए होता है कि अभी तक उनमें इस कार्य की क्षमता का विकास नहीं हुआ रहता।

बच्चे भावी पीढ़ी या समाज के निर्माता होते हैं इसलिए बच्चों के शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक तथा आवेगात्मक गठन का भावी पीढ़ी या समाज के स्वरूप निर्धारण में गहरा हाथ होता है। यदि बच्चे उपरोक्त व्यक्तित्व के निर्धारक क्षेत्रों में सबल एवं पुष्ट होते हैं तथा उन क्षेत्रों में उनका विकास समुचित रूप से होता है तो आगे के समाज के, सबल एवं सक्षम होने की सम्भावना अधिक होती है। यदि ये भावी समाज के निर्माता व्यक्तित्व के निर्धारक कथित तत्वों में दुर्बल या अविकसित होते हैं तो भावी समाज के भी अशक्त या अल्पशक्त होने की सम्भावना अधिक होती है। व्यक्तिगत व्यक्तित्व पुंज से निर्मित होने वाले समष्टिगत व्यक्तित्व के आधार पर ही राष्ट्र या विश्व की सभ्यता और संस्कृति का स्वरूप निर्धारित होता है इसलिए भविष्य के समष्टिगत व्यक्तित्व की कुंजी बच्चों पर ही राष्ट्र या विश्व की सभ्यता एवं संस्कृति का भविष्य आधारित है।

औद्योगिक युग के प्रादुर्भाव से परिवारों का स्वरूप तथा बच्चों के आलम्बन के आधार बदल रहे हैं। औद्योगिक युग की स्थापनाओं एवं व्यवस्थाओं के अन्तर्गत परिवार का रूप, गुणात्मक एवं मात्रात्मक दोनों ही अर्थों में परिवर्तित हो रहा है। परिवार छोटे तथा प्रत्यक्षतः तात्कालिक उपयोगिता के लिए सक्रिय हो रहे हैं। पहिले बच्चों का लालन-पालन परिवार के सदस्यों की संख्या अधिक होने तथा उनके क्रियाकलाप का स्वरूप परस्परावलम्वी होने से परिवार में ही हो जाता था, अब सदस्य-संख्या की कमी तथा क्रियाकलाप का स्वरूप स्वावलम्बी होने से बच्चे के लिए लालन-पालन की अतिरिक्त व्यवस्था की आवश्यकता है। अब परिवर्तित सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों तथा भौतिक साधनों की उपलब्धि के कारण बच्चों के लालन-पालन के लिए परिवर्तित आलम्बनों की आवश्यकता एवं सम्भावना है।

कथित कारणों से बाल-कल्याण की योजनाएँ एवं सेवाएँ आवश्यक समझी जाती हैं। इन योजनाओं एवं सेवाओं का अभीष्ट इनके माध्यम से बच्चों को अपनी सभी प्रकार की आवश्यकताओं तथा साधनों का ज्ञान कराना, उनको पूरा या प्रयोग करने का ढंग सिखाना, उनके व्यक्तित्व का समुचित तथा हर दृष्टि से उपयोगी विकास या निर्माण करना, हित-

कारी साधनों तथा आलम्बों को उपलब्ध कराना तथा बच्चों के प्राथमिक तथा द्वितीयक समूह के सदस्यों को बच्चों के अधिकाधिक हितार्थ होने में सक्षम बनाना, होता है। बाल-कल्याण की योजनाएँ तथा सेवाएँ, सामान्य तथा विशिष्ट दोषों से ग्रसित, दोनों ही प्रकार के बच्चों को ध्यान में रख कर बनायी व उपलब्ध करायी जाती हैं।

अमेरिका में बाल-कल्याण

स्वास्थ्य एवं कल्याणकारी सेवाएँ

अमेरिका में बच्चों के स्वास्थ्य एवं कल्याण की सेवाओं की व्यवस्था राजकीय एवं स्वैच्छिक दोनों आधारों पर है। संघीय एवं राज्य सरकारें अपने अभिकरणों तथा स्वैच्छिक संस्थाएँ अपने अभिकरणों के माध्यम से अलग-अलग तथा परस्पर सहयोगी के रूप में भी इन सेवाओं की व्यवस्था करती है। मुख्यतः ये सेवाएँ तीन प्रकार की होती हैं–अपने निजी घरों में रहने वाले बच्चों की आर्थिक एवं व्यक्तिगत सहायता सम्बन्धी सेवा, गृहविहीन या अपने सहज परिवारों के साथ न रह सकने की स्थिति के बच्चो के लिए विकल्प परिवारों या धारक गृहों की सेवा व बाल गृहों या अनाथालयों में संस्थागत देख भाल की सेवा।

राज्य को राजकीय बाल-कल्याण सेवाओं के लिए संघीय सरकार से आर्थिक सहायता प्राप्ति के लिए उन सेवाओं के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य बाल सेवा कार्यालय द्वारा स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक होता है। राज्यों की सेवाएँ, मुख्यतः मातृ-शिशु स्वास्थ्य सेवाएँ, विकलांग बच्चों की सेवाएँ तथा बच्चों के कल्याण की सेवाएँ हैं। बच्चों के कल्याण की सेवाओं का अर्थ अमेरिका में उन सेवाओं से होता है जो कि बच्चों के लिए निरोधात्मक तथा सुरक्षात्मक कार्य करती हैं। बाल-कल्याण की सेवाओं के सम्बन्ध में कार्यवाही, एक बारह सदस्यीय सलाहकार परिषद् के माध्यम से उसकी उपलब्धियों एवं संस्तुतियों के आधार पर सरकार का स्वास्थ्य, शिक्षण, और कल्याण विभाग करता है।

(अ) मातृ-शिशु-स्वास्थ्य सेवाएँ

माताओं और बच्चों के सुस्वास्थ्य हेतु प्रयुक्त सेवाओं के लिए संघीय सरकार प्रति वर्ष २१,५००,००० डालर के लगभग खर्च करती है। इन सेवाओं की व्यवस्था राज्य अपने स्वास्थ्य विभाग के माध्यम से करता है। इन सेवाओं की अधिक उपादेयता के लिए चिकित्सकीय, तीमारदार तथा स्वैच्छिक कल्याणकारी संस्थाओं का सहयोग हासिल किया जाता है और पिछड़े या अनुपयुक्त स्थिति के समूहों और समुदायों में इन सेवाओं का प्रदर्शन कार्य भी होता है। इन सेवाओं में मुख्यतः नियमित शारीरिक परीक्षण एवं सलाह हेतु उपचारालय की सेवाएँ, गर्भावस्था स्वास्थ्य सदन की सेवाएँ, गृह-प्रजनन-तीमारदारी सेवाएँ, नवजात शिशु एवं बाल स्वास्थ्य सम्मेलन की सेवाएँ, विद्यालय, दन्त और मानसिक

स्वास्थ्य की सेवाएँ, परामर्श एवं सलाह की सेवाएँ तथा बाल रोग चिकित्सकों, तीमारदारों, आहार वैज्ञानिकों तथा सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण की सेवाएँ है।

(आ) विकलांग बाल सेवाएँ

स्वास्थ्य, शिक्षा एवं कल्याण विभाग के अधीन बाल कार्यालय के स्वास्थ्य संघ विभाग द्वारा संघीय स्तर पर इन सेवाओं की व्यवस्था होती है। ऐसे बच्चों के लिए मुख्यत: आवासीय व्यवस्था, चिकित्सा एवं शल्यक्रिया की सुविधा, सुधारात्मक एवं अन्य सेवाएँ देखभाल तथा निदान, अस्पतालों में रखने तथा वहाँ से निकलने पर उनकी देखभाल आदि की सुविधाएँ उपलब्ध होती है। इन सेवाओं के लिए संघीय सरकार प्रति वर्ष लगभग १५१,००,००० डालर अनुदान देती है। इसरकम में से लगभग ६०,००० डालर तो सभी राज्यों को समभाव से मिलता है किन्तु शेष रकम में से लगभग ४,३२,००,००० डालर राज्यों मे विकलांग बच्चों की संख्या तथा उनकी जरूरतों की विशिष्टता के आधार पर राज्यों को अंशदान की शर्त पर वितरित किया जाता है। शेष रकम लगभग ७,५००, ००० डालर राज्यों को बिना अंशदान की शर्त्त के उनकी आवश्यकताओं एवं बच्चों की संख्या के आधार पर दी जाती है। इन राजकीय व्यवस्थाओं के बावजूद, अनेक कल्याणकारी संगठनों धार्मिक संस्थाओं तथा अन्यान्य परिषदों एवं समितियों द्वारा स्वैच्छिक आधार पर विकलांग बालकल्याण अभिकरण स्थापित एवं संचालित है तथा इस क्षेत्र के कार्यों में इनका सहयोग और इनकी आवश्यकता प्रबल रूप से विद्यमान है।

(इ) बाल-कल्याण सेवाएँ : निरोधात्मक तथा सुरक्षात्मक

अमेरिका के सभी राज्यों के राजकीय कल्याण विभाग में एक बाल कल्याण उपविभाग है। इन सेवाओं में बच्चे के अभिभावकों एवं सम्बन्धियों के साथ असंतोषप्रद पारिवारिक एवं व्यक्तिगत सम्बन्धों में सुधारार्थ वैयक्तिक सेवा कार्य, एवं आर्थिक तथा सामाजिक कठिनाइयों में सहायता का कार्य समाहित होता है। आवेगात्मक, शारीरिक तथा मानसिक रूप से अवरोध-ग्रस्त या बाधित बच्चों को आर्थिक सहायता देने, अविवाहितों से जन्में बच्चों पर विशेष ध्यान देने तथा अपने सहज परिवारों से अलग रहने की स्थिति के बच्चों को पालक परिवारों या संस्थागत देख भाल की सुविधा उपलब्ध कराने की व्यवस्था यहाँ है। विद्यालय-बालपरामर्श केन्द्र, स्वास्थ्य केन्द्र, मानसिक स्वास्थ्य केन्द्र तथा बाल न्यायालयों आदि द्वारा बच्चों की सहायता करना तथा बाल संस्थाओं और पालक परिवारों में रहने वाले बच्चों की समय-समय पर उचित व्यक्ति द्वारा देख भाल कराने का प्रबन्ध करना इन राजकीय कल्याण-सेवाओं का कार्य है। कभी-कभी इन कार्यों के लिए सामूहिक सेवा कार्य के ऐसे अभिकरणों से जो कि बाल-सुरक्षात्मक कार्यों में लगे हैं, सहयोग प्राप्त किया

जाता है। इन बाल कल्याणकारी सेवाओं की उपादेयता इसलिए भी महत्त्वपूर्ण बन जाती है क्योंकि इनमें प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता तथा सलाहकार कार्य करते हैं और वे स्थानीय कल्याण विभागों, संस्थाओं, राजकीय तथा स्वैच्छिक परिवार एवं बाल-कल्याण अभिकरणों तथा सामुदायिक केन्द्रों के कार्यों को अपनी विशिष्ट क्षमताओं द्वारा सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आधारों पर उपयोगी बनाने में सचेष्ट रहते हैं। अनेक राज्यों मे बाल-कल्याण विभाग का कार्य इन सेवाओं के स्तर को उन्नत तथा विधि को सुगम करना, इनके लिए अनुमति पत्र देना, इनसे सम्बन्धित संस्थाओं की जाँच-पड़ताल करना तथा इनसे सम्बन्धित कानूनों या विधियों को संवर्धित-परिवर्तित करना होता है। कुछ राज्यों में मानसिक और शारीरिक रूप से अवरोध-ग्रस्त तथा बाल अपराधियों से सम्बन्धित संस्थाओं के प्रशासन का कार्य भी इन्ही बाल-कल्याण विभागों के मातहत होता है। कभी-कभी राज्य सरकारों के ये विभाग बाल-कल्याण के ये कार्य वैयक्तिक सेवा अथवा सामूहिक सेवा के स्वैच्छिक तथा सामाजिक अभिकरणों के सहयोग से या परिवीक्षा विभाग, बाल-न्यायालय तथा पुलिस बालापराधी-सहायता कार्यालय के सहयोग से भी करते है। समस्त सेवाओं के दौरान अभिकरण तथा उनके बाल-कल्याण सलाहकार तथा सामाजिक कार्यकर्त्ता, बच्चों के सर्वांगीण विकास व उनकी समस्त सम्भावनाओं पर ध्यान रखते हुए, अपने कार्यों को अभिकेन्द्रित रखते हैं।

२. अविवाहितों के बच्चों की सेवाएँ

परिवार और बाल-कल्याण अभिकरण की एक मुख्य सेवा ऐसी माताओ की जरूरतों में मदत देना है जो कि अविवाहित होती हैं तथा इनके द्वारा जन्मे बच्चों के समुचित संरक्षण की व्यवस्था करना होता है। इन बच्चों की उचित देखभाल के लिए प्राकृतिक पिता के सहयोग की व्यवस्था रहती है। ये अभिकरण ऐसी व्यवस्था करते है कि बच्चे की जननी माता ऐसे स्थानों एवं पर्यावरण में बच्चे के साथ रह सके जहाँ कि वह नवजात शिशु की लालन-पालन की स्वाभाविक आवश्यकताओं को सामान्य माताओं सी पूरी करती रह सकें तथा अपने असामाजिक तथा गैर कानूनी प्रजनन के कृत्य से भयभीत होकर कुछ ऐसा न कर बैठे जिससे उनके स्वयं तथा उनसे जनित बच्चे का जीवन बोझिल हो सकता हो।

३. अभिभावकत्व की व्यवस्था

माता-पिता की मृत्यु होने या बच्चों के पालन-पोषण में सामाजिक, शारीरिक या मानसिक आदि रूपसे अक्षमता आ जाने की स्थिति में उनके बच्चों को कृत्रिम अभिभावकत्व प्राप्त करने की कानूनी व्यवस्था की गयी है। ऐसे कृत्रिम अभिभावकों पर बच्चों की अधिक जिम्मेदारियाँ नहीं होतीं। बच्चों के वयस्क हो जाने या उनकी शादी हो जाने पर यह अभिभावकत्व समाप्त हो जाता है। ये अभिभावक बच्चे की सौतेली माँ, उसके सम्बन्धी

पारिवारिक मित्र, कही-कही सरकारी अधिकारी तथा न्यायालयों द्वारा नियुक्त व्यक्ति होते हैं। राज्यों द्वारा की जाने वाली व्यवस्था असंतोषप्रद समझी जाती है तथा इसके द्वारा बच्चों के आवास, शिक्षण तथा निर्देशन आदि की समुचित व्यवस्था नही है। इस सन्दर्भ की व्यवस्थाओं को भी और अधिक फलदायी बनाने की आवश्यकता है।

४. विद्यालयों में जलपान की व्यवस्था

अनेक राज्यों में सरकारें विद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए उनके विद्यालय मे रहने के समय में जलपान की व्यवस्था करती है। यह जलपान बिना रंगभेद, धर्मभेद या आर्थिक क्षमता भेद के आधार पर वितरित होता है। यह कार्यक्रम दिनोंदिन विकसित एवं विस्तारित हो रहा है।

५. दिवस बालसेवा तथा शिशु-रक्षण केन्द्रों की सेवाएँ

जब माताएँ काम पर होती है तो इनके २ से ५ वर्ष के बीच के बच्चों की देख-भाल दिवस शिशु-रक्षण केन्द्र करते है। अब इन केन्द्रों में बच्चों के स्वास्थ्य एवं शिक्षण की अधिक उन्नत व्यवस्थाएँ की जा रही है। विशेष अवस्थाओं में इन बच्चों की सेवा बाल-कल्याण के अन्य अभिकरणों की सेवा के सहयोग से भी की जाती है। शिशु-शिक्षालयों में बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए समुचित ध्यान दिया जाता है। कार्यरत माताओं के विद्यालय जाने वाले शिशुओं की देखभाल में संलग्न दिवस बाल-सेवा केन्द्रों की संख्या घट रही है, क्योंकि इनके अनाकर्षक नियमों के कारण जनता की अभिरुचि इसमें कम हो रही है। इनकी सेवाएँ कम आय अथवा अक्षम अभिभावकों के बच्चों के लिए ही होती हैं। बहुत ही कम ऐसे केन्द्रों मे वैयक्तिक कार्यकर्त्ता हैं। ऐसे केन्द्रों की आज बहुत जरूरत महसूस की जा रही है तथा इनकी सेवाओं के पुनर्गठन एवं विस्तार की महती आवश्यकता है।

६. विद्यालयों में समाज-कार्य की व्यवस्था

अमेरिका के अधिकांश शहरों में विद्यालयी समाज कार्यहेतु सामाजिक कार्यकर्त्ता की व्यवस्था है। इनमें पूर्णकालिक तथा अंशकालिक दोनों ही प्रकार के कार्यकर्त्ता है। विद्यालयों के साथ सामंजस्य-स्थापन में कठिनाईअनुभव करने वाले बच्चों की मदत करना इन सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का मुख्य काम होता है। इस मूल कार्य की सफलता के लिए सामाजिक कार्यकर्त्ता अभिभावक-विद्यालय सम्बन्धों को रचनात्मक मोड़ देते हैं, विभागीय बैठकों, विद्यालयी समितियों तथा सामूहिक अभियानों में भाग लेते हैं तथा विद्यालयों के कार्यकलापों का अभिभावकों एवं समुदायों में प्रचार एवं व्याख्या करते हैं। इन सबके दौरान उन्हें इन पर प्रभावी अवयव विद्यार्थी, उसका परिवार, विद्यालय के कर्मचारी तथा

समुदाय के साथ काम करना पड़ता है और उनकी भावनाओं को भी हितकारी बनाने की कोशिश करनी पड़ती है।

७. गोद लेने की व्यवस्था

कुछ भिन्न व्यवस्थाओं के साथ अमेरिका के हर राज्य में गोद लेने से सम्बन्धित नियम है। गोद लिये जाने वाले बच्चों में आधे से भी अधिक गैर कानूनी प्रजनन के फलस्वरूप जन्मे होते हैं। अमेरिका में गोद लिये जाने योग्य बच्चों की संख्या वहाँ की इसकी माँग की तुलना में काफी कम है जिससे कि बच्चों की चोर बाजारी की जाती है। चोर बाजारी से खरीदे गये बच्चों का लालन-पालन खरीदने वाले अभिभावक अपनी आकांक्षाओं या सामर्थ्य के अनुसार करते हैं न कि बच्चे की क्षमताओं के आधार पर और इस कारण उनके समुचित विकास में बाधा रहती है। बच्चों की चोर बाजारी से अच्छी आमदनी के कारण अविवाहितों को डरा-धमका करके अनुपयुक्त स्थान या विधि द्वारा प्रजनन कराया जाता है और इस कारण ऐसे बच्चो पर अनेक आघात पड़ते हैं। गोद लिये जाने की कानूनी व्यवस्था के फलस्वरूप अनाथ या प्राकृतिक माता-पिता विहीन तथा अनुपयुक्त पारिवारिक पर्यावरण के बच्चों को अपने सामाजिक, मानसिक, बौद्धिक तथा शारीरिक आदि विकास के लिए अच्छे परिवारों की उपलब्धि होने की सम्भावना होती है। इससे सम्बन्धित नियमों के निर्धारण के मूल लक्ष्य मुख्यत: प्राकृतिक अभिभावको को संरक्षण प्रदान करना (मुख्यत: ऐसे अभिभावकों को जो परस्पर विवाहित नहीं है और गैर कानूनी संतति प्रजनन के कारण कुछ व्यक्तिगत एवं नवजात शिशु गत हानि कारक कृत्य कर सकते है), माता-पिता से शिशु के अनावश्यक दुराव को रोकना, अनुपयुक्त अभिभावकों द्वारा बच्चों को गोद लेने से रोकना तथा उचित अभिभावकों द्वारा गोद लिये जाने पर उनके लालन-पालन में प्राकृतिक अभिभावकों के हस्तक्षेप को रोकना, बच्चे को निजी अनुवांशिक या चारित्रिक दुर्गुणों के फलस्वरूप पैदा हुए असंतोष की अवस्था में गोद लेने वाले अभिभावकों को उस बच्चे के अभिभावक से मुक्ति दिलाना तथा बदमाशों की धमकियों तथा बच्चों को चोरी मे भगाने आदि के भय से मुक्त रखना है। यदि अभिभावक बच्चे को गोद देने के लिए तैयार होते हैं तो सामाजिक अभिकरण बच्चों के अनुवांशिक एवं वर्त्तमान समस्त गुणों एवं क्षमताओं की जानकारी हासिल करके एक व्यक्तिगत लेखा तैयार करते हैं तथा उस बच्चे के अधिकतम उपयुक्त गोद देने वाले परिवार की खोज करके जल्दी-से-जल्दी उसकी व्यवस्था करते हैं। उपयुक्त परिवारों की खोज के लिए अभिकरण परिवारों की आर्थिक, शारीरिक, मानसिक, आवेगात्मक आदि स्थितियों की अच्छी प्रकार छानबीन करते है जिसमे कि इससे सम्बन्धित कोई समस्या भविष्य में उठने की सम्भावना अति न्यून हो। बच्चे और

नव परिवार के बीच संतोषजनक स्थिति होने पर संलग्न अभिकरणों की संस्तुति पर न्यायालय गोद लेने के कृत्य की विधिवत् व्यवस्था करते हैं। इन कार्यों के दौरान कार्यरत सामाजिक कार्यकर्त्ता की जिम्मेदारी बहुत बड़ी होती है और उसे अपनी अनुभूतियों तथा प्रवृत्तियों के प्रति निरन्तर सजग रहना पड़ता है। जिन मामलों में प्राकृतिक पिता गैर कानूनी ढंग से जन्मे बच्चे को गोद लेता है उनमें भिन्न राज्यों में भिन्न व्यवस्थाएँ हैं। जिन मामलों में सौतेले अभिभावकों द्वारा बच्चा गोद लिया जाता है उनमें बच्चा प्राकृतिक माता के साथ ही रहता है तथा इस माता की स्वीकृति इस कार्य के लिए प्राप्त करना सौतेले पिता के लिए आवश्यक होता है।

८. संस्थागत बाल-सेवाएँ

आधुनिक बाल-कल्याणकारी संस्थाओं में उन्नत भोजन की सुविधाएँ, नियमित शारीरिक देखभाल की सुविधाएँ, रचनात्मक सामूहिक जीवन की सुविधाएँ, मैत्रीपूर्ण पर्यावरण की सुविधाएँ, अपेक्षित अभरुचि रखने वाले प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं की सुविधाएँ तथा दवाओं, शारीरिक एवं मानसिक रोगों में सहायता की सुविधाएँ उपलब्ध रहती है। आमतौर पर संस्थागत देखभाल की जरूरत उन बच्चों को होती है जो कि अपने अभिभावकों के साथ उनकी गम्भीर बीमारी या दुर्घटनाओं के कारण रहने में असमर्थ होते हैं तथा उनके स्वयं के अथवा उनके अभिभावकों के असन्तुलित आवेगात्मक स्थिति के कारण उनके साथ रहने में असमर्थ होते हैं, जो कि अपने परिवार में भी नही रह सकते और पालक परिवारों के साथ भी संतोषप्रद स्थिति में नहीं रह सकते, जो कि विगत पालक परिवार से किसी प्रकार की अनुपयुक्त अवस्था से निकलते हैं, जो कि किसी नये परिवार में नही रखे जा सकते, जो कि ऐसी कठिन बीमारी अथवा व्यवहारगत समस्या से पीड़ित होते हैं जिनको कि किसी पालक परिवार में नहीं रखा जा सकता, जिनके लिए कि अत्यधिक नियमित और संतुलित शारीरिक एवं मानसिक चिकित्सा तथा निरीक्षण और परामर्श आदि की जरूरत होती है, जो कि हम-उम्र वाले बड़े परिवार के होते हैं और एक दूसरे से अलग होना नही चाहते किन्तु कभी-कभी जरूरी होने पर पालक परिवारों के साथ रहने पर उनमें असमायोजित हो सकते है, जो कि वयस्क अथवा किशोरावस्था के हैं और अपने परिवारों अथवा पालक परिवारों से भागने की क्षमता रखते है तथा ऐसे किशोरावस्था के बच्चे जो कि अन्यान्य कारणों से अपने परिवार से हट कर अन्यत्र कुछ काल के लिए लालन-पालन की अपेक्षा रखते है और उनका हित अन्य समूहों में ही अधिक हो सकता है। स्वैच्छिक एवं राजकीय संस्थाओं में रहने वाले बच्चों की संख्या काफी बड़ी है। संयुक्त राज्य कार्यालय की गणना के अनुसार १९५० में ३७००० बच्चे ऐसी राजकीय संस्थाओं में तथा लगभग इतने ही स्वैच्छिक संस्थाओं में भी थे। 'समूह-गृह' नामक एक अन्य

व्यवस्था के अन्तर्गत भी एक विशिष्ट प्रकार की सेवा की उपलब्धि बच्चो को होती है। समूह गृह में प्राय: एक साथ ६ से १० बच्चों को एक बड़े कमरे में रखा जाता है तथा उन्हें पारिवारिक व्यवस्थाओं से सम्बन्धित कार्यों में भागीदार बनाया जाता है। इस प्रकार इनको सामूहिक जीवन-यापन एवं पारिवारिक जिम्मेदारियों की सुविधाएँ उपलब्ध होती है।

९. पालक परिवार सेवा-व्यवस्था

बहुत-से बच्चे ऐसे होते हैं जो कि विविध कारणों यथा अभिभावकों की दुर्दशा, आर्थिक दुर्दशा, अनाथ स्थिति, अपराधी स्थिति तथा परिवार की अथवा स्वयं की मनोसामाजिक कुस्थिति इत्यादि के कारण अपने परिवार में नही रह सकते, पालक गृहों में रखे जाते हैं। इन कार्यों में रत अभिकरण बच्चों की हर प्रकार की क्षमताओं एवं आवश्यकताओं की जाँच-पड़ताल करके उनके अधिकतम उपयुक्त पालक परिवारों की खोज करके उनमें उनको रखते है एवं समय-समय पर उनकी समुचित देखभाल करते हैं। इस कार्य का सामाजिक कार्यकर्त्ता पालक परिवार, पालित बच्चे तथा उसके प्राकृतिक प्राथमिक तथा द्वैतीयक समूहों के साथ इन तीनों अवयवों का परस्पर हितकारी उपयोग करते हुए अपना कार्य करता है। अभिकरण बीच-बीच में पालक परिवारो की इच्छाओं तथा शक्तियों की जाँच-पड़ताल करते रहते हैं और यथायोग्य व्यवस्था करते हैं। ऐसा देखा गया है कि विभिन्न पालक परिवारों मे वृद्ध दम्पति रहते है। वे बच्चों की अच्छी परवरिश करते हैं। पालित बच्चे और पालक परिवार के स्वामियों को परस्पर हितकारी बनाने के लिए वैयक्तिक कार्यकर्त्ता सदा तत्पर रहता है। कभी-कभी कुछ अभिकरण अन्तरिम व्यवस्था के रूप में अस्थायी पालक परिवारों का भी उपयोग करते हैं। पालक गृहों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान भोजनदाता गृहों का होता है। इनमें पालक अभि-भावक अपनी सेवाओं का पारिश्रमिक पाते हैं। इन पारिश्रमिकों की रकम पालित बच्चे के प्राकृतिक माता-पिता अथवा अभिभावक, बाल-न्यायालय या सामाजिक अभि-करणों से उपार्जित होती है। अब ऐसे बहुत ही कम पालक-गृह रह गये हैं जहाँ कि पालक अभिभावक को कोई पारिश्रमिक नही मिलता। कहीं-कही मजदूरी गृह या कार्यगृह नाम की संस्थाएँ कार्य करती हैं जहाँ कि कुछ सामर्थ्य के बड़े बच्चे अपनी सेवाओ के मूल्य के बदले में रखे जाते है। गोद लेने वाले गृहों की व्यवस्था भी इस क्षेत्र में कार्यरत संस्थाओं के कार्यो के प्रकार की एक पूरक व्यवस्था है।

१०. बाल-श्रम निरोध-व्यवस्था

अमेरिका के विभिन्न राज्यों में थोड़ी बहुत भिन्नता के साथ बच्चों से काम लेने और इस प्रकार उनके विकास की सामान्य अवस्था में दखल देने से रोकने के लिए अनेक नियम

लागू हैं। नियमों में भिन्नताओं के आधार राज्य, बच्चों के परिवारों या स्वयं की आर्थिक, मानसिक, शारीरिक शैक्षणिक आवश्यकता' नगरीय तथा ग्रामीण सामुदायिकता तथा रोजगार की स्थिति तथा आवश्यकता आदि है। इन आधारों पर नियमों की भिन्नताओं के बावजूद भी प्रायः वयस्कता की कोई उम्र निश्चित रहती है जिसके कि नीचे का होने पर कोई बच्चा न काम कर सकता है न तो उससे काम लिया जा सकता है; निश्चित अवधि अर्थात् घण्टों तक ही कम लिया जा सकता है या वह कर सकता है; निश्चित प्रकार अर्थात् हल्के प्रकार का ही काम किया या कराया जा सकता है; निश्चित समय अर्थात् रात्रि में विद्यालय में पढ़ाई के समय या लम्बी छुट्टी के दिनों में काम करने; कराने के निश्चित नियम हैं तथा बच्चों से काम लेने के लिए काम कराने वालों को राजकीय अनुमति लेने की आवश्यकता होती है। इन व्यवस्थाओं के बावजूद भी अमेरिका जैसे जागरूक एवं सम्पन्न देश के लगभग एक तिहाई राज्यों में बाल श्रम विधान नहीं है और न बहुत से राज्यों में खेती के काम तथा छोटे रोजगार—यथा—पत्र-पत्रिकाओं के छापने-बेचने में काम करने आदि के लिए बच्चों को कोई मनाही है। इससे इन कार्यों में लगे बच्चों का समुचित विकास अवरुद्ध होता है। इस दिशा में सरकार के ध्यानाकर्षण की अपेक्षा है।

ह्वाइट हाउस सम्मेलन

बालकों की समस्याओं और उनके उपचारार्थ विचार एवं अनेक व्यवस्थाओं के लिए ह्वाइट हाउस में हुए अब तक के कुल छः सम्मेलनों का बाल-कल्याण के क्षेत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें समय-समय पर बाल समस्याओं पर व्यापक विचार हुआ, सम्मेलन में बाल जीवन कल्याण से सम्बन्धित हर वर्गों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया, अनेक जरूरी संकल्प किये गये, उनके हितकारी सिद्धान्तों का निरूपण हुआ, लाभदायक निबन्धों एवं साहित्य का सर्जन तथा प्रकाशन हुआ और उनके बालकल्याणकारी अभिकरणों की शुरूआत, विकास तथा पुनर्गठन और अनेकों में पारस्परिक सहयोग को बल मिला। पहले सम्मेलन का उद्देश्य, जो १९०९ में हुआ था, सभ्यता की सर्वश्रेष्ठ और उच्चतम देन पारिवारिक जीवन की प्रच्छन्न उपलब्धि की सम्भावना पर व्यवहारार्थ विचार करना था। सम्मेलन में आवश्यकता होने पर पालन गृहों की उपलब्धि तथा बाल संस्थाओं का निर्माण कुटीर-योजना के आधार पर करने की बात की संस्तुति की गयी थी। इस सम्मेलन के दो वर्षों बाद ही अमेरिका में पहला बालकल्याण सम्बन्धी कानून बना और इसके एक साल बाद संघीय सरकार ने बाल-कल्याण केन्द्र खोला।

दूसरा सम्मेलन १९१९ में इसी बाल कल्याण केन्द्र की ओर से आयोजित किया गया। इसमें बाल कल्याण का सामान्य प्रतिमान स्थापित करने तथा उसके विकास पर विचार हुआ। तीसरा सम्मेलन भी इसी संस्था की ओर से १९३० में आयोजित हुआ। इसका

उद्देश्य बाल स्वास्थ्य एवं रक्षा पर विचार करना था। अन्य कार्यों के अतिरिक्त इस सम्मेलन में एक बाल-चरित्र नामक प्रलेख पेश और पारित किया गया। चौथा सम्मेलन १९३९-४० में हुआ। सम्मेलन में उसके कार्यों की उपलब्धिसे सम्बन्धित प्रतिवेदन पेश और पारित हुआ। बच्चा और धर्म, परिवार और बच्चा, बच्चा और शिक्षा तथा उसकी सामुदायिक सुविधाएँ बच्चे और बाल रोजगार, बच्चा और उसका स्वास्थ्य, विशेष अनुपयुक्त स्थिति के बच्चे, राज्यों का इस सम्बन्ध में कार्य और प्रशासन व्यवस्था आदि विषयों पर इसमें अच्छी प्रकार विचार-विमर्श तथा इनसे सम्बन्धित उपयोगी कार्यक्रमो के संचालन का निश्चय भी इस सम्मेलन में किया गया। पाँचवाँ सम्मेलन १९५० मे हुआ। इस सम्मेलन का ध्येय बच्चों के मानसिक, शारीरिक, आवेगात्मक तथा बौद्धिक गुणों तथा क्षमताओं के विकास के उन्नत उपायों पर विचार करना था। इस सम्मेलन में एक 'बालकार्य प्रतिज्ञा पत्र' स्वीकार हुआ जो कि एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण नयी चीज समझी गयी। छठाँ और अब तक का अन्तिम सम्मेलन १९६० में हुआ। इसका पूरक विचारणीय विषय इस परिवर्तन के युग में बच्चों और युवकों की समस्त स्थितियाँ एवं सम्भावनाएँ था। व्यापक तौर पर इनके समस्त पहलुओं पर विचार-विमर्श हुआ और इनसे सम्बन्धित सुझाव पारित किये गये।

भारत में बाल-कल्याण की स्थिति

भारत एक नव स्वतंत्र, बड़ी जनसंख्या वाला गरीब देश है। यहाँ १६ वर्ष से नीचे की उम्र के बच्चों की संख्या कुल जनसंख्या के चालीस प्रतिशत के लगभग है। देश की आर्थिक दशा तथा बच्चों की भरमार के कारण यहाँ के बाल-कल्याण के कार्य अपेक्षाओं की तुलना में अति न्यून हैं। यद्यपि देश भर में अनेक स्वैच्छिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों एवं सरकारी यंत्रों द्वारा इस क्षेत्र में अनेक कार्य किये जा रहे हैं और इनकी वृद्धि भी हो रही है फिर भी अनाथ बच्चों की समुचित कल्याणकारी व्यवस्था की कमी है। यहाँ इनसे सम्बन्धित कार्यक्रमों का संचालन भी प्रायः उन्नत देशों के कार्यक्रमों के अनुरूप ही किया जा रहा है। यहाँ पर बाल-कल्याण के कार्यों का विस्तार शिक्षा, स्वास्थ्य, भोजन, वस्त्र, आवास तथा मनोरंजन आदि के क्षेत्रों में है। भारत में भी सामान्य दशा के तथा विशेष हीन दशा के बच्चों के कल्याण की व्यवस्थाएँ प्रचलित और विकासमान हैं। इन कार्यक्रमों का संगठन आमतौर पर रेडक्रास सोसाइटी तथा संयुक्त राष्ट्र-संघ के युनिसेफ आदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, अनेक छोटी स्वैच्छिक संस्थाओं तथा केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के स्वास्थ्य, श्रम, समाज-कल्याण, शिक्षा तथा सामुदायिक विकास आदि मंत्रालयों के अनेक

विभागों द्वारा तथा स्थानीय नगर महापालिकाओं और नगरपालिकाओं द्वारा स्वतंत्र रूप से तथा कभी-कभी सहयोगी रूप में होता है। सरकारें स्वैच्छिक संस्थाओं को अनुदान देकर तथा अपनी योजनाओं के कार्यान्वियन के यंत्रों के माध्यम द्वारा, दोनों ही प्रकार से अपने एतद्सम्बन्धी कार्यों को पूरा करती है। बाल-कल्याण के कार्यो का विस्तार गाँवो तथा शहरों, दोनों ही क्षेत्रों में है। ऐसे कार्यक्रमों की व्यवस्था कल्याणकारी कार्यो से सम्बन्धित संस्थाओं के सृजन तथा कार्यरत संस्थाओं की शक्ति वृद्धि, दोनों ही प्रकार से की जाती है। भारत में बच्चों के कल्याण की सेवाएँ संस्थागत एवं असंस्थागत दोनों ही हैं। भारत में बाल-कल्याणार्थ मुख्य कार्य हैं :—

(१) शिशु एवं बाल विद्यालय, (२) बालकनजीबारी, (३) बाल-पुस्तकालय, (४) मातृ-शिशु रक्षा केन्द्र, (५) दिवस-शिशु-पालन-गृह, (६) मनोरंजन केन्द्र, (७) बालक रोजगार नियम, (८) अनाथाश्रम, (९) मूक-बधिर विद्यालय, (१०) विकलांग आवासमूह, (११) कलात्मक अभिरुचि केन्द्र, (१२) बाल रोगियों के लिए विशेष कक्ष या विभाग तथा सुविधाएँ, (१३) बाल रोग की रोकथाम, (१४) गरीब बच्चों को अर्थ, वस्त्र तथा पठन-पाठन के उपकरण, (१५) विद्यालयों में जलपान तथा पौष्टिक आहार, (१६) क्रीड़ांगन एवं खेल के उपकरण, (१७) बाल परामर्श, (१८) हस्त-कला तथा वृत्ति-प्रशिक्षण, (१९) अपराधियों या व्यवहारगत समस्याओं या व्यक्तिगत अक्षमताओं से ग्रस्तों के लिए बाल न्यायालय, परिवीक्षण अधिकारी, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक कार्यकर्त्ता, (२०) मानसिक विक्षिप्तों के लिए आवासीय तथा उपचारार्थ सेवा, (२१) शिक्षा, स्वास्थ्य, अनैतिक व्यापार, भिक्षा वृत्ति, बाल-श्रमिक रोजगार, बाल श्रम के कार्य की दशाओं तथा अनुबन्धों आदि से सम्बन्धित नियम, चलचित्र प्रदर्शन एवं नाटिका इत्यादि की व्यवस्था तथा सुविधा।

भारत में प्रयुक्त बाल-कल्याण की प्रायः समस्त सेवाएँ मात्रात्मक तथा गुणात्मक दोनों ही दृष्टियों से असंतोषप्रद है। इनकी व्यवस्था का स्वरूप तथा साधन प्रायः ऐसे है कि उनसे अभीष्ट फल प्राप्ति नहीं होती। इनको आर्थिक, प्रशासनिक तथा कर्मचारियों के प्रशिक्षण एवं कौशल आदि की दृष्टि से काफी उन्नत करने की आवश्यकता है। यद्यपि इन दृष्टियों से क्रमशः ये कार्यक्रम योजनादरयोजना पुष्ट हो रहे हैं फिर भी व्यापक आधार पर देखने पर ये नाम मात्र के कल्याणकारी कार्यक्रम लगते हैं और इनसे भारत के भविष्य निर्माता बच्चों के समुचित एवं सर्वांगीण शारीरिक, मानसिक, आवेगात्मक, तथा बौद्धिक सुगठन एवं सुविकास की आशा नहीं जगती। विशेष रूप से बाधित, अविकसित या व्यवहारगत समस्याओं से ग्रस्त बच्चों के लालन-पालन, सुधार, संरक्षण व विकास के लिए तो और भी कम सुविधाएँ और व्यवस्थाएँ हैं तथा जो हैं भी वे अउन्नत एवं अफलप्रद हैं।

बाल-कल्याण संस्थाओं में परस्पर सहयोग की यद्यपि कोशिशें हो रही हैं किन्तु उन्हें अधिकाधिक उपयोगी होने के लिए और अधिक सहयोगी बनाने की जरूरत है।

बाल-कल्याण के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न

बच्चों के कल्याण की व्यापक सुरक्षा की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा १९५९ में किये गये बालकों के अधिकार सम्बन्धी घोषणा का अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव है। बच्चों के कल्याण की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न है। इस घोषणा के अन्तर्गत ऐसे सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है जो कि बच्चों के हितों और अधिकारों पर प्रकाश डालते हैं और उनको सुरक्षित करते हैं। ये सिद्धान्त निम्नलिखित है :—

(१) इस घोषणा के अधीन वर्णित सभी अधिकारों का उपभोग बच्चे कर सकेंगे। बिना किसी भी अपवाद के सभी बच्चे बिना किसी जाति, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक या अन्य धारणा, देश या समाज, सम्पत्ति, जन्म या स्थिति के स्वयं अथवा परिवार के भेद के आधार पर इन अधिकारों का उपयोग करने के अधिकारी होंगे।

(२) कानूनी तथा अन्य उपायों से बच्चों को विशेष संरक्षण, अवसर तथा सुविधाएँ इस हेतु दी जायेंगी कि वे शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टि से स्वास्थ्य तथा सामान्य ढंग और स्वतंत्रता तथा सम्मानपूर्ण दशाओं में विकसित होने में समर्थ बन सकें। इस उद्देश्य से नियमों को लागू करने में सर्वाधिक ध्यान बच्चों के अधिकतम हित पर केन्द्रित किया जायेगा।

(३) बच्चा अपने जन्म से ही एक नाम तथा राष्ट्रीयता का हकदार होगा।

(४) बच्चा सामाजिक सुरक्षा के लाभों का भोग करेगा। वह सुस्वास्थ्य में विकसित एवं वृद्धिमान् होने का हकदार होगा, इस हेतु विशेष देख-भाल तथा संरक्षण उसको तथा उसकी माता दोनों को ही पर्याप्त रूप से बच्चे के जन्म के पूर्व, जन्म के समय तथा जन्म के बाद की देख-भाल के रूप में दिये जायेंगे। बच्चे को पर्याप्त आहार, आवास, मनोरंजन तथा चिकित्सकीय सेवाएँ प्राप्त करने का हक होगा।

(५) ऐसे बच्चे को जो कि शारीरिक, मानसिक या सामाजिक रूप से बाधित है विशेष उपचार, शिक्षा एवं देख-भाल की सुविधा जो कि उसकी विशेष दशा के कारण उसके लिए जरूरी है, दी जायेगी।

(६) बच्चा अपनी प्रकृति से पूर्ण एवं सामंजस्यपूर्ण विकास के लिए प्यार एवं समझ की जरूरत रखता है। उसको जहाँ भी सम्भव हो, अपने माता-पिता से लालन-पालन तथा जिम्मेदारियों के अन्तर्गत या किसी सूरत में जरूरी होने पर दुलार तथा नैतिक एवं भौतिक सुरक्षा के वातावरण के अन्तर्गत विकसित होना चाहिए, कोमल उम्र

का बच्चा, विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर, अपनी जनक माता से अलग नहीं किया जाना चाहिए। परिवार-विहीन या आलम्बन के पर्याप्त साधन से विहीन बच्चों के लिए विशेष देख-भाल की व्यवस्था समाज तथा राजकीय अधिकारियों को करना होगा। बड़े परिवार के बच्चों के रखरखाव के लिए राज्य तथा अन्य सहायकों को भुगतान इच्छित है।

(७) बच्चे को शिक्षा प्राप्त करने का हक होगा, यह शिक्षा मुफ्त और अनिवार्य होगी, ऐसा कम-से-कम प्रारम्भिक स्तर पर तो होगा ही। उसको ऐसी शिक्षा दी जायगी जो कि उसकी सामान्य संस्कृति को उन्नत करेगी, उसको समान अवसरों के आधार पर क्षमताओं के विकास, व्यक्तिगत निर्णय और नैतिक तथा सामाजिक जिम्मेदारियों की पकड़ के मामले में समर्थ बनायेगी और समाज के लिए एक उपयोगी सदस्य बनायेगी।

बच्चे के हित के निर्देशक सिद्धान्त होंगे। बच्चे की शिक्षा तथा निर्देशन के लिए सब प्रकार की सर्वाधिक जिम्मेदारी माता-पिता में ही निहित होती है।

बच्चे को खेल एवं मनोरंजन के ऐसे पूर्ण अवसर प्राप्त होंगे जो कि शैक्षिक व समान उद्देश्यों की ओर अभिमुख होगें, समाज और राजकीय अधिकारी इस अधिकार के भोग को बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे।

(८) समस्त स्थितियों में, बच्चा उनमें सर्वप्रथम होगा जो कि संरक्षण तथा सहायता प्राप्त करे।

(९) बच्चा सभी प्रकार की उपेक्षा, क्रूरता तथा शोषण के खिलाफ संरक्षित होगा, वह किसी भी प्रकार से किसी व्यापार का साधन नहीं होगा।

बिना उपयुक्त वय प्राप्ति के बच्चे किसी रोजगार में भर्त्ती नहीं किये जायेंगे। किसी भी हालत में उसे ऐसे व्यवसाय या रोजगार में लगने के लिए अनुमति या प्रेरणा नही मिलेगी जो कि उसके शिक्षा या स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाता हो या उसके शारीरिक, मानसिक या नैतिक विकास में दखल देता हो।

(१०) बच्चे को ऐसे कार्यों से संरक्षित किया जायेगा जो कि जातीय, धार्मिक या अन्य किसी रूप के भेद का पोषण करते हों। उसका पालन-पोषण, सहनशीलता की समझ, व्यक्तियों में मैत्री, शान्ति एवं विश्वबन्धुत्व की भावना तथा इस पूर्ण सजगता के बीच होना चाहिए कि उसकी शक्ति तथा क्षमता को अपने सहबन्धुओं के हेतु अर्पित होना चाहिए।

लिंग, गुण आदि भेद के आधार पर बिना किसी जातिगत, धर्मगत, देशगत, लाखों बच्चों, गर्भवती स्त्रियों तथा पोषक माताओं के समुचित आहार तथा कल्याणकारी सेवाओं की निरन्तर व्यवस्था के लिए १९४६ में संयुक्त राष्ट्र संघ ने संयुक्त राष्ट्र बालतात्कालिक

सहायता कोष की व्यवस्था कर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बाल-कल्याण के क्षेत्र में महान् कार्य किया। आज यह व्यवस्था अधिकाधिक कारगर रूप में लागू हो रही है। इससे प्राकृतिक आपदाओं के समय अन्य लोगों के अतिरिक्त बच्चों को वस्त्र, भोजन तथा दवा आदि देने की व्यवस्था होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन के द्वारा भी विस्थापित बच्चों की अनेक सेवाएँ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर की जाती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन, बाल-श्रम तथा अवैध बच्चों से सम्बन्धित नियम बना कर, उनकी वकालत कर और उनके पालन की व्यवस्था कर; अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य संगठन, एवं रेडक्रास सोसायटी स्वास्थ्य सम्बन्धी उपचारात्मक तथा रोकथाम की सेवाओं को उपलब्ध करा के तथा चिकित्सकों, अध्यापकों, समाजसेवियों के सम्मेलन और प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था कर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बाल-कल्याण का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। इनके अलावा औजार एवं कृषि संगठन तथा संयुक्त राष्ट्र के युनेस्को के कई कार्य भी कभी-कभी प्रत्यक्ष रूप से व अधिकतर परोक्ष रूप से बच्चों के कल्याण के लिए किये जा रहे प्रयत्नों में सहयोग देते हैं।

अध्याय १३

युवा-कल्याण

यद्यपि युवकों की अनेक आवश्यकनाएँ परिवारों में पूरी होती हैं फिर भी उनकी अनेक ऐसी जरूरतें होती है जो कि संतुष्ट होने के लिए विशेष प्रकार के कार्यक्रमों एवं सेवाओं की माँग रखती हैं। वाल्यावस्था के सम्बन्ध एवं व्यवहार के स्वरूपों से प्रौढ़ावस्था की जिम्मेदारियों एवं कार्यों को संक्रमणित होने की अवधि में नवयुवकों को अनेक सांस्कृतिक, सामाजिक, मनोरंजक, शैक्षणिक, व्यावसायिक निर्देशन एवं प्रशिक्षण तथा परामर्श सम्बन्धी समुचित सेवाओं तथा अवसरों की आवश्यकता होती है। राष्ट्रीय एवं सामाजिक दृष्टि से युवकों में व्यक्तिगत सम्मान तथा सामाजिक मूल्यों के प्रति सद्भावना का विकास उनकी शक्तियों का सदुपयोग करके किया जाता है। युवकों को नेतृत्व, जिम्मेदारी, अभिभावकत्व तथा सामुदायिक जीवन के क्षेत्रों में सक्षम बनाने के लिए उनकी उपादेयता पर ध्यान रखा जाता है।

यों तो सारी दुनियाँ में ही किन्तु भारत में तो और भी अधिक, हाल से युवकों के कल्याण के बारे में कथित कारणों से विचार और कार्य किये गये है।

भारत में युवकों के कल्याण के कार्य सरकारी और गैरसरकारी दोनों ही माध्यमों से किये जाते रहे हैं। युवक-कल्याण के अनेक कार्यक्रमों को चलाने वाली स्वैच्छिक संस्थाओं में युवक महिला ईसाई सभा, भारत स्काउट्स ऐण्ड गाइड्स, नवयुवक ईसाई सभा, भारत सेवक समाज, भारत युवक समाज इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त देश भर में फैले अनेक छोटे-छोटे संगठन तथा संस्थाएँ भी स्थानीय तौर पर युवकों के कल्याण के कार्यक्रमों का संचालन करती है। केन्द्रीय तथा राज्य स्तर की विभिन्न सरकारें अपने अनेक विभागों यथा—शिक्षा, स्वास्थ्य, द्वारा युवकों के कल्याण के अनेक कार्यक्रमों का संचालन करती रही हैं। विद्यालय एवं विश्वविद्यालय भी अनेक प्रकार के पाठ्येतर कार्यक्रमों के संचालन द्वारा युवा छात्र-छात्राओं के लिए कल्याणकारी व्यवस्थाएँ करते रहे हैं। इन कार्यो के लिए विद्यालयों को सरकारी मन्त्रालयों तथा निजी कोषों से तथा विश्व-विद्यालयों को सरकारी मन्त्रालयों, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, निजी कोष तथा कभी-कभी दान से धन मिलता रहा है।

हमारे देश में युवकों के कल्याण से सम्बन्धित मुख्यतः स्वास्थ्य, मनोरंजन, कला,

व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा सामाजिक सेवा इत्यादि के क्षेत्र के कार्यक्रम चलते रहे है। इनमें युवक-मंगल दल, नाटक, संगीत, कुश्ती-कला, शरीर-प्रदर्शन, चित्र एवं हस्तकला परामर्श, सामूहिक आवास, देश-दर्शन, युवक किसान संघ, बाढ़ पीड़ित सहायता, शरणार्थी सहायता, समाज-सेवा शिविर, समाज सेवा संघ, अभिरुचि केन्द्र, नवयुवक आवास गृह, शारीरिक कला एव व्यावसायिक प्रशिक्षण, तैराकी एन० सी० सी०, ए० सी० सी०, राष्ट्रीय अनुशासन योजना, भारत स्काउट्स ऐण्ड गाइड्स, श्रमिक शिक्षा केन्द्र, श्रमिक मनोरंजन केन्द्र, ग्रामीण व्यायामशाला, स्वास्थ्य केन्द्र, आर्थिक सहायता कोष, विश्वविद्यालय चलचित्र परिषद्, मनोवैज्ञानिक परामर्श, युवक-कल्याण सम्बन्धी गवेषणा, सार्वजनिक भवन, सड़क तथा मंदिरो आदि का निर्माण एवं जीर्णोद्धार तथा युवकों के कल्याण के कार्यक्रमों के संचालकों के प्रशिक्षण इत्यादि की व्यवस्थाएँ उल्लेखनीय है।

यद्यपि भारत ग्राम प्रधान देश है और यहाँके ८५ प्रतिशत नवयुवक गाँवों में रहते हैं और शेष मात्र १५ प्रतिशत के लगभग शहरों में, फिर भी यहाँ नवयुवकों के अधिकांश कार्यक्रमों की व्यवस्था शहरी अंचलों में हीं की जाती रही है। गाँव के नवयुवकों के लिए यद्यपि कतिपय कार्य किये जा रहे है किन्तु वे नवयुवकों की बड़ी संख्या के उत्थान एवं विकास में असफल रहे हैं। इसके अतिरिक्त युवकों के लिए संचालित कार्यक्रम आमतौर पर विद्यार्थी नवयुवकों के लिए ही हैं जब कि दो तिहाई नवयुवक ऐसे है जो कि गैरछात्र है तथा इनके लिए कल्याणकारी कार्यक्रमों की महती आवश्यकता है।

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में ऐसे प्राविधान किये गये थे जिनसे कि युवक-कल्याण के क्षेत्र के विभिन्न कार्यक्रमों को विकसित और समन्वित किया जा सके। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इन कार्यक्रमों पर १.०५ करोड़ रुपया खर्च किया गया जिसमें से कि १ करोड़ रुपया श्रम एवं समाज सेवा योजना पर तथा ५ लाख रुपया युवक कल्याण कार्यकलापों पर था। १ करोड़ रुपये वाले प्राविधान में से ९८ लाख रुपया छात्रों से संबन्धित कार्यक्रमों पर खर्च हुआ था। इस योजना अवधि में लगभग १४७० श्रम एवं समाज-सेवा सम्बन्धी शिविर लगाये गये जिनमें कि लगभग ढाई लाख युवक, युवतियों ने हिस्सा लिया तथा १३७ अभियान चलाये गये। ५ लाख रुपये वाले प्राविधान में से ३.९७ लाख रुपया युवक-आवास-गृह-निर्माण तथा युवक मेला, यात्रा-शिविर इत्यादि के संगटन पर व्यय किया गया।

अनुशासन की व्यापकता एवं दृढ़ता की दृष्टि से एन० सी०सी० तथा ए०सी०सी० और भारत स्काउट्स एवं गाइड्स आन्दोलनों को विकसित और अधिक गठित किया गया। इस योजना-अवधि के अन्त तक एन०सी०सी० के जवानों की कुल संख्या ११० हजार तथा ए०सी०सी० के लड़के-लड़कियों की संख्या ७,००,००० हो गयी थी। इनके

अतिरिक्त भारत स्काउट्स एवं गाइड्स के सदस्यों की संख्या ५,७३००० हो गयी जिसमें ९३ हजार लड़कियाँ थीं तथा ४८० हजार लड़के थे।

द्वितीय योजना-अवधि में भी युवकों पर किये गये कल्याणकारी कार्यक्रमों पर व्यय का ९० प्रतिशत छात्र युवकों पर ही था। इस अवधि में कुल ४.९० करोड़ रुपया युवक-कल्याण, खेलकूद एवं शारीरिक शिक्षा इत्यादि पर व्यय किया गया। उन सभी ऐसी योजनाओं को जिनका कि संचालन प्रथम पंच वर्षीययोजना में शुरू किया गया था, इस योजना अवधि में भी चालू रखने की व्यवस्था की गयी। इस योजना-अवधि के अन्त तक कुल ७,३९५ श्रम एवं सामाजिक सेवा के शिविर लगाये गये जिनमें कि ७,६४,६०० युवकों ने हिस्सा लिया। इसके अतिरिक्त विभिन्न विद्यालयों के अन्तर्गत ५७६ ऐसे कार्य-अभियान चलाये गये जिनमें कि कुशल-अकुशल छात्रों एवं अध्यापकों इत्यादि ने मिलजुल कर काम करके अनेक दर्शक कक्ष, विशाल कक्ष, अध्ययन कक्ष, तैराकी-जलाशय एवं व्यायाम शालाओ इत्यादि का निर्माण किया। खेलकूद के व्यवस्थित विकास के लिए ७१ लाख रुपये खर्च किये गये और एक राष्ट्रीय खेलकूद संस्थान की स्थापना की गयी। ग्वालियर में लक्ष्मीबाई शारीरिक प्रशिक्षण विद्यालय की स्थापना की गयी। शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा शारीरिक एवं सांस्कृतिक संगठनों को लगभग १२ लाख रुपये की आर्थिक सहायता दी गयी। युवक-कल्याण कार्य-कलापों के अन्तर्गत लगभग,१०० युवक-आवास-गृहों का निर्माण किया गया तथा शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा अनेक शारीरिक-सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए आर्थिक सहायताएँ दी गयी जो कि लगभग ३३ लाख रुपये के करीब थीं। इस अवधि में किशोर स्काउट्स की संख्या ५३,३००० तथा किशोरी गाइड्स की संख्या १०,९००० तक पहुँच गयी। सन् ६० तक राष्ट्रीय अनुशासन योजना का प्रसार ६६२ शैक्षणिक संस्थाओं में हुआ था और इससे ३ लाख छात्रों को लाभ मिल रहा था। तृतीय योजना अवधि के पूर्व तक एन०सी०सी० में कुल ४९,७००० युवा थे जिनमें कि १४,७००० कनिष्ठ श्रेणी में, १,२०,००० वरिष्ठ श्रेणी में तथा शेष २,३०००० बन्दूक धारी श्रेणी में थे। अब तक ए०सी०सी० के सदस्यों की संख्या १० लाख तक पहुँच चुकी थी। इसी योजना काल में शिक्षा मंत्रालय द्वारा केन्द्रीय शैक्षणिक एवं व्यावसायिक निर्देशन कार्यालय की स्थापना भी एक महत्त्व की घटना थी। इस कार्यालय ने अध्यापकों एवं परामर्शदाताओं के प्रशिक्षण तथा विद्यालयों में परामर्श सम्बन्धी सेवाओं आदि के कार्यक्रम चलाये।

ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापक स्तर पर युवकों के कल्याण के अनेक कार्यक्रमों की व्यवस्था सामुदायिक विकास एवं सहकार मन्त्रालय ने की। इसने ३२,८९४ युवक क्लब १९६१ वाले सरकारी वर्ष के अन्त तक चलाये थे जिनमें कि ४,९२,३२० सदस्य थे। इसके अलावा

३,९०३ युवक शिविर लगाये गये जिनमें कि १,९४,३५० लोगों ने हिस्सा लिया। ए० सी० सी० तथा एन०सी०सी० के माध्यम से खेलकूद के प्रबन्ध का भी प्रयत्न किया गया। बहुत से राज्यों में खेल-कूद समारोहों का आयोजन हुआ। इन कार्यों में इस मन्त्रालय ने शिक्षा मन्त्रालयों का भी सहयोग प्राप्त किया।

श्रम एवं रोजगार मन्त्रालय ने भी अपने रोजगार दफ्तरों के माध्यम से व्यावसायिक निर्देशन एवं युवक संगठन आदि की सेवाएँ दीं।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में युवक-कल्याण, शारीरिक शिक्षण तथा खेल-कूद के मद में व्यय करने के लिए केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय के अधीन ५.८४ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी थी। इस योजना में पूर्व योजना-कार्यक्रमों को तो जारी रखा ही गया, इसके अलावा राष्ट्रीय खेल-कूद संस्थान को और विकसित करने तथा उसमें खेल-कूद प्रशिक्षण तथा राष्ट्रीय शारीरिक-क्षमता-विकास की गतिविधियों को और सबल बनाने की चेष्टा हुई। इसके अतिरिक्त एक राष्ट्रीय बाल संग्रहालय की स्थापना की भी योजना थी।

केन्द्रीय प्रयत्नों के अतिरिक्त राज्य सरकारों के शिक्षा, श्रम, समाज-कल्याण तथा सामुदायिक विकास आदि मन्त्रालयों ने भी युवक कल्याण के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों का प्रारम्भ एवं संचालन किया है और इनका इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है। द्वितीय योजना में शिक्षा विभाग के मातहत विभिन्न राज्यों ने ६.०२ करोड़ रुपये की व्यवस्था युवक कल्याण के कार्यक्रमों पर खर्च करने के लिए की थी। मार्च १९६० तक इसमें से मात्र ३ करोड़ ही खर्च किया जा सका था। इस ३ करोड़ में से .६४ करोड़ रुपया शारीरिक शिक्षण, खेल-कूद तथा क्रीड़ांगन निर्माण आदि पर, २.०२ करोड़ रुपया एन०सी०सी० और ए०सी०सी० पर तथा शेष छात्रगृह एवं आवासीय छात्र केन्द्र तथा छात्र सहायता निधि इत्यादि पर व्यय हुआ। छात्रों को औषधिक सहायता की दृष्टि से स्वास्थ्य केन्द्रों को खोलने तथा उनकी दशा में सुधार करने के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग विश्वविद्यालयों को आर्थिक सहायता देता है। ऐसे एक केन्द्र के लिए जिसके कि अन्तर्गत ५००० छात्र आते हों ५०,००० रुपये तक की धनराशि तथा ५००० से ऊपर तथा १०००० से नीचे तक की छात्र संख्या वाले एक केन्द्र के लिए एक लाख रुपये तक का अनुदान दिया जाता रहा है। छात्रों को कला, संगीत एवं सांस्कृतिक आदि अनेक पाठ्येतर क्रियाकलापों की क्षमताओं के समुचित विकास का अवसर प्रदान करने की दृष्टि से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग आर्थिक सहायता देता है। इनकी मदद से विश्वविद्यालय बढ़ईगिरी, लोहारी, विद्युतीय सामग्रियों व मिट्टी के खिलौनों के निर्माण तथा चित्र उतारने इत्यादि की व्यवस्था करते हैं। इस मद में विश्वविद्यालयों को ५०,००० रुपया तक अनावर्त्तक तथा ५००० रुपया तक आवर्त्तक अनुदान मिल सकता

है। गरीब छात्रों को अपने शैक्षणिक शुल्क, पुस्तकों तथा अन्य जरूरी सामानों की व्यवस्था मे आर्थिक सहूलियत प्रदान करने की दृष्टि से छात्र सहायता निधि की व्यवस्था की गयी है। यदि विश्वविद्यालय चाहते हैं और समान भाग की राशि खर्च करने के लिए तैयार होते हैं तो इस मद में उन्हें १०,००० रुपया तक वार्षिक अनुदान मिल सकता है। छात्रों को कक्षाओं में पढ़ाई के अतिरिक्त समय में मनोरंजन की सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से छात्रगृहों तथा आवासीय छात्र केन्द्रों की व्यवस्थाएँ की जाती है। इनमें सामूहिक अध्ययन कक्ष, पुस्तकालय, वाचनालय, अन्तर्कक्षीय खेलों, जलपान कक्षों तथा स्नानागारों इत्यादि की व्यवस्था होती है। इसके लिए भी दो-तिहाई से अधिक की धनराशि विश्वविद्यालय, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से प्राप्त करते रहे हैं। इसके अलावा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग विश्वविद्यालयों मे चलचित्र परिषद् के स्थापनार्थ १०,०००रुपये तक तथा मनोवैज्ञानिक परामर्श, प्रसार कार्य और सामाजिक कल्याण गवेषणा तथा अनेक कल्याणकारी सेवाओं की व्यवस्था के लिए पर्याप्त धनराशि देता है। तीसरी योजना-अवधि में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा कुल ३७ करोड़ रुपये खर्च करने की बात रही है जिसमें से कि २ करोड़ रुपया स्वास्थ्य केन्द्र, सूचना केन्द्र, अतिथि आवास, अभिरुचि केन्द्र तथा छात्र सहायता निधि इत्यादि विभिन्न युवक कल्याण के कार्यक्रमों पर खर्च होना निश्चित रहा है।

यद्यपि ये अनेक व्यवस्थाएँ विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए की गयी हैं किन्तु ये अपेक्षित फलदायी नहीं रही हैं। इनकी पूर्ण सफलता में बाधक मुख्यतः विश्वविद्यालयों के पास समुचित निधि का न होना, उपयुक्त समय का अभाव, उपयुक्त प्रशिक्षित व्यक्तियों का अभाव, छात्रों में जागरूकता और अभिरुचि का अभाव तथा कहीं-कहीं विश्वविद्यालयों की अरुचि या उदासीनता इत्यादि रहा है।

युवक कल्याण के अब तक जो भी प्रयत्न किये गये हैं उनमें कुछ बातों की कमी रही है। प्रायः ऐसा होता है कि नवयुवकों में सहयोगी जीवन और जनतांत्रिक मूल्यों का विकास नहीं हो पाता और वे स्वयं अपने कार्यक्रमों का निर्धारण एवं संचालन नहीं करते तथा अपनी सामाजिक अथवा राष्ट्रीय जिम्मेदारियों का उपयुक्त विकास नहीं कर पाते। इसके अतिरिक्त यौन शिक्षण की समुचित एवं व्यापक व्यवस्था के अभाव में वे अपने को अनेक शारीरिक-मानसिक व्याधियों से ग्रस्त बना लेते हैं तथा इसके फलस्वरूप उनका स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो जाता है। इन खामियों पर भी ध्यान देने की जरूरत है और युवा-कल्याण के कार्यक्रमों को ऐसा मोड़ देना अपेक्षित है जो कि उनके सर्वांगीण विकास को अधिकाधिक सहल बना सके। यह कार्य अन्य उपायों के अतिरिक्त बहुत से संदर्भों में प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्त्ताओं तथा वैज्ञानिक ढंग से काम करने वाले युवक कल्याणकारी अभिकरणों की सेवाओं को उपलब्ध कर किया जा सकता है।

अध्याय १४

वृद्ध-कल्याण

वृद्धावस्था में व्यक्ति अपने शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा सामाजिक क्षेत्र में शिथिल पड़ जाता है। उसके रक्त संचार, पाचन तथा मलमूत्र बहिर्गमन आदि की क्रियाएँ अशक्त हो जाती हैं। प्रजनन की क्षमता भी समाप्त हो जाती है। व्यक्ति हठ और मानसिक प्रतिरक्षाओं के प्रयोग की ओर झुक जाता है। उसमें आत्मविश्वास एवं सुरक्षा की भावनाएँ समाप्त होने लगती हैं। वह आर्थिक प्रयासों में अक्षम हो जाता है और अर्थोपार्जन के लिए अपेक्षित शक्ति के अभाव में आर्थिक कठिनाइयों का शिकार हो जाता है। उसकी अनेक प्रकार की व्यक्तिगत अक्षमताएँ सामाजिक क्षेत्र में उसे अनुत्साही तथा हीन दशा में पहुँचा देती है और वह उपेक्षित हो सकता है। वृद्धों की स्थिति उस समय और भी खराब हो सकती है जब कि आलम्बन स्वरूप उनके बच्चों की मृत्यु हो जाती है या वे उनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं अथवा उनके जीवन साथी की मृत्यु हो जाती है। सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के परिवर्तनों के साथ अपने को समायोजित कर पाना भी इनके लिए बहुत कठिन होता है। जीवन पद्धति की इनकी आदतें जीवन दर्शन को गहराई तक प्रभावित करती हैं।

वृद्धों की इन अनेक विशिष्टताओं के कारण उनके लिए विशेष प्रकार की कल्याणकारी व्यवस्थाएँ अपेक्षित होती हैं जिनसे वे अपने शेष जीवन का निर्वाह, जहाँ तक सम्भव हो सके, समाज के एक सामान्य सदस्य की भाँति कर सकने में सहूलियत महसूस कर सकें। इस दृष्टि से विश्व के अनेक विकसित तथा विकासशील देश वृद्धों के लिए कतिपय व्यवस्थाएँ करते रहे हैं। विभिन्न देशों की ये व्यवस्थाएँ सरकारी, धार्मिक तथा स्वैच्छिक कल्याणकारी संगठनों के माध्यम से नियोजित आधार पर तथा सामाजिक संस्थाओं यथा—जाति और परिवार आदि द्वारा परम्परागत व्यवहार के आधार पर होती रही हैं। इनके अन्तर्गत मुख्यतः आर्थिक सहायता, अर्थोपार्जन, आवास, मनोरंजन, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा कार्यसहायकों की सेवा-सुविधाएँ रही हैं। इन सेवा-सुविधाओं का प्रसार भी हो रहा है।

इनके प्रसार के मोटे तौर पर दो कारण हैं। एक तो राष्ट्रों की आर्थिक समृद्धि में

विकास तथा दूसरे वृद्धों की अपेक्षाओं में वृद्धि। अनेकानेक देश अपनी आर्थिक स्थिति में क्रमशः मजबूत होते जा रहे हैं और इस बात के लिए अधिकाधिक सक्षम होते जा रहे हैं कि वे अपनी अनेक प्रकार के कल्याणकारी योजनाओं का विकास तथा प्रसार कर सके। जब देशों की कल्याणकारी योजनाएँ विस्तृत होती हैं तो इनके कार्य की सम्भावना वृद्ध वर्ग के व्यक्तियों के सन्दर्भ में भी बढ़ जाती है।

औद्योगिक युग ने समाजों को समृद्धि दी और समृद्धि ने व्यक्ति को अनेक आलम्बन प्रदान कर दीर्घ जीवन दिया। स्वास्थ्य, शिक्षा और मानसिक सन्तुलन के अनेक साधनों का विकास और प्रसार होने से व्यक्ति अनेक आपदाओं में अपनी सुरक्षा कर सकता है। इन सुरक्षाओं के कारण व्यक्ति-जीवन की दीर्घकालिक सम्भावना बढ़ी है और इसलिए समाज में वृद्धावस्था के व्यक्तियो की संख्या भी बढ़ी है और फलतः उनके कल्याण के कार्यों की व्यापकता तथा भौतिकता में भी विकास और प्रसार हुआ है। इसके अतिरिक्त वृद्ध एवं उनके लिये कार्यों की मान्यता में बढ़ोत्तरी हुई है और इसके कारण भी वृद्ध-कल्याण की अनेक सेवाएँ संचालित एवं बढ़ायी जा रही है।

अमेरिका में वृद्धों की सहायता के लिए अनेक व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं। इन व्यवस्थाओं में वैयक्तिक सेवा, शैक्षणिक सेवा, चर्च की सेवा, मनोरंजन एवं अभिरुचि की सेवा, पालन-गृह सेवा, आवासीय सेवा, दिवसकेन्द्र, गृह-कार्य सहायक सेवा तथा सामूहिक कार्यक्रम की सेवा आदि उल्लेखनीय हैं। वैयक्तिक सेवा के अन्तर्गत सामाजिक कार्यकर्त्ता वृद्ध को एक व्यक्ति मानता है और उसकी क्षमताओं एवं आवश्यकताओं में विधायी सामंजस्य लाने की चेष्टा करता है। वृद्धों की शिक्षा की व्यवस्था प्रायः शिक्षा संस्थाएँ करती है और इनमें शिकागो, इलिनॉइस, मिशिगन आदि विश्वविद्यालय प्रमुख है। विश्वविद्यालयों द्वारा वृद्धों की शिक्षा की व्यवस्था करने, न करने के प्रश्न पर बड़ा मतभेद है और बहुत से विचारकों का मत है कि विश्वविद्यायों को यह व्यवस्था नहीं करनी चाहिए, किन्तु फिर भी फिलहाल वे इसकी व्यवस्था करते हैं। आमतौर पर पढ़ाई, पुस्तकालय, मनोरंजन, संग्रहालय व विशेष कार्यक्रम आदि की व्यवस्था शैक्षणिक कार्यकलाप होते हैं। पाठ्यक्रम के विषयों में वृद्धावस्था के शारीरिक कारण; शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य-संरक्षण; मनोवैज्ञानिक परिवर्तन-आवास तथा जीवन यापन की व्यवस्था; वृद्धों के धार्मिक, रचनात्मक क्रियाकलाप; उनके प्रति सामुदायिक उत्तरदायित्व; उत्तराधिकार सम्बन्धी कानूनी व्यवस्थाएँ तथा सामाजिक आर्थिक सुरक्षा आदि प्रमुख हैं। चर्चों द्वारा होनेवाली व्यवस्थाओं में उपासना शिक्षा-वृत्ति, पादरियों द्वारा अपने ढंग से वृद्ध के घर आ-जा कर बातचीत तथा धर्मोपदेश के माध्यम से की जाने वाली सेवा, चर्च के प्रांगण में होने वाले अनेक तरह के सामूहिक

कार्यक्रम, गोष्ठी कक्षों के अनेक कार्यकलाप तथा आवासगृहों और संस्थाओं की व्यवस्था प्रमुख हैं। यद्यपि वृद्ध प्राय: अपने पुराने निवास भवन में ही रहना चाहते हैं और वहाँ से हट कर संस्थागत आवास से कतराते हैं फिर भी जब उनको पुराने आवास में रहना सम्भव नही होता तो उन्हें संस्थागत आवास प्रदान करने की व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं। वृद्धों के हेतु बनी संस्थाएँ अनेक प्रकार की होती हैं तथा उनकी सेवाएँ भी भिन्न होती हैं। कोई मात्र चिकित्सालय की सेवा देने के लिए आवास प्रदान करता है, तो कोई पूर्ण आवासीय सुविधा दे कर अनेक अन्य सुविधाओं को भी उपलब्ध कराता है। कोई गैरसरकारी सशुल्क आवास गृह है तो कोई सरकारी नि:शुल्क आवासगृह। कुछ देहातों में है, कुछ शहरों में। कुछ परोपकार की भावना से संचालित हैं तो कुछ मानवीय अभिनव मूल्यों के आधार पर संचालित। बहुत से संगठन वृद्धों को आर्थिक सहायता देकर उनके लिए निज के मकान बनवाने में मदद करते हैं।

अनेक सामुदायिक कार्यक्रमों के अन्तर्गत ऐसी व्यवस्था की जाती है, जिससे कि वृद्ध व्यक्ति अपनी अभिरुचि एवं अन्तर्निहित क्षमताओं के अनुरूप कार्यों की अभिव्यक्ति करते हुए अधिक सार्थक सोद्देश्य तथा तुष्ट जीवन-यापन कर सके। इन सामुदायिक कार्यक्रमों के संचालक अभिकरण हाथ से काम करने में रुचि रखने वालों के लिए चित्रकला, मूर्तिकला, मिट्टी का काम तथा काष्ठशिल्प, धातुकला. चर्मकला तथा सिलाई आदि की व्यवस्था करते हैं। पत्रिका-सम्पादन, लेखन, विचार-विनिमय, सामूहिक-सांस्कृतिक कार्यक्रम तथा शैक्षिक व्यवस्थाओं के कार्यक्रमों के माध्यम से वृद्धों को आत्माभिव्यक्ति और स्वानुरागानुरूप कार्य के अवसर दिये जाते हैं। शारीरिक श्रम के कार्य करने वालों के लिये उनके अनुरूप व्यवस्थाएँ होती हैं।

वृद्धों के लिए देश भर में बड़ी संख्या में ऐसे दिवस केन्द्रों का संचालन होता है जहाँ कि दिन के समय में एकत्र हो कर अनेक कार्यों के माध्यम से वे अपना मनोरंजन करते हैं। इन केन्द्रों द्वारा नौका विहार, ग्रीष्मशिविर, पिकनिक, चलचित्र प्रदर्शन व्रतोत्सव, भाषण, बाजार लगाने, दावत, जन्म दिवसोत्सव तथा अन्य अनेक मनोरंजक, बौद्धिक एवं कलात्मक कार्यकलापों का आयोजन होता है। स्वशासन की इच्छा की तुष्टि के लिए इन केन्द्रों का संचालन-भार वृद्धों पर ही होता है और वे इस कार्य को प्रशिक्षित कर्मचारी की मदद से तथा अनेक समितियों का गठन करके करते हैं।

वृद्धों के लिए पालनगृह व्यवस्था, इनके कल्याण के लिए की जाने वाली व्यवस्थाओं में नयी व्यवस्था है। अनाश्रित बच्चों के लालन-पालन के लिए जैसे पालनगृहों की व्यवस्था होती है उसी प्रकार अनाश्रित या परवरिश की उपलब्धि से हीन वृद्धों के लिए वृद्ध-पालनगृह की व्यवस्था की जाती है।

गृह-कार्य सहायकों की व्यवस्था ऐसे वृद्धों के लिए की जाती है जो कि या तो अपने घरों में रहते हैं अन्यथा कोई संस्था उन्हें किसी घर में रहने की सुविधा प्रदान करती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत गृह-सहायक वृद्धों के आवास पर जाकर उनके घरेलू दैनिक जीवनकार्यों में मदद करके रोज अपने निवास पर वापस आ जाते हैं। जो वृद्ध ऐसी सेवा लेते हैं उन्हें इसके एवज में सम्बन्धित अभिकरण को निश्चित शुल्क देना पड़ता है।

राजकीय स्थानीय लोक कल्याण-विभागों द्वारा भी वृद्धों के कल्याण के लिए अनेक व्यवस्थाएँ की गयी हैं। इनमें वृद्धावस्था-सहायता, अक्षम वृद्ध सहायता, सामान्य सहायता तथा छोटे बच्चों के पालक वृद्धों की सहायता के कार्यक्रम उल्लेखनीय हैं।

भारत में वृद्धों की बड़ी संख्या निवास करती है और उनके कल्याण पर समुचित ध्यान की महती आवश्यकता रही है। वृद्ध और जराजर्जरित व्यक्तियों की संगठित या संस्थागत सहायता के कार्य की शुरूआत १८४० से मानी जा सकती है। इस सन् में बंगलोर में 'दी फ्रेंड इन नीड' नामक संस्था खुली जिसने कि इस श्रेणी के व्यक्तियों की देखभाल का कार्य किया। इसके बाद पूना में १८६५ में डेविड सैसून इनफर्म एसाइलम खुला। फिर १८८२ में कलकत्ता में एक ऐसी ही संस्था खुली जिसने अनेक राज्यों तथा नगरों में अपनी शाखाएँ खोली। फिर और भी अनेक स्वयंसेवी संस्थाओं का अस्तित्व सामने आया। १९५१ तक ऐसी कुल नव संस्थाएँ थीं। राष्ट्रीय स्तर पर १९६१ तक कोई प्रयास इस क्षेत्र में नहीं किया गया। कई राज्य सरकारों ने वृद्ध पेंशन योजनाएँ चलायीं जिनमें कि वृद्धों को आजीवन या कुछ वर्षों तक के लिए आर्थिक सहायता दी जाती है। दूसरी योजना-अवधि में दिल्ली, देहरादून, कलकत्ता तथा पूना में कुल चार और महत्त्वपूर्ण इसी क्षेत्र के गृह स्थापित हुए। कई स्थानीय सरकारों ने भी वृद्धों की सहायता के कार्यक्रम चलाये हैं। अनेक राज्य सरकारें वृद्धों के कल्याण पर ध्यान दे रही हैं और पेंशन योजनाएँ चला रही हैं। वृद्धों के मनोरंजन, स्वास्थ्य, आवास, भोजन तथा रखरखाव के तमाम कार्यों द्वारा हमारे देश में इनकी ओर ध्यान दिया जा रहा है।

अब तक भारत के वृद्ध कृषक-समाज रचना के परिवारों पर निर्भर रहते रहे हैं किन्तु भारत में भी औद्योगिक युग के प्रारम्भ और विकास से वृद्धों के आलम्बन, आवश्यकताओं और अपेक्षाओं में पर्याप्त परिवर्तन आया है तथा संक्रमण काल एवं नयी व्यवस्था की माँगों के अनुरूप यदि समय से पर्याप्त ध्यान न दिया गया तो सामाजिक-सांस्कृतिक रचना और उपलब्धि की विरासत पर आघात पहुँचेगा।

भारत के केन्द्रीय, राज्यस्तरीय तथा स्थानीय सरकारी यंत्रों तथा समाज सेवी संस्थाओं को यह एक चुनौती है और उन्हें इस दिशा में कारगर ढंग से अवश्य ही चिन्तन और व्यवस्था करनी चाहिए।

अध्याय १५

महिला-कल्याण

परिवार और समाज में महिलाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। संतान-उत्पत्ति, उनका लालन-पालन, परिवार की व्यवस्था तथा परिवारों के सांस्कृतिक क्रिया-कलापों में महिलाओं की भूमिकाएँ बड़ी महत्त्व की होती हैं। चूँकि पारिवारिक गठन का सामाजिक प्रभाव होता है और पारिवारिक गठन में महिलाएँ अत्यधिक महत्त्व रखती हैं इसलिए उनका सामाजिक महत्त्व भी होता है।

परिवारों के बाहर महिलाएँ भी पुरुषों के समान अनेक शक्तियों से युक्त होने के कारण अनेक प्रकार के सामाजिक कार्य कर सकती हैं और कर रही हैं। वे स्वयं अर्थोपार्जन भी करती हैं। औद्योगिक युग के प्रादुर्भाव एवं प्रसार से महिलाओं के पारिवारिक, व्यक्तिगत एवं सामाजिक मूल्य, आलम्बन, अपेक्षाएँ एवं कार्य की सम्भावनाएँ बदल रही हैं। अब महिलाओं का परिवार-गत के अतिरिक्त समाजगत कृत्यों में भागीदारीपन बढ़ रहा है। परिवर्तन की इस बीच की दशा में समुचित समायोजन की दृष्टि से अनेक कल्याणकारी कार्यक्रम शुरू एवं प्रसारित किये जा रहे हैं। भारत में यद्यपि ये कार्यक्रम अपेक्षाओं की तुलना में अतिन्यून हैं फिर भी देश की अन्य आवश्यकताओं की अपेक्षाओं की तुलना में संतोष धारण करने को बाध्य करते हैं। सामाजिक कार्यकर्त्ता इनकी वृद्धि की कामना करते हैं और महिलाओं को हर दृष्टि से पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन देते हैं।

भारत में महिलाओं के शिक्षण, स्वास्थ्य, मनोरंजन, अर्थोपार्जन एवं नैतिक सामाजिक उत्थान के अनेक प्रयत्न हुए हैं और हो रहे हैं। इन प्रयत्नों में स्वैच्छिक और सरकारी दोनों ही प्रकार के यंत्रों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन प्रयत्नों में से कुछ खास का वर्णन आगे किया जा रहा है।

मातृत्व-सेवाएँ

प्रसूताओं के स्वास्थ्य-कल्याण के लिए अनेक मातृत्व गृहों एवं केन्द्रों की स्थापना तथा संचालन का कार्य अनेक छोटी-बड़ी स्वैच्छिक कल्याणकारी संस्थाएँ करती हैं। इन संस्थाओं में 'पूना सेवा सदन समाज', 'मातृ-शिशु कल्याण समाज—बम्बई,' अखिल भारतीय महिला सम्मेलन तथा रेडक्रास सोसाइटी आदि प्रमुख हैं। स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा

प्रसूताओं के लिए दवाओं, आवास, तीमारदारों के प्रशिक्षण, विचार-गोष्ठियों तथा मनो रंजन आदि की व्यवस्थाएँ होती हैं। ये शहरी और देहाती दोनों ही क्षेत्रों में कार्यरत हैं।

प्रसूताओं के कल्याण के लिए केन्द्रीय, राज्य एवं स्थानीय सरकारें भी अनेक व्यवस्थाएँ करती हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना के पहले तक बहुत ही कम राज्यों ने इस दिशा में कुछ किया था। स्थानीय सरकारी स्तर पर मात्र बम्बई और मद्रास में नाम मात्र के कार्य हुए थे। प्रथम पंचवर्षीय योजना के बाद इस क्षेत्र में गम्भीरता पूर्वक ध्यान दिया गया। सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय ने इन कार्यों को अपने मातहत विकसित और पालित किया। मातृत्व सम्बन्धी सेवाओं के कार्यक्रमों में विश्व-स्वास्थ्य संघटन तथा संयुक्त-राष्ट्र-संघ बाल मिशन के सहयोग का लाभ उठाया गया। मातृत्व केन्द्रों को इन संस्थाओं द्वारा निश्चित शर्तों पर दवायें, उपकरण एवं आहार आदि उपलब्ध होते थे। उस अवधि में 'युनिसेफ' द्वारा सात सौ ऐसे केन्द्रों को सहायता दी जाती थी। इन संघठनों की सहायता से ऐसे क्षेत्रों के सुगठन एवं प्रसार में महत्त्वपूर्ण सहयोग मिला। १९५६ के सरकारी आर्थिक वर्ष के समापन तक विभिन्न राज्य सरकारों ने केन्द्रीय सहयोग से ६७४ मातृत्व उपकेन्द्रों की शुरूआत ग्रामीण क्षेत्रों में कर दी थी। इसके अतिरिक्त रेलवे, प्रतिरक्षा एवं श्रम आदि मंत्रालयो ने भी अपने क्षेत्रों में मातृत्व केन्द्रों की स्थापना तथा संचालन का कार्य किया। १९५५ में बम्बई प्रदेश सरकार द्वारा मातृत्व एवं शिशु स्वास्थ्य कार्यालय की स्थापना तथा तत्पश्चात् केन्द्रीय सरकार, विश्व-स्वास्थ्य संघठन, तथा युनिसेफ के संयुक्त प्रयास से प्रारम्भ मातृत्व एवं शिशु स्वास्थ्य अभियान का प्रसूता कल्याण के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में स्वास्थ्य मंत्रालय ने मातृत्व केन्द्रों की संख्या ४,५०० कर दी और प्रत्येक के मातहत शहरों में दस हजार से २५ हजार की जनसंख्या रखी गयी। इनमें से ढाई हजार को 'युनिसेफ' की सहायता प्राप्त थी। अन्य मंत्रालयों ने भी इस दिशा में प्रगति की। १९६१ तक ग्रामीण क्षेत्रों में २,९१७ ऐसे केन्द्र खुल गये थे। रेडक्रास सोसाइटी ने अपने कार्यों का विस्तार किया। उसने अधिक केन्द्र तथा गृहों के संचालन की व्यवस्था की। स्थानीय सरकारों ने भी अपने कार्य विस्तृत किये तथा कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक न्यास ने भी अनेक ग्रामीण मातृत्व सेविका केन्द्र खोले। तृतीय पंचवर्षीय योजना में हर ग्रामीण प्रखण्डों में कम से कम एक ऐसे केन्द्र की स्थापना का लक्ष्य रहा। इसके अतिरिक्त शहरी क्षेत्रों में इनके व्यापक प्रसार की व्यवस्था रही है।

ग्रामीण क्षेत्रों में कल्याणकारी सेवाएँ

१९५२ में सामुदायिक विकास कार्यक्रम का प्रारम्भ हुआ। इसके अन्तर्गत ग्रामों में शैक्षणिक, मनोरंजन, सांस्कृतिक तथा स्वास्थ्य के विकास सम्बन्धी कार्यों की

व्यवस्था की गयी। आगे चल कर १९५४ में ये कार्य राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं के अन्तर्गत आ गये। १९५४ मे केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड द्वारा गाँवों में संचालित 'प्रसार-अभियान' से महिलाओं के कल्याण को बढ़ावा मिला। प्रथम योजना में ऐसे एक अभियान के मातहत २० से २५ गाँव रहते थे। सभी अभियानों को पाँच केन्द्रों में बाँट कर चलाया जाता था। अभियानों के अन्तर्गत प्रौढ़-नारी-शिक्षण, मातृत्व-स्वास्थ्य-सहायता एवं परामर्श, हस्तकला प्रशिक्षण तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों की व्यवस्था थी। प्रथम पंच-वर्षीय योजना के अन्त तक ऐसे २९२ कल्याणकारी प्रसार अभियान चले जिन पर कि कुल ८५ लाख रुपया खर्च किया गया और ५५ लाख की जनसंख्या लाभान्वित हुई (यह राशि एवं संख्या नारियों के अतिरिक्त बाधितों और बच्चों के कार्यक्रमों को भी समाहित रखती है)। १९६१ तक इनके अतिरिक्त ४६५ अभियान और चलाये गये। ३५ अभि-यानों से एक मुख्य फायदा यह हुआ कि बड़ी संख्या में औरतें अपने क्षेत्रों में काम करने आयीं तथा ऐसे ग्रामीण एवं सामूहिक कार्यक्रमों के लिए प्रौढ़ महिलाएँ उपलब्ध हुई। १९५८–५९ में सामुदायिक विकास एवं सहकार मंत्रालय ने ग्रामों में इन कार्यों के उचित ढंग से संचालनार्थ महिलाओं के प्रशिक्षण का एक कार्यक्रम चलाया। १९६१ तक इसके द्वारा १ लाख ८१ हजार ५ सौ महिलाओं को ६ हजार ९ सौ तिहत्तर शिविरों द्वारा प्रशिक्षित किया गया। इनकी मदद से पौष्टिक आहार, परिवार-नियोजन, मधु-मक्खी पालन, शाक-सब्जी उत्पादन, चर्खे से सूत कताई, सिलाई, साक्षरता, त्योहार तथा राष्ट्रीय दिवस मनाने आदि की व्यवस्था का विकास किया गया। इसके अतिरिक्त वड़ी संख्या में ग्रामीण स्त्रियों को तीर्थ यात्राएँ करायी गयीं। तृतीय पंचवर्षीय योजना में २५ हजार ग्रामीण स्थानीय महिला-कार्यकर्त्रियों को १ माह के शिविर में प्रशिक्षित करने तथा बहुत सी अध्ययन यात्राओं की व्यवस्था रखी गयीं। पुराने किस्म के कल्याण-कारी प्रसार अभियानों की व्यवस्था का भार स्वैच्छिक संस्थाओं तथा महिला मण्डलों पर छोड़ा गया और इसके लिए केन्द्रीय समाज-कल्याण-बोर्ड को अलग से आर्थिक सहा-यता की जिम्मेदारी वहन करने को कहा गया। नये किस्म के प्रसार अभियानों पर कुल ३ करोड़ ४१ लाख ५६ हजार ८ सौ रुपया खर्च करने की बात थी जिसमें से राज्यों का हिस्सा १ करोड़ १३ लाख ८५ हजार ६ सौ था।

शहरों में परिवार-कल्याण सेवाएँ

ग्रामीण कल्याणकारी अभियानों की तरह ही अग्रगामी नगरी कल्याणकारी प्रसार अभियान की शुरूआत भी केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने की है। इस योजना के अन्त-र्गत ऐसे सामुदायिक केन्द्रों का संचालन होता है जो कि परिवारों को इकाई मानते हैं तथा स्वैच्छिक संगठनों द्वारा संचालित होते हैं। इन सामुदायिक केन्द्रों के संचालन के

लिए स्वैच्छिक संस्थाओं को केन्द्रीय समाज-कल्याण-बोर्ड द्वारा आर्थिक सहायता मिलती है। आमतौर पर ऐसे एक केन्द्र के अन्तर्गत ५०० परिवार अथवा २५००० व्यक्ति लाभार्थी होते हैं। इनके द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाएँ मुख्यत: गर्भिणी एवं प्रसूताओं या छोटे बच्चे वाली माताओं को सलाह देना, उनके बच्चों को स्वास्थ्य के लिए स्वास्थ्य केन्द्रों का संचालन करना, दिवस शिशु पालन गृह, शिशु पाठशाला तथा विद्यालयी स्वास्थ्य सेवा आदि की व्यवस्था करना, बच्चों के लिए क्रीड़ा केन्द्र बनाना, महिलाओं के संघ एवं हस्तकला के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, अनाथ बच्चों की सेवा की व्यवस्था करना, निराश्रित महिलाओं की व्यवस्था करना तथा परिवार-कल्याण-नियोजन की व्यवस्था करना इत्यादि हैं। १९६१ में समाप्त हुए सरकारी वर्ष तक ऐसे ६९ अभियान चले जिनसे कि ६३,१०० परिवारों ने लाभ उठाया। इस तरह का एक अभियान दिल्ली नगर महापालिका ने 'फोर्ड फाउन्डेशन' की सहायता से १९५८–५९ में चलाया था। इस अभियान के अन्तर्गत नागरिक सुविधाएँ, शिक्षा, स्वास्थ्य, आहार, मनोरंजन, हस्तकला इत्यादि की व्यवस्था थी। इसी तरह के दो अभियान अहमदाबाद और जमशेदपुर में भी चलाये गये थे। तीसरी योजना अवधि में इस तरह के अभियानों के संचालनार्थ २५ लाख रुपये की रकम केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड द्वारा खर्च करने का प्राविधान रहा तथा ५० लाख रुपया सामुदायिक विकास के मद पर खर्च करने का प्राविधान था।

परिवार-कल्याण-नियोजन

महिलाओं के गर्भ धारण एवं प्रजनन की स्थिति को उनके लिए स्वास्थ्यकर बनाने, परिवार में बच्चों की संतुलित संख्या रखने व महिलाओं के सुस्वास्थ्य की अधिक गुंजाइश पैदा करने के उद्देश्य से परिवार-कल्याण नियोजन की आयोजना की जाती रही है। प्रारम्भ में भारत में इस प्रकार के कार्यों का संपादन आमतौर से स्वैच्छिक संगठन करते रहे। अखिल भारतीय महिला सम्मेलन, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नियोजन समिति, पारिवारिक स्वास्थ्य, अध्ययन एवं प्रगति समाज—जिसका कि नाम कालान्तर में परिवार-नियोजन समाज हो गया, परिवार-नियोजन परिषद् तथा भारतीय रेड-क्रास सोसाइटी आदि इस क्षेत्र के कार्यों के प्रारम्भिक स्रोत हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना के पहिले विभिन्न स्तरों की विभिन्न सरकारों ने इस दिशा में छिटफुट प्रयत्न किये थे। प्रथम पंचवर्षीय योजना में परिवार-नियोजन कार्यक्रम के लिए ६५ लाख रुपये की व्यवस्था की गयी थी। इस योजना अवधि में ग्रामीण क्षेत्रों में २१ तथा शहरी क्षेत्रों में १२६ परिवार नियोजन केन्द्र देश भर में खोले गये। इसके अतिरिक्त पहले से कार्यरत २०५ परिवार नियोजन केन्द्रों को आर्थिक सहायताएँ दी गयीं। ७०,००० पोस्टर्स तथा २०,०००

फोल्डर छपवा कर विभिन्न ऐसे केन्द्रों तथा क्षेत्रों में बाँटे गये जहाँ कि महिलाएँ आती रहती थीं। कुछ चलचित्रों का निर्माण हुआ और उनकी खरीद के लिये स्वैच्छिक संस्थाओं को आर्थिक सहायताएँ दी गयी। कई संस्थाओं में परिवार-नियोजन से सम्बन्धित अध्ययन एवं गवेषणाएँ की गयी है। परिवार नियोजन के लिए द्वितीय योजना में ४९७ लाख रुपये की कुल व्यवस्था की गयी। इस रकम में से ३७३:२५ लाख रुपया ऐसी सेवाओं के लिए, १५·७५ लाख रुपया प्रशिक्षण के लिए, ५० लाख रुपया गवेषणा के लिए तथा ८ लाख रुपया संगठन के कार्यों के लिए खर्च किया गया। इस अवधि मे परिवार नियोजन केन्द्रों की संख्या १६४९ हो गयी। इसके अतिरिक्त १८६४ ग्रामीण तथा ३३० शहरी स्वास्थ्य केन्द्रों पर भी परिवार नियोजन सेवाओं की व्यवस्था की गयी। इसके अतिरिक्त पोस्टरों, चलचित्रों प्रदर्शनियों एवं शिविरों का व्यापक प्रचार और प्रसार हुआ। प्रचार के अन्य साधनों का भी इस हेतु व्यापक उपयोग हुआ। तृतीय योजना में केन्द्र ने राज्यों को शत प्रतिशत सहायता देने का निश्चय किया। यह सहायता मुख्यतः प्रशिक्षण, शिक्षण तथा बन्ध्याकरण आदि कार्यक्रमों के लिए दिये जाने तक ही सीमित रही। तृतीय योजना में परिवार नियोजन पर ५० करोड़ रुपया खर्च करने की मंजूरी दी गयी थी और इस सारे धन का उपयोग इसके और अधिक व्यापक स्तर पर प्रसार एवं संगठन हेतु किया जाना था।

सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम

इस तरह के कार्यक्रम अखिल भारतीय महिला सम्मेलन, महिला राष्ट्रीय परिषद्, भगिनी समाज, पूना सेवा सदन समाज आदि द्वारा शुरू किये गये। इनमें सिलाई-कढ़ाई का प्रशिक्षण तथा कठपुतली, खिलौना, मसाला, अचार इत्यादि के निर्माण एवं विक्रय की व्यवस्थाएँ की जाती थीं। गाँव में प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त में इस तरह के कार्यों की शुरूआत अम्बर चर्खा से कताई, सिलाई, कढ़ाई, टोकरी निर्माण, बाँस के विभिन्न काम, चटाई निर्माण, नेवाड़ और ब्रश निर्माण तथा कही-कही मछली फँसाने आदि के रूप मे हुई। शहरो में लघु उद्योगों के कार्यक्रम चलाये गये और अनेक प्रदर्शन एवं प्रशिक्षण केन्द्रों का संचालन किया गया। औरतों को मुख्यतः खादी, धान कुटाई, खिलौना निर्माण, हाथ करघा की बुनाई, छपाई, रँगाई, सिल्क की बुनाई, ऊन निर्माण, धुआँ विहीन चूल्हा, बीड़ी, ब्रश, बाँस इत्यादि के कामों से ज्यादातर लाभ हुआ है। द्वितीय योजना काल में इस प्रकार के कार्यक्रमों का और अधिक विकास हुआ तथा केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड ने इनसे मिलते-जुलते कतिपय अन्य कार्यक्रमों तथा बड़े उद्योगों से संबंधित सहायक छोटी इकाइयों, हाथ करघा प्रशिक्षण एवं उत्पादन इकाइयों, हस्तकला प्रशिक्षण, उत्पादन तथा विक्रय इकाइयों तथा अम्बर चर्खा परिश्रमालयों के निर्माण के कार्य की शुरूआत की।

अपने द्वारा संचालित सामाजिक-आर्थिक इकाइयों अथवा कार्यक्रमों के अतिरिक्त स्वैच्छिक संस्थाओं को भी इस हेतु केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड द्वारा अनुदान दिया जाता है। तृतीय योजना मे इन कार्यक्रमों पर डेढ़ करोड़ रुपया व्यय करने का प्राविधान रहा है जिसमें से कि सर्वाधिक एक सौ दस लाख रुपया ऐसी २२५ इकाइयों के लिए है जो कि स्वैच्छिक संस्थाओं से सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त २५ लाख रुपया ऐसी १२ इकाईयों के लिए है जो कि बड़ी औद्योगिक इकाईयों की सहायक हैं। नौ लाख रुपया ६० हस्तकरघा इकाइयों के लिए, ३ लाख रुपया ६१–६२ में स्थापित होने वाली हस्त उद्योग की २५ इकाइयो के लिए तथा ३ लाख रुपया इसी अवधि में स्थापित होने वाली ३ जूट की बॅटाई एवं बुनाई की इकाइयो के लिए था। इसके अतिरिक्त राज्यों के ऐसी उत्पादन इकाइयो से सम्बन्धित केन्द्रों पर २० लाख रुपये की राशि केन्द्र ने अलग से खर्च करने की व्यवस्था की थी। कुछ सरकारें भी ऐसे केन्द्रों का संचालन स्वतः करती है।

कामगर औरतों के लिए आवासीय सुविधा

स्वतंत्रता के बाद पहले-पहल २५० महिलाओं को रख सकने की व्यवस्था से युक्त एक महिला आवास गृह की शुरूआत नयी दिल्ली में हुई। इसके बाद केन्द्रीय समाजकल्याण बोर्ड ने कम आय की काम करने वाली महिलाओं की आवासीय सुविधा की ओर ध्यान दिया। इसके हेतु उसने स्वैच्छिक संस्थाओं को ऐसे कार्यों के लिए अनुदान देना शुरू किया। १९६१ तक उसने इस हेतु ६·५९ लाख रुपया ६१ संस्थाओं को २८०६ महिलाओं की आवासीय सुविधा हेतु दिया। इसके अतिरिक्त भगिनी-समाज, बम्बई; अखिल भारतीय महिला सम्मेलन तथा अनेक राज्य सरकारों ने इस क्षेत्र की अनेक व्यवस्थाएँ की हैं। पर्यटक महिलाओं की आवासीय सुविधा के लिए भी स्वैच्छिक संस्थाओं को अनुदान मिलता है।

संक्षिप्त प्रशिक्षण पाठ्यक्रम—केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड ने २० से ३५ वर्ष उम्र की मुख्यतः अनाथ, परित्यक्त अथवा विधवा स्त्रियों के शिक्षण के लिए २ वर्ष के इस पाठ्यक्रम की व्यवस्था की है। इस पाठ्यक्रम को पूरा कर लेने पर महिलाएँ मिडल अथवा हाई स्कूल की परीक्षाओं में सम्मिलित होती है। इस पाठ्यक्रम के संचालन का कार्य स्वैच्छिक संस्थाओं को अनुदान देकर कराया जाता है। ऐसे प्रशिक्षण के अनुभव बहुत ही उत्साहवर्द्धक रहे हैं। १९६२ में समाप्त हुए आर्थिक वर्ष तक २२३ स्वैच्छिक संस्थाओं को इस पाठ्यक्रम के संचालनार्थ अनुदान दिया गया था। इस प्रशिक्षण की सहायता से मान्यताप्राप्त सनदों को उपलब्ध करने वाली महिलाओं को राजकीय सेवाओं में कुछ प्राथमिकता दी जाती है। तृतीय योजना काल में इस हेतु कुल डेढ़ करोड़ रुपया खर्च करके १२,५०० महिलाओं को लाभान्वित करने की व्यवस्था थी।

सामाजिक रूप से बाधित महिलाओं के लिए सेवाएँ

देश में शताधिक ऐसे संगठन हैं जो कि विधवाओं, परित्यक्ताओं, अनाथों, अविवाहित माताओं, शरणार्थी औरतों तथा शोषित महिलाओं एवं बच्चों को संस्थागत सेवा प्रदान करते हैं। पूना सेवा-सदन-समाज, महिला राष्ट्रीय परिषद्, अखिल भारतीय महिला सम्मेलन, हिन्दू महिला-उद्धार गृह-समाज इत्यादि संस्थाएँ इस कार्य मे महत्त्वपूर्ण योगदान दे रही हैं। केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड इन कार्यों के लिए इन संस्थाओं को आर्थिक सहायता देता है। तृतीय योजना अवधि में अनेक राज्यों द्वारा कुल २४ ऐसी संस्थाओं की व्यवस्था का लक्ष्य था; इसके अतिरिक्त अन्य कार्य भी छोटे स्तरों पर होते रहे हैं।

वर्णित सुविधाओं के अतिरिक्त व्यापक स्तर पर महिलाओं एवं लड़कियों की शिक्षा, चिकित्सकीय सुविधा, विभिन्न प्रकार के मनोरंजन की व्यवस्था, व्यक्तिगत सेवा-कार्य आदि का प्रसार हो रहा है। सरकार के अनेक मंत्रालयों एवं विभागों ने समय-समय पर अनेक नियमों द्वारा स्त्रियों को पुरुषों के समान मानवोचित स्थिति में लाने के लिए प्रयत्न किये हैं और करते रहते है। इनमें विशेष विवाह कानून, हिन्दू विवाह कानून, हिन्दू उत्तराधिकार कानून, हिन्दू गोद लेने एवं रख-रखाव से सम्बन्धित कानून आदि ने हीन महिलाओं को विवाह, उत्तराधिकार, सह-जिम्मेदारी तथा गोद लेने आदि के मामले में अनेक सुविधाएँ प्रदान की हैं तथा उन्हें पुरुषों की बराबरी में आने में बड़ा योगदान दिया है। लड़कियों एवं महिलाओं के अनैतिक व्यापार से सम्बन्धित कानून ने महिलाओं को काफी संरक्षण प्रदान किया है। रोजगार करने वाली महिलाओं से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की खानों, बागानों एवं औद्योगिक प्रतिष्ठानों के नियमों एवं व्यवस्था में महिलाओं की स्थिति का उपयुक्त ध्यान रखा गया है और कोशिशें की गयी हैं कि उनको एक तो आर्थिक दृष्टि से लाभ में पुरुषों से पीछे न रखा जाये तथा उनकी शारीरिक क्षमताओं के अनुकूल ही उनसे कार्य लिया जा सके। इस दृष्टि से अपेक्षाकृत हल्के काम, कम घंटे काम, अधिक सुविधापूर्ण परिस्थितियों में काम तथा उनके लिए विशेष पौष्टिक आहार तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्थाएँ की जाती हैं।

अध्याय १६

ग्राम-कल्याण

भारत ग्राम-प्रधान देश है। देश भर में छः लाख के लगभग गाँव है। यहाँ की ८५ प्रतिशत से अधिक जनता गाँवों में रहती है। गाँवों के जीवन की अपनी कुछ खास विशेषताएँ हैं। विशेषताओं के पुट आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक, तथा नैतिक सभी क्षेत्रों में विद्यमान हैं। चूँकि कल्याणकारी प्रयत्नों के लिए विशिष्टता का ज्ञान अनिवार्य होता है इसलिए इसकी संक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

गाँवों में अर्थोपार्जन का मुख्य जरिया खेती है। अधिकांश व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुरूप खेती के काम में लगे होते है। खेती के अधिकांश काम पुराने तरीकों और साधनों से किये जाते है। बहुत कम ही किसान ऐसे हैं जिनके पास स्वयं की पर्याप्त जमीनें हैं। अधिकांश खेतिहर मजदूर हैं। प्रायः ये उपज के कुछ अंश की हिस्सेदारी या नकद धन के पारिश्रमिक के आधार पर खेती सम्बन्धी मजदूरी करते हैं। अधिकांश ग्रामीणों को भर पेट भोजन भी नहीं मिलता और प्रायः बाढ़, अतिवर्षण एवं अतिशुष्कता के कारण उपज को क्षति पहुँचती रहती है। अनेक प्रकार के कीड़ों तथा चूहों ने भी कृषि के लक्ष्यों को प्रभावित किया है। जमीन के कटाव, अच्छे किस्म के अपर्याप्त बीज, जल तथा सिंचाई-साधन के अभाव व उर्वरता के अभाव से भी किसानों की आधारभूत सम्पदा, अन्न का उत्पादन पर्याप्त नहीं हो पाता। दोषपूर्ण भूमिसम्बन्धी मिल्कियत की व्यवस्था तथा खेतों के अनुपयुक्त खण्डों-प्रखण्डों में विभाजन ने किसानों के उत्साह को आहत किया है। बौद्धिक तथा तकनीकी असमर्थता तथा नगरों और उद्योगों की ओर स्थानान्तरण का खेती पर हानिकारक प्रभाव पड़ा है। किसानों के पास उत्पादित अन्न को रखने के लिए भण्डार नही है और आवागमन या अन्न की ढुलाई की अत्यधिक कष्टकर सहूलियतें तथा सम्भावनाएँ होती हैं। गाँवों के बाजार शहरी अन्न के व्यापारियों के लिए शोषण के स्रोत हैं। खेती के अतिरिक्त कार्यों के लिए कुटीर या ग्रामीण उद्योगों का अत्यल्प विकास तथा प्रसार हो पाया है। परम्परागत विधियों से कतिपय परिवार कुटीर उद्योग के कुछ पेशे करते है किन्तु वे अनुन्नत तथा आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त लाभ-

कर नहीं है। खेती तथा अन्य कार्यों के लिए किसान महाजनों या थोड़े बड़े किसानों से ऋण लेते हैं और अपनी स्थायी गरीबी की दशा से पीड़ित होने के कारण प्रायः ऐसा होता है कि वे उनका भुगतान नहीं कर पाते तथा महाजन उनसे इसके एवज में अमानवीय श्रम लेते हैं अथवा उनकी छोटी सम्पत्ति, घर, जमीन तथा जानवर आदि हड़प लेते हैं।

भारत के गाँवों की जनसंख्या भी तेजी से बढ़ रही है और इस बढ़ाव की उपयुक्त खपत नहीं है—इस कारण से गाँवों की दरिद्रता बढ़ रही है। पहले की अपेक्षा अब गाँवों की आत्म-निर्भरता कम हो गयी है और परमुखापेक्षा बढ़ गयी है। परमुखापेक्षा की तुष्टि अन्यत्र दुरूह होने से गाँवों की दशा में और गिरावट की गुंजाइश बढ़ी है।

बहुत कुछ आर्थिक तथा कभी-कभी अभिरुचि के अभाव से ग्रामीण व्यक्तिगत शरीर, घर तथा बस्ती की गन्दगी आदि के शिकार बने रहते हैं (सफाई के उन्नत तथा सम्भव तरीकों का अतिन्यून प्रसार है)। ग्रामीण अनेक प्रकार के रोगों के शिकार रहते हैं और दवा-दारू की समुचित उपलब्धि नहीं है।

ग्रामों में शिक्षा की अल्प व्यवस्था है और ग्रामों के मात्र ढाई-तीन प्रतिशत व्यक्ति ही साक्षर हैं।

गाँवों में अधिकांश परिवार संयुक्त परिवार हैं अथवा संयुक्त से एकाकी की ओर बढ़ते परिवार। परिवार का वरिष्ठ सदस्य उसका स्वामी होता है और स्वामित्व प्रायः उम्र, श्रेष्ठता तथा कभी-कभी अर्जन की श्रेष्ठता के आधार पर निर्धारित होता है। सभी कारगर सदस्यों का अर्जन संयुक्त रूप से व्यय किया जाता है और चेष्टा की जाती है कि भिन्न व्यक्ति से जन्म के आधार पर कोई भिन्नता न बरती जाय। परिवारों में नारियों का नर की अपेक्षा कम मान होता है और हर मामले में नर को वरीयता दी जाती है। हर प्रकार की सुविधाओं की उपलब्धि मोटे तौर पर नर को पहिले करायी जाती है।

ग्रामीण जीवन सरल और सुस्त है। जीवन में विविधता का अभाव तथा कृषि-कार्य की प्रधानता इसके कारण हैं। जीवन के लिए आवश्यक आलम्बनों के सीमित होने से परिवर्तन के लिए अपेक्षित तेजी नहीं है।

ग्रामीण जीवन सामुदायिक, आर्थिक, परम्परागत, भाग्यवादी तथा धैर्ययुक्त है। गाँव में शहर की अपेक्षा अधिक 'दया भाव' है और लोग एक-दूसरे के कार्यों में सहयोग रखते हैं। धार्मिक मान्यताओं का ग्रामीणों के अधिकांश कार्यों पर गहरा प्रभाव रहा है और परम्पराओं का काफी ख्याल रख कर कार्य-कलाप सम्पादित किये जाते हैं। रीति-रिवाज, प्रथा तथा आदर्श की प्रधानता प्रायः हर व्यवहार में परिलक्षित होती है। अपने कार्यों में हानि-लाभ तथा सम्पदा-विपदा को भाग्य का खेल समझा जाता है और विपत्ति में धैर्यपूर्वक अच्छे समय की प्रतीक्षा की जाती है।

ग्राम-वासियों में स्तरीकरण का मुख्य आधार जातिगत होता है। ऊँची जाति के लोग बड़े तथा छोटी जाति के लोग नीचे समझे जाते है और उनका सम्बन्ध भी इसी आधार पर होता है। व्यवहार तथा खून के रिश्ते की अपेक्षाएँ भी इन्हीं के अनुरूप होती है। जातियों के अलावा धर्म की भी इन मामलों में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। विभिन्न धर्मों के लोगों की अपनी प्रधानता के हिसाब से भिन्न गाँवों में भिन्न स्तर है।

जटिल जीवन की अत्यल्प उपस्थिति तथा प्रकृति की निकटता के कारण ग्रामीणों का मानसिक स्वास्थ्य सन्तोषप्रद है। जमीन तथा जमीन के कारण होने वाले अपराधों को छोड़ कर अन्य प्रकार के अपराध अपेक्षाकृत कम होते हैं। यद्यपि अपराधों की संख्या कम है किन्तु पारस्परिक वैमनस्य का तेजी से विकास हो रहा है और न्याय प्रक्रिया से गुजरने के पहिले ही शारीरिक शक्ति के आधार पर अनेक असामाजिक वारदातें होती है। ग्राम-वासियों के मनोरंजन के साधन बहुत कम खर्च के होते हैं। लोक-क्रीड़ा, कुश्ती-दंगल, व्यायाम-प्रदर्शन, धार्मिक कीर्त्तन-पूजन, लोकनृत्य, नाटक तथा त्यौहार के उत्सव आदि के माध्यम से वे अपना मनोरंजन करते हैं। गाँव के मामलों में बड़े-बूढ़ों की राय एवं व्यवस्था मानी जाती है। झाड़-फूँक तथा लोकविधियों से रोगों के शमन की चेष्टाएँ की जाती है।

अब तक ग्रामीण स्थिति का जो चित्र रेखांकित किया गया है वह अधिकांश का है न कि सर्वांश का। यद्यपि वर्णित स्थितियाँ भारतीय ग्रामों में परिलक्षित हैं तथापि वे परिवर्तन से अछूती नही है। यद्यपि उनमें परिवर्तन की गति अति मन्द है तथापि बहुत फर्क पड़ते जा रहे है। ये आने वाले फर्क मुख्यत: औद्योगिक युग के आगमन और प्रसार के कारण है। ये फर्क ग्राम-जीवन तथा रचना के हर क्षेत्रों में हैं। चूँकि ग्रामीण जीवन एवं रचना मे परिवर्तन हो रहे हैं इसलिए कहा जा सकता है कि वे भी संक्रमणकाल से गुजर रहे है। परिवर्तन का प्रसार व्यापकता ग्रहण कर रहा है इसलिए संक्रमण की स्थिति भी व्यापक हो रही है और संक्रमणजन्य नयी चुनौतियाँ उभर तथा बढ़ रही हैं। गाँवों की स्थिति में सुधार तथा उनकी नयी आवश्यकताओं और चुनौतियों का सामना करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न किये जाते रहे हैं। ये प्रयत्न गाँवों में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आदि अनेक मामलों के संकट तथा द्वन्द्व के मुकाबिले तथा उनमे सरल समंजन की दृष्टि से किये जाते रहे हैं। इन प्रयत्नों की संक्षिप्त चर्चा उपयोगी होगी।

ग्राम-कल्याण के प्रयत्न सरकारी तथा स्वैच्छिक दोनों ही प्रकार के संगठनों के माध्यम से होते रहे हैं। स्वतंत्रता के पूर्व स्वैच्छिक संगठनों या व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले ऐसे प्रयत्नों मे 'दी सर्वेन्ट ऑफ इन्डिया सोसाइटी', महात्मा गांधी और भारतीय राष्ट्रीय

कांग्रेस, किसान सभा, रवीन्द्र नाथ टैगोर, ईसाई मिशनरी डा० हैच, डेनिमल हैमिल्टन के प्रयत्नों तथा गुड़गाँव प्रयोग के कार्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दी सर्वेन्ट आफ इण्डिया सोसाइटी ने अनेक गाँवों में अनेक ऐसे केन्द्रो की स्थापना की तथा आज भी अनेकों का संचालन करती है जिनसे कि ग्रामीण पुनर्रचना का कार्य होता है। इसके कार्यक्रमों में बाल-कल्याण केन्द्र, मातृत्व गृह, मुर्गी-पालन, खेती के उन्नत साधनों के प्रयोग-प्रदर्शन तथा कुटीर उद्योग के विकास की व्यवस्थाओं का उल्लेखनीय स्थान है। महात्मा गांधी ने अपने कार्य क्षेत्रों का विस्तार राजनीतिक क्रियाकलाप तक ही सीमित न रख कर अनेक अन्य प्रकार के कार्यो में भी रखा। इन क्षेत्रों में ग्रामीण पुनर्रचना एवं जागरण के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य थे। भारत गाँवों का देश होने के कारण उनकी मान्यता थी कि बिना ग्रामोत्थान के देश का उत्थान नहीं हो सकता और इसलिए ही उनके कार्य क्षेत्र का विस्तार गाँव के जीवन के सम्बन्ध में व्यापक तौर पर नियोजित हुआ। ग्रामीण कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था व कुटीर उद्योगों में चर्खा तथा स्वदेशी का आविर्भाव और प्रसार इनके ग्राम-कल्याण हेतु किये जाने वाले खास प्रयत्न रहे है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने चर्खा को मान्यता दी तथा अखिल भारतीय बुनकर संघ का निर्माण कर खद्दर की बिक्री तथा उत्पादन को प्रोत्साहित किया। १९३४ में अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संघ की स्थापना से बहुत से ग्रामीण उद्योगों को जीवन मिला और ग्रामीण आत्म-निर्भरता की भावना को बल मिला। १९३५ में अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना हुई और इसने अपनी देशव्यापी प्रशाखाओं द्वारा ग्रामीण जीवन के सुधार सम्बन्धी अनेक कानूनों को पारित कराने का कार्य किया। ग्रामीण जीवन में सुख एवं सौन्दर्य की भावना की आवश्यकता की अनुभूति ने रवीन्द्र नाथ टैगोर को ग्राम-कल्याण के कतिपय कार्य करने की प्रेरणा दी। उन्होंने श्री निकेतन, ग्रामीण पुनर्रचना संस्थान तथा विश्वभारती अथवा शान्ति निकेतन आदि की स्थापना की। ग्रामीणों को अपनी आर्थिक, कलात्मक तथा सांस्कृतिक क्षमताओं के सम्बन्ध में विचार एवं विकास के सुअवसर प्रदान करने की दृष्टि से ये संस्थाएँ कार्यरत रही हैं। सामूहिक जीवन और परस्परावलम्बन का भी आधार उन्होंने मजबूत किया है। गांधी और टैगोर दोनों ही यह मानते थे कि सच्चे अर्थों में ग्रामीण पुनर्रचना का कार्य तब तक संभव नही है जब तक कि ग्रामीणों में आत्म-निर्भरता तथा परस्परावलंबन की भावना का समुचित उदय नही होता। दोनों ही चाहते थे कि ग्रामीण अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की समस्त चीजों का उत्पादन स्वयं करें तथा अपनी उपलब्ध आर्थिक तथा मानवीय शक्तियों का भरपूर उपयोग करते हुए ही स्वास्थ्य, सफाई, सिंचन, प्रशिक्षण, मनोरंजन, आवास, उद्योग, संस्कृति तथा कृषि इत्यादि की समष्टिगत उन्नति करें। अनेक ईसाई मिशनरियों ने लोक जीवन से

सम्बन्धित अनेक कार्य किये है। इन कार्यों में शिक्षा, स्वास्थ्य तथा ग्रामीण पुर्ननिर्माण के कार्य प्रमुख हैं। उन्होने इस हेतु अनेक ग्रामीण केन्द्रों तथा शैक्षणिक संस्थाओं आदि का संचालन किया है। राष्ट्रीय ईसाई परिषद् तथा इसकी प्रान्तीय शाखाओं को ही इस प्रकार के कार्य का मुख्यतः श्रेय है। युवक पुरुष ईसाई संघ के श्री स्पेन्सर हैच के मद्रास स्थित मार्तन्दम में किये गये ग्रामीण कल्याण के तथा अमरीकी मैत्री समिति के क्वैकर समूह द्वारा किये गये ग्राम-कल्याण के कार्यों का भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। १९०३ में बंगाल सरकार से कुछ जमीन ले कर हैमिल्टन ने आदर्श ग्राम निर्माण का कार्य किया। उन्होंने कुछ जंगली इलाकों की सफाई कराके वहाँ बस्ती बसायी तथा किसानो में जमीन का बँटवारा किया। इसके अतिरिक्त उपभोक्ता भंडार, चावलमिल, बाजार समिति, सहकारी-समिति तथा स्वास्थ्य एवं शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रमों की व्यवस्थाएँ की। गुड़गाँव में श्री ब्रेने ने तथा श्री पुरानिक ने ग्वालियर में ग्राम-कल्याण के कुछ कार्य प्रायोगिक तौर पर किये जिनमें कि उन्हें सरकारी सहायताएँ भी मिली थीं।

वर्णित अनेक संस्थाओं ने अब भी अपना कार्यक्रम जारी रखा है और बहुतों का विस्तार कर रही हैं किन्तु इसके अतिरिक्त ग्राम रचना में विनोबा तथा भारत सेवक समाज के अनेक विकासमान रचनात्मक कार्यों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकारी स्तर पर गाँवों की उन्नति के व्यापक पैमाने पर कार्य किये गये है। इन कार्यो में सिंचाई, उर्वरक, कृषि के साधनों की उन्नति, पशुओं की नस्ल में सुधार, विद्युतीकरण, सड़कों और भवनों का निर्माण, शिक्षा का प्रसार, स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाओं की व्यवस्था, मनोरंजन के साधनों का जुटाव, ग्रामोद्योग विकास, सहकारिता आन्दोलन और बाजार, बाजारों का विस्तार, पशुपालन व्यवस्था, सब्जी उत्पादन व्यवस्था, भूमि संरक्षण एवं सुधार, ऋण एवं अनुदान शोध, ग्राम पंचायत और सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा आदि उल्लेखनीय है। गाँवों के लिये की जाने वाली इन सभी व्यवस्थाओं को संगठित और एक माध्यम से कार्यान्वित करने की दृष्टि से सामुदायिक विकास कार्यक्रम को सर्वाधिक उपयुक्त समझा गया और अब गाँवों में जीवन के किसी क्षेत्र की सेवा की व्यवस्था मुख्यतः सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के माध्यम से ही विनियोजित एवं सम्पादित की जाती है। चूँकि सामुदायिक विकास कार्यक्रम ही भारतीय ग्रामों के कल्याण की रीढ़ रही है इसलिए इसकी कुछ संक्षिप्त परिचयात्मक चर्चा समीचीन होगी।

देश के स्वतंत्र होने पर कई अंचलों में ग्राम सुधार के कुछ प्रयोग हुए। इन प्रयोगों में मध्य प्रदेश में सेवा ग्राम, बम्बई में सर्वोदय केन्द्रों, उत्तर प्रदेश में इटावा तथा गोरखपुर के प्रारम्भिक अभियानों तथा मद्रास में फिरका विकास योजनाके प्रयोग बहुत सफल रहे।

इनकी सफलता का अनुभव करके सामुदायिक अभियानों का सूत्रपात हुआ। इनकी शुरुआत से सरकारों के लिए इस बात की सम्भावना बढ़ी कि वे ग्राम-कल्याण के अपने विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमों का नियोजन और संचालन स्वीकृत, लाभप्रद, सामंजस्यपूर्ण तथा सहयोगी ढंग से कर सकें। ग्राम विकास के कार्यक्रमों की शुरूआत १९५२ में हुई। पहले तो मात्र सामुदायिक अभियान कार्यक्रम चला किन्तु इसी के दूसरे साल से राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं के कार्यक्रम की भी व्यवस्था की गयी। १९५८ से इन दो कार्यक्रमों को पुनः एक में मिला दिया गया और इस प्रकार अब के कार्यक्रम को सामुदायिक विकास का कार्यक्रम कहा जाने लगा। जब तक ये दो कार्यक्रम चलते थे तब भी इनमें कोई तात्त्विक भेद न था। प्रायः इनके लक्ष्य, प्रणाली तथा कार्य क्षेत्र एक ही थे। दोनों ही ग्रामोत्थान के सभी कार्य स्थान-स्थान पर सुविधाओं और आवश्यकताओं के लिहाज से सम्पन्न करते रहे। इनमें एक फर्क बस यह था कि सामुदायिक अभियानों पर ज्यादा खर्च होता था और उनके कार्य भी गहन होते थे जबकि हल्के कार्यों के समापन के लिए कम खर्च वाली राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं की व्यवस्था थी। ये दो प्रकार के कार्यक्रम इसलिए चलाये गये कि देश की तत्कालीन आर्थिक दशा में अधिक खर्च वाले सामुदायिक अभियानों की व्यापक स्तर पर व्यवस्था असम्भव थी। सामुदायिक विकास के इन दोनों कार्यक्रमों के संचालन से देहातों में शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, सिंचाई, उद्योग, समाज-कल्याण, भवन, सड़क, प्रशिक्षण, सहायक रोजगार, संचार, मनोरंजन तथा सद्भाव-सहयोग आदि की स्थिति में काफी सुधार हुआ है और ये अपने उद्देश्यों की प्राप्ति की ओर तेजी से बढ़े हैं। सामुदायिक विकास योजनाओं के समन्वय तथा व्यवस्था का कार्य भारत सरकार के सामुदायिक विकास मंत्रालय तथा राष्ट्रीय विकास परिषद् के मातहत होता है और वे स्वयं तथा राज्य सरकारों की सहायता से इनकी व्यवस्था करते हैं। इसके लिए धन का जुटाव केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के अंशदान से तथा अमरीकी सरकार की सामग्रियों के रूप में की गयी सहायता से होता है। इसके अतिरिक्त स्थानीय सम्बन्धित संघठन की इकाइयाँ भी धन तथा सामानों आदि के रूप में अपना अंश दान देती हैं।

जनतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की भावना को व्यावहारिक रूप देने के लिए 'पंचायती राज' की अवधारणा को उपयुक्त समझा गया और व्यापक स्तर पर गाँवों में पंचायतों तथा उसके ऊपर प्रखण्डस्तर पर पंचायत-समिति तथा जिला स्तर पर जिला-परिषदों का गठन किया गया है। ये संगठन ग्रामीण जनता के संगठन है और गाँव के हित के कार्यों के नियोजन तथा विकास कार्यों को कार्यान्वित कराने का काम कर रहे है। ग्राम पंचायत का गठन आम चुनाव की भाँति गाँव के स्तर पर चुनाव करा के निर्वाचित सदस्यों द्वारा किया जाता है। ये लोग (निर्वाचित सदस्य) फिर अपना सरपंच चुनते हैं और

एक विकास प्रखण्ड के समस्त सरपंच तथा कुछ और विशिष्ट व्यक्तियों के प्रतिनिधि मिल कर पंचायत समिति बनाते हैं। इस पंचायत-समिति के अध्यक्ष को प्रखण्ड-प्रमुख कहा जाता है और इनकी तथा प्रखण्ड विकास अधिकारी की सम्मति से ही सारे कार्यक्रमों का संचालन होता है। जिला स्तर पर गठित होने वाली जिला परिषद् में जिले के सभी प्रखण्ड-प्रमुख, उस क्षेत्र के विधान सभा तथा लोक सभा के सदस्य तथा सरकारी अधिकारी होते हैं। इन सभी स्तर की समितियों में जनता के प्रतिनिधियों का बहुमत होता है और इस प्रकार गाँवों की जनता को अपना राज स्थापित करने की सुविधा रहती है। पंचायती राज-व्यवस्था का सारे देश में फैलाव है तथा इसके गठन और उपयोगी पद्धति पर दिनोदिन बल दिया जा रहा है।

ग्राम-कल्याण की अनेकानेक व्यवस्थाओं के प्रचलन से बड़े पैमाने पर लाभ हो रहा है। प्रखण्ड-अधिकारी तथा उनके नीचे के विभिन्न कर्मचारियों के प्रशिक्षण की अनेक योजनाएँ चली हैं और भारी संख्या में लोग प्रशिक्षित हुए हैं; अनेक प्रशिक्षण केन्द्र खुले हैं, अनुसंधान तथा सर्वेक्षण हुए हैं और हो रहे हैं। साहित्य-प्रकाशन तथा प्रचार का कार्य करके वास्तव में इसकी उपादेयता को समझने - समझाने में मदद मिली है। गाँवों के जीवन में एक नयी क्रान्ति का जन्म हो गया है और परम्परागत तरीकों के स्थान पर लोग नव-युग की माँगों को पूरा करने वाले तरीकों की ओर झुक रहे हैं और यदि उनका उत्साह विकासमान बना रहा तो देश के ग्रामों का सर्वांगीण उत्थान अवश्य ही हो सकेगा।

यद्यपि गावों में किये जा रहे कार्यों का काफी हितकारी प्रभाव हो रहा है किन्तु इनमें कुछ खामियाँ भी रही हैं और उनसे विकास के काम को धक्का पहुँचा है। बहुत से अभियान किसी स्थिति पर पहुँच कर रुक गये और फलतः गावों की जनता में इनकी चरितार्थता में सन्देह पैदा हो गया। बहुत से कार्यों तथा मामलों में अधिकारियों से अधिकार के बँटवारे के मामले इतने उलझे हुए रहे हैं कि अनेक कार्यो की न तो कोई ठीक से जिम्मेदारी लेने को तैयार होता है और न किसी जिम्मेदारी या अधिकार को छोड़ने या हस्तान्तरित करने को। बहुधा जन-प्रतिनिधियों और सरकारी अधिकारियों में अस्वस्थ होड़ लग जाती है और वे कल्याण कार्य पर ध्यान न देकर एक दूसरे की निन्दा में ही अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते रहते हैं। बहुत से ग्राम प्रधान, सरपंच या जिला परिषद् के अध्यक्ष तथा उनके स्तर की पंचायती राज की समितियों का निर्वाचन उनकी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक हानिकारक शक्तियों के परिणामस्वरूप होता है और फल यह होता है कि वे अपनी तथा अपने जातिगत, धर्मगत, या दलगत संगठनों के अन्यायपूर्ण हित साधन में लग जाते हैं। अनेक जन-प्रतिनिधि तो किसी प्रकार के प्रशासन तथा कार्यक्रम संचालन के भी योग्य नही होते किन्तु उनके ऊपर इनके कार्य की

जिम्मेदारी आ पड़ती है और फलतः उनकी अक्षमता से अनुपयुक्त शोषण की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। बहुधा ऐसा भी पाया जाता है कि विविध प्रयत्नों तथा संगटनों मे अपेक्षित सहयोग नही होता और वे जितना उपयोगी हो सकते हैं उतना नही हो पाते। कभी-कभी तो विविध संगटनों में होड़ लग जाती है और अपने-अपने पक्ष में अधिक उपलब्धि सिद्ध करने के लिए वे गावों में विघटनवादी शक्तियों को उभार देते हैं और फलतः सामुदायिक भावना और चेतना को धक्का पहुँचाता है। बहुत से सरकारी कर्मचारी अप्रशिक्षित होने के कारण अपनी जिम्मेदारियों का भरपूर निर्वाह कर पाने में असफल रहते हैं और जनता में इनसे अविश्वास पैदा होता है। सहकारी समितियों का विकास और उनसे लाभ उठाने वालों की स्थिति ऐसी नहीं रही है जिससे यह कहा जा सके कि वे अपनी ग्रामीण अपेक्षाओं को पूरा कर सकी हैं। अभी खेती के उपकरण, बीज, सिंचन-व्यवस्था, गोदाम, यातायात का संचार तथा ग्रामीणों के लिए कल्याणकारी व्यवस्थाओं में काफी गुणात्मक और मात्रात्मक वृद्धि करनी है।

अध्याय १७

नगर-कल्याण

भारत की जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है। देश में नगरों की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है। नगरों में बसने वालों की संख्या भी बढ़ रही है। देश की जनसंख्या का सन् १८८१ में जहाँ ९·३ प्रतिशत भाग शहरों में रहता था वहाँ वह बढ़ कर सन् १९२१ में १०·२ प्रतिशत तथा सन् १९४१ में १२·८ प्रतिशत और पिछली जनगणना (१९६१) तक १७·८४ प्रतिशत तक पहुँच गया है। इस परिस्थिति के कारण अनेक पुरानी समस्याओं के साथ-साथ नयी उत्पन्न हुई समस्याओं का सामना करने के लिए नगर-कल्याण की कई प्रकार की चेष्टाएँ की गयी हैं। इन चेष्टाओं में गन्दी बस्तियों में सुधार तथा नगर-समुदाय विकास कार्यक्रमों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गन्दी बस्तियों से प्रायः उन बस्तियों का बोध होता है जिनमें कि आवास की स्थिति अमानवीय समझी जाती है। प्रायः मकानों का एक दूसरे से बहुत सटे रहना, पुराना हो जाना, उनमें स्नान, शौच तथा रोशनी आदि की अनुपयुक्तता उनके बीच गली, नाली तथा रोशनी की अनुपयुक्तता इत्यादि ऐसी स्थितियाँ हैं जिनसे कि बस्ती गन्दी हो जाती है और वहाँ रहना एक साधारण आदमी के लिए कठिन होता है। ऐसी बस्तियों में अनेक बीमारियों के फैलने तथा पैदा होने की सम्भावना होती है और मनोरंजन, बच्चों के खेलकूद और घूमने-फिरने की कतई अच्छी सम्भावना नहीं रहती। बहुत सी गन्दी बस्तियों में पीने का जल भी भरपूर नहीं मिल पाता।

गन्दी बस्तियों की सफाई पर पहले बहुत कम ध्यान दिया जाता था। आमतौर पर स्थानीय नगरपालिकाएँ या प्रशासनिक इकाइयाँ ही थोड़ी-बहुत ऐसी व्यवस्थाएँ करती थीं कि इन बस्तियों की गन्दगी और न बढ़ने पाये तथा इनमें रहने वालों को कुछ राहत मिल सके। प्रायः आर्थिक तंगी के कारण ही वे इधर समुचित ध्यान नही दे पाती थीं। स्वास्थ्य और शिक्षा तथा फिर मनोरंजन की व्यवस्था करना ही इन स्थानीय प्रशासनों का लक्ष्य हुआ करता था। सभी कल्याणकारी आवश्यकताओं की पूर्ति और गन्दी बस्ती को स्वच्छ बस्ती में परिवर्तित करने के काम से ये कतराती थीं। स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों के अलावा कुछ स्वैच्छिक संगठन भी गन्दी बस्तियों के लिये कल्याणकारी

कार्यक्रम-संचालन या व्यवस्थाएँ करते थे। इनमें रामकृष्ण मिशन, दि गिल्ड आव सर्विस, अखिल भारतीय महिला परिषद्, समाज सेवा परिषद्, गांधी विचार के सगठनो इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना के दौरान यद्यपि कतिपय राज्यों ने छिटपुट तौर पर गन्दी बस्ती की सफाई के काम किये थे किन्तु इनमें तत्कालीन बम्बई और केरल राज्य के ही काम उल्लेखनीय रहे हैं। बम्बई राज्य मे गन्दी बस्ती की सफाई के लिए प्रथम योजना में लगभग दो लाख रुपया व्यय करने की योजना बनायी गयी थी। इसके अलावा अनेक स्थानों यथा पूना, अहमदाबाद तथा बम्बई मे समाज-कल्याण निर्देशालय की ओर से गन्दी बस्तियो मे कतिपय बाल परामर्श केन्द्र भी खोले गये थे। केरल मे गृहविहीनों को आवासीय व्यवस्था मुहैय्या करके गन्दी बस्ती में सुधार के क्षेत्र में निरोधात्मक उपाय किया गया। इस योजना के दरम्यान इस प्रदेश में कुल छः सौ से भी अधिक घर बनाये गये और सात बस्तियों की योजना स्वीकृत की गयी थी। दूसरी योजना में सरकार ने गन्दी बस्तियों की समस्या पर पर्याप्त ध्यान दिया। दिल्ली की गन्दी बस्तियों की स्थिति देख कर सरकार चिंतित हुई और एक विशेष समिति का गठन किया गया। दूसरी योजना मे गन्दी बस्तियों की सफाई के लिए २० करोड़ रुपये का प्राविधान किया गया था जिसमें तीन चौथाई राज्य सरकारों का अंश का। किन्तु इस प्राविधान में बाद में कटौती कर दी गयी थी और इसे लगभग १३ करोड़ रुपये का कर दिया गया था। १९५६ में गन्दी बस्ती सफाई योजना लागू की गयी। इस योजना में लक्ष्य था कि लगभग बयालिस हजार घर बनाये जायेंगे। सन् १९६० तक लगभग १७५ गन्दी बस्ती सफाई अभियानों को स्वीकृति मिली थी और इन पर कुल व्यय की अनुमानित राशि सोलह करोड़ रुपये से अधिक थी। गन्दी बस्तियों की सफाई के लिए इनकी जमीनों को हस्तगत करने तथा नये निर्माण के लिए अतिरिक्त जमीन प्राप्त करने में अनेक दिक्कतों के कारण सन् १९६० तक मात्र साढ़े दस हजार के लगभग मकानों का निर्माण किया जा सका था। तीसरी योजना में इस मद मे व्यय की जाने वाली राशि अट्ठाइस करोड़ बासठ लाख रुपया रही है। इसमे आधे से कुछ अधिक केन्द्रीय सरकार तथा आधे से कुछ कम राज्य सरकारों को वहन करना पड़ा है। महाराष्ट्र प्रदेश को सर्वाधिक लगभग सवा करोड़ रुपया हिस्सेदार में देना था। केन्द्र शासित प्रदेशों में दिल्ली ही अग्रणी रहा है। यहाँ लगभग पौने आठ करोड़ रुपया व्यय किये जाने का प्राविधान रहा है। यहाँ एक लाख के लगभग आवास निर्माण की बात रही है। स्थानीय प्रशासनों में सिकन्दराबाद नगरमहापालिका, राजामुन्दरी नगर परिषद्, गूँटूर नगरपालिका, विजयवाड़ा तथा विशाखापट्टम् नगरपालिका, शोलापुर नगरपालिका वृहत्तर बम्बई नगर महापालिका, पटना नगर महापालिका, त्रिवेन्द्रम नगर महापालिका, मद्रास नगर महापालिका, त्रिचनापल्ली नगरपालिका, कलकत्ता, आगरा, वाराणसी,

कानपुर, इलाहाबाद, लखनऊ तथा देश के अन्य नगरोंकी नगरपालिकाओं या महापालिकाओं में कार्यों द्वारा गन्दी बस्तियों की समस्या के समाधान में काफी बढ़ोत्तरी हो रही है।

नगर समुदाय विकास कार्यक्रम द्वारा नगरवासियों को उनकी नगरीय जरूरतों तथा जिम्मेदारियों का भान कराने की कोशिश की जाती है। कोशिश की जाती है कि नगर की छोटी योजनाओं तथा कार्यक्रमों में नगरवासियों का हाथ बढ़े और प्रशासकों का हाथ इन मामलों में घटे और फलतः जनतांत्रिक मूल्यों को बढ़ावा मिले। प्रायः ये योजनाएँ उसी क्षेत्र में चलती है जहाँ कि परस्परावलम्बन के आधार पर काम करने की सम्भावना देखी जाती है। इस प्रकार की योजना की शुरूआत दिल्ली में द्वितीय योजना के दौरान हुई थी। इसके अन्तर्गत विकास मण्डल का गठन किया गया और मोहल्ला समितियाँ बनी। सामुदायिक संगठन के माध्यम से बाजारों में सुधार, स्वास्थ्यकर आवास विकास, जल, विद्युत्, सफाई, सड़क तथा सहकारी समितियों के गठन का कार्य करना और नगरवासियों में भाई-चारे की भावना बढ़ाना इस योजना की सफलता की कसौटी हुआ करती है। दिल्ली के अतिरिक्त इस प्रकार की नगर समुदाय विकास की योजना अहमदाबाद में चली और फिर इससे मिलते-जुलते कार्यक्रमों का संचालन और भी नगरों में हुआ। यद्यपि ये अपनी शक्ति भर सफल रहे हैं फिर भी इनमें सुधार और प्रसारकी आवश्यकता है। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने नगर-कल्याण-प्रसार अभियानों की शुरुआत १९५८ में की और इसके लिए वह स्वैच्छिक संस्थाओं को इसलिए अनुदान देता है कि वे निम्न आय वालों के लिए विविध कल्याण कार्यक्रमों और व्यवस्थाओं की उपलब्धि करायें। १९६१ के मार्च माह तक इस हेतु बोर्ड ने सवा सत्रह लाख रुपया स्वीकृत किया था। इस राशि से तिरासी हजार से अधिक परिवारों को लाभ हुआ था। तृतीय योजना में लगभग १ शतक नगर कल्याण प्रसार अभियानों के लिए पच्चीस लाख रुपया स्वीकृत रहा है और इसके अतिरिक्त पचास लाख रुपया नगर समुदाय अभियान के केन्द्रों के लिए स्वीकृत किया गया था। इस धनराशि का प्राविधान के०स०क० बोर्ड ने किया था और प्रशासन स्वास्थ्य मंत्रालय के हाथ रहा। इसके अतिरिक्त अनेक अंचलों में रैन-बसेरों की व्यवस्था की जाती है। इस हेतु बोर्ड ने तृतीय योजना की अवधि तक लगभग पौने आठ लाख रुपये की स्वीकृति दी थी। तृतीय योजना में इन अभियानों को सशक्त करने तथा नये अभियान चलाने के लिए कुल पैंतीस लाख रुपये का प्राविधान रहा है। नगर कल्याण योजनाओं और कार्यों से स्वस्थ नागरिक जीवन में मदद मिलती है।

अध्याय १८

चिकित्सकीय समाज-कार्य

चिकित्सकीय समाज कार्य, समाज-कार्य के एक विशिष्ट कार्य-क्षेत्र के रूप मे हाल में ही प्रारम्भ हुआ है। चिकित्सकीय समाज कार्य का कार्य अधिकांशतः वैयक्तिक कार्य-विधि तथा कभी-कभी सामूहिक और सामुदायिक सेवा कार्य-विधि के माध्यम से संपादित किया जाता है। चिकित्सकीय समाज कार्य का कार्य अस्पतालों तथा अन्य चिकित्सकीय अभिकरणों के माध्यम से होता है। चिकित्सकीय समाज कार्य का मुख्य ध्येय यह होता है कि वह चिकित्सकीय सहूलियतों का उपयोग रोगियों के लिये अधिकाधिक फलप्रद एवं सरल बनाये तथा चिकित्सा में बाधक मनोसामाजिक दशाओं का निराकरण करे।

चिकित्सकीय समाज कार्य के विकास के मुख्य चार आधार रहे हैं—प्रथम १८८० में इंग्लैण्ड में अस्पतालों से मुक्त हुए मानसिक रोगियों की उत्तरचर्या के विचार की मान्यता। इन दिनों वहाँ ऐसा समझा गया कि अस्पतालों से लौटने के बाद जो रोगी अपने घर जाते हैं–उनके घर पर भी समुचित देख-भाल होना आवश्यक होता है और ऐसा करने से उनके रोग की पुनरावृत्ति की असम्भावना बढ़ती है। उन दिनों इस कार्य के लिए अनेक घरों में अनेक पर्यवेक्षक कार्यकर्त्ता भेजे गये और उन लोगों को रोगियों के परिवारों तथा मित्रों इत्यादि को घर पर की जाने वाली आवश्यक देख भाल के बारे में समझाने और बतलाने का कार्य किया गया। चिकित्सकीय समाज कार्य के विकास का दूसरा आधार अस्पतालों में महिला दानदाताओं का कार्य था। इन लोगों ने सर चार्ल्स एस० लांच की प्रेरणा से लन्दन में १८९० और उसके उपरान्त इससे सम्बन्धित कार्यों का संगठन किया तथा स्वयंसेवी स्वागतकर्त्ताओं की हैसियत से सेवाकार्य किया। इसके अलावा इन लोगों ने इससे सम्बन्धित सामाजिक सर्वेक्षण किये व यह पता लगाया कि कौन सा रोगी मुफ्त में चिकित्सा हेतु अस्पताल में भर्ती करने लायक है और कौन सी ऐसी दानदाता संस्थाएँ हैं जिनसे कि रोगियों को मदद देने के लिए निवेदन किया जा सकता है। तीसरा आधार पर्यवेक्षक तीमारदारों का रहा है। १८९३ में लिलियन वाल्ड तथा मैरीब्रीडस्टर ने जो कि न्यूयार्क की हेनरी स्ट्रीट सेटलमेण्ट हाउस से सम्बन्धित थे, पड़ोस के उन गरीब बीमार

व्यक्तियों के घरों पर आना-जाना शुरू किया जिनके कि पास अपने चिकित्सकीय तथा सेवा-सुश्रूषा के लिए पर्याप्त धन नही था। उन लोगों ने ऐसी अनेक सामाजिक तथा व्यक्तिगत समस्याओं को देखा जो कि रोगी की बीमारी के कारण पैदा हुई थीं। न्यूयार्क के अनेक अस्पतालों ने यह अनुभव किया कि घर जाके देखभाल के द्वारा बहुत से चिकित्सकीय इलाजों को काफी हद तक सुधारा जा सकता है; उन अस्पतालों ने इस कार्य के लिए अनेक तीमारदारों को घर पर जाकर अस्पताल से छूटे हुए बीमारों को देखने का कार्य सौंपा। चिकित्सकीय समाज कार्य के विकास का चौथा आधार वे चिकित्सा-शास्त्र-सम्बन्धी छात्र थे जिनका कि प्रशिक्षण सामाजिक अभिकरणों में भी हुआ था। बाल्टीमोर स्थित जौन्स हौपकिन्स यूनिवर्सिटी के डा० चार्ल्स पी० एमर्सन ने १९०२ में इस बात की इच्छा की कि सामाजिक और सांवेगिक समस्याओं के अध्ययन की व्यवस्था चिकित्सा शास्त्र के शिक्षण के अन्तर्गत की जाय और यह निवेदन किया कि उनके मातहत छात्र स्वंयसेवकों की हैसियत से दान अभिकरणों में इस हेतु काम करें कि रोगियों की बीमारी पर सामाजिक, आर्थिक, तथा आवासीय दशाओं के प्रभाव को समझ सकें। इन्हीं अनुभवों के आधार पर १९०५ में चिकित्सकीय समाज कार्य की शुरुआत कुछ व्यवस्थित रूप से हुई। पहले यह कार्य चार विभिन्न स्थानों पर लगभग एक ही समय शुरू हुआ। वोस्टन के मैसाचूसेट्स जेनेरल हास्पिटल, न्यूयार्क के बेलेव्यू हास्पिटल, बाल्टीमोर के जौन्स हौपकिन्स हास्पिटल तथा वोस्टन के वर्कले अपंगाश्रम मे सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को स्टाफ में शामिल किया गया। चिकित्सा विशेषज्ञ रोगी की आवासीय दशाओं, आर्थिक स्थिति, आदतों, पर्यावरण तथा व्यक्तित्व से उस प्रकार परिचित नही होते थे जिस प्रकार से पारिवारिक चिकित्सक। इसलिए चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ता रोगी और उसके परिवार से सम्बन्ध स्थापित करके रोगी के व्यक्तिगत और उसके पर्यावरण सम्बन्धी तमाम दशाओं का पता लगाता था तथा इसके साथ ही अस्पताल के चिकित्सक को इन दशाओं से अवगत कराके इस बात में मदद करता था कि वह रोगी का सही निदान करके उचित चिकित्सा कर सके। मैसाचूसेट्स के जेनेरल हास्पिटल के डा० रिचार्ड सी० कैबट पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस कारण से सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को व्यावहारिक मान्यता दी। चिक० सा० कार्यकर्त्ता की नियुक्ति वहाँ इसलिये हुई कि वे अस्पताल से लौटने के बाद रोगियों की मदद में, चिकित्सक की हिदायतों को रोगियों के द्वारा पालन किये जाने की देख-रेख में तथा उचित आहार एवं चिकित्सकीय दवाओं की व्यवस्था के लिए परिवारों को निर्देश देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करें। इसके अलावा चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ता रोगियों तथा उनके परिवारों को रोग की प्रकृति के बारे में बतलाते थे तथा ऐसे सुझाव दिया करते थे जिनसे कि रोग की पुनरावृत्ति से बचा जा सके।

चिकित्सा-शास्त्र में यह मान्यता धीरे-धीरे बलवती होती जा रही है कि अनेक रोगों के निर्धारक एवं निवारक तत्त्व अनेक होते हैं न कि एक; इसमें शारीरिक पोषक तत्त्वों की घट-बढ़ या रचना सम्बन्धी दशाओं की स्थितियों एवं अपेक्षाओं की अनेकता या वैभिन्य की बात तो है ही; साथ ही साथ अनेक सांवेगिक, मानसिक तथा सामाजिक कारकों के अनेकविध प्रभाव और योग की बात भी इसमें समाहित है। बहुत से शारीरिक रोग शारीरिक जरूरतों या विशेषताओं के कारण ही नही वरन् अनेक मनोसामाजिक कारणों से पैदा होते हैं, विकसित होते हैं तथा कभी-कभी तो उनके मनोसामाजिक रूप का भान या दर्शन किया जा सकता है; किन्तु बहुत बार वे कालान्तर में इस प्रकार लुप्त हो गये रहते हैं कि लगता है कि रोग शारीरिक है जबकि मूलतः उसके उद्भव एवं चिकित्सा दोनों ही दृष्टियों से वह मनोसामाजिक ही होता है। चाहे रोग व्यक्तित्व के अनेक निर्धारक तत्त्वों के संयोग से उत्पन्न हो अथवा विशुद्ध रूप से शारीरिक कारणों से ही हो दोनों में ही सम्पूर्ण व्यक्तित्व के अध्ययन की जरूरत रोग के सही निदान एवं उपचार के लिए आवश्यक होती है। ऐसा इसलिए है कि सही निदान विना पूर्ण जानकारी के हो पाना कठिन होता है। चिकित्सा शास्त्र के ज्ञाता एवं चिकित्सक शारीरिक कारकों एवं लक्षणों के आधार पर रोग का निदान एवं उपचार कर सकते हैं किन्तु उनसे लिपटी हुई अथवा मूल प्रकृति की मनोसामाजिक दशाओं, आवश्यकताओं एवं उपचारों की व्यवस्था तो उनके कर्त्तव्य क्षेत्र के बाहर ही कहीं अन्य स्थित होती है और यह क्षेत्र सामाजिक कार्यकर्त्ता का समझा जाता है। इतना ही नही, इसके अतिरिक्त बढ़ते हुए विशेपीकरण के कारण भी एक शारीरिक चिकित्सक के लिए यह कठिन होता जा रहा है कि वह किसी समय जो कि थोड़ा-बहुत शारीरिक रोगियों के शारीरिक मामलों के अतिरिक्त मनोसामाजिक मामलों में भी दखल रखता था अब नहीं रख सकता। इन कारणों से चिकित्सकीय समाज कार्य का विस्तार आवश्यक बनता जा रहा है।

चिकित्सा के क्षेत्र में समाज कार्य मुख्यतः वैयक्तिक कार्य-विधि से होता है। इस विधि के माध्यम से सामाजिक कार्यकर्त्ता मुख्यतः तीन स्तरों पर कार्य करता है। पहला रोगी से सम्बन्धित कार्य, दूसरा रोगी के परिवार एवं समुदाय से सम्बन्धित कार्य, तीसरा अस्पताल से संबंधित कार्य। इन सभी से सम्बन्धित कार्यो के दौरान इन सबका पारस्परिक अन्तर्सम्बन्ध एक दूसरे के लिए परिपूरक होने की बात उसके लिए सदा महत्त्वपूर्ण रहती है। प्रायः ऐसा होता है कि रोगी अनेक व्यक्तिगत, साजाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आर्थिक इत्यादि कारणों से अनेक प्रकार की चिकित्सकीय सुविधाओं से विरत रह जाते हैं। कोई दवाओं को लेने में हिचकते हैं तो कोई अस्पतालों में रहना नहीं चाहते; चिकित्सकों के निदान एवं उपचार को पसंद नहीं करते; निर्दिष्ट आहार, व्यवहार

के मुताबिक चलने में दिक्कत महसूस करते हैं तथा बहुत बार आर्थिक कारणों से आवश्यक सुविधाओं का जुटाव कर पाने में असमर्थ होते हैं। बहुत से परिवार ऐसे होते हैं जो कि रोगियों की समुचित देखभाल नहीं कर सकते, चिकित्सकीय हिदायतों का पालन नहीं कर सकते, अपने परम्परागत या मनपसंद ढंग से चिकित्सा विधि से अनुपयुक्त ताल-मेल बैठाने लगते हैं तथा ऐसी विघटनात्मक मनो-सामाजिक दशाओं से गुजरते रहते हैं कि रोगी के उपचार में बाधा स्वरूप बन जाते हैं। अस्पताल के अनेक नियम, कार्यक्रम तथा कार्यकर्त्ताओं की मनोवृत्तियों और कर्त्तव्य पालन की दशाएँ ऐसी हो सकती हैं जिनसे कि वे अपने अभीष्ट लक्ष्य, रोगी की सफल चिकित्सा, को प्राप्त कर पाने में कठिनाई अनुभव कर रहे हों। ऐसा भी होता है कि अस्पताल, रोगी तथा रोगी का परिवार एवं समुदाय तीनों का जो अपेक्षित स्वास्थ्यप्रद संयोग रोग-सुधार, उपचार एवं उन्मूलन के लिए आवश्यक है, न हो।

उपरोक्त सभी दशाओं में समाज कार्य की जरूरत पड़ती है और सामाजिक कार्य-कर्त्ता ऐसी स्थितियों में अपनी पूरी क्षमता से जूझने के लिए जिम्मेदार होता है। प्रथम स्थिति में वह रोगी के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित शारीरिक, मानसिक, सांवेगिक, सामाजिक तथा आर्थिक जानकारियों को उपलब्ध करता है, रोगी के परिवार तथा समुदाय और पास-पड़ोस की समस्त स्थितियों का सूक्ष्म अध्ययन करता है और इन अध्ययनों के पश्चात् वह एक रोगी का व्यक्तिगत इतिवृत्त-पत्र तैयार करता है। ऐसा करने के लिए उसे रोगी, उसके परिवार तथा सम्बन्धित लोगों से साक्षात्कार करना पड़ता है, रोगी की कुछ परीक्षाओं की व्यवस्था करनी पड़ती है तथा उनसे सम्बन्धित उसके व्यवहारों का सूक्ष्म अध्ययन करना पड़ता है। इसके लिए वह अभिकरण में बुला कर, घर जाकर तथा अन्य उपयुक्त स्थानों पर सम्बन्धित जनों अथवा रोगी से मिल कर कार्य करता है। दूसरे स्तर के कार्य के लिए भी वह समुदाय और परिवार का मनो-सामाजिक तथा आर्थिक सूक्ष्म अध्ययन करता है। तीसरे प्रकार के कार्य के लिए वह अस्पताल के लिखित-अलिखित नियमों, सुविधाओं तथा व्यवस्थाओं का अध्ययन करता है। इन कार्यों के लिए उसे अस्पताल के कर्मचारियों, चिकित्सकों तथा व्यवस्थापकों से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है और इन समस्त कार्यों के उपरान्त प्राप्त सूचनाओं के आधार पर वह ऐसी व्यवस्था करता है जिससे कि रोगी, रोगी का परिवार तथा समुदाय और अस्पताल इन तीनों में चिकित्सकीय निदान एवं उपचार के ग्रहण, निर्धारण तथा व्यवस्था में पूरक रूप में भरपूर शक्ति समायोजना की संभावना की उपस्थिति हो सके। ऐसी संभावना की उपस्थिति वह रोगी से मुख्यतः सहानुभूतिपूर्वक विचार-विमर्श कर, रोग के दौरान तथा अस्पताल के बाद उसके घर जाकर, विस्तार में उसकी बातें सुनकर,

निदान तथा उपचार के बारे में उसे समझा कर, शंका, भय एवं घबराहट को दूर कर, उसको भोजन, आवास, यातायात, वस्त्र आदि की सुविधाएँ सम्बन्धित अभिकरणों से उपलब्ध करा कर, अस्पताल के नियमों को रोगियों की सामाजिक, सांस्कृतिक अपेक्षाओं के हिसाब से व्यवस्थित करा कर, चिकित्सकों से रोग के निदान एवं रोगी से व्यवस्था सम्बन्धी परामर्श करके, परिवार, समुदाय तथा सम्बन्धित जनों से सम्पर्क स्थापन करके तथा व्यक्तित्व सम्बन्धी परीक्षणकर्त्ता एवं अभिकरणों से मदद लेकर करता है। अपने कार्यों को अधिक फलप्रद बनाने के लिये वह अस्पताल के कार्यक्रमों और नीतियों के नियोजन में भाग लेता तथा सामुदायिक क्रिया-कलाप मे सक्रिय भागीदार एवं सहयोगी होता है, सम्बन्धित शैक्षणिक एवं प्रशैक्षणिक कार्यक्रमों में सम्मिलित होता है और इनसे सम्बन्धित अनुसंधानों, परिचर्याओं तथा परामर्शों तथा पुस्तक-पुस्तिकाओं का उपयोग करता है।

चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ता को अपने कार्य सम्पादन के लिए समुचित प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक होता है। ऐसे प्रशिक्षण मे एक तो समाज कार्य की मूलभूत बातें बतायी और करायी जाती है व इसके अतिरिक्त चिकित्सकीय क्षेत्र के लिए अपेक्षित विशिष्ट ज्ञान दिया और व्यावहारिक अनुभव कराया जाता है। मूलभूत बातों में तो वे सभी बातें आती हैं जो कि समाज सेवाकार्य के हर क्षेत्र में कमोबेश उभयनिष्ठ सी विद्यमान होती है; किन्तु विशिष्ट बातों में वे आती हैं जो कि रोगियों की विशेष मनो-सामाजिक दशाओं, आवश्यकताओं एवं पूर्ति के उपाय से सम्बन्धित होती है। समाज कार्य प्रशिक्षण के विद्यालय इस प्रकार के ज्ञान की व्यवस्था करते है। इस प्रकार के रोगी के व्यवहार, उनसे सम्बन्धित बातों की पकड़ और उनके उपायों के व्यावहारिक ज्ञान एवं अनुभव से सामाजिक कार्यकर्त्ता के लिए यह सम्भव हो पाता है कि वह रोगों के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक आर्थिक कारणों, लक्षणों एवं जरूरतों को अलग-अलग एवं उनके अन्तर्सम्बन्धित रूपों को समझ और परख सके तथा तदनुरूप व्यवस्था एवं व्यवहार करके अपेक्षित कर्त्तव्य पालन कर सके। रोग को समझना न सिर्फ रोगी के उपचार के लिए आवश्यक होता है वरन् उससे सम्बन्धित उसके पारिवारिक, सामुदायिक तथा राष्ट्रीय हित के लिए भी जरूरी होता है। इन हितों की दृष्टि से रोग का उन्मूलन, उसकी रोक-थाम तथा अप्रसारण की व्यवस्थाएँ जरूरी होती हैं। इसीलिए बहुत से ऐसे स्वास्थ्य सम्बन्धी सामुदायिक अभियान एवं कार्यक्रम चलाये जाते है जिनसे कि नागरिकों में स्वस्थ जीवन की आदतें विकसित हो सकें तथा रोगों का नाश और उन्मूलन हो सके।

चिकित्सकीय साजाजिक कार्यकर्त्ता के कार्य के प्रसार कुछ और मामलों में भी होते है। अपने कार्यानुभव तथा ज्ञान के कारण उसके लिए यह सम्भव होता है कि वह जान सके

कि विभिन्न प्रकार के सामाजिक अभिकरणों के कार्यों का सामाजिक जीवन निर्माण में किस प्रकार अधिक उपयुक्त उपयोग हो सकता है तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी अभिकरणों की सेवाओं का नियोजन किस ढंग से किया जाय कि वह समाज की स्वास्थ्य सम्बन्धी अपेक्षाओं को अधिक कारगर ढंग से तुष्ट करे। तथ्यों की जानकारी और संग्रह के कारण वह समुदाय की शक्ति और जरूरतों को समझता है तथा उसके लिए व्यापक चिकित्सकीय सुविधाओं की व्यवस्था का विकास और रख-रखाव करने में तथा उपलब्ध शक्तियों को एकबद्ध और अन्तर्सम्बन्धित करने में समर्थ होता है। चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ता अध्ययनों एवं अनुसंधानों में अन्य विषय के ऐसे लोगों की मदद कर सकता है जो कि किन्हीं अंशों में स्वास्थ्य अथवा चिकित्सा से सम्बन्धित होते हैं तथा वह स्वयं भी स्वास्थ्य एवं चिकित्सा से सम्बन्धित मनो-सामाजिक विषयान्तर्गत आने वाले अध्ययनों एवं अनुसंधानों का संचालन एवं संपादन कर सकता है। वह चिकित्सकीय समाज कार्य के क्षेत्र में कार्य करने वाले प्रशिक्षणार्थियों का निर्देशन भी करता है और कर सकता है।

वैयक्तिक कार्य विधि के अतिरिक्त सामूहिक कार्य-विधि से भी रोगियों के उपचार में मदद दी जाती है। सामूहिक कार्यक्रमों के माध्यम से रोगियों में अकेलेपन की भावना का नाश और दूसरों द्वारा स्वीकार किये जाने की भावना का संचार किया जाता है। रोगियों में परस्पर सौहार्द और सम्बन्ध दृढ़ करके हल्के-पुल्के मनोरंजन एवं पारस्परिक सहायता की संभावना उत्पन्न की जाती है। इन कार्यक्रमों के माध्यम से रोगियों के मानसिक द्वन्द्व को कम किया जाता है और अस्पताल के कर्मचारियों के साथ मिलने-जुलने तथा अस्पताल के छोटे-मोटे क्रिया-कलापों में उन्हें भागीदार बनाकर ऐसा वातावरण उपलब्ध कराया जाता है जिससे कि उनके रोग पर इनकी अनुपस्थिति में होने वाले कुप्रभावों से उन्हे बचाया जा सके और उपचार का कार्य निर्बाध हो सके।

अपने समग्र कर्तव्य पालन हेतु चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ता को समुचित रूप से प्रशिक्षित तथा देश, सरकार, समुदाय तथा विभिन्न अभिकरणों के कार्यक्रमों तथा शक्तियों के ज्ञान से परिपूर्ण होना चाहिए।

भारत में चिकित्सकीय समाज कार्य की शुरुआत इंग्लैण्ड और अमेरिका के इस क्षेत्र के कार्यों से ही प्रेरणा पाकर हुई है। बहुत से लोग, जो कि यहाँ के अस्पतालों के चिकित्सक तथा अधिकारी थे, इन देशों में जाकर वहाँ के इससे सम्बन्धित कार्यों को देखकर प्रभावित हुए और लौट कर स्वदेश आने पर अपने से सम्बन्धित अस्पतालों में इसकी किसी रूप में शुरूआत की। इसके उपरान्त कतिपय चिकित्सकीय विद्यालयों में सामाजिक एवं निवारक चिकित्सा विभाग खुले और बहुत से समाज कार्य विद्यालयों ने क्रमशः

चिकित्सकीय समाज कार्य के प्रशिक्षण की व्यवस्था शुरू की और अनेक अस्पतालो में अपने छात्रों को व्यावहारिक प्रशिक्षण हेतु भेजा। १९४६ में बम्बई के जे० जे० हास्पीटल में पहले चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ता की नियुक्ति हुई। इसके बाद देश के अनेक अस्पतालों में धीरे-धीरे चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की नियुक्तियाँ होने लगी और यह क्रम अपेक्षाकृत कुछ तेज गति से अब भी चालू है। पहले ऐसे जिन सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति हुई वे आमतौर पर अप्रशिक्षित अथवा अल्प-प्रशिक्षित थे किन्तु धीरे-धीरे प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्त्ताओ की नियुक्तियों की संख्या बढ़ती जा रही है। देश में प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की ही संख्या नहीं बढ़ रही है वरन् अस्पताल के विशेष विभागों में अलग-अलग इकाइयों के लिए अलग-अलग या एक कार्यकर्ता के मातहत कुछ इकाइयों में कार्य करने की व्यवस्था वृद्धिमान् है। यद्यपि ऐसे सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का वेतनक्रम धीरे-धीरे सुधारा जा रहा है किन्तु वह अभी भी बहुत सी जगहों में अनुपयुक्त ही है। ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है कि चिकित्सकों की तुलना में सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का वेतनक्रम बहुत ही नीचा रखा जाय और इससे उनमें एक स्पष्ट भेद बना रहे।

यद्यपि चिकित्सकीय समाज-कार्य को उन्नत देशों के अनुरूप ढालने की चेष्टाएँ की गयी हैं किन्तु वे अभी तक यहाँ असंतोषप्रद ही है। आमतौर से देखा जाता है कि इस क्षेत्र के सामाजिक कार्यकर्त्ता अपने से अपेक्षित कार्यों का सम्पादन तो गौण रूप से करते है किन्तु अनपेक्षित कार्यों में ही लगाये जाते हैं और लगे रहते हैं। देखा जाता है कि वे प्राय: अस्पतालों में रोगियों के नाम को दर्ज करने, आहार बाँटने, विभिन्न विभागों में भेजने और अस्पताल सम्बन्धी कुछ ऊपरी जानकारियों को आगन्तुकों को उपलब्ध कराने, मनोरंजन की व्यवस्था करने तथा कुछ कागजपत्रों की खानापूर्ति करने आदि में ही लगे रहते है। यह स्थिति अच्छी नहीं है। चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को रोगियों और उनके परिवारों की सामाजिक एवं मानसिक समस्याओं को सुलझाने में लगना चाहिए तथा रोगी के समुचित इलाज, देख भाल और पुनर्वासन की व्यवस्था में मदद करनी चाहिए। उसे अस्पताल तथा रोगी के परिवार और पास-पड़ोस के बीच एक समन्वयी व्यक्ति की भाँति कार्य करना चाहिए। चिकित्सकों को रोगी के बारे में पूरी जानकारी देनी चाहिए और इस प्रकार उन्हें उसके सही निदान और उपचार में मदद देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त समुदाय में उपलब्ध सेवाओं का भरपूर उपयोग और उनके विकास की व्यवस्था इस हिसाब से करनी चाहिए कि रोगी का रोग दूर हो और रोगों का प्रसार रुके व रोगियों को ठीक होने पर आर्थिक तथा मनो-सामाजिक स्वस्थ वातावरण मिल सके। अस्पतालों को चाहिए कि वे ऐसी व्यवस्था करें कि चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ता इन्हीं कार्यों में लग-लगाकर अपने वृत्तिक कर्तव्य का निर्वाह करें।

आमतौर पर यह भी देखा जाता है कि चिकित्सक तथा चिकित्सालय के प्रशासक सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को हीन दृष्टि से देखते हैं और यह मानने को तैयार नही है कि रोगी की चिकित्सा में उनका भी महत्त्वपूर्ण सहयोग हो सकता है। यह बात भी ठीक नही है और इस मामले मे भी प्रभावकारी ढंग से कदम उठाये जाने चाहिए जिससे कि रोगी का अच्छा उपचार हो सके, चिकित्सकों का कार्य हल्का व विशेषीकृत हो सके तथा सामाजिक कार्यकर्त्ता अपने कौशल एवं प्रशिक्षण को भरपूर सामाजिक हित में लगा सके।

यद्यपि हमारा देश एक विकासशील देश है और अभी बहुत व्यापक स्तर पर चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति की सम्भावना नही दिखती फिर भी हमें इसके सम्भव प्रसार के साथ-साथ इसको सुगठित एवं अधिकाधिक उपयोगी बनाने की चेष्टाएँ करनी चाहिए।

अध्याय १९

मानसिक स्वास्थ्य और मन:चिकित्सकीय समाज-कार्य

मानसिक स्वास्थ्य को पाँच रूपों में देखा जाता है। प्रथमत: जनस्वास्थ्य-आन्दोलन के रूप में, दूसरे विज्ञान के रूप के, तीसरे चिकित्सकीय एवं मन:चिकित्सकीय उपचार रूप में, चौथे शिक्षा के नये कदम के रूप में तथा जीवन-दर्शन और नीतिसम्बन्धी विचार के रूप में। मानसिक स्वास्थ्य को जब स्वास्थ्य आन्दोलन के रूप में देखा जाता है तो ऐसी तस्वीर उभरती है कि यह एक ऐसा आन्दोलन है जिसका कि लक्ष्य मानसिक विसंगतियों की रोकथाम, मानसिक स्वास्थ्य-शिक्षण तथा रोगियों को आन्तरिक और वाह्य द्वन्द्वों, शंकाओं तथा आवेगात्मक दबावों से मुक्ति दिलाना है। इसे विज्ञान के रूप में देखने से ऐसा लगता है कि यह मनचिकित्सा शास्त्र एवं मनोविज्ञान पर आधारित है और इसका उपयोग आदमियों को आन्तरिक द्वन्द्व पर विजय प्राप्त करने तथा मानसिक स्वास्थ्य को बरकरार रखने तथा पुन:प्राप्त करने के लिए किया जाता है। ऐसा मन:चिकित्सकीय, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक उपचार, जो कि प्राय: इनसे सम्बन्धित संस्थाओं में सुलभ होता है उन्हीं के जरिये किया जाता है। इसे चिकित्सकीय एवं मन:चिकित्सकीय उपचार के रूप में देखने से लगता है कि यह इनसे सम्बधित अस्पतालों में सुलभ अत्यधिक विक्षिप्त मानसिक रोगियों की सहायतार्थ है। शिक्षा में नये कदम के रूप में देखने से लगता है कि यह मन:चिकित्सा विज्ञान तथा समाजविज्ञानों के हाल के विकास के परिणामस्वरूप है। जीवन दर्शन एवं नीति-विचार की दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि यह जनतांत्रिक समाज में स्वस्थ जीवन-यापन हेतु प्रयुक्त है।

प्राय: वे संगठन अथवा समूह जो कि मानसिक स्वास्थ्य का कार्य करते हैं, नागरिकों, मनश्चिकित्सा में लगे हुए अधिकारियों, कार्यचिकित्सकों, शिक्षकों, मनोवैज्ञानिकों तथा सामाजिक कार्यकर्त्ताओं से मिल कर बनते हैं। इनका कार्य समुदाय को पर्याप्त मनश्चिकित्सकीय सेवाएँ सुलभ कराना तथा स्वास्थ्यप्रद आवेगात्मक वातावरण के लिए उपयुक्त स्थितियाँ उत्पन्न करने का प्रयत्न करना होता है।

हाल ही से मानसिक रोगियों के रोगों का कारण, उनकी रोकथाम तथा उपचार आदि के विषय में कारगर जानकारियाँ हासिल हुई हैं। पहले तो मानसिक रोगों को

व्यक्ति का कोई रोग न समझ कर दैवी प्रकोप समझा जाता था। ऐसा माना जाता था कि जो व्यक्ति मानसिक दुरावस्था में है उसने किसी अन्य व्यक्ति अथवा देवता के प्रति कोई पापकर्म किया है और फलस्वरूप ईश्वर ने उसे दण्डस्वरूप यह स्थिति प्रदान की है अथवा वह किसी प्रेतात्मा के वशीभूत हो गया है। बहुत से समाजो में ऐसी मानसिक स्थिति के व्यक्ति को कोई उपचारात्मक सुविधा न प्रदान करके कठिन शारीरिक यातनाएँ दी जाती थी और समझा जाता था कि यदि व्यक्ति को प्रेतात्माओ ने ग्रस लिया है तो वे इन कठिन यातनाओ से प्रपीडित होकर उसे छोड देंगी अथवा उस व्यक्ति की जीवनलीला की इति के साथ ही, जो कि बहुधा उन कठिन यातनाओ के दरम्यान होता था——समाप्त हो जायेंगी। उन्नीसवी सदी में मानसिक रोगियों के साथ मानवतापूर्ण और उपचारात्मक ढंग से पेश आने की आवश्यकता को महसूस कराने की शुरूआत फ्रान्स में फिलिप पाइनेल, इंग्लैंड में विलियम टक तथा इटली मे विन्सेन्टो चियारूजी द्वारा हुई थी। अमेरिका में बेंजामिन फ्रैंकलिन, पेन्सिल्वेनिया में मैत्री संघ वालों ने तथा खास तौर पर डॉ० बेन्जामिन रस ने इस आन्दोलन में अग्रणी की हैसियत से पदार्पण किया और मानसिक रोगियों को चिकित्सकीय तथा मानवीय सहायताएँ और उपचारों को सुलभ कराया। उन्नीसवी सदी के अन्त में चिकित्सा-शास्त्र, मनोविज्ञान, प्राणिशास्त्र, कायशास्त्र तथा मनश्चिकित्सा-शास्त्र इत्यादि की वैज्ञानिक खोजों ने यह सिद्ध किया कि मन और शरीर का परस्परावलम्बन होता है। इस विचार के सामने आने से मानसिक विसंगतियों को नयी दृष्टि से देखने की शुरूआत हुई। एमाइल क्रिपेलिन तथा विल्हेम ग्रिजेंगर ने मानसिक रोगों को उनके लक्षणों के आधार पर विभाजित किया। फ्रायड तथा उनके अनुयायियों ने हिस्टीरिया तथा न्यूरोसिस का अध्ययन किया तथा अचेतन मन के ज्ञान का मूल खोज निकाला। इनकी खोजों ने कई प्रकार के रोगियों को मनोविश्लेषण उपचार-विधि के माध्यम से ठीक कर देने की संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त किया। मनोविश्लेषण शास्त्र के कारण मनःचिकित्सा-शास्त्र तथा मनःउपचार-शास्त्र की कार्यविधि में दुनिया भर में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। इसके अतिरिक्त मनश्चिकित्सा के युंग, एडलर व ऑटोरैक आदि विचार सम्प्रदायों ने भी मानसिक विसंगतियों के इलाज के तरीकों में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। सामाजिक मनश्चिकित्सा में वैज्ञानिक देन के अग्रणी लोगों ने इस बात पर जोर दिया कि मानसिक विसंगतियाँ हमेशा अथवा कभी-कभी मात्र कायिक रचना विधान अथवा प्राणिशास्त्रीय कारणों से ही नही हुआ करतीं, बल्कि इनमें सामाजिक कारकों तथा पारिवारिक वातावरण का भी महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। ऐसा होने से यह जरूरी हो जाता है कि मानसिक रोगियों को परामर्श तथा निदानात्मक उपचार की सहूलियतें मिलें। मानसिक रोग का इलाज ढूँढ़ निकालना ही पर्याप्त नही हुआ करता।

बहुधा परिस्थितियों में सामाजिक परिवर्तनों के कारण भी मानसिक विसंगतियों की रोकथाम में तथा मानसिक रोगी के उपचार में बाधाएँ आ जाया करती हैं। इस शताब्दी के पूर्व अधिकांश मानसिक अस्पताल ऐसे थे जो कि आवासीय सुविधाएँ नहीं प्रदान करते थे। रोगियों को देखताक कर ही दवा तथा सलाह दे दी जाती थी। रोगी के व्यक्तित्व की जाँच करने की बहुत हल्की चेष्टा की जाती थी तथा उपचार की जो सुविधाएँ उपलब्ध थीं वे भी अपर्याप्त थी। बहुत-सी जगहों पर ऐसे रोगियों के साथ निर्दयतापूर्वक व्यवहार होता था और अस्पतालों से छूटने के बाद उनकी देखभाल के लिए कोई व्यवस्था नही थी। ऐसे अस्पतालों में जरूरत से ज्यादा रोगी रखे जाते थे तथा उनके लिए उपयुक्त श्रेणी विभाजन के आधार पर अलग-अलग रहने की व्यवस्थाएँ उपलब्ध नहीं होती थीं। प्राय:प्रशिक्षित और आवश्यक शिक्षायुक्त मनोवैज्ञानिक मनश्चिकित्सक, मनश्चिकित्सकीय सामाजिक-कार्यकर्ता, तीमारदार तथा नौकर-चाकर की कमी होती थी तथा कम वेतन और अन्य सुविधाओं की अनुपस्थिति के कारणअच्छे कर्मचारी नहीं मिलते थे। किन्तु धीरे-धीरे इन स्थितियों में सुधार होता गया और होता जा रहा है और मानसिक स्वास्थ्य-आन्दोलन के प्रथम लक्ष्य मानसिक चिकित्सा तथा संस्थाओं, अस्पतालों में अमानवीय ढंग के तरीकों में सुधार हो रहा है। मानसिक स्वास्थ्य-आन्दोलन का दूसरा लक्ष्य मानसिक विसंगतियों की रोकथाम रहा है। इस दिशा में कारगर होने के लिए अनेक मानसिक स्वास्थ्य-केन्द्रों की स्थापनाएँ की गयी हैं और इनके माध्यम से मानसिक रोगों के निदान और उपचार के द्वारा इनके बढ़ाव को रोकने की कोशिश की जाती है। मानसिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में प्रभावकारी ढंग से किये जाने वाले कार्यों के विकास में सबसे बड़ी बाधा यह होती है कि प्रायः मानसिक रोगों से कोई-न-कोई सामाजिक मूल्य जुटा रहता है। यह जुटाव प्रायः मानसिक दुर्दशा के स्वभाव की जानकारी के अभाव के कारण हुआ करता है। इसके कारण मानसिक रोगी को तथा उसके परिवार को आधुनिक वैज्ञानिक सहायता से लाभान्वित होने में हताशा होती है तथा बहुत हद तक यह मानसिक स्वास्थ्य की समस्या तथा जरूरत के बारे में जनभावना निर्माण को धक्का पहुँचाती है। इसके अलावा बहुत-सी जगहों पर पर्याप्त अर्थ तथा कुशल कर्मचारियों की अनुपलब्धि के कारण भी यह आन्दोलन शिथिल होता रहा है।

मानसिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में यह दृढ़ धारणा रही है कि मानसिक रोगों की शुरूआत प्रायः बचपन में ही होती है और इस कारण इस बात पर बहुत ध्यान देने की जरूरत समझी जाती रही है कि बच्चों को उनकी आवेगात्मक समस्याओं से मुक्ति के लिए समुचित प्रयत्न किये जाने चाहिए जिससे कि वे आगे चल कर मानसिक रोगों से बचे रह सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो बाल-संस्थाएँ अथवा बाल-परामर्श निकेतन कार्यरत होते हैं

उनमें यह ध्यान रखा जाता है कि बच्चों के समुचित शिक्षण के सम्बन्ध में अभिभावकों को सलाह दी जाय, तथा आवश्यकता होने पर चूँकि बच्चों की समस्याएँ पारिवारिक अन्तःक्रिया के फलस्वरूप हुआ करती है इसलिए यह जरूरी है कि बच्चों की चिकित्सा के साथ-साथ उनके अभिभावकों तथा सम्बन्धित पारिवारिक सदस्यों की भी इस प्रकार चिकित्सा की जाय जिससे कि अधिकतम लाभ हो सके। जब कभी कोई सामाजिक कार्यकर्त्ता अथवा उपचारी मनोवैज्ञानिक किसी मानसिक रोग से ग्रस्त बच्चे अथवा उसके अभिभावक की चिकित्सा करता है तो वह मनश्चिकित्सक के सहयोग तथा परामर्श से ही अपना कार्य करता है। ये तीनों ही प्रकार के कार्यकर्ता अपने में विचारविमर्श करके अपने कार्यों को एक-दूसरे का पूरक बनाते हैं।

भारत की स्थिति

स्वाधीनता के पूर्व मानसिक रूप से विक्षिप्त अथवा हीन व्यक्तियों पर हमारे देश में बहुत ही कम ध्यान दिया गया था। इसके पूर्व के कार्यों के बारे में आँकड़े भी उपयुक्त रूप में अनुपलब्ध हैं। न तो रोगियों की संख्या ठीक-ठीक पता चलती है और न तो उनके लिए अस्पतालों में की गयी शय्याओं की व्यवस्था ही। लगभग चालीस हजार की जनसंख्या पर एक रोगी शय्या का अनुमान लगाया जाता है। बहुत-से तो ऐसे भी मानसिक रोगी रहे होंगे जिनको कि यद्यपि अस्पतालों में रखने की आवश्यकता रही होगी किन्तु उन्हें उस श्रेणी का गिना भी नहीं रहा जाता होगा। सेवा की दृष्टि से मानसिक रूप से बाधितों के लिए बड़ी ही दयनीय स्थिति थी। १९५० तक देश में कुल मात्र ३६ मानसिक अस्पताल थे। इनमें से अधिकांश में मात्र मानसिक रोगों से ग्रस्त व्यक्तियों को रखा जाता था न कि उनके उपचार की अच्छी व्यवस्था की जाती थी। ऐसे अस्पतालों की संख्या सर्वाधिक बम्बई में ७ थी तथा इसके उपरान्त जम्मू और कश्मीर में ५ और पश्चिम बंगाल मे ४। पंजाब, मैसूर, आसाम तथा मद्रास में मात्र १—१ अस्पताल थे। बिहार तथा आंध्र में केवल २-२ तथा केरल, उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश में ३-३ मानसिक अस्पताल थे। उत्तर प्रदेश के वाराणसी जिले के अस्पताल में मात्र अपराधी मानसिक रोगियों को रखने की व्यवस्था थी। उड़ीसा सरकार ने मन्दितों एवं मानसिक रूप से रोग-ग्रस्त व्यक्तियों के लिए कतिपय कार्यक्रम चलाये थे। १९४४ में 'भारतीय मानसिक स्वास्थ्य परिषद्' की स्थापना स्वैच्छिक क्षेत्र में की गयी, जो कि एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। इस संस्था का उद्देश्य भारत में मानसिक स्वास्थ्य की प्रगति करना था। यह संस्था राष्ट्रीय स्तर की संस्था थी और मानसिक समस्याओं के समाधान में तत्पर हुई। ऐसे लोगों, जो कि व्यक्तित्व सम्बन्धी विकारों, मनोस्नायुविक उपद्रवों, व्यवहार सम्बन्धी समस्याओं, वैवा-

हिक असंतुलन या वैवाहिक यौन असामंजस्य, गर्भावस्था में अत्यधिक चिंता या आवेगात्मक कठिनाई आदि से ग्रस्त हो जाते है, की सहायता करना इसके कार्यक्रम के ध्येय रहे। इस संस्था ने एक प्रदर्शन बाल-परामर्श केन्द्र खोला और यहाँ मानसिक रूप से विकृत बच्चों के सम्बन्ध में निदान करने के साथ-साथ यह परामर्श देने का कार्य शुरू किया कि उन बच्चों को किस प्रकार के और कहाँ के मन्दित बाल आवास अथवा दिवस विद्यालय में भेजा जाना चाहिए। मानसिक स्वास्थ्य के बारे में हितकारी जन-चेतना निर्माण और विकास के भी प्रयत्न हुए। इस हेतु इस संस्था ने दो प्रतिवेदन प्रकाशित किये। चिकित्सा के क्षेत्र में मानसिक स्वास्थ्य का व्यवहार तथा बालोपचार के क्षेत्र में 'मानसिक स्वास्थ्य का व्यवहार' नामक इन दोनों ही प्रतिवेदनों का काफी महत्त्व रहा। इसके अतिरिक्त इस संस्था ने मानसिक स्वास्थ्य से सम्बन्धित विषयों पर व्याख्यानों की व्यवस्था की तथा राज्य एवं केन्द्र स्तर की सरकारो को सूचनाएँ एव सुझाव भेजे। १९४४ में बम्बई में स्थापित विशेष संरक्षणापेक्षी बाल देखभाल, उपचार तथा प्रशिक्षण परिषद् इस क्षेत्र में कार्य करने वाली दूसरी महत्त्वपूर्ण संस्था थी। इस संस्था ने बच्चों की देखभाल, उपचार, प्रशिक्षण तथा शिक्षण के कार्यक्रम चलाये। इस संस्था द्वारा उपचार की जो व्यवस्था की गयी उसमे चिकित्सकीय, मानसिक, तथा मनोपचार आदि सभी विधियों को सुलभ किया गया था। इस परिषद् को सूचना केन्द्र के रूप में सेवायोजित किया गया और व्यक्ति यहाँ से परामर्श प्राप्त करते थे। मानसिक रूप से बाधित बच्चों के शिक्षण-प्रशिक्षण को वैज्ञानिक ढंग से संचालित करने के लिए योग्य अध्यापकों की कमी की पूर्ति हेतु इस परिषद् ने एक वर्षीय शिक्षण-प्रशिक्षण पाठ्यक्रम की शुरूआत की थी। इनके अलावा अब तक देश में चार और ऐसे संगठन थे जो कि मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में कार्यरत थे।

१९५० के बाद देश में इस क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। भारत सरकार ने १९५४ में बंगलोर में अखिल भारतीय मानसिक स्वास्थ्य संस्थान की स्थापना की। इस शहर के मानसिक अस्पताल के सहयोग से यह संस्थान कार्य करता है। इसका मुख्य कार्य मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धी स्नातकोत्तर तथा विशेष अध्ययन की उन्नति करना तथा अनुसंधानों की व्यवस्था करना है। भारत सरकार तथा राज्य सरकारें इस संस्थान से ऐसे सुझाव प्राप्त करती हैं जो कि उनके द्वारा मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में की जा रही सेवाओं को संगठित करने में मददगार हैं। १९५४ में भारत सरकार ने राँची स्थित मानसिक रोग-अस्पताल को अपने अधीन कर लिया और इसके कार्यो को संगठित किया। कोशिश यह की गयी कि यह मानसिक रोग के उपचार का एक आदर्श स्थल और नमूना बन सके। इसके लिए सरकार ने एक समिति का गठन किया। इस अस्पताल में शुल्क के हिसाब से तीन श्रेणियाँ हैं। प्रथम श्रेणी में एक रोगी को रखने के लिए ४००) प्रति माह, द्वितीय श्रेणी में रखने के लिए

३२०) प्रति माह तथा तृतीय श्रेणी में रखने के लिए २००) प्रति माह देना पड़ता है। विशेष नियमों के अन्तर्गत इनमें रियायत भी होती है। १९५६ तक आगरा के मानसिक अस्पताल में रोगियों की शय्याओं की संख्या ३६ थी। इसके अतिरिक्त वाराणसी तथा बरेली के मानसिक अस्पताल में अन्य अनेक सुविधाओं का विकास हुआ। १९५१ में स्वैच्छिक संगठन 'भारतीय मानसिक स्वास्थ्य परिषद्' ने 'भारतीय मानसिक स्वास्थ्य तथा मानव सम्बन्ध संस्थान' को अपने मातहत कर लिया। यह संस्थान मनोपचार तथा अन्य सेवाओं का एक केन्द्र था। यहाँ हर उम्र के लोगों की सेवा की जाती थी। सेवा का कार्य विभिन्न क्षेत्रों में विस्तारित था। जो गर्भिणियाँ मानसिक कुदशा से गुजर रही होती हैं उनके लिए १९५३ में इस संस्थान ने मातृ-शिशु-कल्याण केन्द्रों की शुरुआत की। मनो-सामाजिक, मनोस्नायविक तथा मानसिक रोगों से ग्रस्त हुए प्रौढ़ रोगियों के लिए 'सामुदायिक-स्वास्थ्य सेवाओं' का संगठन भी इसके द्वारा हुआ। मुफ्त में वैवाहिक परामर्श का कार्य भी हुआ। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों और शिक्षकों के शिक्षण-प्रशिक्षण तथा अनेक सर्वेक्षणों तथा अनुसंधान के कार्य भी हुए। १९५५ में 'बम्बई बाल सहायता समाज' द्वारा 'बम्बई मानसिक हीनताग्रस्त बाल-गृह' की स्थापना का इस क्षेत्र के संगठनों में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ यह कोशिश की गयी कि मानसिक रूप से अविकसित या बाधित बच्चों को इस योग्य बनाया जाय कि वे समाज में सम्मानपूर्ण स्थान पा सकें और इस हेतु उन्हें कोई न कोई कारीगरी सिखाने की व्यवस्था हुई। इस संस्था ने अपने बच्चों को खेलकूद, मनोरंजन, शिक्षण तथा चिकित्सकीय सुविधाएँ उपलब्ध करायीं। इन संस्थाओं के अतिरिक्त १९५६ तक दिल्ली, मध्य प्रदेश तथा मद्रास में चार और संगठन प्रादुर्भूत हुए और इनके द्वारा मानसिक बाधित बच्चों को शैक्षणिक तथा पुनर्वासन आदि की सेवाएँ दी गयीं। १९६१ तक बंगलोर स्थित 'अखिल भारतीय मानसिक स्वास्थ्य संस्थान' का विस्तार हुआ। यह संस्था 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' से मनश्चिकित्सकीय परामर्शदाताओं की सहायता प्राप्त करती है। राँची के सरकारी अस्पताल में सामूहिक उपचार कार्यक्रम चलाये जाने लगे तथा १९६१ तक यहाँ ऐसे चार उपचार समूह थे। १९५८ में यहाँ वाह्य उपचार विभाग की स्थापना हुई तथा यह अपने ढंग की अग्रणी योजना थी। अब यहाँ उपचार सम्बन्धी अनेक अनुसंधान तथा सर्वेक्षण के भी कार्य होते हैं और तीमार-दारों तथा विद्यार्थियों को प्रशिक्षण भी दिया जाता है। 'भारतीय मानसिक स्वास्थ्य परिषद्' का १९६१ तक और विस्तार हो गया। १९५६ तक व्यावसायिक उपचार गृह तथा एक मनोबाधित बाल आवासीय विद्यालय की शुरुआत दिल्ली में की गयी। यहाँ मानसिक और शारीरिक रूप से अविकसित बच्चों का पुनर्वासन होता है। तृतीय योजना अवधि में केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय ने मानसिक रूप से अविकसित बच्चों के लिए

चार करोड़ रुपये की लागत से एक विद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव किया। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य मंत्रालय ने ऐसी योजनाएँ प्रस्तुत कीं जिनसे कि बंगलोर स्थित संस्थान तथा राँची स्थित अस्पताल का और विस्तार सम्भव हो। इसके अतिरिक्त कई राज्यों की सरकारों ने मन्दित व्यक्तियों के लिए विद्यालयों और बाधितों के लिए कतिपय कार्यक्रमों की योजनाएँ प्रस्तुत कीं। ऐसा अनुमान है कि मानसिक विकृतियों से ग्रस्त व्यक्तियों की देख-भाल के लिए चतुर्थ योजना काल में ५ करोड़ से अधिक रुपये खर्च किये जायेंगे।

मनश्चिकित्सकीय समाज कार्य

मानसिक अथवा आवेगात्मक असंतुलन की स्थिति के व्यक्तियों के साथ किये जाने वाले प्रायः वैयक्तिक कार्य तथा कभी-कभी सामूहिक कार्य ही मनश्चिकित्सकीय समाज कार्य हैं। इस प्रकार का समाज-कार्य सामाजिक कार्यकर्त्ता स्वयं भी कर सकता है और मानसिक या आवेगात्मक रोगों से ग्रसित व्यक्ति के उपचार में लगे मनश्चिकित्सकों के साथ सहयोग करके भी। मनश्चिकित्सकों के साथ सहयोग का कार्य मानसिक अस्पतालों, उपचार सदनों तथा निजी तौर पर कार्य करने वाले मानसिक चिकित्सकों की व्यवस्थाओं के अन्तर्गत हो सकता है। सामूहिक कार्य विधि का उपयोग अस्पतालों तथा विशेष प्रकार के समूहों के अन्तर्गत ही किया जाता है। वैयक्तिक कार्य विधि से जब सीधे-सीधे सेवार्थी की सेवा का कार्य किया जाता है तो कार्यकर्त्ता अपने समस्त कार्यों का निर्धारण तथा संचालन स्वयं ही अपने तथा अपने अभिकरण के मुताल्लिक करता है। आमतौर पर वैयक्तिक कार्य विधि का उपयोग उन मानसिक रोगियों के लिए, जो कि मानसिक अस्पतालों में उपचारार्थ रहते हैं या उपचार के उपरान्त घर जाने और अपने निजी आवास के दौरान इसकी जरूरत रखते हैं, उन बच्चों तथा नवयुवकों के लिए जो कि बाल उपचारालय द्वारा बाल-परामर्श सदन तथा सामाजिक अभिकरणों के पास उपचार और देखभाल के लिए भेजे जाते हैं तथा इसकी जरूरत रखते हैं, उन प्रौढ़ मानसिक रोगियों के लिए जोकि इसकी जरूरत रखते हैं और मानसिक उपचार स्थानों में रहते हैं तथा उनके लिए जो कि किसी भी अस्पताल या उपचार सदन में रहते हैं, फौज में मनो-स्नायविक रोग से ग्रस्त रहते हैं या लड़ाई या फौज से निवृत होने पर मनो-विकारों से ग्रस्त हो जाते हैं, के लिए किया जाता है। सभी मानसिक रोगियों के लिए समुचित देखभाल बहुत जरूरी समझी जाती है। ऐसी देखभाल से रोगी को अस्पताल अथवा मनश्चिकित्सक द्वारा दी गयी तमाम हिदायतों के समुचित पालन में मदद मिलती है तथा उसकी आर्थिक सामाजिक स्थितियों का उसके हक में ऐसा हितकारी समायोजन हो पाता है जिससे कि उसके रोग के नाश व रोकथाम की सम्भावना बढ़ती है।

यद्यपि मनश्चिकित्सकीय समाज कार्य के प्रभावकारी ढंग पर उपयोग की दृष्टि से इसके लिए सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति का श्रीगणेश अमेरिका में १९०५ में हुआ और कई अस्पतालों तथा उपचार सदनों में ऐसे सामाजिक कार्यकर्त्ता रखे गये किन्तु इसका व्यापक प्रसार दो विश्व-युद्धों के दौरान तथा उपरान्त हुआ। युद्धजन्य मनोविकारों से ग्रसित अनेक फौजी रोगियों के उपचार के लिए मानसिक स्वास्थ्य कार्यक्रम का भी विस्तार हुआ और साथ-साथ मनश्चिकित्सकीय समाज कार्य का भी। मनश्चिकित्सकीय समाज-कार्य के प्रशिक्षण की सुविधाएँ बढ़ी और इनके प्रसार में रेड-क्रास, स्मिथ कालेज स्कूल ऑव सोशल वर्क तथा मानसिक स्वास्थ्य की राष्ट्रीय परिषद् ने यत्नपूर्ण भूमिकाएँ निभायीं। धीरे-धीरे इस क्षेत्र के सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का प्रसार नागरिक संगठनों में भी हुआ और इनकी जरूरत का एहसास सभी जगह बढ़ने लगा। अनेक चिकित्सकीय संगठनों तथा संस्थाओं ने ऐसे सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति करना प्रारम्भ किया और भरती बढ़ती ही जा रहीं है।

बाल-परामर्श केन्द्र तथा विद्यालय सदनों में मनश्चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ता का कर्त्तव्य है कि वह रोगी बच्चे के बारे में वैयक्तिक प्रतिवेदन तैयार करे तथा उसके व उसके अभिभावकों के साथ वैयक्तिक समाज कार्य करे। ऐसे सदनों में मनश्चिकित्सक रोगी के उपचार मात्र पर ध्यान देता है और उसकी देखभाल तथा निदान में सम्बन्धित सामाजिक कार्यकर्त्ता सहायता करता है। जब प्रौढ़ रोगियों के उपचार में मनश्चिकित्सक तल्लीन रहता है तब उनके बच्चों की देखभाल का कार्य भी ऐसे सामाजिक कार्यकर्त्ता के ऊपर आ जाता है। प्रायः इसी प्रकार के कार्य उस दशा में भी वैयक्तिक सामाजिक कार्य-कर्त्ता करता है जब कि मानसिक रोग का रोगी सम्बन्धित अस्पताल या उपचारालय में भर्त्ती होता है या बाहर से दवा कराने आता है। अब बहुत से सामाजिक कल्याण अभिकरण, विद्यालय,बाल न्यायालय, अस्पताल,औद्योगिक संस्थानों के वैयक्तिक प्रबन्ध विभाग तथा पुनर्वास केन्द्र इत्यादि अनुभवी मनश्चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को परामर्श दाताओं की हैसियत से अपने यहाँ सेवायोजित करके लाभ उठा रहे हैं। मनश्चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ता भी अपने व्यवसाय की उन्नति हेतु अनेक प्रकार से कार्यरत हैं व अपनी कार्य विधियों और प्रविधियों को तथा उपचार के ढंग को अधिकाधिक उपयोगी बनाने के अनेक नये प्रयोग और आविष्कार करते जा रहे हैं और मानसिक रोगियों के उपचार के लिए सामूहिक उपचार विधि का परिमार्जन कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त वे अस्पतालों और उपचार सदनों में कार्य करने वालों के बच्चों के निरीक्षण तथा निर्देशन का कार्य, मानसिक अस्पतालों से छूटे रोगियों के लिए पारिवारिक देखभाल का कार्य तथा मानसिक उपचार के दौरान की गयी विद्युतीय तथा शल्यचिकित्सा के मानसिक परिणामों से सम्बन्धित

सर्वेक्षण तथा अनुसंधान का भी कार्य करते है। इस क्षेत्र के सामाजिक कार्यकर्त्ता रोगियों के समुचित पुनर्वासन तथा उनके उपयुक्त कारबार की व्यवस्था में भी मदद देते हैं और मानसिक रूप से अविकसित व्यक्तियों को समुचित मानसिक सन्तुलन की दृष्टि से सम्बन्धित उपचार गृहों और उपचारकों की मदद मुहैय्या कराने की व्यवस्था करते हैं। यद्यपि ये अनेक प्रकार के कार्य, अनेक प्रकार की उपचारी संस्थाओं के माध्यम से मनश्चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ता सम्पादित कर रहे है फिर भी अभी तक इनके कर्त्तव्य का क्षेत्र बहुत स्पष्ट रूप से नहीं निर्धारित किया जा सका है और अलग-अलग जगह थोड़े अन्तर के साथ इनसे अलग-अलग कार्य लिये जाते है। आमतौर पर मनश्चिकित्सकीय समाज कार्य के लिए द्विवर्षीय स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम को पूरा करना पड़ता है और मनश्चिकित्सकीय समाज कार्य में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विशेषीकरण के साथ यह पाठ्यक्रम समाप्त करने पर ही स्नातकोत्तर उपाधि मिलती है। इसके पाठ्यक्रम में चिकित्सा विज्ञान, जन-स्वास्थ्य तथा तीमारदारी की शिक्षा समाहित होती है और इस हेतु उपयोगी शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्थाएँ होती हैं।

भारत में इस प्रकार के समाज कार्य की शुरुआत लगभग डेढ़ दशक पूर्व हुई थी और इसके प्रशिक्षण का कार्य प्रारम्भ हुआ था। आज समाज कार्य के अनेक विद्यालयों में इसके शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था है और कतिपय संक्षिप्त पाठ्यक्रम भी बीच-बीच में चलाये गये हैं। कई मानसिक अस्पतालों में मनश्चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की नियुक्तियाँ हुई है। किन्तु ये व्यवस्थाएँ मानसिक स्वास्थ्य तथा मानसिक रोगियों की संख्या की तुलना में बहुत ही असंतोषप्रद हैं। अपने देश के ऐसे सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को समुचित वेतन भी नहीं दिया जाता और उनकी स्थिति बहुत आवश्यक तथा सम्मानपूर्ण नही समझी जाती। ऐसे सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के कार्यों का ठीक से उपयोग नहीं किया जाता और वे कहीं-कहीं भार-स्वरूप समझे जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने देश की शक्तियों और आवश्यकताओं के अनुरूप मनश्चिकित्सकीय समाज कार्य का अधिकाधिक विकास करें और मानसिक स्वास्थ्य संरक्षण में इसकी महत्वपूर्ण हिस्सेदारी हो। इसके लिए हमें इससे सम्बन्धित सभी उपचार संस्थाओं तथा कार्यक्रमों में इसके विस्तार, प्रसार, उनके आपसी सहयोग, इसके उन्नत प्रशिक्षण की व्यवस्था, इसके प्रति जनता और अधिकारियों में सम्मानपूर्ण भावना का विकास और मानसिक रोगियों के उपचार में लगे सभी व्यक्तियों में आपसी सहयोग, अनुसंधान, साहित्य प्रकाशन, प्रचार तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से सहयोग और सहायता की व्यवस्था करनी चाहिए।

अध्याय २०

विद्यालयगत समाज कार्य

विद्यालयों में बच्चों के संगठित और समुचित विकास के आधार दृढ़ होते हैं और उनका उनके भविष्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग होता है। यदि विद्यालय की शिक्षा और उसका समस्त वातावरण बच्चे के पूर्ण व्यक्तित्व निर्माण और विकास को दृष्टिगत कर व्यवस्थित हो तो विद्यालय और विद्यार्थी दोनों के अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति होती है। प्रायः पाया जाता है कि विद्यालयों को विद्यार्थियों के हित में पूरी तरह से लग पाने तथा विद्यार्थियों को विद्यालय से पूरी तरह लाभान्वित हो पाने में अनेक दिक्कतें उपस्थित हो जाया करती हैं। इन दिक्कतों में कुछ तो आर्थिक या नियमजन्य होती हैं किन्तु कभी-कभी इन दिक्कतों का कारण इन दोनों की समस्त क्षमताओं और हितों का एक दूसरे को अज्ञान भी होता है। अज्ञान के अतिरिक्त साधनों और शक्तियों के समुचित हितकारी समायोजन के अभाव से भी ये समस्याएँ या कठिनाइयाँ आ जाती है। इन हालतों या विद्यालय की परिस्थितियों मे समाज कार्य की आवश्यकता पड़ती है और देखा गया है, इससे दिक्कतों को दूर करने में पर्याप्त सफलता मिलती है तथा विद्यालय और विद्यार्थी एक दूसरे से अधिकाधिक लाभ उठाते हुए एक दूसरे की हित रक्षा एवं सेवा करने मे सक्षम हो पाते हैं।

विद्यालयगत् समाज कार्य का प्रारम्भ बीसवी सदी के प्रारम्भिक दशक मे हुआ और यह धीरे-धीरे बढ़ता गया। इसका प्रसार उन्नत देशों मे अधिक तथा विकासशील देशों मे कम है। अपने प्रारम्भिक अवस्था मे विद्यालयगत समाज कार्य के अन्तर्गत मुख्यतः ऐसा समझा गया कि बच्चो की समस्याएँ उनकी स्वयं की समस्याएँ होती हैं अथवा उनके अनुपयुक्त पारिवारिक वातावरण के कारण हुआ करती है और इनके फलस्वरूप वे विद्यालय मे दिक्कत महसूस करते हैं। इस बात को ध्यान मे रख कर 'निरीक्षक शिक्षक कार्य' के नाम से विद्यालयगत समाज कार्य पनपा था। किन्तु बाद में विचार विकसित हुए और विद्यालयगत समाज कार्य के अन्तर्गत वे सभी वैयक्तिक कार्य आये जो कि किसी विद्यार्थी के साथ उसके व्यक्तित्व निर्माणार्थ,विद्यार्थी के परिवार, वातावरण, विद्यालय, चिकित्सालय तथा सुधार संस्थानों के (जरूरत होने पर) सहयोग द्वारा किये जाते है।

विद्यालयी सामाजिक कार्यकर्त्ता का काम है कि वह ऐसे बच्चों को उनके समस्त

शैक्षणिक वातावरण से सुगमतापूर्वक समंजित करे जो कि इस कार्य में कठिनाई अनुभव करते हैं। प्राय: इस प्रकार की कठिनाई का आभास बच्चों का विद्यालय से भाग जाया करने, अनुपस्थित रहने, अनुत्तीर्ण हो जाया करने, विद्यालय और शिक्षक के प्रति अन्यमनस्क रहने या क्रोध और उदंडतापूर्ण व्यवहार आदि के जरिये लगता है। बहुत से बच्चे तो विद्यालय के अन्य बच्चों के साथ समायोजन नहीं रख पाते, अध्यापक तथा विद्यालय के प्रवन्ध की बातों तथा व्यवस्थाओं से सर्वथा खिन्न रहते हैं और उनको हर प्रकार से अस्वीकार करने लगते हैं तथा जिद्दी, झगड़ालू और चोर आदि भी हो जाया करते हैं। इस प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त बच्चों की सहायता के लिए सामाजिक कार्यकर्त्ता की आवश्यकता पड़ती है और वह उनकी मदद करता है। ऐसे बच्चे की मदद के लिए सामाजिक कार्यकर्त्ता को बच्चे के व्यवहार का कक्षा में तथा समूह और परिवार में अध्ययन करना पड़ता है, उसके बारे में शिक्षक, कर्मचारी, परिवार तथा मित्रों आदि से जानकारी हासिल करनी पड़ती है, उसके सम्बन्ध के निजी कागजपत्रों तथा वैयक्तिक इतिहास की जाँच पड़-ताल करनी पड़ती है तथा बच्चे और उससे सम्बन्धित हर पक्ष के व्यक्तियों से बातचीत, परामर्श, सुझाव तथा आवश्यकता होने पर चिकित्सा तथा वातावरण परिवर्तन आदि की भी व्यवस्था करनी पड़ती है। विद्यालयगत सामाजिक कार्यकर्त्ता को लगातार नियमित और वैज्ञानिक ढंग से विद्यार्थी, शिक्षक, अभिभावक तथा सम्बन्धित व्यक्तियों से सम्पर्क बनाये रखना पड़ता है और इन सबमें मध्य से वह पारस्परिक हितकारी स्थिति लाने के दायित्व का निर्वाह करता है। इतना ही नहीं वह विद्यालय की अपेक्षाओं और साधनों के बारे में विद्यार्थी और उसके अभिभावको ज्ञान कराता है और उनके बारे में उन्हें तर्कपूर्ण ढंग से समझाता है तथा विद्यालय के शिक्षकों और प्रबन्धकों को भी विद्यार्थी की क्षमताओं तथा साधनों और उसकी तथा उसके परिवार की अपेक्षाओं को समझाता है। इस प्रकार के कार्य द्वारा वह इन दोनों में परस्पर सहयोग तथा लाभ की अधिकाधिक सम्भावना उत्पन्न करता है। विद्यार्थी–अभिभावक समितियों के निर्माण और उनके कार्यक्रमों में सक्रिय भागीदार होकर भी कार्य करना विद्यालयगत सामाजिक कार्यकर्त्ता का काम होता है। ऐसा सामाजिक कार्यकर्त्ता विद्यालय के प्रबन्ध और शिक्षण सम्बन्धी समितियों की बैठकों में भाग लेता है और शैक्षणिक तथा व्यक्तित्व विकास के अनेक कार्यक्रमों के निर्माण में महत्त्वपूर्ण हाथ बँटाता है। अपने समस्त कार्य के दौरान ऐसा कार्यकर्त्ता ध्यान रखता है कि वह विद्यार्थी की दृष्टि में कभी भी एक अधिकारी की हैसियत का न बन कर वरन् उसका एक हितैषी मात्र बना रहे और वह विद्यार्थी तथा विद्यालय दोनों का विश्वास प्राप्त कर सके। इस प्रकार हम पाते हैं कि अपने कर्त्तव्य पालन के लिए विद्यालयगत सामाजिक कार्यकर्त्ता को विद्यार्थी, विद्यालय, विद्यार्थी-परिवार तथा समुदाय

इन चार स्तरों पर एक साथ कार्यरत रहना पड़ता है। इन सभी में परस्पर हितकारी स्थिति के सृजन अथवा विकास के माध्यम से वह अपना कार्य सम्पादित करता है और समस्याग्रस्त बच्चों की ही मात्र सेवा नहीं करता वरन् उनको अन्य पर कुप्रभावी होने से भी रोक कर पूरे समुदाय का हित करता है। अपने कार्यों के लिए उसे समाज में उपलब्ध हर सम्बन्धित सामाजिक कल्याण अभिकरण की मदद भी लेनी पड़ जाया करती है। ऐसा पाया गया है कि समुदाय या विद्यालयों की भिन्नता के आधार पर विद्यालयगत सामाजिक कार्यकर्त्ता के कर्त्तव्य भी कमोवेश भिन्न हो जाया करते हैं। विद्यालयगत समाज-कार्य प्रायः वैयक्तिक कार्य विधि से सम्पन्न होता है और कभी-कभी सामूहिक और सामुदायिक कार्यक्रमों की मदद से भी यह कार्य किया जाता है।

विद्यालयगत सामाजिक कार्यकर्त्ता को समाज कार्य का व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त होना चाहिए जिससे कि वह वैज्ञानिक ढंग से अपना कर्त्तव्य निर्वाह कर सके। विद्यालय एवं शिक्षण प्रक्रिया का समुचित ज्ञान एवं पकड़ तथा बच्चों तथा नवयुवाओं के साथ कार्य करने की क्षमता रखने वाले कार्यकर्त्ता इस क्षेत्र में कार्य करने में अधिक सक्षम होते हैं। सबके साथ हिलमिल कर काम करने वाले हँसमुख, नमनीय तथा दूरदर्शी व्यक्तित्व वाले अधिक सफल हुआ करते हैं।

भारत में विद्यालयगत समाज कार्य का प्रचलन नगण्य है। प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे समाज कार्य के विद्यार्थी ही यह कार्य करते हैं। इनकी स्थिति सेवार्थी से सम्बन्धित विद्यालयों में प्रायः हास्यास्पद और भारपूर्ण होती है। हमें अपनी शक्ति भर शासकों को इस दिशा में जागरूक करना है और विद्यालय में पढ़ रहे मनोसामाजिक या व्यवहार सम्बन्धी समस्या से ग्रस्त बच्चों के सहायतार्थ विद्यालयगत समाज कार्य का समुचित और प्रभावकारी विकास करने का प्रयत्न करना है।

अध्याय २१

श्रम-कल्याण

यंत्रीकरण के विकास के साथ-साथ उद्योगों में मानवीय पक्ष की अवहेलना बढ़ने लगी और इसकी सुरक्षा के उपाय भी खोजे जाने लगे। मानवीय पक्ष की सुरक्षा के हेतु जो उपाय खोजे गये और विकसित किये जा रहे हैं उनमें यह ध्यान रखा जाता रहा है कि उद्योग में लगे व्यक्तियों की मानवीय प्रतिष्ठा और हितों पर यंत्र हावी न होने पाये और उत्पादन की दर भी विकासमान बनी रह सके। यंत्र और व्यक्ति को एक दूसरे के पूरक के रूप में इस प्रकार उपयोग की दृष्टि से नियोजित और गठित किया जाता है कि श्रमिकों का सम्मान और विश्वास नये मानवीय मूल्यों और मान्यताओं के अनुरूप विकसित हो तथा उत्पादन दिनोत्तर बढ़ सके। उद्योग में लगे मानवीय पक्ष की हित-वृद्धि के अनेक देशों मे समय-समय पर अनेक उपाय किये जाते रहे है। इन उपायों मे, मुख्यत: वेतनदर सुधार, आवासीय, मनोरंजन, शैक्षणिक, चिकित्सकीय सुविधाओं तथा काम की दशाओं और औद्योगिक संस्थानों के पर्यावरण में परिमार्जन, रहे हैं। इन कार्यों के लिए समय-समय पर अनेक कानून बनाये गये हैं व मालिकों, सरकारों तथा श्रम संगठनों द्वारा अनेक कार्यक्रम और क्रियाकलाप आदि संचालित किये जाते रहे हैं। मजदूरों और श्रम संगठनो के झगड़ो और विवादों के निपटाने, औद्योगिक शान्ति तथा मजदूरों की मनोदशा सुधार आदि के प्रयत्न किये जाते रहे हैं।

श्रम-स्थिति-सुधार के समस्त प्रयत्न श्रम-कल्याण के अन्तर्गत आते है। श्रम-स्थिति-सुधार के अन्तर्गत वे सभी स्थितियाँ आ जाती है जो कि श्रमिक की आर्थिक, शारीरिक, मानसिक, आवेगात्मक, नैतिक तथा सामाजिक दशाओं से ताल्लुक रखती है और इन सभी में सुधार का कार्य श्रम-सुधार कहा जाता है। श्रमिक की आर्थिक स्थिति में सुधार से मतलब होता है कि उसकी आमदनी इतनी हो कि वह स्वस्थ वातावरण मे रहते हुए कम-से-कम सामान्य स्तर की शिक्षा की व्यवस्था अपने बच्चों के लिए कर सके तथा भविष्य के लिए कुछ धन राशि उसके पास संचित भी होती रहे तथा यदि वह किन्ही औद्योगिक या व्यक्तिगत कारणों से अनुपयुक्त शारीरिक-मानसिक दशा को प्राप्त कर ले तो भी उसके परिवार को जीवन यापन में कमतर दिक्कत हो। शारीरिक स्थिति सुधार के अन्तर्गत वे सुधार

आते हैं जो कि औद्योगिक वातावरण में इसी हेतु किये जाते हैं जिनसे श्रमिक अपने स्वास्थ्य को बरकरार रख सके, असामान्य ढंग से उसके स्वास्थ्य में गिरावट न हो सके तथा जब कभी वह शारीरिक रूप से अस्वस्थ हो तो उसके इलाज की नवीनतम सुविधाएँ उसे उपलब्ध हो सके; उसके लिए तथा उसके परिवार के लिए अस्पताल, चिकित्सक, प्राथमिक चिकित्सा आदि की भरपूर व्यवस्था हो। आवेगात्मक स्थिति सुधार के अन्तर्गत वे व्यवस्थाएँ आती है जो कि श्रमिक को प्रसन्नचित्त रखने, विवाद से दूर रखने तथा मन के बोझ को दूर करने के लिए की जाती हैं। इसके लिए काम की दशा में सुधार, औद्योगिक परिस्थिति में सुधार तथा मनोरंजन की समुचित व्यवस्था की जाती है। नैतिक और सामाजिक दशा में सुधार के अन्तर्गत वे व्यवस्थाएँ आती हैं जिनके द्वारा श्रमिकों का मनोबल संतुलित तथा उन्नतशील होता है और उनके सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों, परम्पराओं और मान्यताओं की रक्षा होती है और वे समाज में अपनी स्थिति गौरवमय समझते हैं। इसके लिए सहजीवन तथा सामूहिक जीवन की शिक्षा देने, त्यौहार और धार्मिक-सांस्कृतिक उत्सवों को सुविधापूर्वक मनाने और आवास की व्यवस्था ऐसी होने जिससे कि वे अपने निजि पसन्द के दैनिक जीवन को सम्पादित कर सकें, आदि की व्यवस्थाएँ आवश्यक हुआ करती है। मालिकों और सरकारों के उनके प्रति किये जाने वाले व्यवहार भी उनके सम्यक् व्यक्तित्व पर महत्त्वपूर्ण असर करते है और इसलिए उनके व्यवहारों को भी अधिकाधिक मानवोचित बनाये रखने की सम्भावनाएँ बहुचर्चित रही हैं।

इन कार्यो के सम्पादन को स्थूल दृष्टि से यदि देखा जाय तो स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि इनमें से अब बहुत से कार्य तो उत्पादन क्षेत्र के अन्तर्गत किये जाने वाले कार्य है तथा अनेकों उसके बाहर के अर्थात् श्रमिकों की बस्ती तथा समुदाय में किये जाने वाले है। औद्योगिक क्षेत्र में किये जाने वाले कार्यो में श्रमिकों को सुरक्षा कार्य की सुविधाएँ, स्वास्थ्य, भोजन तथा जलपान, मनोरंजन तथा परामर्श आदि के कार्य प्रमुख हैं। मजदूरों को काम करते समय अनेक प्रकार की मशीनों से अपनी रक्षा हेतु कई प्रकार के हाथ के, पैर के, शरीर के तथा आँख-कान आदि के पहिरावे दिये जाते हैं, उनके बारे में उन्हें समझाया—बताया जाता है। औद्योगिक क्षेत्र में होने वाली गन्दगी, धुआँ, गैस तथा पानी की निकासी की व्यवस्था की जाती है। थूकदान, मूत्रालय, शौचालय तथा प्राथमिक चिकित्सा आदि की सुविधाएँ कार्य के स्थान के समीप ही उपलब्ध करायी जाती हैं। अवरोधक स्वास्थ्य शिक्षण से और बचाव के उपाय बता कर अनेक हानिकारक स्थितियों से सुरक्षा की जाती है। पीने के पानी, स्नानागार तथा आराम करने की सुविधाएँ और स्थान नियत किये जाते हैं। बीच-बीच में समय की सूचना देने तथा घड़ी घर की व्यवस्था से श्रमिक तथा कर्मचारी अपने मन को कार्य के साथ समायोजित कर पाने में मदद पाते हैं। दिवस

शिशु रक्षा केन्द्रों में माताएँ अपने बच्चों को रख कर सन्तुष्टि के साथ कार्य करती हैं। यहाँ उनके बच्चों को मनोरंजन, आहार, शयन तथा देखरेख की सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं। कभी-कभी बच्चों की आपसी प्रतियोगिताएँ भी करायी जाती हैं और पुरस्कार दिये जाते हैं। सस्ते दरों पर जलपान देने की व्यवस्थाएँ तथा मन-पसन्द नाश्ता उपलब्ध कराने के लिए जलपान गृह की व्यवस्था होती है। कहीं-कहीं जरूरत होने पर चल-जलपान गृह की सुविधा प्राप्त रहती है। इनसे नाश्ते की सामग्री खरीद कर श्रमिक अपनी ताजगी बनाये रखने में मदद पाते हैं। सहकारी भण्डारों की व्यवस्था से उचित मूल्य पर सुभीते के साथ दैनिक जीवन में उपयोग आने वाली अनेक चीजें श्रमिक प्राप्त कर लेते हैं। सहकारी ऋण समिति से जरूरत पड़ने पर धन उधार लेकर वे अपने कठिन और आवश्यक अनेक कार्य कर लेते हैं—यथा विवाह के काम या मकान बनवाने के काम आदि। कई प्रकार के और भी कोषों की स्थापनाएँ की जाने लगी हैं जिनसे कि जरूरत होने पर मदद मिल जाती है। काम के बीच आराम के लिए जो छुट्टी मिलती है उसमें मनोरंजनार्थ रेडियो, पत्र-पत्रिकाएँ तथा अन्तःकक्षीय खेलों इत्यादि की सुविधाएँ दी जाती हैं और काम से खाली होने पर खेल के मैदान में अनेक प्रकार के खेल, चलचित्र, कुश्ती, व्यायाम तथा जादूगरी आदि की व्यवस्थाएँ रहती हैं। खाली समय में श्रमिक वाचनालय, श्रमिक साक्षरता, श्रमिक शिक्षण, कार्य-प्रशिक्षण, सामाजिक कार्यकर्त्ता-परामर्श तथा निर्देशन आदि से लाभान्वित हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक प्रतिष्ठित औद्योगिक संस्थान मजदूरों की दशाओं, उनके परिवार, दुर्घटनाओं, श्रमिक-व्यवहारों आदि से सम्बन्धित सर्वेक्षण और अनुसंधान भी करवाया करते हैं और सम्बन्धित साहित्य के प्रकाशन द्वारा उपयोगी कार्य करते हैं।

औद्योगिक क्षेत्र के अन्तर्गत किये जाने वाले इन कार्यों में से अनेक कार्य उसके बाहर भी किये जाते हैं। मजदूरों को उनके योग्य कार्यसम्बन्धी परामर्श, उनके परिवार तथा बच्चों के बारे में परामर्श, उनके शिक्षण, स्वास्थ्य तथा मनोरंजन, आदि की अनेक व्यवस्थाएँ की जाती हैं। पाठशालाएँ, व्यायामस्थल, वाचनालय, मनोरंजन स्थल तथा चिकित्सालय आदि की सुविधा दी जाती है। ऐसे मातृ-शिशु-रक्षा केन्द्र होते हैं जहाँ श्रमिक महिलाएँ तथा श्रमिकों की स्त्रियाँ प्रजनन की सुविधा पाती हैं। रहने के लिए मकान, उनकी सफाई, विद्युतीकरण, सड़क, बगीचे, चलचित्र, नाटक, नृत्य, संग्रहालय तथा संचार और यातायात की अनेक सुविधाएँ दी जाती हैं। छोटे-छोटे बाजार बसा कर चहल-पहल, खरीद-फरोख्त तथा वस्त्र-धवन और केशकर्त्तन आदि की सम्भावनाएँ उपस्थित की जाती हैं। इसके अलावा डाक-तार-टेलीफोन आदि की व्यवस्था की जाती है और कहीं-कही मानसिक स्वास्थ्य और परामर्श की सुविधाएँ भी उपलब्ध रहती हैं।

कथित सभी सुविधाओं की व्यवस्थाओं के पीछे कई उद्देश्य छिपे रहते हैं। इन उद्देश्यों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि ऐसा माना जाता है कि अनेक प्रकार की सुविधाओं से लाभान्वित हो सकने की मानसिक स्थिति तथा भौतिक स्थिति वाला श्रमिक अपनी सामर्थ्य भर अधिकाधिक श्रम कर सकने में समर्थ रहता है और उससे उसके भरपूर श्रम का उपयोग उद्योग को होता है तथा उद्योगों का अभीष्ट अधिकतम उत्पादन का कार्य ज्यादा आसानी से पूरा होता है और फलस्वरूप उद्योग, श्रमिक तथा देश की आर्थिक दशा में सुधार की अधिक सम्भावना होती है। जब देश, उद्योग और श्रमिक की आर्थिक दशा अधिकाधिक अच्छी होती जाती है तो वे एक-दूसरे की मदद भी अधिकाधिक कर सकते हैं और सम्मिलित श्रीवृद्धि होती है। श्रम-कल्याण का दूसरा उद्देश्य इस भावना की पूर्त्ति है कि वह श्रमिक जो कि समाज के निर्माण और उसके संचालन में सहायता का एक अति महत्त्वपूर्ण अंग है—उसकी भलाई समाज को सोचनी और करनी ही चाहिए। आज हम देखते हैं कि भौतिक समृद्धि जिसके कारण ही अनेक मानसिक, आवेगात्मक, बौद्धिक तथा सामाजिक श्रीवृद्धि होती है—इन श्रमिकों की महत्त्वपूर्ण भूमिकाओं के कारण ही सम्भव हो रही है। बड़े उद्योगों की स्थापना, संचालन, तरह-तरह की भारी और बुनियादी चीजों का उत्पादन, भवनों, सड़कों, जलाशयों, पुलों तथा यातायात के साधनों, उपकरणों का निर्माण, क्रीड़ास्थलों, सौन्दर्य प्रसाधनों, मनोरंजन के उपकरण और यंत्र संचार-सुविधा के साधन, शक्ति-संचरण, आरामदायक उपकरणों तथा दूरगामी साधनों आदि की उपलब्धि के पीछे इनके निर्माण में लगे श्रमिकों का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। इन्ही साधनों के बल पर दुनिया उन्नति कर रही है, आराम और जीवन के प्रति आस्था की तथा अन्तर्राष्ट्रीयता और सहअस्तित्व की सम्भावना बढ़ रही है। इन महान् उपलब्धियों की रीढ़ श्रमिक को इसका समुचित लाभांश मिलना ही चाहिए और वह उन्हें श्रम-कल्याण के रूप में उपलब्ध कराया जाता है। इसके अतिरिक्त श्रम-कल्याण के पीछे एक बात यह भी निहित है कि प्रायः श्रमिको की स्थिति समाज मे अनेक मामलों में वाधितों की स्थिति सी हुआ करती है। वे सामाजिक रूप से हीन समझे जाते हैं, उनका भरपूर और उन्नत लोगों के समान कुछ भी अंशों में आदर नहीं होता, वे प्रायः नगण्य क्षैशिक स्तर के होते हैं, उनकी मनोदशा उपयुक्त नही कही जा सकती, वे अपने पारि-वारिक जीवन और दायित्वों तथा सामाजिक अपेक्षाओं से विरत होने की स्थिति से गुजरते हैं तथा राष्ट्रीयता, सामूहिकता और सामुदायिकता की भावनाओं से अत्यल्प सम्बन्धित होते है। इसके अलावा वे अपने मन-भावन कार्य प्राप्ति तथा व्यवस्था और उसमें रत रहने में अक्षमता महसूस करते हैं और समाज में उपलब्ध उद्योगगत तथा सरकारी सहा-यताओं का भी पूरा-पूरा लाभ प्रायः नहीं उठा पाते। श्रम-कल्याण कार्यक्रमों के माध्यम

से उनकी इन बाधित अवस्थाओं में मदद से लाभान्वित कराके उन्हें मानवोचित सभ्यता की उपलब्धियों से परिपूरित किया जाता है।

समस्त श्रम-कल्याण कार्यक्रमों के दौरान यह ध्यान रखना बराबर अपेक्षित होता है कि कल्याण के कार्यक्रम तथा कार्यकर्ता श्रमिकों के व्यक्तिगत तथा समष्टिगत हित में नियोजित हों, उनके साथ मिलजुल कर कार्य हो तथा उपलब्धियों में भागीदारी की भावना तथा स्थिति हो; जनतांत्रिक मूल्यों की रक्षा और वृद्धि के साथ-साथ औद्योगिक शक्ति को बल मिले तथा औद्योगिक और वैयक्तिक प्रबन्ध की स्थिति दृढ़तर होती जाय।

भारत में श्रम-कल्याण की दिशा में ठोस कदम उठाने का काम लगभग दो दशकों पूर्व से किया जाने लगा है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने अनेक नियम बनाये हैं और अपनी पंचवर्षीय योजनाओं के दरम्यान श्रमिकों के रोजगार सम्बन्धी प्रशिक्षण तथा सेवा योजन हेतु व्यापक प्रभावकारी कदम उठाये हैं। केन्द्रीय श्रम-संस्थान की स्थापना की गयी है। यह संस्थान उत्पादन और उससे सम्बन्धित श्रम-सुरक्षा के मसलों का अध्ययन करता है। बहुत-से श्रम-कल्याण केन्द्र स्थापित तथा संचालित किये जाते रहे हैं और श्रमिक आवासीय व्यवस्थाओं का सुधार तथा प्रसार किया गया है। व्यापक पैमाने पर श्रमिक शिक्षण की व्यवस्था की जा रही है और आर्थिक सुरक्षा योजनाएँ चालू और विस्ततृत की जा रही हैं। मनोरंजन और सामाजिकता के अनेक कार्यक्रम चलाये जाते हैं। हमारे देश के कोयला खदान के श्रमिकों के लिए १९४४ में देश का सबसे बड़ा कोष कोयला खदान श्रम कल्याण कोष के नाम से स्थापित हुआ। नियमतः हर कोयला उत्पादक को प्रति टन उत्पादन के पीछे थोड़ी भिन्नताओं के साथ समय-समय पर निश्चित की जाने वाली कुछ राशि इस कोष में अंश दान के रूप में देनी पड़ती है तथा इस कोष के प्रबन्ध का कार्य एक ऐसे संगठन द्वारा होता है जिसमे कि कोयला उद्योग से सम्बन्धित श्रमिकों, उद्योगपतियों तथा सरकार के प्रतिनिधि होते है। इस कोष से कोयला खदान के श्रमिकों के लिए चिकित्सा, जन स्वास्थ्य और सफाई, मलेरिया या संक्रामक रोगों की रोकथाम और उन्मूलन, शिक्षा, पानी, मनोरंजन, आश्रित सहायता, उत्सव तथा सहकारी भंडार या ऋणदान आदि की व्यवस्था की जाती है। इसी कोष की सहायता से धनबाद तथा आसनसोल में एक-एक बड़े अस्पताल चल रहे हैं व इसके अतिरिक्त ७ छोटे क्षेत्रीय अस्पताल भी चलाये जाते हैं। बड़े अस्पतालों में २०० से भी अधिक तथा छोटे अस्पतालों में ३० रोगी शैय्याओं की व्यवस्था रही है। हर क्षेत्रीय अस्पताल में एक-एक मातृ-शिशु रक्षा केन्द्र होते हैं। बड़े अस्पतालों में वाह्य चिकित्सा, कैंसर, कोढ़ तथा अन्य समस्त प्रकार के रोगों के उपचार की उन्नत व्यवस्थाएँ हैं और यहाँ रक्त भी संग्रहीत रखा जाता है। इसके अतिरिक्त इसी कोष से और भी अनेक मातृ-शिशु रक्षा-केन्द्रों का संचालन तथा

मालिकों द्वारा संचालित केन्द्रों को सहायता दी जाती है। इसी कोष से उद्योगपतियों को अनेक चल-चिकित्सा इकाइयों, आयुर्वेदिक दवाखानों तथा अन्य दवाखानों के संचालनार्थ मदद दी जाती है। क्षय रोगियों के लिए लगभग ३५० शैय्याओं की व्यवस्था तथा एक हजार से भी अधिक क्षय रोगियों को अलग से चिकित्सा सहायता मुहैय्या किया जाने का कार्य भी इस कोष के धन से होता है। क्षय रोगियों के परिवारों को भी इस कोष से आर्थिक सहायता दी जाती है। इस कोष से परिवार कल्याण नियोजन, मलेरिया उन्मूलन तथा परिवार परामर्श आदि के भी अनेक कार्यक्रम चलते हैं। 'बहु उद्देश्यीय कल्याण संस्थान' के माध्यम से इस कोष का उपयोग अनेक प्रकार के मनोरंजन, शिक्षण तथा सामाजिक क्रिया-कलापों के लिए किया जाता है। इनमें आहार केन्द्र, महिला बाल केन्द्र, प्रौढ़ शिक्षा व्यवस्था, मुफ्त शिक्षण, सिलाई-कढ़ाई, खेलकूद, शिक्षा-यात्रा आदि की सुविधाएँ प्रमुख हैं। कोयला खदान में काम करने वाले कर्मचारियों के बच्चों को बाहर अध्ययन करने पर योग्यतानुसार छात्रवृत्तियाँ भी दी जाती हैं। स्नानागार तथा दिवसशिशुरक्षण केन्द्रों की स्थापना में भी इस कोष का काफी धन लगाया जाता रहा है। इधर श्रमिकों के लिए आवास निर्माण पर इस कोष का काफी धन खर्च किया जाने लगा है। लगभग ४००० से अधिक मकान विभिन्न कोयला खदान क्षेत्रों में इस कोष की सहायता से बनाये जा चुके थे। इस कार्य के लिये मालिक इस कोष से ऋण भी ले सकते हैं। आवासीय सुविधा के विस्तार की एक योजना के अनुसार लगभग ३०० कोयला खानों में १० करोड़ से अधिक की लागत से ३० हजार घर बनाये जाने हैं। इस दिशा में संतोषप्रद गति से काम हो रहा है।

१९४६ में अबरक खदान कल्याण कोष की स्थापना की गयी। इस कोष की स्थापना में भी धन देने और व्यवस्था करने का ढंग कोयला खदान कल्याण कोष की ही भाँति रहा है। अंशदान दर समय-समय पर परिवर्तित होती रही है। यह कार्यक्रम बिहार, आंध्र तथा राजस्थान में प्रारम्भ हुआ। इसके द्वारा भी प्रायः वेही कार्य अबरक खदान के श्रमिकों और कर्मचारियों के लिए किये जाते हैं जो कि कोयला खदान वालों के सम्बन्ध में किये जाते हैं। इस कोष से १५ शय्या का तिसरी मे, १४ शय्या का कालीचेदु में, ७० शय्या का मोकामा (बिहार) मे, ५० शैय्या का क्षय रोगी विभाग संजुटा में तथा राजस्थान में ३० शैय्या का क्षयरोगी अस्पताल चलता है। इस कोष से अनेक बहुउद्देश्यीय संस्थान चलते हैं जहाँ प्रौढ़ शिक्षा, हस्तकला, महिला कल्याण, कढ़ाई-बुनाई आदि की व्यवस्था रहती है। आंध्र प्रदेश में पुरूषों को कालीन का काम सिखाने का सामुदायिक केन्द्र है। विभिन्न राज्यों में अनेक बुनियादी या प्राम्भिक विद्यालय इस कोष की सहायता से चलते हैं और कई सामुदायिक कल्याण कार्य भी चलाये जाते हैं। आहार और उच्च शिक्षा के लिए वृत्ति की भी व्यवस्था की जाती है। खदान के श्रमिकों की विधवाओं और

बच्चों को आर्थिक सहायता दी जाती है तथा मनोरंजन और पानी आदि की भी व्यवस्था में इस धन का उपयोग होता है। आवासीय सुविधा के विकास में भी इस धन का आंशिक उपयोग किये जाने की व्यवस्था है किन्तु इस कार्य के लिए मालिकों का अंश-दान इस कोष की राशि से कम नहीं होना चाहिए।

स्वास्थ्य बीमा योजना के लागू होने से औद्योगिक संस्थानों में काम करने वाले चार सौ रुपये प्रति माह तक पाने वाले कर्मचारियों को काफी राहत और सुविधा मिली है। कर्मचारी क्षतिपूर्ति योजना के द्वारा उद्योग से सम्बन्धित दुर्घटनाओं के फलस्वरूप होने वाली शारीरिक–मानसिक क्षति की स्थिति में विभिन्न दरों पर कर्मचारियों को मालिकों द्वारा नकद धन दिया जाता है। प्रजनन के पूर्व और बाद में निश्चित अवधि तक स्त्रियों को आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था मातृ-लाभ नियम द्वारा की गयी है। राज्य कर्मचारी बीमा योजना की शुरूआत से श्रमिकों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में बड़े पैमाने पर सुरक्षा का काम सम्भव हो सका है। इसके अन्तर्गत कर्मचारियों को नकद धन, दवा और चिकित्सकीय सुविधाएँ मिलती हैं। काम करते समय या अन्य समय चोट या दुर्घटना होने पर, बीमार होने पर तथा मातृत्व की हालत में श्रमिकों तथा कर्मचारियों या उनके परिवारों को इस योजना के अन्तर्गत स्थापित अस्पतालों, दवाखानों तथा चिकित्सकों से दवा, परामर्श तथा देखभाल की सुविधाएँ मिलती हैं। इस योजना के संचालन के लिए कर्मचारियों को अपने वेतन का निश्चित अंश देना पड़ता है। इस योजना की व्यवस्था का भार 'राज्य कर्मचारी बीमा निगम' संभालता है। इस योजना से पौन करोड़ से भी अधिक व्यक्ति लाभान्वित हो रहे हैं।

कार्यमुक्त होने अथवा असामयिक मृत्यु होने की दशा में श्रमिक या उसके परिवार की आर्थिक दृष्टि से सहायता करने के लिए कोयला खदान भविष्य कोष, लाभांश योजना तथा कर्मचारी भविष्य कोष की शुरूआत बड़े महत्व की रही है। कोयला खदान भविष्यकोष से लाभ उठाने के हकदार सभी ३०० प्रति माह तक पाने वाले कोयला खदान के कर्मचारियों के लिए भारत भर में यह आवश्यक है कि वह कोयला खदान भविष्य कोष के सदस्य बन जायें। इसके सदस्यों का प्रति माह या हफ्ते की आमदनी का ८ प्रतिशत धन काट कर इस कोष में रख दिया जाता है और इतना अंशदान मालिकों का भी होता है। इसी प्रकार की व्यवस्था अन्य उद्योगों में लागू कर्मचारी भविष्य कोष योजना के अन्तर्गत है। भिन्न दशाओं व भिन्न शर्तों के आधार पर भिन्न राशि इस कोष से श्रमिकों को दी जाती है। कुछ और भी श्रम-कल्याण सम्बन्धी योजनाएँ सरकार के विचारा धीन हैं।

श्रमिकों की आवासीय सुविधा पर ध्यान देते हुए १९४९ में एक योजना सरकार द्वारा

रखी गयी थी। केन्द्रीय सरकार ने इसमें २।३ हिस्सा अपना योगदान कुछ शर्तों के साथ करना मंजूर किया था। यह योजना बहुत सफल नही हुई और १९५२, में प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इसको पुनर्गठित और नियोजित किया गया। अब शर्त कुछ नरम थी और सफलता भी मिली। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक इन सभी योजनाओं अथवा कार्यक्रमों के फलस्वरूप औद्योगिक श्रमिकों के लिए १ लाख घर बन चुके थे और चालीस हजार बन रहे थे। इस योजना में अनेक उद्योगों में विस्तार किया गया और गन्दी बस्तियों की सफाई का काम भी इसमें कुछ हद तक सम्मिलित कर लिया गया। आवासीय समस्या से जूझने के लिए सरकार ने अन्य कई योजनाएँ यथा—निम्न आय-समूह-आवास योजना तथा मध्य-आय-समूह-आवास योजना–आदि तथा बागान श्रमिकों के अलग से गृह निर्माण की योजना बनायी है और उनके अन्तर्गत कार्य किये जा रहे हैं।

अनेक राज्यों ने भी श्रमिक कल्याण के अनेक प्रयत्न किये हैं। इनमें श्रम-कल्याण केन्द्र के कार्य सर्वाधिक महत्त्व के हैं। इन केन्द्रों के संचालन का कार्य मुख्यत: राज्य सरकारों के श्रम मंत्रालय या विभाग अथवा श्रम कल्याण बोर्ड के जरिये होता है। इन केन्द्रों में श्रमिकों तथा उनके परिवारों के लिए मनोरंजन के विविध साधन–यथा—खेल, रेडियो, चलचित्र, पत्र-पत्रिका, वाचनालय; शिक्षा व्यवस्था जैसे—प्रौढ़ या सामाजिक शिक्षा तथा वाचनालय, पुस्तकालय, विद्यालय, श्रमिक शिक्षण; स्वास्थ्यसदन की व्यवस्था —दवाखाना तथा चिकित्सा की उपलब्धि; हस्तकौशल विकास की सुविधाएँ तथा आहार यथा—जलपान, दुग्ध, आदि की व्यवस्थाएँ रहती हैं। इनपर श्रम-कल्याण पर व्यय होने वाली राशि का एक बहुत बड़ा भाग व्यय किया जाता रहा है।

सरकारी प्रयत्नों के अलावा मालिकों और श्रम संगठनों की ओर से अनेक श्रम-कल्याण सम्बन्धी काम किये जाते है। मालिकों द्वारा बहुत से काम तो नियमों के कारण किये गये हैं किन्तु बहुत से कार्य इन्होंने अपनी सद्इच्छा से भी किये हैं। इन कल्याणकारी कार्यों से श्रमिकों का मनोबल बढ़ता है, वे सुखी होते हैं तथा उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है। नियमों के अनिवार्य पालन के अन्तर्गत श्रमिकों के कल्याणार्थ मालिकों द्वारा किये जाने वाले कार्य श्रमिकों के वेतन दर तथा उनके भुगतान, कार्य के घंटे, कार्य की दशाओं, स्वास्थ्य, सफाई तथा सुरक्षा, मनोरंजन तथा शिक्षण, रोजगार, महिलाओं और बच्चों के कार्य तथा देखरेख तथा सवेतन छुट्टी आदि से सम्बन्धित हुआ करते है। नियमों के अन्तर्गत किये जाने वाले मालिकों के इन कार्यों का विस्तार कोयला उद्योग, अबरक खदान उद्योग, लोहा, सीमेण्ट, यंत्र, कपड़ा तथा अन्यान्य सभी प्रकार के उद्योगों में किये जाते हैं। अनेक मालिक संघठन तथा मालिक से इन कानूनी कल्याणकारी कार्यक्रमों के

संचालन का कार्य करते है। कल्याण केन्द्र, व्यायामशाला, खेलकूद, अस्पताल, दवाखाना, बाल पाठशाला तथा प्रौढ़ शिक्षण इत्यादि की व्यवस्थाएँ की जाती है।

श्रम संघठनों द्वारा श्रम-कल्याण के बहुत ही कम कार्य किये गये है और इस दिशा में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका अपेक्षित है। फिर वस्त्र उद्योग श्रमिक संघ, अहमदाबाद ने कतिपय महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। इस संघ द्वारा वाचनालय, सामाजिक और सांस्कृतिक केन्द्र, व्यायामशाला, पाठशाला, आयुर्वेदिक तथा एलोपैथिक दवाखाना तथा छोटा मातृत्व-गृह, आवास तथा सहकारी समिति आदि की व्यवस्था की जाती हैं तथा विस्तारित की जाने वाली है। भारतीय श्रम संघठनों के पास यद्यपि पर्याप्त धन होता है तथा वे दे भी सकते हैं किन्तु दुर्भाग्यवश उनका समुचित उपयोग श्रम कल्याणार्थ अभियोजित कार्यक्रम पर नही किया जाता और अकुशल अहितकारी नेतृत्व के कारण अपने ही धन का उपभोग अपनी भलाई में करने से वे वंचित रह जाते हैं। श्रम संगठनों और श्रमिकों को इस दिशा में सोचना और सक्रिय होना चाहिए। श्रमिकों के उद्योग प्रबन्ध में बढ़ते हाथ के कारण और उनकी नेतृत्व और ज्ञान सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु देश में श्रमिक-शिक्षण योजना का फैलाव बढ़ रहा है और इससे श्रमिकों को लाभ पहुँच रहा है। इसमें शिक्षक और शिक्षार्थी प्राय: श्रमिक ही हुआ करते हैं।

श्रम-कल्याण-अधिकारी

कारखाना अधिनियम तथा खदान अधिनियम के अन्तर्गत एक ऐसी धारा है जिससे प्रतिबद्ध हो कर उन औद्योगिक संस्थानों को जो कि पाँच सौ या उससे अधिक कर्मचारियों को काम पर लगाये हैं, एक श्रम-कल्याण-अधिकारी की नियुक्ति करनी पड़ती है। यदि कर्मचारियों की संख्या ज्यादा होती है तो उनकी निश्चित संख्या पर निश्चित संख्या में श्रम-कल्याणकारी अधिक रखना अनिवार्य होता है। इनकी नियुक्ति तथा वेतन आदि की व्यवस्था मालिक का काम होता है पर इन्हें निकालने के पहिले सरकार की अनुमति लेनी अनिवार्य है। राज्य सरकारें इनसे सम्बन्धित कानून बनाती हैं तथा केन्द्रीय सरकार भी श्रम-कल्याण-अधिकारियों के सम्बन्ध मे कानून बनाती है। श्रम-कल्याण-अधिकारी की हैसियत कम से कम उद्योग के अन्य विभागों के प्रधानों की हैसियत के समान होना अनिवार्य होता है। श्रम-कल्याण-अधिकारी के पद पर सामान्यत: वही व्यक्ति नियुक्त हो सकता है जो कि किसी मान्यताप्राप्त विश्वविद्यालय या संस्था से समाज कार्य, समाज कल्याण तथा श्रम कल्याण में स्नातकोत्तर उपाधि या प्रमाणपत्र उपलब्ध कर चुका है। श्रम-कल्याण-अधिकारी को प्राय:

वैयक्तिक प्रबन्ध, औद्योगिक सम्बन्ध और शक्ति, कल्याण कार्य तथा सामाजिक कार्य-कर्त्ता के कार्य करने पड़ते हैं। अधिकतर राज्यों में श्रम कल्याण अधिकारियों के निम्न-लिखित कार्य हुआ करते है :—

(१) उद्योगों के मालिकों और मजदूरों के बीच सौहार्दपूर्ण स्थिति बनाये रखने की दृष्टि से दोनों पक्षों से सम्बन्ध स्थापित करना तथा विचार विमर्श करना।

(२) मजदूरों के झगड़े को, चाहे वे वैयक्तिक हों या सामूहिक, प्रबन्धकों के ध्यान में इसलिए लाना कि वे उनका शीघ्र कुछ उपचार कर सकें।

(३) श्रमिकों के दृष्टिकोण का अध्ययन तथा मनन करना जिससे कि प्रबन्धकों को श्रम सम्बन्धी नीतियों के निर्माण और उनको श्रमिकों द्वारा समझी जा सकने लायक भाषा में समझाने में मदद की जा सके।

(४) औद्योगिक सम्बन्धों की इस हेतु निगरानी रखना कि प्रबन्धकों और श्रमिकों के बीच सम्भावी विवादों को अपने प्रभाव-प्रयोग से रोक रखा जाय या विवाद हो हो जाने पर सतत् चेष्टा द्वारा उसे शान्त किया जा सके।

(५) श्रमिकों को अवैधानिक हड़ताल करने तथा प्रबन्धको को अवैधानिक तालाबन्दी से रोकने के लिए सलाह देना और सामाजिक कुकृत्यों की रोकथाम में मदद देना।

(६) हड़ताल या ताला बन्दी के दौरान निष्पक्ष रवैया अपनाना तथा शान्तिपूर्ण समझौते में मददगार होना।

(७) प्रबन्धकों को सलाह तथा मदद देना कि वे नियमगत या अन्यान्य व्यवस्थाओं के अन्तर्गत उन अपेक्षाओं को पूरा करें जो कि कारखाना अधिनियम १९४८ के अन्तर्गत वर्णित हैं या उसके हिसाब से बनाये गये कानूनों में वर्णित हैं, कारखाना निरीक्षक से सम्बध स्थापित करना और कर्मचारियों के चिकित्सकीय परीक्षण, स्वास्थ्य सम्बन्धी लेखा-जोखा ,अनुपयुक्त कार्यों की निगरानी, बीमारों की देखरेख, दुर्घटनाओं की रोकथाम, सुरक्षा समितियों के निरीक्षण, विभागों में व्यवस्थित पड़ताल, सुरक्षा शिक्षा, दुर्घटना का अन्वेषण, मातृत्व लाभ तथा क्षतिपूर्त्ति लाभ आदि से सम्बन्धित व्यवस्थाओं का पालन करना।

(८) प्रबन्धकों और कर्मचारियों के सम्बन्धों को उन्नत करना जिससे कि उत्पादन क्षमता बढ़े तथा कार्य-दशाएँ सुधरें और कर्मचारी को अपने कार्य के वातावरण से अपने को एकात्म व समंजित करने में मदद करना।

(९) सहकारी समिति, सुरक्षा तथा कल्याण समिति, कार्य समिति तथा संयुक्त उत्पादन समिति के निर्माण में उत्साहित करना तथा उसमें मदद देना।

(१०) जलपानालय, आवास, आराम, शिशुशिक्षणालय, शौचालय, मूत्रालय, पीने का पानी, रुग्णावकाश तथा सहायता तथा आर्थिक सुविधाओं को प्रदान करने के लिए प्रबन्धको को सलाह तथा सहायता देना।

(११) प्रबंधकों को सवेतन छुट्टी की व्यवस्था में मदद देना तथा कर्मचारियों को इससे सम्बन्धित नियमों को समझाना तथा अन्य प्रकार की छुट्टियों के बारे में समझाना तथा अर्जी देने, अनुपस्थिति तथा उनके बारे में नियमों और तरीकों को समझाना।

(१२) कल्याण सम्बन्धी सुविधाओं यथा—आवासीय सुविधा, खाद्य सामग्री सुविधा, सामाजिक और मनोरंजन की सुविधा, सफाई, शिक्षा तथा व्यक्तिगत परेशानियों में सलाह आदि की सुविधाओं को श्रमिकों के लिए उपलब्ध कराने के लिए प्रबन्धकों को सलाह तथा मदद देना।

(१३) आगन्तुकों, तथा बदली श्रमिकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था और उन्नति प्रशिक्षणार्थियों, निरीक्षकों, सूचनाओं, श्रमिक शिक्षण की सूचना पुस्तिकाओं आदि से सम्बन्धित मामलों में प्रबन्धकों को सलाह देना तथा प्राविधिक संस्थाओं में कर्मचारियों की उपस्थिति को उत्साहित करना।

(१४) ऐसे उपाय सुझाना जिससे कि श्रमिकों का जीवन स्तर ऊँचा उठ सके तथा उनका कल्याण हो सके।

(१५) कारखाने के स्थायी आदेश तथा अन्य नियमों के अन्तर्गत वर्णित उन बातों को, जो कि श्रमिकों के अधिकार व जिम्मेदारियों की है, उनकी सुरक्षा, अनुशासन, कर्त्तव्य तथा कारखाने और श्रमिक के हित से सम्बन्धित हैं, श्रमिकों के ध्यान में लाना।

यद्यपि श्रम-कल्याण अधिकारियों के ऊपर श्रम-कल्याण की व्यापक जिम्मेदारियाँ होती हैं किन्तु प्रायः होता यह है कि उनके द्वारा इन जिम्मेदारियों का निर्वाह बड़ा कठिन बना रहता है। प्रायः कारखाने इनकी नियुक्ति कानूनी तौर पर मजबूर होने के कारण कर लेते हैं और वस्तुतः प्रत्यक्षतः इन्हें कोई ऐसा काम नही करने देते जिससे कि ये एक निष्पक्ष स्थिति में रहते हुए श्रम-कल्याण का महान् कार्य कर सकें। ये मालिकों के पक्ष में रहने को बाध्य हुआ करते हैं और उन्हीं के मन के हिसाब से काम भी करते हैं। इनकी समुचित सुरक्षा व्यवस्था होनी चाहिए। इनसे वैयक्तिक प्रबन्ध के काम न लिए जाने चाहिए–जो कि अब तक मुख्य रूप से होता आया है–वरन् इनको श्रम-कल्याण-कार्यों के लिए ही रखना चाहिए और इनके प्रशिक्षण और ज्ञान को श्रमिकों की मनो-सामाजिक अवरोधक या जटिलताओं की स्थिति में प्रयुक्त करना चाहिए।

अध्याय २२

अपराध-सुधार

अपराधियों के सुधार के सम्बन्ध में कई धारणाएँ हैं। एक धारणा तो है 'अभि-भावक राज' की। इसका मतलब यह है कि सबका माता-पिता राज होता है और वह जिस प्रकार चाहे बच्चों का पालन-पोषण कर सकता है। परन्तु राज खामखाह बच्चों का पालन-पोषण नहीं करता। यह माना जाता है कि कई ऐसी स्थितियाँ हैं जिनमें माता-पिता के पालन-पोषण से बच्चों को निकाल लेना आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए अपराधशील जन-जातियों को लें। अपराधी जनजातियों मे अपराधी प्रवृत्ति होती है और वहाँ बच्चों का पालन-पोषण अपराध के वातावरण में किया जाता है। ऐसे वातावरण में रह कर फिर पीछे उनका कैसे सुधार होगा—यह सोचना बड़ा कठिन है। ऐसी हालत में यह माना जाता है कि अन्ततोगत्वा सबका, व्यक्ति का, सारे समाज का, सारे समुदाय का माता-पिता राज ही है। लोगों मे ऐसी कल्पना धीरे-धीरे आगे बढ़ी। ऐसी स्थिति बढ़ती जा रही है जहाँ लोग माता-पिता के अधिकारों की अपेक्षा राज के अधिकार की ओर अधिक देखते हैं। बहुत सी जन-जातियों में ऐसा होता है कि जब तक कोई आदमी कोई निश्चित अपराध नही कर लेता तबतक उसकी शादी नही होती। उनके लिए अपनी जाति के संस्कारों में ऐसी व्यवस्था है कि उन्हें कुछ अपना कर्त्तव्य दिखलाना आवश्यक रहता है। यदि व्यक्ति ऐसा नही करता तो समाज मे अपने प्रति एक हिंसा की भावना जागृत करता है। ऐसे लोगों के हाथों से यदि पालन-पोषण होता है तो बच्चे कैसे होंगे यह आप समझ सकते हैं। ऐसे माता-पिता के पालन-पोषण से बच्चों को निकाल लेना आवश्यक होता है, यह बात धीरे-धीरे मान ली गयी। अब आप देखेंगे कि यह कल्पना आगे बढ़ती है। बहुत से बीमार माता-पिता होते हैं, उनके यहाँ से बच्चों को निकाल लेना ही आवश्यक नहीं है बल्कि यहाँ तक आवश्यक हो जाता है कि वे बच्चे पैदा ही न करें। कई ऐसी बीमारियाँ होती हैं जिनका असर पूरे वंश पर होता है। कुछ राजाओं में अपने ही खून में न शादी करने की प्रथा है। ऐसी हालत में ऐसे किस्म की बीमारियाँ बढ़ती हैं। ऐसी बीमारी वाले

माता-पिता को बच्चे पैदा ही नही करना चाहिए। आजकल परिवार नियोजन पर जोर है। यद्यपि बहुत से ऐसे लोग भी है जो यह कहते हैं कि परिवार नियोजन नही चलाना चाहिए। ऐसे लोगों का कहना है कि गरीब लोगों की नसबन्दी करायी जाती है और सम्पन्न आदमियों के लिए कुछ नही। बहुत सी ऐसी बाते है जो परिवार नियोजन के खिलाफ कही जा सकती हैं। परन्तु यह सभी लोग जानते हैं कि कुछ अवस्थाएँ ऐसी होती हैं जहाँ परिवार नियोजन करना चाहिए। अपराधों और बीमारियों पर हम ज्यादा बहस नहीं करेंगे। सिर्फ इतना ही कहना है कि बहुत सी ऐसी स्थितियाँ होती हैं जहाँ से जरूरी होता है कि बच्चों को हटा लिया जाय। बहुत से कोढ़ी माता-पिता होते हैं। यहाँ यही कोशिश करनी चाहिए कि उनके बच्चों को उनके यहाँ से हटा लिया जाय। यदि वे इतने विवेकशील या समर्थ नही है कि अपने बच्चों को अपनी बीमारी से बचाने की व्यवस्था कर सकें तो सिवा इसके और कोई रास्ता नही है कि उनके बच्चों को अलग कर लिया जाय। यह आवश्यक होता है कि ऐसी खून की खराबियों से बच्चों को अलग रखा जाय और उनकी शिक्षा-दीक्षा का अलग से प्रबन्ध किया जाय। अब आप देखेंगे कि यह कल्पना और आगे बढ़ती है। यदि माता-पिता स्वस्थ हैं परन्तु उनकी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि वे अपने बच्चों का पालन-पोषण ठीक प्रकार से कर सकें तो ऐसी स्थिति में भी राज्य का यह कर्त्तव्य होता है कि वह उनका प्रबन्ध करे—खास कर हमारे देश में सिर्फ यही नहीं कि बच्चों को अलग कर लिया जाय, वरन् राज्य को माता-पिता के कर्त्तव्यों की भी जिम्मेदारी लेनी होगी। यदि माता-पिता की इतनी आमदनी नही है कि वे अपने बच्चों के पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था कर सकें तो राज्य का कर्त्तव्य है कि उनकी आमदनी को सहायता द्वारा बढ़ाया जाय ताकि वे उनका पालन-पोषण ठीक से कर सकें। यदि वे अपने बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध ठीक से नही कर सकते तो यह राज्य का धर्म है कि इसकी व्यवस्था करे। आजकल ऐसा सोचा जाने लगा है। बहुत सी योजनाएँ जैसे मध्यान्ह भोजन इत्यादि की योजनाएँ चलायी जा रही है। ऐसी स्थिति में सरकार ही परिवार की जगह ले लेती है। मनोवैज्ञानिकों और अपराधशास्त्रियों का कहना है कि बच्चों में प्रतिस्पर्धा की भावना भी बहुत तीव्र होती है। इन्हें अपने माता-पिता का पूर्ण प्यार तथा संरक्षण मिलना आवश्यक है। बहुत से परिवार ऐसे होते हैं जहाँ बच्चे बहुत होते हैं और उनकी आयु में केवल १—२ वर्ष का अन्तर हुआ करता है। ऐसे बच्चे दुधकट्टे बच्चे कहे जाते हैं। एक बच्चा अभी ठीक से बड़ा नहीं हुआ कि तबतक दूसरा बच्चा पैदा हो गया। निश्चय ही ऐसी स्थिति में माता-पिता का ध्यान उस बच्चे से हटकर नवजात शिशु की ओर बँट जाता है। ऐसी स्थिति में उसके अन्दर प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो जाती है और वे एक दूसरे

के दुश्मन हो जाते हैं। राज्य का धर्म है कि वह इसकी भी रोकथाम करे। कहने का मतलब यह है कि बच्चे को उपेक्षित नही होना चाहिए। उसे माता-पिता का बराबर स्नेह तथा संरक्षण मिलना चाहिए। यदि उसके माता-पिता यह नही दे सकते तो पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करना राज्य का धर्म हो जाता है। बाते अब दिन-बदिन आगे बढ़ती जा रही हैं। अपराधशास्त्र में एक नया क्षितिज कायम हुआ है। अपराध तो बच्चे के पालन-पोषण के बाद होता है। जहाँ दो संस्कारों की टक्कर होती है वहाँ अपराध अधिक होते हैं। अपराध इस पर निर्भर करता है कि मनुष्य का पालन-पोषण किस प्रकार होता है। यदि माता-पिता में भेद है,यदि दोनों दो प्रकार की बातें करते हैं तो वहाँ बच्चा किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है, उसकी समझ मे नही आता कि वह किसका कहना माने, उसका विवेक काम नही करता, उसकी नैतिक चेतना का विकास नही होता। ऐसी स्थिति मे वह अपराधी प्रकृति का नही तो और क्या हो सकता है? राज्य को यह देखना चाहिए कि परिवार में माता-पिता में सामंजस्य स्थापित हो। भारत में अधिक तलाक तो नही परन्तु पति-पत्नी में वैमनस्य रहता है। राज्य को बच्चो को ऐसी स्थितियों से बचाना होगा। अत: आप देखेंगे कि राज्य का प्रवेश पारिवारिक मामलों में बढ़ता जा रहा है। अन्ततोगत्वा हर एक का माता-पिता राज्य ही है। एक तो यह धारणा हुई।

एक दूसरी धारणा यह है कि कोई जन्म से पाप ले कर नहीं आया है। बच्चे अपराधी नही पैदा होते बल्कि हो जाते हैं। तरह-तरह के विचार हैं। लोग समझते हैं कि अपराधी समाज के दुश्मन होते हैं और उन्हें दण्ड देना चाहिए। फिर लोगों ने सोचना शुरू किया कि समाज को अपराधियों से बचना चाहिए। उन्हें कही बन्द करके रखा जाना चाहिए। इस प्रकार कारागारों का प्रादुर्भाव हुआ। पहिले जंगली जातियों में कारागार नही हुआ करते थे। दण्ड देने के लिए अपराधियों को धूप मे खड़ा कर दिया जाता था या दण्ड स्वरूप शारीरिक यातना दे दी जाती थी। इसमें बदले की भावना होती थी। परन्तु यह हर जमाने के लिए नही था। अब हमारे समाज मे कारावासों की व्यवस्था है। इसमें निस्सन्देह बहुत पैसा खर्च होता है। इससे यह बात पैदा हुई कि लोगों के इस पैसे को बचाने के लिए सामाजिक प्रतिरक्षा व्यवस्था शुरू की गयी। रक्षा-गृह स्थापित किये गये। उदाहरण के लिए, जैसे पागलों से बदला न लेकर उनसे बचाव किया जाता है उसी प्रकार अपराधियों से बदला न लेकर उनसे बचा जाय। इसके अतिरिक्त अपराधियों के सुधार का सिद्धान्त भी प्रभावी हुआ। सुधार कई प्रकार के हो सकते हैं। दण्ड-व्यवस्था को भी सुधार की संज्ञा दी जा सकती है। परन्तु सुधार में बदले की भावना नहीं होनी चाहिए। इस विचार से प्राण दण्ड का तो कोई औचित्य ही नहीं है। अपराध कोई पूर्व जन्म का फल नहीं होता। कोई जन्म से

अपराध लेकर पैदा नही होता बल्कि वह समाज के अन्दर पल कर अपराध करने लगता है। परिस्थितियाँ भी बहुत कुछ अपराधों का कारण होती है। मनुष्य अपराध अपनी अन्दरूनी प्रवृत्तियों और क्षमताओं के कारण भी करता है तथा उसके लिए समाज भी जिम्मेदार होता है। अपराध को दूर तथा कम करने के लिए व्यक्ति और समाज में सहयोग एवं सम्मिलित प्रयास होना चाहिए। परन्तु हमें मूलतः यही सोचना चाहिए कि हमें व्यक्ति को ही सुधारना है। यदि हम अपराध का उपचार करना चाहते हैं तो व्यक्ति का सुधार करना होगा। आदमी सही-गलत कार्य नही कर सकता जब तक कि उसमें सामाजिक चेतना का विकास नहीं। जहाँ समाज अपराधों के लिए अपने को जिम्मेदार मानने लगता है वहाँ सुधार की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नही होता कि वहाँ व्यक्ति की कोई जिम्मेदारी ही नहीं होती। आर्थिक जिम्मेदारी तो मुख्यतः व्यक्ति की ही होती है। यह सोचना उचित है कि केवल व्यक्ति ही दोषी नही है वरन् समाज भी दोषी है और अपराधों के लिए परिस्थितियाँ भी जिम्मेदार होती हैं। परिस्थितियाँ कई प्रकार की होती है। लोगों की आधुनिक धारणा यह है कि उनमें सुधार करना है। यह सुधार किस प्रकार किया जाय ? यह नही कि दण्ड दिया ही न जाय। दण्ड से भी सुधार होता है। ऐसे भी लोग हैं जो यह समझते हैं कि बच्चो को अपराध के लिए मारने के दण्ड को रोकना गलत है। एक झापड़ लगाये और कहे कि ऐसा न करो। इस सम्बन्ध में मैं स्वर्गीय प्रेमचन्द जी की एक बात बताता हूँ। एक रोज इसी विषय में मेरी उनसे बहस हो रही थी। उन्होंने कहा बहस तो करते हो सो ठीक है, परन्तु सोचो कि यदि कोई बच्चा कुएँ में डूबने वाला है और हम उसके साथ अहिंसा बरतने लगें तो वह डूब सकता है। हमें उसे बचाने के लिए तुरन्त उसके सामने जाकर एक जोर का धक्का देना चाहिए ताकि वह पीछे की ओर गिर जाय और डूबने से बच जाय। रोगी के उपचार के लिए यदि कोई कष्ट देने की जरूरत होती है तो वह उसे दिया जाता है। अपराधी के पुनर्स्थापन की भावना होनी चाहिए। अपराधियों में बहुत से मानसिक रोगी होते हैं। मानसिक रोगियों के मामले में पारिवारिक पालन-पोषण पर जोर बहुत बढ़ जाता है। फ्रायड का कहना है कि मनुष्य के जीवन की रूपरेखा उसके जीवन के प्राम्भिक पाँच वर्षों में बन जाती है। यह एक नयी बात है। इन पाँच वर्षों में उसे जो कुछ बनना है वह बन चुका होता है। इसलिए बच्चों के पालन-पोषण पर प्रारम्भ में बहुत ही ध्यान देना चाहिए जिससे वे भविष्य में मानसिक रोगी बन कर अपराधी बनने से बच सकें। अपराधी को मानसिक बीमार भी कहा जा सकता है। इन मामलों में राज्य को जिम्मेदारी लेनी पड़ती है।

एक अन्य धारणा यह है कि अपराधियों को कहीं बन्द करने की आवश्यकता नहीं है।

आजकल इस ओर बहुत जोर दिया जा रहा है। उदाहरण के लिए जैसे—प्राचीरविहीन कारागार या मुक्त बन्दी शिविर। डा० सम्पूर्णानन्द तथा अन्य के प्रयत्न से स्थापित मुक्त बन्दी शिविर तथा प्राचीरविहीन कारागार से अपराधियों के सुधार का काम हुआ है। गुरमा में सम्पूर्णानन्द शिविर है। वहाँ यदि कोई किसी को कैदी कह देता है तो उसे एक आना जुर्माना देना पड़ता है। सुधार के लिए आत्म-सम्मान की भावना आवश्यक है।

अपराधी मनोविकार के उपचार का एक तरीका मनो-विश्लेषण है। सम्मोहन द्वारा भी उपचार होता है। परन्तु चूँकि इसमें मजबूर करके इलाज किया जाता है इसलिए इसे अच्छा नहीं समझा जाता—इसके अतिरिक्त इसमें आदमी अपना इलाज स्वयं नहीं करता और आदमी इस प्रकार के इलाज से अच्छा नही हो सकता। इलाज के लिए सहयोग की भावना का होना आवश्यक है। बिना सहयोग के अपराधी का सुधार नहीं हो सकता। यदि वह जानता है कि उसके साथ क्या किया जा रहा है तो उसका इलाज पूर्ण होगा। उदाहरणार्थ, जब किसी पागल को विद्युत-प्रघात लगाया जाता है तो इससे उसका मारना-पीटना, उत्पात तथा उत्कट उन्माद तो बन्द हो जाता है परन्तु उसकी आत्मा का हनन हो जाता है। इस प्रकार के इलाज से समाज का चाहे बचाव हो जाय परन्तु रोगी का वांछित उपचार या सुधार नहीं होता। अपराधियों को बन्धन से मुक्त रख कर उनके उपचार के लिए श्रम-शिविर इत्यादि बनाये गये हैं। डा० सम्पूर्णानन्द ने राजस्थान के राज्यपाल की हैसियत से तो यहाँ तक किया कि अपने राज्य के सचिवालय में कई कैदियों को चपरासी बना दिया। कहने का मतलब यह कि जब तक अपराधी में आत्मसम्मान की भावना नहीं होती तब तक उसका मानसिक उपचार या सुधार होना कठिन है। उसका मानसिक उपचार या सुधार तभी हो सकता है जब कि वह आत्म-निर्भर हो और उसमें आत्मसम्मान हो। अपराधियों को बन्धन में रख कर इलाज करने के बजाय आजकल इस बात का जोर है कि न सिर्फ उन्हें बन्धन से मुक्त रख कर इलाज किया जाय वरन् उनसे जो कार्य लिया जाय उसके बदले उन्हें पारिश्रमिक रूप में पैसा भी दिया जाय।

परिवीक्षा व्यवस्था में यह होता है कि अपराधी को किसी परिवीक्षा अधिकारी की देख-रेख में रहना पड़ता है। यदि उसमें कोई सुधार नहीं होता है तो उसे पुनः कारागार भेजना पड़ता है। परन्तु इस दिशा में उत्तरोत्तर विकास हो रहा है और बहुत से परिवीक्षा-गृह तथा पुनर्स्थापन-गृह इत्यादि कायम किये गये हैं। मुक्त बन्दी तथा पूर्व अपराधी जनजातियों के पुनर्स्थापन के लिए बहुत सी बस्तियाँ बसायी गयी हैं। जिन बच्चों का उपचार या पालन किसी मजबूरी वश उनके घरों पर नहीं हो पाता उनके लिए पालन-गृह होते हैं। व्यक्तिगत सम्बन्धस्थापन करने के लिए उन्हें

दूसरे माता-पिता के घरों में रख दिया जाता है और उन्हें इसे अपना बच्चा मान लेने के लिए किन्ही रूपों में कहा जाता है। इन बच्चों के रख-रखाव पर उनका जो अतिरिक्त व्यय होता है वह उन्हें दिया जाता है और वे उन बच्चो का पालन-पोषण अपने बच्चों की भाँति करते हैं। जब बच्चा वयस्क हो जाता है तो उसे हटा लिया जाता है। ऐसे पालन-गृह पश्चिमी देशो में बहुत हैं। यद्यपि हमारे यहाँ प्रत्यक्षत: इसका प्रचलन नही है किन्तु गोद की प्रथा के अन्तर्गत इसका कुछ अंश आ जाता है। अपराधियो को मुक्त करने का खास उद्देश्य यह है कि वे अपनी जिम्मेदारी महसूस करें। उनमें सामाजिक जीवन से प्राप्त विकास की भावना होनी चाहिए। दुश्मनी के जीवन में यह उन्हें नही मिल सकती। उनके लिए साथियों का भी प्रबंध करना पड़ता है। उन्हें बराबरी वालों के साथ बराबरी का स्वतंत्र सामाजिक जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलना चाहिए।

अपराध-सुधार की अनेक धारणाओं को व्यावहारिक रूप देने के लिए अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ की जाती हैं। इन व्यवस्थाओं द्वारा अपराधों की रोकथाम, अपराधियों का सुधार तथा उनके स्वस्थ जीवनयापन तथा पुनर्स्थापन मे बड़ी मदद मिलती है। इनमे सम्बन्धित कानूनों का निर्माण व उनका पालन, कारागार-सुधार, परिवीक्षा, न्यायालय, पुलिस, विभिन्न प्रकार के सुधार तथा पालन-गृहो इत्यादि की व्यवस्थाएँ उल्लेखनीय एवं महत्त्व की हुआ करती है। इनका संक्षिप्त परिचय उपयोगी होगा।

न्यायालय तथा पुलिस

अपराध-नियंत्रण में न्यायालय तथा पुलिस की महत्वपूर्ण भूमिकाएँ हुआ करती हैं। इनके सही ढंग से कर्त्तव्य पालन करने से न्याय की प्रतिष्ठा समाज में ग्राह्य होती है और अपराधी प्रवृत्ति के विकास को धक्का लगता है। अपराध-नियंत्रण के लिए अपराधी की गिरफ्तारी इस क्षेत्र का पहला कदम हुआ करता है। प्रशासकीय विभागों द्वारा अपराधी को विशेष सूचना के जरिये या कभी-कभी वगैर सूचना के भी गिरफ्तार किया जाता है। गिरफ्तारी द्वारा अपराधी को समाज से हटा दिया जाता है और इस प्रकार एक तो उसके अपराधों से बचा जाता है, दूसरे इस प्रकार की व्यवस्था के भय से अन्य लोग भी अपराध करने की भावना से विरत होते हैं। पुलिस गिरफ्तारी करती है, अस्थायी तौर पर अपने अधीन अपराधी या संदिग्ध अपराधी को रखती है, उसे न्यायालय के समक्ष उपस्थित करती है, सरकार की ओर से अपराधियों के खिलाफ मुकद्दमा लड़ती है तथा अनेक प्रकार की एहतियाती कार्रवाइयों द्वारा और मौके पर धर-पकड़ द्वारा अपराध की रोकथाम करती है। न्यायालय व्यक्तियों या सरकारों द्वारा किये गये आवेदनों की जाँच-

पड़ताल करके मुकद्दमें की इजाज़त देते है, उनकी सुनवाई करते हैं; गवाहों, मुद्दई, वकीलों आदि जूरियों से पूछताछ, बयान तथा बहस करके कानूनों की व्याख्या द्वारा न्याय-सम्मत स्थिति उपस्थिति करने का कार्य करते हैं। न्याय द्वारा यह सम्भव हो पाता है कि सही अपराधी को जाना जा सके और न्यायालय उसकी जो सजा उसके अनुकूल घोषित करे उसकी व्यवस्था करके निश्चित प्रकार के अपराध के लिए निश्चित प्रकार के दण्ड-भोग को अपराधी को उपलब्ध कराया जा सके। न्यायालय द्वारा बहुत बार अनेक अपराधियों के रखरखाव या परिवीक्षण या सुधारात्मक दण्ड की व्यवस्था द्वारा भी अप-राधी सुधार में मदद मिलती है । न्यायालय की न्याय प्रक्रिया मे न्यायाधीश, वकील, न्यायिक सलाहकार, पुलिस, वादी-प्रतिवादी तथा न्यायालयो के तमाम कर्मचारियों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है और इन सभी के कार्यकलाप के स्वरूप पर अपराधी और न्याय की स्थिति निर्भर करती है। जब न्यायालय सच्चे अर्थों में न्याय का कार्य कर पाते हैं तभी अपराधों की रोकथाम हो पाती है अन्यथा बहुधा इनमें वृद्धि भी हो जाया करती है, क्योंकि इनके प्रति एक तो सच्चे व्यक्तियों की आस्था नहीं होती, दूसरे चतुर अपराधी गलत तरीकों का उपयोग करके बच जाया करते हैं ।

परिवीक्षा

अपराधी सुधार में परिवीक्षा व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण हाथ है। इस व्यवस्था के अन्त-र्गत ऐसे अपराधियों के सुधार की कोशिश की जाती है जो कि नये अर्थात् प्रथम बार अपराध किये होते हैं तथा यह समझा जाता है कि उनमें सुधार लाया जा सकता है। यह दयापूर्ण न होकर एक सुधारवादी भावना पर आधारित कदम है। इसमें अपराधी को कारागार न भेज कर एक प्रशिक्षित एवं कुशल अधिकारी की देखरेख में छोड़ दिया जाता है। इसमें अपराधी का निरीक्षण और पथ-प्रदर्शन दोनों ही किया जाता है और सुधर जाने पर उसकी सजा समाप्त कर दी जाती है अन्यथा उसे कारागार भेज दिया जाता है। कभी-कभी अपनी शर्तों को तोड़ने के फलस्वरूप परिवीक्षा पर छूटे अपराधियों की पूर्व घोषित सजाएँ बढ़ा दी जाती हैं। इस व्यवस्था के अन्तर्गत अपराधी को प्रत्यक्षतः दण्ड का भोग तो नहीं करना पडता किन्तु उसका भय बराबर बना रहता है। पहले ऐसा हुआ करता था कि न्यायालय अपराधी से आर्थिक जमानत लेकर उसे छोड़ देता था और ज्यों ही अपराधी पुनः असामाजिक व्यवहार करने लगता था, उसे कारावास भेज दिया जाता था। ऐसी अवस्था में कारावास भेजने पर जमानत की हुई आर्थिक राशि भी उसे चुकानी पड़ती थी। प्रायः इस आर्थिक दण्ड के अतिरिक्त भय से वह पुनः अपराधी कृत्य करने से हिचकता था, पर यह पद्धति सर्वथा उचित न थी। बहुत से ऐसे अपराधी होते थे

जो कि आर्थिक जमानत दे सकने की सामर्थ्य नहीं रखते थे, किन्तु आज्ञापालन कर सकते थे, पर उन्हें छोड़ा नहीं जाता था। बाद में इस व्यवस्था में सुधार के फलस्वरूप आधुनिक परिवर्तन की शुरूआत हुई। सर्व प्रथम परिवीक्षा का प्रारम्भ १८७८ में बोस्टन में हुआ--ऐसा माना जाता है। परिवीक्षा को समुचित रूप से सफल बनाने के लिए प्राय: दो प्रकार के अभिकरण जिम्मेदार होते हैं। एक तो न्यायालय दूसरे प्रशासकीय संस्थाएँ। परिवीक्षा-नियंत्रण-कार्य में प्राय: न्यायालय का ही हाथ होता है। कई देशों में यह चलन है कि परिवीक्षा अधिकारी की नियुक्ति केवल न्यायालय ही करें, अन्य किसी विभाग या संस्था को इसका अधिकार नही है। यहाँ इस तर्क से काम लिया जाता है कि इस प्रकार न्यायप्रद नियुक्ति होती है और नाजायज तरीके के राजनीतिक या व्यक्तिगत दबाव से बचाव रहता है। कहीं-कही परिवीक्षा का कार्य न्यायालय तथा प्रशासकीय विभागों से अलग के संगठन द्वारा भी किया जाता है। अपराधियों के लिए परिवीक्षा काल में सामान्यत: निम्नलिखित शर्तें हुआ करती हैं :—

१—यदि परिवीक्षा पर छूटा व्यक्ति परिवीक्षा काल में अपने आचरण को ठीक नहीं बनाये रखेगा तो उसे पूर्व घोषित दण्ड का भोग करना होगा।

२—अच्छे सहवास में रहना होगा।

३—परिवीक्षा काल में किसी नशीले या मादक पदार्थ का सेवन हानिकारक मात्रा में नहीं करना होगा।

४—परिवीक्षा काल में व्यक्ति न तो शादी कर सकता है, न तो तलाक दे सकता है।

५—अनावश्यक या कम आवश्यक चीजों के लिए कर्ज नहीं ले सकता।

६—बिना अनुमति के स्थानान्तरित नहीं हो सकता।

अपराधी को सजा सुना देने के बाद न्यायालय अपना परिवीक्षा सम्बन्धी उत्तर-दायित्व परिवीक्षा अधिकारी को दे देता है। अब परिवीक्षा पर छूटे व्यक्तियों की देखभाल की व्यवस्था लिंग, जाति, धर्म तथा आवासीय इकाई (नगर, गाँव, जिला) के आधार पर की जाती है। आवश्यकता समझी जाने पर कभी-कभी इन्हे एक ही जिले में भी रखा जाता है। प्राय: परिवीक्षा पर छूटी महिलाओं के लिए महिला-परिवीक्षा-अधिकारी रखी जाती हैं। प्राय: एक परिवीक्षा अधिकारी के अन्तर्गत लगभग ५० सेवार्थी रहते हैं। किन्तु यह संख्या राज्य की सम्पन्नता एवं अन्य स्थितियों के अनुसार इससे काफी कम तथा काफी ज्यादा भी हो जाया करती है। परिवीक्षा की सफ-लता के लिए परिवीक्षा अधिकारी को कई गुणों से युक्त होना चाहिए। इन गुणों में से कुछ निम्नलिखित है :—

१—उसे प्रशिक्षित होना चाहिए।

२––उसे कानून व व्यवस्था की विभिन्न शक्तियों से अच्छी प्रकार परिचित होना चाहिए।
३––उसका चरित्र उत्तम तथा व्यक्तित्व संतुलित होना चाहिए।

परिवीक्षा अधिकारी के कई कर्त्तव्य होते हैं। एक कर्त्तव्य तो परिवीक्षा का भोग करने वाले व्यक्ति का निदान है। अपराधी व्यक्ति की समस्त परिस्थितियों का अध्ययन करके उसे उसके कारण और उपचार की खोज करनी पड़ती है। सही निदान का विचार करके उपचारार्थ अनुकूल परिस्थितियों की उपलब्धि में मदद का काम करना (परिवीक्षा भोगने वाले के लिए) पड़ता है। परिवीक्षा अधिकारी का दूसरा कर्त्तव्य है कि वह सेवार्थी के परिवार तथा समुदाय से हितकारी सम्बन्ध बनाये रखे तथा सेवार्थी से सम्बन्ध रखते हुए उसकी देखभाल करे। उसका तीसरा कर्त्तव्य है कि वह सेवार्थी से उसके द्वारा मंजूर की गयी शर्त्तों का पालन कराये तथा इसकी निगरानी रखे और इस सम्बन्ध में नियमित रूप से न्यायालय को प्रतिवेदन दे। इसके अतिरिक्त परिवीक्षा अधिकारी का यह भी कार्य है कि वह परिवीक्षा पर छूटे व्यक्ति की चिकित्सा करे अर्थात् उसकी व्यक्तिगत मनोसामाजिक स्थितियों में परिवर्त्तन लाये, उसमें आत्मसम्मान संचारित करे तथा महत्त्वाकांक्षाओं को संतुलित धरातल प्रदान करे। इस प्रकार हम देखते है कि परिवीक्षा व्यवस्था द्वारा अपराधी सुधार के काफी महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा सकते है और इसलिए यह एक स्तुत्य व्यवस्था है।

पैरोल

यह भी परिवीक्षा की भाँति ही एक सुधारात्मक व्यवस्था है। इसके अन्तर्गत अपराधियों को अपनी सजा का कुछ भाग तो कारावास में बिताना पड़ता है और कुछ उसके बाहर स्वतंत्र वातावरण में। इसमें दण्ड भोग और सुधार दोनों ही की बात रहती है। यह प्रायः प्रशासकीय विभागों द्वारा व्यवस्थित होता है। सजा का फैसला इसमें भी न्यायालय ही करता है। यद्यपि शर्तों पर छोड़ने की विधि तो पुरानी है किन्तु आधुनिक पैरोल में सुधारात्मक तथा चिकित्सकीय दृष्टि होती है जो कि पहिले नहीं हुआ करती थी। आधुनिक पैरोल की शुरूआत १८२० में अंग्रेज अपराधि बस्तियों से मानी जा सकती है। इन बस्तियों में अपराधी व्यक्तियों की देखभाल एवं मार्ग प्रदर्शन का ध्यान रखा गया था। पैरोल के सम्बन्ध में कई प्रकार की परिषदें हुआ करती है। इनमें मुख्यतः दो प्रकार की यथा––विशिष्ट पैरोल परिषद् तथा सामान्य राज्य पैरोल परिषद् हैं। विशिष्ट पैरोल परिषद् एक संस्था तक सीमित हुआ करती है। इसमें प्रायः कारागार अधिकारियों का विशेष हाथ रहता हैं। इन्हीं की राय पर कैदी पैरोल पर छोड़ दिये जाते हैं। ऐसा समझा जाता है कि इस प्रकार के परिषद द्वारा इस व्यवस्था का पर्याप्त लाभ नहीं उठाया जा सकता। सामान्य राज्य पैरोल परिषद् में मासिक वेतन पाने वाले कर्मचारी होते हैं। ये पूर्णतः स्वतंत्र होते हैं। इन पर

किसी का नाजायज दबाव नहीं पड़ता। ये कैदियों की स्थिति को देखते है व अपने निरीक्षण के आधार पर कैदियों को मुक्त कराने का प्रयास करते हैं। पैरोल पर छूटने के लिए प्राय: ये शर्ते हुआ करती हैं—(१) पैरोल काल में बिना सूचना के अपराधी स्थानान्तरण नही करेगा, (२) पैरोलकाल मे जुआ नही खेलेगा, (३) हानिकारक मात्रा में नशीली चीजों का सेवन नही करेगा, (४) अपना रोजगार बिना सूचना के नही छोड़ेगा, (५) न तो शादी करेगा न तलाक देगा, (६) भिक्षावृत्ति नही करेगा, (७) सदाचरण करते हुए अपने परिवार का भरण-पोषण करेगा, (८) अपनी स्थितियों का प्रतिवेदन देगा तथा बिना आज्ञा उधार नही लेगा-इत्यादि। पैरोल पर छोड़े गये लोगों की देखभाल के सम्बन्ध में प्राय: दो प्रकार की बातें कही जाती हैं। एक तो यह कि इसमें सेवार्थी की देखभाल तथा निरीक्षण का ही कार्य मुख्य रूप से किया जाना चाहिए तथा दूसरा यह कि पैरोल में मार्ग-प्रदर्शन का काम ही मुख्यत: किया जाना चाहिए। किन्तु यदि इन दोनों ही प्रकार के कार्यो को समान तरजीह दी जाय तो और अधिक लाभ होता है। पैरोल की व्यवस्था से अप-राधियों के रखरखाव के आर्थिक भार से राज्य तथा संस्थाओं को काफी राहत मिलती है। इसमें व्यक्ति अपनी सर्जनात्मक क्षमताओं का उपयोग कर सकता है। इस प्रकार हम देखते है कि पैरोल व्यवस्था भी अपराध सुधार की एक अत्यन्त अच्छी व्यवस्था है और इसके प्रचलन से अनेक समाज और अपराधी लाभान्वित हो रहे हैं।

बाल-न्यायालय

बालापचारियों को सज़ा न देकर उनके समाज से पुनर्समंजन तथा पुनर्स्थापन की दृष्टि से बाल न्यायालयों के कार्य हुआ करते हैं। इस दृष्टि से कार्य करने के लिए मुख्यत: बाल-न्यायालयों की कार्यवाहियाँ उन बातों या तथ्यों के आधार पर की जाती हैं जो कि उससे सम्बद्ध परिवीक्षा अधिकारी द्वारा दी जाती है। परिवीक्षा अधिकारी बाला-पचारी के बारे में विस्तार से जाँच-पड़ताल करके अपना प्रतिवेदन तथा अपनी संस्तुति बाल न्यायालय में प्रस्तुत करता है। बालापचारी के बारे में वह जो कुछ पता लगाता है वह उसके चरित्र, पूर्व कार्यो, उसकी सामाजिक स्थिति, आर्थिक तथा पारिवारिक स्थिति तथा शक्ति तथा उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व से सम्बन्धित हुआ करती है। इन बातों के लिए उसे बालापचारी के घर से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है और उन लोगों और संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है जो इस विषय में कुछ महत्त्व रखते हैं। कई बार अपने दफ्तर में भी साक्षात्कार करके इन जरूरी बातों का पता लगाया जाता है। बालापचारी के उचित निदान और पुनर्स्थापनार्थ या उपचारर्थ विचार एवं व्यवस्था करने के लिए यह आवश्यक हुआ करता है कि विस्तार में उसके अपराधी आचरण की

प्रकृति और स्थितियों का अध्ययन किया जाय, उसके शारीरिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, मानसिक, आर्थिक, व्यवहार सम्बन्धी तथा पारिवारिक इतिहास की छानबीन तथा प्रभावों का विश्लेषण किया जाय, पहिले के अपराधों की पड़ताल की जाय, यह देखा जाय कि उसका शैक्षणिक क्रिया-कलाप कैसा रहा है, उसकी आवासीय, रोजगार सम्बन्धी तथा नैतिक पर्यावरण और सम्भावनाएँ क्या रही हैं। परिवार की स्थिति जानने के लिए उसके पारिवारिक गठन, उसके सदस्यों की संख्या, भाई-बहनों की सख्या तथा उम्र, माता-पिता के साथ उसके बर्ताव तथा अन्य सदस्यों के साथ उनके तथा उसके साथ अन्य सदस्यो के बर्ताव आदि के बारे में जानना आवश्यक होता है। शारीरिक स्थितियों के बारे में जानने के लिए उसकी शारीरिक रचना, उसकी बीमारियों, उनके इलाज तथा प्रभाव आदि को जानना जरूरी होता है। मानसिक स्थिति के लिए उसके व्यवहारों का सूक्ष्म अध्ययन और निरीक्षण करना होता है। व्यक्तित्व की जानकारी के लिए उसके धर्म, उसकी आकांक्षाओं तथा मनोरंजन सम्बन्धी तथा अन्यान्य प्रकार की गतिविधियों में उसकी रुचि आदि का भी सूक्ष्म और गहन अध्ययन करना पड़ता है। व्यक्तित्व की सही-सही स्थिति की जानकारी के लिए कभी-कभी मनोवैज्ञानिक तथा अन्यान्य प्रकार के परीक्षण भी कराने पडते हैं। अपने कार्य को भलीभाँति करने के लिए बाल-न्यायालय के परिवीक्षा अधिकारी को बहुत ही सतर्कता और लगन से कार्य करना पड़ता है। प्रायः देखा जाता है कि एक तो बालापचारी अनेक विधियों से चकमा देकर या गलत सूचनाओं के द्वारा या तो परिवीक्षा अधिकारी से मिलने से कतराते हैं या उन्हें भ्रम में डालने की चेष्टाएँ किया करते है और बालापचारी से सम्बन्धित आवश्यक सूचनादाता भी इस कार्य में असहयोग और उदासी दिखाते है। बहुत से माता-पिता तो अपने बच्चे को अपराधी के विशेषण से बचाने के लिए अनेक गलत या असामाजिक उपाय भी अपनाते है और हर सम्भव कोशिश करते है कि यही सिद्ध हो कि उनका बच्चा अपचारी नही है और गलती से पकड़ लिया गया है तथा उसके बारे में ऐसे तथ्य भ्रमपूर्ण या गलत ढंग से उपस्थित करते हैं जिनसे उनकी बात की पुष्टि हो। अनेक बार ऐसा भी होता है कि बालापचारी अनेक ऐसी उद्दण्डता के कृत्य करते है जिनसे कि परिवीक्षा अधिकारी को शारीरिक क्षति या कष्ट भी उठाने पड़ते है। बहुत से बच्चे तो अपनी मानसिक या शारीरिक अक्षमताओं के कारण समुचित तथ्य बतलाने में भी असमर्थ हुआ करते है। इन अवस्थाओं के अतिरिक्त उन बच्चों के बारे में जो कि अनाथ हैं, निराश्रित हैं अथवा भूले-भटके है, तथ्य प्राप्ति में बड़ी कठिनाई हुआ करती है। अपने कार्य के भली प्रकार सम्पादनार्थ परिवीक्षा अधिकारी को व्यवहार शास्त्र का ज्ञान रखना, बालापचारियों और उनके परिवार या सम्बन्धित लोगों से व्यवहार का सन्तुलित निर्वाह करना तथा व्यक्तित्व और मानव व्यवहार को पकड़ रखना अत्यावश्यक हुआ करता

है। परिवीक्षा अधिकारी को यह जानना उपयोगी होता है कि निश्चित समाज में बाला-परचारियों को रखने, उनके उपचार तथा पुनर्स्थापन की कौन-कौन-सी संस्थाएँ हैं तथा उनकी कार्यविधि, रीति तथा सम्भावनाएँ क्या हैं? बाल न्यायालयों की सुनवाइयों में अधिक बल इस बात पर दिया जाता है कि अपराध के क्या कारण रहे हैं और अपराधी सुधार की या पुनर्स्थापन की क्या सम्भावनाएँ है? इस प्रकार अपराधी सुधार पर ज्यादा ध्यान दिया जाता है न कि दण्ड पर। न्यायिक प्रक्रिया की कानूनी पेचीदगियों से बचने की भरपूर चेष्टा की जाती है और यह कोशिश रहती है कि काफी स्वतंत्रता और संतुष्टि की सम्भावना के वातावरण में अपराधी, उनके अभिभावक तथा परिवीक्षा अधिकारी अपनी स्थितियों और बातों को न्यायालय के समक्ष रख सकें। बहुत से छोटे-मोटे मामलों में तो कोई सुनवाई भी नहीं की जाती और न तो उसका कोई लेखा-जोखा रखा जाता है अथवा कोई आवेदन इत्यादि ही किया जाता है। छोटे मामलों को परिवीक्षा अधिकारी, किसी सम्माननीय न्यायाधीश द्वारा नियुक्त व्यक्ति, पुलिस विभाग या बालापचारी संगठनों के सुपुर्द कर दिया जाता है। आमतौर पर इस बात को अच्छा माना जाता है कि इस प्रकार की सुनवाइयाँ गुप्त रखी जायँ और आम जनता इनके बारे में न जान सके। इसके द्वारा यह सम्भव होता है कि अपराधी को अधिक सम्मानपूर्ण स्थिति सुलभ हो, वह अपनी बात को खुल कर कह सके तथा अन्य चर्चा से बचाव हो। यह कोशिश की जाती रही है कि बाल न्यायालयों में जो अपचारियों के मामले आये हों उनको उस अपचारी के जीवन के अपचार-पूर्ण कृत्यों के लेखे-जोखे से अलग रखा जाय तथा यह व्यवस्था की जाय कि वे उनके भविष्य के नागरिक जीवन में किसी प्रकार कुप्रभावकारी न होने पायें। यहाँ के निर्णय आवश्यकताओं के हिसाब से बदले भी जाते हैं और यह कोशिश की जाती रहती है कि वे व्यवस्थाएँ जो कि बालापचारी सुधारार्थ की जाती हैं—उसके अधिकाधिक हितार्थ हों। बाल-न्याया-लयों में प्रायः उन अपचारी बच्चों के मामले जाते हैं जो कि विभिन्न देशों में या राज्यों में थोड़ी भिन्न आयु सीमा के साथ, सात वर्ष से १८ वर्ष के बीच के हुआ करते हैं। बाल-न्याया-लयों द्वारा किये जाने वाले निर्णय कई प्रकार के हुआ करते है। किसी न्यायाधीश की देखरेख में बालापचारी को उसके माता-पिताके निरीक्षण में उसके स्वयं के ही घरमें रखने, बालापचारी को परिवीक्षा पर रखने, अपने घर से हटा कर किसी सम्बन्धित संस्था में या अपने अधीन रखने, बालापचारी की शारीरिक या मानसिक जाँच से सम्बन्धित या इस हेतु किसी अस्पताल में उपयुक्त स्थान पर रखने, किसी सामाजिक संस्था या सम्बन्धित संस्था या विद्यालय के संरक्षणत्व में रखने तथा अपचारी द्वारा की गयी क्षति की पूर्ति करने आदि के अनेक प्रमुख ऐसे संदर्भ हुआ करते है जिनमें कि बाल-न्याया-लयों के न्यायाधीश निर्णय करने के हकदार तथा जिम्मेदार हुआ करते हैं। बाल-न्याया-

लयों की व्यवस्था से बालापचार की रोकथाम तथा बालापचारियों के भविष्य में अपचारी बनने की सम्भावना की न्यूनता होने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान मिला है तथा मिल रहा है। इसके व्यापक प्रचार तथा प्रसार की हर समाज को आज अपेक्षा है। बाल न्यायालय के कार्यो के गठन, उनके कर्मचारियों के प्रशिक्षण तथा बालापचारी और उनके हितार्थ प्रयुक्त न्यायालय के कार्यो के सम्बन्ध में अनुसंधानों को भरपूर प्रोत्साहन मिलना चाहिए जिससे अभीष्ट की प्राप्ति में निश्चित रूप से अधिकाधिक कामयाबी हासिल हो सके।

नजरबन्दी-गृह

बहुत से अपचारी या अपचार की ओर उन्मुख हो सकने वाले बच्चों को अस्थायी तौर पर अलग आवासीय सुविधाएँ दी जाती हैं। जिन आवासगृहों में ऐसे बच्चे रखे जाते है उन्हें नजरबन्दी-गृह या बालापचारी-आवास की संज्ञा दी जाती है। ऐसे अस्थायी आवास के दौरान कोशिश की जाती है कि बच्चों को भरपूर शारीरिक और आवासीय सुविधाएँ उपलब्ध हों। इसके अलावा उन्हें मनोरंजन के अनेक साधन और सामग्रियाँ उपलब्ध करायी जाती हैं जिससे कि वे अपना मनबहलाव कर सकें तथा अपचारी आचरण से विमुख हो सकने में मदद पा सकें। स्वास्थ्य रक्षा हेतु दवाओं और चिकित्सकीय सुविधाएँ दी जाती हैं। विविध प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों एवं उत्सवों आदि को मनाने के लिए उन्हें पूरा-पूरा मौका दिया जाता है। इन आवासों में रहने वाले बच्चों को उनकी उम्रगत जरूरतों तथा आवास-काल की प्रकृति के मुताबिक ऐसी व्यवस्थाएँ की जाती हैं जोकि उनको अधिकाधिक सुखकारी हों और वे यह कम-से-कम महसूस कर पायें कि उन्हें दैनिक कृत्यों में कोई कठिनाई हो रही है। पूरे गृह व उसके कर्मचारियों तथा व्यवस्थाओं का ऐसा संगठन किया जाता है कि बच्चों के लिए भयमुक्त तथा मानसिक दाब से मुक्त वातावरण का निर्माण हो सके और आवासी बच्चे प्रसन्नता महसूस करें। इन स्थितियों को लाने के लिए कुशल प्रशासक, सामाजिक कार्यकर्त्ता, मनोवैज्ञानिकों, अध्यापक तथा भृत्यों की नियुक्ति अपेक्षित हुआ करती है। बहुत ही उन्नत किस्म की ऐसी आवासीय संस्थाओं में वैयक्तिक कार्यकर्त्ता, सामूहिक कार्यकर्त्ता तथा निरीक्षकों इत्यादि की भी जरूरत होती है। इस आवास में बच्चों के व्यवहार, उनकी क्षमताओं तथा सम्भावनाओं का अध्ययन किया जाता है और आगे समुचित उपचारात्मक तथा पुनर्स्थापनार्थ व्यवस्था करने के लिए सम्बन्धित संस्थाओं या परिवारों को बताया जाता है। इन आवासों के कार्यकर्त्ता के साथ सौहार्द तथा इस भावना के कारण कि वे अपचारी बच्चों के शुभ-चिन्तक हैं—यह सरल होता है कि उनका प्रारम्भिक उपचार भी यहीं प्रारम्भ कर दिया

जाय। यहाँ लाये जाने या अपचारी ठहराये जाने के उपरान्त बच्चो मे उत्तेजनात्मकता या उपद्रवी व्यवहार तथा प्रतिरक्षात्मक भावना और रुचि का विकास प्रायः हो जाया करता है। इस स्थिति का सामना करने के लिए उनके साथ अत्यधिक कुशलता से पेश आने की जरूरत हुआ करती है। इनके साथ काम करने वाले व्यक्तियों को मानव व्यवहार विज्ञान का अच्छा ज्ञान रखना चाहिए तथा अपचारी बाल मनोविज्ञान के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव से युक्त होना चाहिए। उन्हे समुचित प्रशिक्षण प्राप्त किये होना चाहिए।

अपचारी या सम्भाव्य अपचारी बच्चों के ऐसे आवास गृहों की व्यवस्थाएँ अनेक प्रकार के संगठनों द्वारा होती है। कही इनकी व्यवस्था बाल-न्यायालय करते है तो कही स्वैच्छिक कल्याणकारी अभिकरण। कही-कही सरकार के स्थानीय कल्याण विभागों या राज्य कल्याण विभागों तथा जनपदीय अधिकारियो के द्वारा भी इस प्रकार की व्यवस्थाओं के करने का भार वहन किया जाता है। प्रायः इन संस्थाओं को कुछ दिक्कतों का भी सामना करना पड़ता हैं। चूँकि यहाँ बच्चे बहुत थोड़े दिनों के लिए रखे जाते हैं—उनकी समुचित शारीरिक, शैक्षणिक, मनोरंजक, मानसिक, आध्यात्मिक, धार्मिक तथा अन्यान्य व्यवस्थाओं को करने और उनको बच्चों के लिए अधिकाधिक हितकारी ढंग पर मुहैय्या करने में उदासीनता होनी सम्भव हुआ करती है। लोग सोचते हैं कि उन्हें तो यहाँ से जल्दी ही चले जाना है, उनके बारे में अधिक चिंता की क्या जरूरत है? जहाँ उन्हें लम्बे अर्से तक रहना है वहाँ ही जो ध्यान दिया जायेगा ज्यादा उपयोगी या प्रभावकारी होगा। इस प्रकार की भावना अच्छी नही हुआ करती और इसकी उपस्थिति से इन आवासीय गृहों से की जाने वाली अपेक्षाओं को धक्का लगता है। यद्यपि सामान्यतः इन गृहों में बच्चों को चन्द दिनों के लिए रखा जाता है और यह आवासीय व्यवस्था अन्तरिम आवासीय व्यवस्था समझी जाती है किन्तु कभी-कभी कई ऐसे बच्चे भी होते है जिन्हें कि लम्बे अर्से तक रखना जरूरी हो जाया करता है। जब यह समझा जाता है कि अपचारी बच्चे के सम्बन्ध में न्यायालय में विचार करने में ज्यादा दिन लग सकते है या उसको किसी अन्य संस्था के सुपुर्द करने में लम्बी अवधि तक प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है या यह जरूरी समझा जाता है कि इन्हीं गृहों में रख कर ही न्याय सम्बन्धी या उनके बारे मे व्यवस्था सम्बन्धी मामलों पर विचार करना तथा उनमें उनकी अनेक भाँति हिस्सेदारी सम्भव हो सकती है तो ऐसी हालतों में उन्हें नजरबन्दी-गृहों में लम्बे अर्से तक रखा जाता है। उन बच्चों को भी ज्यादा दिन रखना पड़ सकता है जो कि ऐसे है कि अपने परिवार या अभिभावकों के साथ या पालनगृह-स्वामियों के साथ यहाँ से छूटने के बाद रह सकने में अपनी जटिल मानसिक, शारीरिक या आवेगात्मक जरूरतों के कारण दिक्कत या असम्भावना रखते हों

और यह सम्भव हो कि यदि उनको कथित स्थितियों में रहने को भेज दिया जाय तो वे पुनः अपचारी कृत्य कर सकते हों। प्रायः अनेक अपचारी बच्चे व्यक्तित्व सम्बन्धी ऐसी दशाओं से ग्रस्त होते है जिनके कारण वे अस्त्र-शस्त्र से सज्जित होकर डकैती या चोरी करने को उद्यत होते है, काम प्रेरित असामाजिक भद्दे कृत्य करने की सम्भावना रखते हैं तथा कोई-कोई अन्य किस्म के गंभीर निन्दनीय कार्य कर सकते हैं। इनको भी परिवारों या समुदाय में रहने देना हानिकारक हुआ करता है और इस कारण इन्हें भी नजरबन्दी गृहों में ज्यादा दिनों तक रखने की कोशिश की जाती है। अनाथ तथा निराश्रित और हानिकारक पारिवारिक तथा भौतिक वातावरण में रहने वाले बच्चों को भी अपचारी अभिरुचि को विकसित करने से रोकने की दृष्टि से इन आवासीय संस्थाओं में रखा जाता है। ऐसा हो सकता है कि यदि इन्हें यह लम्बी आवासीय सुविधा न दी जाय तो इनका भौतिक और आध्यात्मिक पतन हो जाय। अच्छे नजरबन्दी-गृहों में लिंगभेद, अपचार भेद, क्षमताभेद तथा सामाजिक-धार्मिक स्थिति भेद आदि के आधार पर इन्हे अलग-अलग श्रेणियों में रखने की व्यवस्थाएँ की जाती है। ऐसी व्यवस्था से उनको मानसिक संतुलन तथा समुचित समंजन में मदद मिलती है तथा उनके लिए दिन बिताने के लिए स्वास्थ्यप्रद वातावरण की उपलब्धि होती है तथा अधिकारियों और कार्यकर्त्ताओं को इनकी व्यवस्था तथा कार्यक्रम-संचालन में भी मदद मिलती है।

प्रायः नजरबन्दी गृहों में रखे जाने वाले बच्चे निम्नलिखित स्थितियों के बच्चे हुआ करते है :—

(१) बाल-न्यायालय में ले जाये जाने की जरूरत रखने वाले।

(२) बाल-न्यायालय के निर्णय के बाद किसी प्रशिक्षण विद्यालय या अन्य संस्था में भेजे जाने वाले।

(३) संस्थाओं में स्थानान्तरण के बीच कही अल्पकालिक रूप से रखे जाने की जरूरत वाले।

(४) ऐसे बच्चे जिन्हें कि अस्थायी या थोड़े दिन के लिए परिवार या अपने स्वाभाविक आवास से अलग रखने की जरूरत हो।

(५) वे बच्चे जोकि पालक परिवारों या बाल संस्थाओं से भाग जाया करते है।

(६) जिन्हें कि विशेष संरक्षक की जरूरत हो—जो कि तिरस्कृत, उपेक्षित, या पराश्रयी, अनाथ और बेदेखरेख के हों।

(७) खोये हुए हों और थोड़ी देर या कुछ दिनों तक जिन्हें सुरक्षित रखने की जरूरत हो ताकि खोजबीन के मौके के दरम्यान उन्हें ठीक से रखा जा सके और खोजबीन के उपरान्त अभिभावकों को सुपुर्द किया जा सके।

(८) भागने की गहरी आदत के शिकार-जो कि जहाँ उन्हें रहना चाहिए नही टिकते और भाग-भाग आया करते हैं।

(९) वे बच्चे जोकि मानसिक विकृतियों के कारण अपराध करने को तत्पर रहते हैं या सम्भव होता है कि वे तुरन्त अपराध करें।

इन सभी स्थितियों के बच्चों को अलग-अलग नजरबन्दी-गृह अपने-अपने नियमों और अपनी क्षमताओं के आधार पर रखने की व्यवस्था तथा सुविधा प्रदान कर सकते हैं। ऐसी जो संस्था जिस स्थिति के बच्चे को रखती है वह उसकी भरपूर जिम्मेदारी लेती है और कानूनी तौर पर प्राय: ऐसी व्यवस्थाएँ होती हैं कि इनमें रहने वाले बच्चों का अच्छा रखरखाव हो। बालापचारियों के रखरखाव तथा उपचारार्थ अन्य अनेक प्रकार की संस्थाएँ भी होती हैं जहाँ कि आवासीय सुविधाएँ भी प्राप्त रहती हैं। इन संस्थाओं में अक्षम व्यक्ति संस्था, स्वीकृत-प्रमाणित-विद्यालय, स्वीकृत आवासालय, स्वीकृत गृह तथा प्रशिक्षण विद्यालय आदि उल्लेखनीय हैं। जिन बच्चों के घर नहीं हुआ करते उन्हें न्यायालय या अन्य कोई व्यक्ति उपयुक्त संस्था में रखवा सकता है। जो रखवायेगा उसे उसका खर्चा वहन करना पड़ेगा। जो बच्चे ऐसी दशा के हैं जिनकी व्यवस्था परिवीक्षा द्वारा नही की जा सकती तथा सामंजस्य स्थापन में जो बड़ी कठिनाई महसूस करते हैं उन्हें स्वीकृत प्रमाणित विद्यालय में रखवाया जा सकता है। यहाँ बच्चों को रोजगार सिखाया जाता है तथा उनके साथ खुल कर बातचीत द्वारा उनका उपचार करने की कोशिश की जाती है। पूरी कोशिश की जाती है कि वे अधिक से अधिक सम्मानपूर्ण और स्वतंत्र दृष्टि की भावना से परिपूरित हों। विशेष प्रकार के पाठ्यक्रम तथा प्रशिक्षण की सुविधाएँ मुहैय्या करके विशेष सुविधाएँ और मानसिक विकास की गुंजाइश की जाती है। कई मामलों में ये विद्यालय भी अन्य संस्थाओं के समान ही अन्य सुविधाएँ देते हैं। यहाँ के बच्चों को बाहरी समुदायों से भी सम्बंध स्थापन का मौका विशेष निरीक्षण में दिया जाता है। इस प्रकार के विद्यालयों को ही कहीं-कही प्रशिक्षण विद्यालय तथा सुधारविद्यालय या औद्योगिक विद्यालय भी कहा जाता है। इन विद्यालयों में भेजने की सलाह बाल-न्यायालयों से प्राप्त होती है। यहाँ कभी-कभी २०-२१ वर्ष तक के वयस्क अपराधी भी रखे जाते हैं और उन सबके रखने के विशेष आधार हुआ करते हैं। अपराधियों का वैज्ञानिक ढंग से वर्गीकरण किया जाता है और इस प्रकार से श्रेणियों में रखा जाता है कि उनकी भरपूर देखभाल भी हो सके और संस्था को कार्य करने में भी आसानी हो। ये विद्यालय कई प्रकार के हो सकते हैं। कुछ तो व्यापक तौर पर उपचार का कार्य करते हैं अर्थात् सभी अपराधियों के साथ एक से कार्यक्रम बनाते हैं। इस तरह की व्यवस्था में ह्रास हो रहा है। कहीं-कहीं शारीरिक यातनाओं या श्रम के कार्यक्रम चलाये जाते हैं। कुछ विद्यालयों

में आवास और भौतिक सुविधा से अधिक मुख्यतः सुधार पर बल दिया जाता है। कहीं-कहीं यह माना जाता है कि समुदाय तथा परिवार को अपराध प्रवृत्ति के बच्चों से छुटकारा देने के लिए ही ये विद्यालय हैं। इस ध्येय के विद्यालय समझते हैं कि इन बच्चों को उनकी मनपसन्दगी के विपरीत भी कुछ शैक्षणिक तथा व्यावसायिक शिक्षण प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। किन्तु उन्नत किस्म के ऐसे बच्चों के विद्यालयों में उनके शैक्षणिक, प्रशिक्षणात्मक, आध्यात्मिक, नैतिक, स्वास्थ्य तथा शरीर सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं की तृप्ति और तुष्टि की चेष्टा की जाती है और ऐसे कार्यक्रमों को संचालित किया जाता है जिनसे कि उनकी विघटनकारी शक्तियों का दमन तथा विधायी क्षमताओं का भरपूर विकास हो सके। अनेक सामूहिक क्रिया-कलाप में बच्चे भाग लेकर अपनी सामूहिक भावना को जागृत तथा तृप्त करते है और नियमों के अन्तर्गत रहते हुए अच्छी नागरिकता की शिक्षा ग्रहण करते हैं। उनको ऐसा बनाया जाता है जिससे वे यहाँ से लौटने पर समाज के एक हितकारी तथा उपयोगी उत्तरदायी नागरिक बन सकें। 'स्वीकृत आवासालयों' में ऐसे बच्चे रखे जाते हैं जो कि विद्यालय छोड़ चुके हुए होते हैं। इन आवासालयों का संचालन प्रायः स्वैच्छिक संस्थाएँ करती हैं और इनकी व्यवस्था के लिए सरकार से सहायता प्राप्त करती हैं। सरकार बीच-बीच में इनकी जाँच-पड़ताल करके आवश्यक सुझाव आदि दिया करती है। यहाँ बच्चों को निरीक्षकों के मातहत रखा जाता है और उनमें समंजन की शक्ति बढ़ायी जाती है तथा उन्हें सामूहिक जीवन के योग्य बनाने की चेष्टाएँ की जाती हैं। स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा ही प्रायः स्वीकृत गृहों का भी संचालन होता है। यहाँ ज्यादा कठिन बच्चों के उपचार तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था होती है। जीवन यापन के उत्तम किस्म के आचरण तथा व्यवहार पर यहाँ विशेष बल दिया जाता है। इन संस्थाओं को भी सरकारी सहायताएँ मिल सकती हैं। बोर्स्टल विधि से संचालित संस्थाओं का भी अपराधियों के उपचार में महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। इस प्रकार की संस्थाएँ प्रायः ऐसे वयस्क अपराधियों के लिए होती हैं जिनकी कि आयु प्रायः १५ वर्ष से ऊपर तथा २१ वर्ष से नीचे की हुआ करती है। इन संस्थाओं में रहने वाले भी प्रायः ऐसे होते हैं जो कि साधारण समाज या परिवार की स्थितियों में रहने में कठिनाई महसूस करते हैं या उनसे समंजन की असम्भावना रखते हैं तथा अपराधी प्रवृत्ति की ओर झुकाव रखते हैं। यहाँ प्रायः इन्हें २ से ३ वर्षों तक रखने की व्यवस्था की जाती है। अन्य सुविधाओं के अतिरिक्त यहाँ अपराधियों या सम्भावी अपराधियों को वृत्तिगत प्रशिक्षण दिया जाता है और इनके दौरान वे जो कुछ उत्पादन का कार्य करते हैं उसके एवज में उन्हें कुछ पारिश्रमिक भी दिया जाता है। यहाँ रहने वालों को साल में कुछ दिनों की छुट्टी भी दी जाती है।

अनेक देशों मे इस प्रकार की बालापचारी संस्थाओं को अपने कार्य को समुचित रूप से चलाने में कतिपय दिक्कतें भी रहा करती हैं। इन दिक्कतो में मुख्य निम्नलिखित हैं :—

(१) बहुत सी संस्थाएँ सामान्य नागरिकों के समुदायों से दूर या पूर्णतः अलग होती है और सामुदायिक जीवन के शिक्षण में कठिनाई महसूस करती हैं।
(२) अपेक्षित संख्या में सुविधापूर्वक प्रशिक्षित और कुशल व्यक्ति उपलब्ध नही होते।
(३) बहुत सी संस्थाओं के पास समुचित आर्थिक सुविधाएँ नही होती।
(४) सरकारें भरपूर सहयोग नही करती।
(५) विभिन्न संस्थाओं में सहयोग नही होता।
(६) नियमों की जटिलता के कारण उनसे पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता।
(७) जनता का सहयोग तथा उत्साह शिथिल होता है।

कारागार सुधार

बड़े पैमाने पर अपराधियों को अनेक प्रकार के कारागारों में रखा जाता है। कारागार में रहने वालों की सजा की अवधि भी प्रायः काफी लम्बी या ऐसी हुआ करती है जोकि अपराधियों के जीवन पर महत्त्वपूर्ण असर रखती है। इस अवधि में ऐसी व्यवस्थाएँ होनी चाहिए जिससे कि अपराधियों में सुधार की गुंजाइश बढ़े। आज कारागारों का उद्देश्य मुख्यतः सुधारात्मक है, न कि प्रतिरोधात्मक या प्रतिशोधात्मक। आज माना जाने लगा है कि कारागारों का उद्देश्य अपराधी को पूर्णरूपेण सुधारना, उसे इस योग्य बना देना कि वह कारागार के बाद सामान्य जीवन बिता सकने में पूर्ण समर्थ हो तथा उसका मनोवैज्ञानिक तथा पर्यावरण सम्बन्धी सुधार करना हो गया है। आज समाज कारागारों से अपेक्षा करता है कि वह व्यक्ति को सामान्य सामाजिक जीवन यापन करने में पूर्ण समर्थ और स्वस्थ करके उसे समाज में भेज देगा जिससे कि उसकी वे त्रुटियाँ न्यून होंगी जिनके कारण उसने अपराध किया था और इस प्रकार अपराधी आचरण संख्या में भी कमी आयेगी। यदि उन कारणों या कमियों को दूर नही किया जाता जिनके कारण व्यक्ति कारागार भेजा जाता है तो अपराध-संख्या बढती ही जा सकती है।

कारागार सुधार के अन्तर्गत वे सभी स्थितियाँ आती हैं जो कि कारागार के स्वरूप, कैदियों की व्यक्तिगत स्थितियों, कैदियों के भौतिक पर्यावरण, कारागार के अधिकारियो तथा नियमों आदि में सुधार से सम्बन्धित हुआ करती है। कारागार के स्वरूप के अन्तर्गत कारागार का प्रकार आता है। पहिले कारागार अपराधियों को पूर्णतः बन्दी बना कर रखते थे और पूर्णतः बन्दीगृह थे। आज अपराधी श्रम-शिविर तथा शिविर अपराधी गृहों के रूप में कारागारों का विकास हो रहा है। इस प्रकार उनका प्रकार बदलता जा रहा है। कारागारों में अपराधियों के लिए शिक्षण और प्रशिक्षण की व्यवस्था करके उनके श्रम के

एवज में उन्हें धन देकर उनमें आत्मसम्मान को बढ़ावा दिया जा रहा है। अब प्राचीर-विहीन कारागारों की शुरुआत और प्रचलन से इसका प्राचीन रूप काफी बदलता जा रहा है और अपराधियों को यह कम-से-कम महसूस होता है कि वे अपराधी बन्दी हैं। कारागार के अधिकारियों का प्रशिक्षित और व्यवहार कुशल होना अनिवार्य होने लगा है और उनके कार्य अपराधियों के प्रति मानवीय बनाने की चेष्टाएँ हो रही हैं। कारागार के नियमों को इस प्रकार परिमार्जित किया जा रहा है जिससे कि वे अधिकाधिक मानवीय हों तथा अपराधियों के पुनर्स्थापन मे जिनसे ज्यादा-से-ज्यादा मदद मिल सके। कैदियों के व्यक्तिगत सुधार के लिए अनेक प्रकार की उन्नत किस्म की यन्त्रगत सुविधाएँ बढ़ रही हैं, इनके परिवारों को इनसे मिलने-जुलने की ज्यादा सुविधाएँ दी गयी हैं और मनोवैज्ञानिकों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं, मनश्चिकित्सकों तथा चिकित्सकों की सेवाएँ उपलब्ध करायी जाती हैं। अपराधी तथा कारागार के भौतिक पर्यावरण सुधार के अन्तर्गत (क) शिक्षा व्यवस्था सम्बन्धी सुधार, (ख) अपराधियों को उचित श्रेणियों मे विभाजित कर अलग-अलग रखने की व्यवस्था में सुधार, (ग) रोगियों को स्वस्थ अपराधियों से आवश्यकतानुरूप अलग रखने की व्यवस्था में सुधार, (घ) नाश्ता तथा भोजन की व्यवस्था में सुधार, (ङ) चिकित्सकीय सुविधा में सुधार, (च) सफाई, स्वच्छता, रोशनी, वस्त्र, बिछावन, बिस्तर, जल, शुद्ध वायु, इत्यादि की व्यवस्था सम्बन्धी सुधार तथा (छ) आध्यात्मिक तथा मनोरंजन यथा—नाटक, खेलकूद उत्सव, धार्मिक त्यौहार, वाद्य, संगीत, व्यायाम इत्यादि की व्यवस्था में सुधार आदि सम्मिलित है। प्रायः हर दृष्टि से दुनियाँ के हर हिस्से में कारागारों की भौतिक सुख-सुविधाओं में वृद्धि हो रही है। अधिकांश भवनों का निर्माण इस प्रकार होता है कि उनमें शुद्ध वायु एवं रोशनी का अभाव न रहे। कारागारों में अपराधी भी उतने ही रखे जाते हैं जितने कि उसके अन्तर्गत आराम से रह सकते हैं। बाग-बगीचों का सुन्दर प्रबन्ध किया जाता है। कारागारो के अन्दर दवाखानों तथा चिकित्सकों का भी प्रबन्ध रहता है। पृथक् प्रकार के अपराधी को पृथक् रखा जाता है। विभिन्न जरूरतों के हिसाब से विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम भी चलाये जाते हैं। चटाई, दरी, कालीन तथा अन्य प्रकार की दस्तकारी का प्रशिक्षण और उनकी सुविधाएँ उपलब्ध करायी जाती हैं। भोजन भी आवश्यकतानुरूप तथा पहिले की अपेक्षा अधिक पुष्ट-कर दिये जाने लगे हैं। मनोरंजनार्थ चलचित्र, नाटक, रेडियो, खेलकूद प्रतियोगिताओं आदि की व्यवस्था की जाती है। वाचनालय तथा पुस्तकालयों की सुविधा होती है। तेल, साबुन, वस्त्र, बिस्तर तथा अन्य सुविधाएँ रहती हैं। कारागार के अहाते काफी बड़े होते हैं और कैदी उनमें घूम-फिर कर भी आनन्द-लाभ कर सकते हैं। कभी-कभी व्याख्यान, जलसे तथा धर्मोपदेश आदि की भी व्यवस्था की जाती है। इन सुविधाओं के विकास और

परिमार्जन की और भी आवश्यकता का अनुभव आधुनिकतम प्राविधिक विकास के कारण होने लगा है। आज यद्यपि धीरे-धीरे कारागार के आन्तरिक नियंत्रण और प्रबन्ध मे अपराधियों का हस्तक्षेप बढ़ रहा है किन्तु यह अभी अपनी शैशवावस्था में ही है। विभिन्न प्रकार के विशेषज्ञों और अधिकारियों की व्यवस्था से अपराधियों के पुनर्स्थापन के कार्य मे मदद मिलने में वृद्धि हो रही है। कभी-कभी जब कारागार के अधिकारी अपने कर्त्तव्य का पालन न्यायोचित ढंग से न करके कुछ ऐसा काम करते है जिनसे कि अपराधियों को मिलने वाली सुविधाओं में बाधा आती है तो अपराधी क्षुब्ध होते है और इसका उनके ऊपर बुरा प्रभाव पड़ता है। अब अपराधियों से अमानुषिक कार्य न कराके उनसे ऐसे कार्य कराये जाते हैं जिन्हें वे आसानी से कर सके और आत्म-सम्मान के साथ-साथ सहयोगी भावना का अपने में विकास कर सकें।

भारत में सुधार-प्रयत्न

हमारे देश में अपराधियों के रख-रखाव तथा सुधार की प्राथमिक जिम्मेवारी राज्य सरकारों की रही है। केन्द्रीय सरकार निरीक्षण और परामर्श तथा आर्थिक सहायता के माध्यम से ही इसमें दखल रखती रही है। अपराधों की रोकथाम तथा अपराधी सुधार हेतु किये जाने वाले प्रयत्नों में मुख्यतः अपराधियों के न्यायालयों या कारागारो से छूटने के बाद भी देखभाल का काम, बालापचारियों की अपराधी प्रवृत्ति या चेष्टाओ की दशा में निरोधात्मक तथा उपचारात्मक व्यवस्था का कार्य, कारागारों में कैदियों के भौतिक-आध्यात्मिक कल्याण का काम अनैतिक कार्य-व्यापार की रोकथाम तथा निरीक्षण हेतु किया जाता है।

न्यायालयो तथा कारागारों से छूटने के बाद जरूरतमन्द व्यक्तियों की देख-भाल के कार्य की शुरूआत का श्रेय यहाँ की अनेक स्वैच्छिक संस्थाओं को है। इन संस्थाओं ने अपनी अनेक योजनाओं तथा कार्यक्रमों के माध्यम से इस दिशा में बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यद्यपि ये संस्थाएँ अपनी भावना, शक्ति तथा सामर्थ्य के मुताबिक इस प्रकार के एक अच्छे कार्य में प्रवृत्त रही है, किन्तु कतिपय आर्थिक दिक्कतो के कारण इन्हे अपनी अभीष्ट लक्ष्य-प्राप्ति में कठिनाई का सामना करना पड़ा है और वे पूरी तरह सफल नहीं हो पायी हैं। एक तो प्रायः इन संस्थाओं के पास स्वयं ही कम धन होता है, दूसरे इनके धन की मात्रा भी दान आदि पर निर्भर होने के कारण अनिश्चित रहा करती है। सरकारों से भी न्हें प्रायः उस मात्रा में धन नहीं मिल पाता है जितनी कि इनके द्वारा माँग की जाती रही है और अनेक नियमों के कारण सरकारी सहायता को प्राप्त और व्यय करने में भी दिक्कतें रहती हैं। स्वैच्छिक संस्थाओं या संगठनों द्वारा दी जाने वाली सेवाएँ प्रायः निम्नलिखित हुआ करती है :—

(१) परिवीक्षा का कार्य।
(२) निरीक्षण का कार्य।
(३) बाल अधिनियम को लागू कराने का कार्य।
(४) अन्य सम्बन्धित अधिनियमों को लागू कराने का कार्य।
(५) कैदियों को छोड़ने के पूर्व उनके बारे में समुचित जानकारी प्राप्त करने का कार्य।
(६) उन बातों से सम्बन्धित कार्य जो कि कैदियों को छोड़ने के लिए आवश्यक हुआ करते है।
(७) छूटने के बाद रख-रखाव तथा देख-भाल के लिए आवासीय सुविधा-व्यवस्था का कार्य।
(८) छूटे हुए कैदी तथा उसके परिवार को आर्थिक सहायता देने का कार्य (इस प्रकार की आर्थिक सहायता में नकद दान, ऋण तथा सशर्त नकद दान होते है)।
(९) कारागार से छूटे व्यक्तियों के समुदाय तथा सामाजिक पर्यावरण के उनके लिए उपयोगी स्वस्थ स्वरूप निर्धारण, सृजन और विकास का कार्य।
(१०) छूटे हुए व्यक्तियों के बारे में अध्ययन तथा अनुसन्धान तथा संक्षिप्ती प्रकाशन का कार्य।

स्वैच्छिक संस्थाओं तथा संगठनों द्वारा कारागारों से मुक्त होने के बाद मानवीय भावना से सुधारात्मक प्रयत्न करने की दिशा में कार्य करने की शुरूआत भारत में १९२१ से मानी जा सकती है। इस वर्ष ही भारत में 'मुक्त बन्दी सहायता समाज' की स्थापना हुई थी। इसके बाद कई राज्यों में इस प्रकार के मिलते-जुलते संगठन अस्तित्व में आये। इनमें १९२५ में मध्य प्रान्त, १९२७ में पंजाब, १९२८ में बंगाल, १९३३ में बम्बई, १९३५ में दिल्ली तथा १९३७ में उत्तर प्रदेश में इसी प्रकार के समाज की शुरुआत की गयी। अब अन्य राज्यों में तथा अनेक शहरों में इन संस्थाओं तथा सरकारों के इसी प्रकार के कार्य विस्तार पा रहे है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् पंच वर्षीय योजनाओं की शुरुआत के अन्तर्गत कई ऐसी व्यवस्थाएँ की गयीं जिनसे कि न्यायालयों या कारागारों से छूटे व्यक्तियों की सहायता के कार्य को सशक्त किया जा सके। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने १९५४ में परामर्श देने के लिए एक सलाहकार समिति बनायी थी जिसने कि अपने प्रतिवेदन में इस बात पर बल दिया था कि कारागार या सुधार-गृहों से छूटे व्यक्तियों के रख-रखाव तथा उन्हें स्वस्थ

वातावरण में रहने में मदद देने की दृष्टि से व्यापक स्तर पर उत्तर-रक्षण गृहों तथा जिला-शरणालयों की व्यवस्था होनी चाहिए और इसमें वे समस्त सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए जिनसे कि सामाजिक और आर्थिक पुनर्स्थापन में मदद मिलती हो। इस समिति के प्रतिवेदन के प्रभाव से सरकारों ने उसके मुताबिक समुचित व्यवस्थाओं का प्रस्ताव किया और उनमें अपने सहयोग की घोषणा की। इन योजनाओं को सफलतापूर्वक कारगर ढंग से चलाने के लिए उपयुक्त व्यक्तियों की जरूरत की पूर्ति हेतु केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने प्रशिक्षण योजना चलायी। दूसरी योजना के दौरान केन्द्रीय सरकार ने इस क्षेत्र में अपनी बड़ी जिम्मेदारी समझी और आवश्यक आवासीय प्रबन्धों के लिए पचास प्रतिशत तक आर्थिक सहायता का बोझ अपने ऊपर लिया। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने स्वैच्छिक संस्थाओं को और अधिक सहायता दी और राज्यों की सरकारों ने केन्द्रीय सहायता का भरपूर उपयोग करके व्यापक स्तर पर आवासीय सुविधाओं का विस्तार किया। द्वितीय योजना के अन्तर्गत ऐसे उत्तर-संरक्षण गृहों तथा जिला-शरणालयों की संख्या शताधिक थी। तृतीय योजना के दौरान इनकी स्थितियों में काफी सुधार किया गया और इनकी संख्या मे भी चौथांश से अधिक की वृद्धि का नियोजन हुआ।

भारत मे बालापचार के सम्बन्ध में ध्यान देने की शुरुआत १८५० से मानी जा सकती है। इस सन् मे प्रशिक्षणार्थी अधिनियम बना था। १८७६ मे सुधार विद्यालय अधि-नियम बनाया गया था। १९१९-२० मे बनी एक कारागार समिति ने सिफारिश की थी कि बालापचारियों को सजा के स्थान पर सुधार की दृष्टि से देखा जाय और उसके उपाय किये जायें। इसके प्रभाव से अनेक राज्यों में बाल-अधिनियम बनाये गये। १९२० में मद्रास, १९२२ में बंगाल, १९२४ में बम्बई तथा १९२८ में मध्य प्रान्त में और उसके बाद अन्य प्रान्तों में इस प्रकार के अधिनियमों का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ राज्यों में बालापचार की रोकथाम के लिए कुछ अन्य अधिनियम भी बने जिनमें छात्र एवं बाल धूम्रपान तथा बोर्स्टल विद्यालय अधिनियम आदि हैं। इन अधिनियमों के अन्तर्गत व्यापक स्तर पर व्यवस्थाएँ की गयी और बालापचार की रोक-थाम तथा सुधार का कार्य हुआ। परिवीक्षा व्यवस्था की शुरूआत का श्रेय मद्रास राज्य को है। १९३६ में पहले इस राज्य में तथा उसके बाद अनेक राज्यों में इस सम्बन्ध के अधिनियम बनाये गये। बालापचार की रोकथाम तथा उपचार की व्यवस्थाओं में भी स्वैच्छिक संस्थाओं का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और व्यापक हाथ रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त तक बाल सुधार सम्बन्धी संस्थागत सेवाओं में बम्बई राज्य का स्थान सर्वोच्च था। इसके उपरान्त मद्रास राज्य तथा फिर आन्ध्र प्रदेश का स्थान रहा। अन्य राज्यों में

पश्चिमी बंगाल अग्रणी था। अन्य राज्यों ने भी छिट-फुट कार्य किये थे। बालापचार की रोकथाम और बालापचारियों के सुधार के सम्बन्ध में इन राज्यों ने जो व्यवस्थाएँ की उनमें अनेक नियमो का निर्माण, संशोधन और परिमार्जन के काम के साथ-साथ परिवीक्षण व्यवस्था, श्रेणी विभाजन केन्द्र, नजरबन्दी गृह, बाल-न्यायालय, बाल निर्देशन सदन, स्वीकृत विद्यालय तथा प्रशिक्षण विद्यालयों की स्थापना तथा संचालन आदि का काम भी रहा है। अनेक स्थानों पर स्थापित तथा संचालित आवासीय व्यवस्थाओं का नामकरण भिन्न-भिन्न किया जाता रहा है और कोशिश यह रही है कि इनके नाम लुभावने हों। द्वितीय योजना में बाल-सुधार से सम्बन्धित आवासीय व्यवस्था वाले अनेक प्रकार के विद्यालयों तथा केन्द्रों की संख्या ८० से अधिक थी तथा परिवीक्षा अधिकारियों की संख्या पौने दो शतक से कुछ ही कम थी। १९६१ तक देश भर में बाल परिवीक्षा अधिकारियों की संख्या ३५० से ऊपर हो गयी थी तथा ५५ ऐसे संगठन तथा संस्थाएँ थीं जो बालापचारियों से सम्बन्धित कार्यों में लगी थीं। इनके अतिरिक्त अर्धशतक बाल-न्यायालय काम कर रहे थे। बालापचारियों के सुधार से सम्बन्धित आवासीय सुविधाओं वाली हर प्रकार की इकाइयों या केन्द्रों की संख्या कुल मिला कर सवा तीन सौ से भी अधिक थी। तीसरी योजना में ऐसी नयी स्थापित की जाने वाली इकाइयों या केन्द्रों की संख्या सवा सौ के लगभग अनुमानित थी तथा पौने दो सौ से कुछ ही कम संख्या में परिवीक्षा अधिकारी और रखे जाने की बात थी।

भारत में कारागार की स्थिति में कैदियों को सुधार की दृष्टि से ठीक करने के लिए अनेक प्रयत्न किये गये हैं। इन प्रयत्नों में ध्यान रखा गया है कि कैदियों के साथ अधिकाधिक सम्भव ऐसे प्रबन्ध किये जायँ तथा उन्हें ऐसा महसूस हो सके कि वे मानवीय वातावरण मे रह रहे हैं और उन्हें उनके पुनर्स्थापन की अपेक्षित अधिकांश दशाएँ प्राप्त हैं। कारागार सुधार का कार्य अंग्रेजी राज्यकाल में भी हुआ था किन्तु तब तक की स्थिति को हितकारी स्थिति नही कहा जा सकता। अंग्रेजों के शासनकाल में विदेशी सरकार ने कारागार सुधार के लिए समय-समय पर कई समितियों की नियुक्ति की थी और उनके परामर्श के अनुसार अनेक कार्य भी किये थे। कारागार सुधार के लिए कतिपय नियमों का विधान भी किया गया था। कारागार सुधार हेतु नियुक्त प्रथम समिति १८३६ में बनी थी तथा उसके बाद अनेक समितियाँ बनायी गयीं। १९१९-२० में बनी समिति ने ज्यादा सुधारात्मक उपाय सुझाये तथा इसकी महती आवश्यकता पर बल दिया। स्वतंत्रता के पूर्व तथा पश्चात् भी कई केन्द्रीय तथा राज्यस्तरीय कारागार सम्बन्धी समितियों की नियुक्तियाँ हुई और होती रहती हैं और क्रमशः ऐसा देखा जाता है कि कारागारों को अधिकतम आधुनिक ढंग का बनाने में, उनके भौतिक तथा आध्या-

त्मिक वातावरण को उपचारात्मक रूप देने की सिफारिशें की जा रही हैं और इन सिफा-रिशों का लाभ उठाते हुए सरकारों ने भी धीरे-धीरे काफी अच्छी व्यवस्थाओं को कैदियों के लिए उपलब्ध किया है। यद्यपि सुधार का क्रम जारी है फिर भी इसमें और तेजी और व्यापकता की जरूरत महसूस की जाती है।

कारागार सुधार की विभिन्न समितियों ने प्रायः निम्नलिखित बातों की जाँच-पड़ताल का कार्य किया है तथा इन्ही में सुधार के सम्बन्ध में राय-परामर्श दिया है :—

(१) कैदियों की बेड़ियाँ।
(२) आदती अपराधियों के लिए विशेष बस्ती का निर्माण।
(३) अपराधियों का अपराध, लैंगिक, शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक स्थितियों के अनुरूप श्रेणी विभाजन और पृथक आवास तथा उपचार।
(४) अपराध तथा कारागार के नियम।
(५) कारागार सम्बन्धी राजकीय अधिनियम तथा व्यवस्था—उनका प्रसार तथा क्षमता।
(६) कैदियों तथा कारागार के कर्मचारियों के भोजन, वस्त्र, चिकित्सा, मनो-रंजन, शिक्षा, प्रशिक्षण तथा पुनर्स्थापना की व्यवस्था।
(७) उत्तर संरक्षण व्यवस्था।
(८) उत्तर उपचार व्यवस्था।
(९) कारागारों का स्वरूप—यथा प्राचीरयुक्तता, प्राचीर-विहीनता तथा शिविर इत्यादि।
(१०) बन्दियों के परिवारों की सहायता-विधि तथा विशेष अवसरों पर कैदियों को परिवार तथा समुदाय में जाने की अल्पकालिक सुविधा आदि।
(११) कारागारों की एकरूपता तथा सहयोगात्मकता।

आज हमारे देश के अनेक कारागारों में कैदियों की सुख-सुविधा हेतु मनोरंजन, शिक्षा तथा स्वास्थ्य आदि की अच्छी व्यवस्थाएँ हैं। अनेक प्रदेशो मे प्राचीरविहीन कारागार भी है और अनेक अपराधी श्रम-शिविर चलाये गये है। इस प्रकार के कारावास के ये प्रयोग काफी सफल हो रहे है व उनमें वृद्धि भी हो रही है। आज अपराधियों को त्योहार, शादी-विवाह तथा मरनी-करनी के अवसर पर अपने परिवारों में अल्पकाल के लिए जाने की भी व्यवस्था उपलब्ध है। कारागारों में कल्याण अधिकारी रखे जाते हैं और औद्योगिक सुवि-धाओं को बढ़ावा दिया जा रहा है। लगभग देश के सभी कारागारों में कल्याण अधिकारी रखे जाने की बात है। अधिकांश में तो यह व्यवस्था है ही।

अपराध में रोकथाम को बढ़ावा देने के लिए अनैतिक कार्य-व्यापार को हतोत्साहित

करने की दिशा में भी अनेक प्रयत्न हमारे देश की सरकारों तथा स्वैच्छिक संस्थाओं ने किये हैं। इन प्रयत्नों का यद्यपि अपना महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु इनके बावजूद भी अनैतिक कार्य व्यापार आज भी देश में कुप्रभावकारी मात्रा में जारी है और इसके उन्मूलन की बड़ी अपेक्षा बनी हुई है। सरकार तथा स्वैच्छिक संस्थाओं को सहयोग, निष्ठा तथा पूर्ण शक्ति के साथ इसका मुकावला करना है और इस एक समाज हितकारी कार्य के सम्पादन द्वारा अपराध निरोधक कार्यक्रमों को बल प्रदान करना है।

देश के अनेक प्रमुख राज्यों ने प्रथम योजना काल में ही ऐसे अधिनियम तथा नियम जारी कर दिये थे जिनसे कि अनैतिक कार्यों की रोकथाम हो सके। इन अधिनियमों में अनैतिक कार्य करने वालों तथा उनसे सम्बन्धित निरोधक कानूनों को तोड़ने वालों को कड़ी सजा दी जाने की भी व्यवस्था रही है, किन्तु व्यवहार में देखा जाता है कि इनका जनता पर कारगर प्रभाव नहीं पड़ा और अनेक असामाजिक उपायों द्वारा ये समाज में जीवित ही नहीं वरन् पल्लवित भी हो रहे हैं। इन कानूनों की सफलता के लिए जनभावना में अपेक्षित परिवर्तन तथा उसके सहयोग की सदा जरूरत समझी जाती रही है। बहुत से राज्यों में अनैतिक कार्य करने को सामाजिक-आर्थिक स्थिति के कारण बाध्य लोगों को अलग रखने, उनके शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था करने तथा सहायता देने का भार भी सरकारों ने उठाया है और आवासीय व्यवस्थाएँ की हैं। स्वैच्छिक संस्थाओं को इस कार्य को सम्पादित करने के लिए सरकारी आर्थिक सहायता तथा परामर्श भी मिलते रहे हैं और प्रथम पंचवर्षीय योजना के पहिले तक स्वैच्छिक आधार पर कार्य करने वाले बम्बई में ही ऐसे ९ संगठनों में अनैतिक व्यापार को रोकने के लिए प्रचलित व्यवस्थाओं में, उद्धारगृह, शरणालय, अनाथालय, विधवालय तथा नैतिक संकट में संरक्षण देने वाली संस्थाएँ उल्लेखनीय हैं। सन् १९२८ में अखिल भारतीय नैतिक और सामाजिक स्वास्थ्य परिषद्, व नारी रक्षा समिति की स्थापना की गयी। ये इस क्षेत्र की प्रारम्भिक संस्थाएँ रही हैं। सन् १९२९ में स्थापित अखिल भारतीय महिला सम्मेलन ने भी अनैतिक व्यापार की रोकथाम तथा इसमें लगी महिलाओं के पुनर्स्थापन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस मामले में कई महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान तथा अध्ययन भी किये गये हैं और साहित्य प्रकाशन का भी कार्य किया गया है। मद्रास के स्वैच्छिक संगठन अभय-निलयम् ने १९५५ में निरीक्षण और राहत देने के कार्यक्रम चलाये। दिल्ली के नारी निकेतन को दिल्ली प्रशासन ने अपने अधीन कर उसको पुनर्गठित किया। बहुत सी अनैतिक व्यापार से सम्बन्धित स्त्रियों के सुधार की संस्थाओं का संचालन-भार तथा प्रशासन-भार महिलाओं के हाथ में सौंपने की व्यवस्था हुई। अनैतिकता से प्रभावित महिलाओं के लिए द्वितीय योजना काल में एक विशेष कार्यक्रम के अन्त-

गंत यह व्यवस्था की गयी थी कि देश में ८० राजकीय गृह तथा ३२४ जिला शरणालयों या स्वागत केन्द्रों की व्यवस्था की जाय। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने अपेक्षित प्रशिक्षित कर्मचारियों की उपलब्धि के लिए कई प्रशिक्षण कार्यक्रमों की भी व्यवस्था की। राज्य सरकारों तथा केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों के प्रशासनों ने केन्द्रीय सहायता का भरपूर उपयोग कर कथित प्रकार की अनेक संस्थाओं की स्थापना की तथा अनेक को आर्थिक सहायता देकर उनके कार्यों को संगठित तथा अधिक हितकारी बनाया। देश मे दूसरी योजना के अन्त तक ऐसी हर प्रकार की कुल संस्थाओं की संख्या ९२ थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना के पहिले सामाजिक तथा नैतिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में कार्यरत स्वैच्छिक संस्थाओ की कुल संख्या २० थी। तृतीय योजना में सामाजिक तथा नैतिक स्वास्थ्य के कार्य से सम्बन्धित नयी खोली जाने वाली एवं कुल संस्थाओं की नियत संख्या ४० रही है। सामाजिक और नैतिक स्वास्थ्य पर देश में अनेक छोटे-बड़े स्तर की विचार गोष्ठियाँ तथा सम्मेलन आदि के आयोजन हुए हैं और होते रहते हैं तथा जनता मे इनके प्रचार के लिए जनजागृति हेतु अन्य कार्य भी किये जाते रहे है।

भारतीय समाज में अपराधी सुधार तथा अपराधों की वर्णित रोकथाम की व्यवस्थाओं में यदि समाज कार्य के आधुनिकतम प्रचलित ढंग से प्रशिक्षित स्नातकोत्तर उपाधिधारियों का उपयोग किया जाय तो इस सत्प्रयत्न में जल्दी और अधिक कारगर ढंग पर सफलता मिल सकती है।

अध्याय २३

केन्द्रीय कर्मचारी कल्याण

भारत सरकार ने अपने अधीन कार्य करने वाले कर्मचारियों के कल्याण के लिए १९५० के बाद सक्रिय कदम उठाने शुरू किये। ऐसा माना जाता है कि यदि कर्मचारियोंकी काम की शर्तें, कार्य की दशाएँ तथा कार्य के बाद की भौतिक–आध्यात्मिक परिस्थितियाँ चित्त को शान्ति देने वाली तथा प्रसन्नता प्रदान करने वाली होती हैं तो कर्मचारियों का काम में अधिक मन लगता है, वे अपने मानसिक द्वन्द्वों के शमन में सहूलियत अनुभव करते हैं तथा हड़ताल और विवादों की संभावना में कमी आती है। स्वस्थ स्थिति का परिणाम अधिक तथा व्यवस्थित कार्य के रूप में देखा जाता है और अधिक कार्य और व्यवस्थित ढग से जिम्मेदारियों के निर्वाह से सामाजिक शक्तियों का सर्वांगीण विकास होता है या देश की श्री-वृद्धि होने की संभावना बढ़ती जाती है। इन्ही बातों को ध्यान में रख कर भारत सरकार ने सन् १९५३ में विशेष समिति की नियुक्ति कर ऐसे सुझाव प्राप्त किये जिनसे उसके अधीन कार्य करने वाले लगभग २० लाख कर्मचारियों के कल्याणार्थ व्यवस्थाएँ की जा सकें। यह ध्यान देने योग्य बात है कि भारत में केन्द्रीय सरकार के मातहत कार्य करने वाले समस्त कर्मचारियों की संख्या देश की किसी भी अन्यसंस्था या संगठन के मातहत कार्य करने वाले कर्मचारियों से अधिक ही नहीं, बहुत अधिक है। सन् १९५० के पूर्व तथा उसके कुछ बाद तक इन कर्मचारियों की सुख-सुविधा तथा इनके परिवारों के लिए कल्याण कार्यक्रमों की व्यवस्था बहुत ही न्यून थी। कतिपय मंत्रालय थोड़े-बहुत मनोरंजन तथा स्वास्थ्य आदि से सम्बन्धित कार्य करते थे। १९५७–५८ तक अनेक मंत्रालयों तथा विभागों ने उप-सचिव स्तर के कल्याण अधिकारियों की नियुक्ति शुरू करके तथा उनके तमाम कन्ल्याणकारी कार्य-क्रमों तथा क्रिया-कलापो के संगठन, तथा संचालन की जिम्मेदारी उन्हें सौंपकर इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाये। इस कदम का धीरे-धीरे विकास किया गया और इस ओर अधिक ध्यान दिया गया। धन-परामर्श, विचार-विमर्श तथा जाँच-पड़ताल करके केन्द्रीय कर्मचारियों के कल्याण के कार्यों को ज्यादा उपयोगी और सशक्त किया गया है। कल्याण अधिकारियों के जिम्मे मुख्यत: निम्नलिखित कार्य हुआ करते हैं :—

(१) दान-निधियों या कोषों की स्थापना ।
(२) कर्मचारियों को सभी आर्थिक सुविधाओं के बारे में समझने तथा कार्यवाही करने में मदद देना ।
(३) कार्य करने का स्थान तथा पर्यावरण को सुधारना ।
(४) नये कर्मचारियों को उनके कार्य के सम्बन्ध में मदद देना ।
(५) नये कर्मचारियों को पुराने कर्मचारियों से परिचित कराना ।
(६) अंशदान-स्वास्थ्य-सेवा-योजना से कर्मचारियों की सहायता करना ।
(७) स्वास्थ्य, मनोरंजन तथा सामाजिक-सांस्कृतिक क्रियाकलापों की व्यवस्था करना तथा इनमें कार्य रुचि को विकसित करना ।
(८) कार्यकाल के बीच की छुट्टी में तथा बाद में जलपानार्थ जलपान-गृहों की व्यवस्था करना ।
(९) सस्ते दर पर दैनिक उपयोग की वस्तुओं को उपलब्ध करने में सहायता करना तथा कहीं-कही इस हेतु स्थापित तथा सचालित सहकारी समितियों के काम में मदद करना ।
(१०) कल्याणकारी व्यवस्थाओं और कार्यक्रमों का विस्तार सभी प्रकार के उद्योगों के कर्मचारियों तथा केन्द्रीय सरकार के अधीन आने वाले प्रतिष्ठानों के कर्मचारियों के लिए है । यातायात तथा संचार सेवा और प्रतिरक्षा सेवा के कर्मचारियों के लिए कल्याणकारी व्यवस्थाएँ की गयी हैं ।

प्रतिरक्षा मंत्रालय ने अपने कर्मचारियों के लिए निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की हैं:—

(१) पुस्तकालय ।
(२) वाचनालय ।
(३) सांस्कृतिक कार्यक्रम ।
(४) मनोरंजन-क्रियाकलाप ।
(५) सूचना केन्द्र ।
(६) चलचित्र तथा नाटक ।
(७) सेवारत तथा निवृत्त व्यक्तियों के लिए आर्थिक सहायता ।
(८) परिवारों को मातृ-शिशु रक्षण सुविधा ।
(९) चिकित्सकीय सुविधा ।
(१०) पार्क, बगीचा ।
(११) बाल कल्याण केन्द्र ।
(१२) मानसिक रोग से ग्रसित तथा अनाथ व्यक्तियों का रख-रखाव ।

(१३) धन संग्रह के अनेक कोष।
(१४) दुग्धाहार।
(१५) शिक्षादि की सुविधा।
(१६) सामाजिक सहायता तथा पुनर्स्थापन आदि।

रेल कर्मचारियों के लिए स्टेशन के पास ही रहने की व्यवस्था की जाती है। इस हेतु मकान बनाने के लिए द्वितीय योजना में ३५ करोड़ रु० की राशि निश्चित की गयी थी तथा ५७ हजार मकान बनाये गये थे। तृतीय योजना में भी इतनी ही धन राशि से और मकान बनाने की स्वीकृति दी गयी थी। अन्य प्राविधानों के अन्तर्गत भी ऐसे मकान बनाये गये हैं। प्रथम योजना काल तक तीन लाख छत्तीस हजार ही कुल मकान थे। पुराने मकानों का नवीनीकरण और मरम्मत भी की जाती रही है। दवा तथा चिकित्सा की सुविधा भी दी गयी है। इस प्रकार की सुविधा में मुख्यतः मुख्य अस्पतालों में विशेषज्ञों की सेवा, महिला चिकित्सकों की उपलब्धि, तीमारदारों की व्यवस्था, दन्त चिकित्सा सदन, उर चिकित्सा सदन, चल-चिकित्सा व्यवस्था, क्षय रोग उपचार तथा उनके विशेष अस्पतालों की सुविधाएँ तथा व्यवस्थाएँ उल्लेखनीय हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में जहाँ एक कर्मचारी पर सालाना औसत खर्च लगभग पौने उन्तालिस रुपया पड़ता था वह बढ़ कर दूसरी योजना में साढ़े पैंसठ रुपया हो गया। परिवारों तथा बच्चों की शिक्षा तथा स्वास्थ्य के लिए भी आर्थिक तथा चिकित्सकीय सहायता मुहैय्या की जाती है। रेल विभाग द्वारा अनेक विद्यलयों का भी संचालन किया जाता है। खास तौर से ऐसे कर्मचारियों के बच्चों के रहन-सहन, खाने और पढ़ने की सुविधा के लिए जो कि साधारण आय के हैं तथा मुख्य रेल स्टेशनों के समीप किसी अन्य स्थान पर नियुक्त रहते हैं, ऐसे छात्रावासों की व्यवस्था की गयी है जहाँ काफी सस्ते में उन्हें रहने आदि की सुविधाएँ मिलती हैं। योग्य साधारण या मध्यम स्तर के विद्यार्थियों को (रेल कर्मचारी की सन्तान) बच्चे, प्राविधिक शिक्षा हेतु वजीफे दिये जाते हैं। अराजपत्रित कर्मचारियों के लिए ऐसे अनेक अवकाशगृहों का संचालन होता है जहाँ नाम मात्र का शुल्क लिया जाता है। कर्मचारियों के बच्चों के विकास को समुचित दिशा देने तथा उसके अवसर की उपलब्धि की दृष्टि से मनोरंजन के अनेक साधन तथा कार्यक्रम होते हैं। इनमें बाल-अवकाश-शिविर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कर्मचारियों को मनोरंजन के साधन मुहैय्या किये जाते हैं तथा जलपान गृहों की व्यवस्था द्वारा उन्हें स्वस्थ और प्रसन्न रहने में मदद दी जाती है। तीसरी योजना में पचास करोड़ रुपये की राशि इन तमाम कल्याणकारी सुविधाओं के लिए मुकर्रर थी।

डाक-तार विभाग के कर्मचारियों के कल्याणार्थ १९४८ में एक कल्याण- संगठन

का प्रादुर्भाव हुआ। इसके बाद अनेक कार्य हुए और उनकी सुविधा की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया गया और दिया जाता है। मोटे तौर पर इस विभाग के कर्मचारियों पर व्यय की प्रति वर्ष की राशि दस लाख रुपये से ऊपर हुआ करती है।

दिल्ली के यातायात संस्थान ने अपने कर्मचारियों को आर्थिक, चिकित्सकीय, वाचनालय, जलपान तथा आवासीय सुविधाओं की कई महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाएँ की हैं। इनमें कर्मचारी कल्याण कोष का विशेष महत्त्व है। इसी प्रकार की अनेक सुविधाएँ देश के अनेक बन्दरगाहों में काम करने वाले कर्मचारियों के लिये उपलब्ध की जाने की व्यवस्था की जाती है। इन सभी में सहकारिता की भावना के आधार पर तथा सहयोगी पद्धति से काम करने की बात पर विशेष बल दिया जाता रहा है। अनेक जगह कल्याण अधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था है तथा मुख्यत: वे ही इन कल्याणकारी क्रियाकलापों तथा योजनाओं को क्रियान्वित करने-कराने का काम सम्भालते हैं। चाय-बोर्ड, कहवा-बोर्ड तथा रबर-बोर्ड भी विभिन्न प्रकार की कल्याणकारी परियोजनाओं तथा कार्यक्रमों पर धन व्यय करते हैं। इनमें कुछ में इनका आंशिक योगदान होता है तथा कुछ अंश कर्मचारियों से संकलित किये गये धन का होता है। गृह-कल्याणकेन्द्र व सामुदायिक भवन द्वारा कई प्रकार के कर्मचारियों के परिवारों को सामुदायिक तथा स्वावलम्बी जीवन की सुविधा मिलती है। विभिन्न श्रेणी के कर्मचारियों के लिए उनकी स्वयं की अलग-अलग ऐसी परिषदें हैं जो कि अपनी श्रेणी के कर्मचारियों की कठिनाइयों को सुनती हैं तथा शान्ति-स्थापना व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण मदद करती हैं। केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों तथा उनके परिवार के सदस्यों पर कल्याणार्थ व्यय होने वाली सरकारी नकद सहायता हेतु भी एक कोष है। यह कोष एक विशेष समिति के द्वारा प्रशासित होता है तथा सहायता नियमों के अन्तर्गत दी जाती है। जहाँ यह प्रारम्भिक अवस्था में मात्र लगभग आधे लाख का हुआ करता था वहाँ आज धीरे-धीरे प्रतिवर्ष बढ़ते-बढ़ते दस लाख से भी ऊपर पहुँच गया है और इसमें वृद्धि जारी है। इस वृद्धि का कारण एक तो सुख-सुविधाओं का सर्वांगीण विकास है, दूसरे लाभार्थियों की तादात मे भारी वृद्धि है।

अध्याय २४

जनजातीय कल्याण

भारत के विभिन्न अंचलों में ऐसी जातियों के लोग रहते है जो कि मुख्यत: आदिम मानव की तरह जीवन बिताते हैं। मध्य प्रदेश, बम्बई, महाराष्ट्र, राजस्थान, बंगाल, उड़ीसा, पंजाब बिहार, आसाम इत्यादि प्रान्तों में पर्वतों, नदियों के किनारों तथा जंगली इलाकों में रहने वाली इन जातियों में नागा, भील, संथाल, गोंड, वारलीस, वेगा, टोड़, खोंडा, गादी तथा मंतास आदि प्रमुख हैं। सभ्यता के आदिम रूप से मिलती-जुलती अवस्था में रहने वाली इन जातियों की कुल संख्या सरकार द्वारा तीन सौ चार अनुसूचित की गयी थी तथा इन सभी जातियों की सम्पूर्ण जनसंख्या (पिछड़ी और अनु-सूचित की संयुक्त रूप से) सवा दो करोड़ के लगभग आँकी गयी थी। इन जातियों के लोग आदिम समुदायों का जीवन बिताते हैं और इस कारण बहुत बार इन्हें आदि-वासी भी कहा जाता है। इनमें मोटे तौर पर ऐसा कुछ भी नहीं होता जिससे कि यह कहा जा सके कि ये सभ्य जातियों के समीप है और वस्तुत: इनकी स्थिति ऐसी है कि ये सभ्य बनने के इच्छुक भी नहीं दीखते। ये अपढ़, निरक्षर या अशिक्षित हुआ करते है। इनमें मे किसी भांति का कुछ भी विकसित रूप नही दीखता। ये लोग जंगलों, घाटियों तथा वीरानों मे प्राय: इधर-उधर दल-बल के साथ घूमा करते है और इनका कोई स्थायी निवास नही हुआ करता। इन्हें अपने विशेष प्रकार के नृत्य करने में आनन्द आता है। और भिन्न आदिवासियों के नृत्य से यद्यपि थोड़ा-बहुत मेल खाते है फिर भी भिन्न हुआ करते हैं। इनकी प्रसन्नता की अभिव्यक्ति का नृत्य एक प्रमुख माध्यम है। ये नाच के समय जंगली पत्तों, डालों, फूलों, समुद्रों या नदियों में पायी जाने वाली सीपियों या मोतियों, घोंघों तथा जानवरों के सींगों और खालों के विशेष पहिरावे धारण करके नृत्य करते हैं। प्राय: इनके नृत्य सामूहिक हुआ करते हैं। नृत्यों में देवी आराधना तथा जादू और झाड़-फूंक भी सम्मिलित हो सकता है। नृत्य के समय तथा ऐसे भी ये मादक द्रव्यों का सेवन करने के आदी होते हैं और इनका उपार्जन भी ये स्वयं ही प्राकृतिक उपलब्धियों से करते हैं और कभी-कभी पुराने तरीकों से स्वयं इनको बनाने का कार्य

करने है। इनके देवी-देवता प्रायः पर्वत या वृक्ष हुआ करते हैं और ये नाना-विधि से इनकी उपासना किया करते हैं। बहुत से मामलों में इनकी धार्मिक मान्यताएँ तथा प्रथाएँ हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताओं या प्रचलनों से मेल खाती हैं और लगता है कि वे इन्हीं के अपरिष्कृत रूप हैं। देवता में निष्ठा, उसकी एकान्तता, स्वच्छता, अग्नि पूजन, बलिदान तथा मंत्रोच्चार आदि के ढंगों में काफी समानता पायी जाती है। ये प्रायः प्रकृति प्रदत्त परिधानों को धारण करते हैं। जानवरों की खाल, वृक्षों की पत्तियों आदि से काम चलाने या गुप्तांग ढँकने के वस्त्र बना लिये जाते हैं और उन्हीं को पहना जाता है। इनके आवास भी पत्थरों, गुफाओं, झोपड़ियों या आकाश तले ही हुआ करते हैं और जो भी व्यवस्थाएँ वे इसके लिए करते हैं वे बहुत ही अस्थायी और काम चलाऊ किस्म की होती है। ये बड़ी आसानी और सुविधा के साथ इस प्रकार प्रकृति की गोद में उसकी कठिन परिस्थितियों में रहते हैं। न तो भीषण गर्मी, न वर्षा से ही ये अत्यधिक आक्रान्त होते हैं। कहीं भी सो रहना, खा रहना, बैठना आदि इनके लिए सहज होता है। बहुधा ये एक साथ ही इकट्ठे होकर सोते हैं। अधिकतर आदिवासी जातियों में वैवाहिक संस्कार काफी देर से सम्पन्न होते हैं। बहुधा यौन सम्बन्धों की काफी सुविधा और स्वच्छन्दता हुआ करती है। अधिकतर जनजातियों में बहुपति प्रथा का (अर्थात् एक स्त्री को कई पति होने की प्रथा का) प्रचलन हुआ करता है। यौन सम्बन्धों को लेकर तथा शादी करने के लिए चुनाव आदि करने व इसके आगे की विधियों में अक्सर आसुरी वृत्ति दिखाई देती है और वह राक्षस विवाह पद्धति से मिलती-जुलती है। बहुधा इस सिलसिले में मार-पीट और हत्याएँ भी हुआ करती है। इन संदर्भो के अतिरिक्त झगड़े और साधारण सी घटना पर हत्या करने का काफी प्रचलन होता है। इनको अपनी जाति के अलावा किसी भी जाति के लोगों से बड़ी चिढ़ होती है और वे उनसे सम्पर्क नहीं करना चाहते। वे उनको मार भगाना चाहते हैं और समझते हैं कि हर बाहरी नवागन्तुक उनका बुरा चाहता है और उससे उनको बड़ा खतरा हो सकता है। वे दूसरों में कत्तई विश्वास नहीं करना चाहते तथा अजनजातीय वर्ग के लोगों से छिपना भी चाहते हैं। इनके समुदायों में एक प्रकार का सामाजिक संगठन भी काम करता है। इस संगठन का रूप पंचायतों से मिलता-जुलता है। प्रायः आपसी झगड़ों के निबटारे का निर्णय तथा सजाओं या धार्मिक कृत्यों आदि के बारे में यही संगठन निर्णय लेता है। इस संगठन का प्रमुख कभी-कभी सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न अथवा बुजुर्ग व्यक्ति हुआ करता है। सभी उसका आदर करते हैं और वह देवता का प्रतिनिधि सा समझा जाता है। इनकी सामाजिक व्यवस्थाएँ काफी जनतांत्रिक कही जा सकती हैं। कहीं-कहीं तो जहाँ कि इनकी अवस्था कुछ नवयुगीय हो रही है वहाँ अर्थोपार्जन

के लिए ये मजदूरी करते हैं या हस्तकला और गृह-उद्योग सदृश कार्य करके कुछ प्राप्ति कर लेते हैं, किन्तु बहुतायत में इनका पेशा ऐसा होता है जो कि जंगली ही कहा जा सकता है। ये आम तौर पर शिकार करने, मछली मारने, मुर्गी पालने, छोटी-मोटी खेती-बारी करने, मधु संचय करने तथा जंगली लकड़ियों से कोयला बनाने का काम करके कुछ अर्थोपार्जन कर लेते हैं। आमतौर पर इनके पेशे में एकरूपता पायी जाती रही है। शिकार पर इनका सर्वाधिक जोर रहता है और वे प्रायः इस कार्य को एक प्रकार से सबसे अच्छा समझते रहे हैं। ये अन्धविश्वासी तथा पुरानी विधियों के आदी होते हैं।

एक तो इन जातियों की अपनी विशेष रहन-सहन की विधियों के अवरोधक गुण के कारण, दूसरे इस ओर अनुपयुक्त उपेक्षा के कारण इनकी स्थिति में नवसभ्यता की अपेक्षाओं के अनुसार सुधार नहीं हो सका है। स्वतंत्रता के पूर्व विदेशियों ने इनकी ओर ठीक से ध्यान नही दिया और जो कुछ किया भी वह ऐसा नही कि वे अपनी दशा में इस प्रकार सुधार कर सकें कि सभ्य बन जायें, वरन् उनकी सहायता में मुख्य दृष्टि मात्र इतनी ही रही कि उनको कुछ आर्थिक सहायता मिल जाय तथा दवा-दारू के पुराने तरीकों और साधनों की जगह वे नयी दवाओं और सुविधाओं का प्रयोग शुरू कर सकें। ईसाईयों के धार्मिक संगठनों के कार्य भी मात्र यही रहे। यद्यपि इनके लिए थोड़ी बहुत शिक्षा की भी व्यवस्था की गयी किन्तु बराबर चेष्टा यह की गयी कि ये भारत के सामान्य अंगों से पृथक अस्तित्व के काबिल बने रहें और ये अपना धर्म बदल कर ईसाई बन कर अंग्रेजो का यश-गान करें। जिन जंगलों में ये रहते थे उन जंगलों में यदि कभी लकड़ी कटाई या दवाओं हेतु मूल-संचय और जानवरों की धर-पकड़ की जरूरत पड़ी और इनसे सम्बन्धित काम किये गये तो एक तो इनको व्यापक तौर पर रोजगार भी नही दिया गया और जहाँ इन्हे काम मिलता वहाँ इनके साथ अमानवी रूप मे पेश आया गया। इन्हें मार कर, धमका तथा बहका कर भगा दिया जाता था और बहुत ही कम पैसे पर काम कराया जाता था। ये बराबर सामान्य भारत से अलग से बने रहे और आज कई जन-जातियों की यह स्थिति हो गयी कि वे अपने स्वतंत्र राज्य स्थापन की माँग करने लगे। ये स्थितियाँ अच्छी नही मानी जा सकती थीं और इनमें सुधार की आवश्यकता महसूस की गयी। अब नया या सभ्य समाज एकता और कल्याण की एकरूपता की दृष्टि से यह नहीं स्वीकार कर सकता कि उसका कोई बड़ा हिस्सा, बड़ा जन-समूह या संगठन आम हिस्से या समूह से मिल न पाये या उसके साथ-साथ तथा समान हक के साथ विकास के अवसरों से विरत रहे।

एक ओर ये विचार तो थे ही, दूसरी ओर भारत को अपनी नव-अर्जित स्वतंत्रता के लिए खतरे के रूप में इन जातियों से उपेक्षित नहीं करना था। स्वतंत्रता के कुछ ही दिनों बाद इस ओर सरकार ने ध्यान दिया और कम से कम राजनीतिक स्वतंत्रता

की स्थिति को दृढ़ रखने के लिए इन जन-जातियों के विशेष क्षेत्रों की घोषणा की और इनकी सुव्यवस्था का भार सीधे-सीधे गवर्नर जनरल के मातहत रखा गया। फिर इनकी ओर कई वर्षों तक खास ध्यान नही दिया गया और १९५२ मे जब इस ओर खास तौर से ध्यान देने की अच्छी शुरूआत भी की गयी तो एक बड़ा विचार-द्वन्द्व सामने आ पड़ा। तत्कालीन प्रधान मंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू के विचार थे कि इनके साथ ज्यादा छेड़-छाड़ न की जाय और इन्हें अपनी परम्परागत पद्धतियों से जीवन-यापन करने दिया जाय। इनकी सहायता के लिए बस यही किया जाय कि इनको दवाओं, आवासों, वस्त्रों, भोजन तथा रोजगार के मात्र वे साधन उपलब्ध कराये जायं, जिन के बिना इनका जीवन संकटापन्न हो सकता है। बहुत से लोग इस विचार के समर्थक थे। इस किस्म के लोग इन जातियों के समुदायों का सर्वांगीण और सक्षम विकास चाहते रहे हैं और कतिपय संस्थाओं ने तथा व्यक्तियों ने इस दिशा में चेष्टाएँ भी की हैं। स्वैच्छिक आधार पर आदिवासी या जन-जातीय कल्याण का कार्य करने वाली संस्थाओं या संगठनों में रामकृष्ण मिशन, वनवासी सेवा मण्डल, सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसाइटी, अखिल भारतीय समाज कल्याण परिषद, आदिम जाति सेवक संघ तथा भील सेवा मण्डल आदि का नाम उल्लेखनीय है। जन-जातीय कल्याण का कार्य करने में महात्मा गान्धी, ल०म० श्रीकान्त, स्व० ठक्कर बापा, स्व० डा० वी०एल्विन डा० ब० ह० मेहता तथा श्री जयप्रकाश नारायण की चेष्टाएँ प्रशंसनीय रही है। सरकार ने समय-समय पर विशेष आयोगों की नियुक्ति, सर्वेक्षण की व्यवस्था, कानूनों के निर्माण, नौकरी में प्राथमिकता व अनुदानों आदि के जरिये इन जातियों के लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा करने की काफी प्रशंसनीय चेष्टाएँ की हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में जन जातीय कल्याण पर कुल पच्चीस करोड़ रुपये खर्च किये जाने की व्यवस्था थी जिसमें कि मात्र लगभग बीस करोड़ रुपये खर्च किया गया। दूसरी पंचवर्षीय योजना में इस मद पर पचास करोड़ साठ लाख रुपये के लगभग खर्च हुआ। इन धनराशियों का व्यय बस्ती नर्माण, खेत निर्माण, संचार, जंगल सफाई, प्रारम्भिक अभियान प्रशिक्षण, रोजगार, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं दवा, आदि की मदों पर किया गया। इन योजनाओं के दरम्यान जिन स्वैच्छिक संस्थाओं को धन दिया गया उनमें भारतीय आदिम जाति सेवक संघ, अखिल भारतीय समाज कल्याण परिषद्, सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसाइटी, टाटा इन्स्टीट्यूट आफ सोशल साइन्सेज, दी इंडियन कौंसिल फार चाइल्ड वेलफेयर आदि प्रमुख हैं। इन संस्थाओं को लक्षाधिक रुपये इन कार्यों के लिए अलग-अलग दिये जाते रहे और तीसरी योजना में इस मद पर लगभग साठ करोड़ रूपये की बड़ी धनराशि व्यय होती थी। इन कार्यों से आज दिनोत्तर जनजातीय समुदायों के व्यक्तियों का जीवन-स्तर उन्नत हो रहा है और वे सामान्यता की ओर बढ़ रहे हैं।

अध्याय २५

अनुसूचित जाति-कल्याण

प्राचीन भारतीय समाज वर्णाश्रम धर्म पर आधारित था। वर्ण-विभक्ति के आधार पर कालान्तर में जाति रूपी सामाजिक संस्था का आविर्भाव हुआ। इस संस्था के कई कुप्रभाव भी सामने आये। जातियों की श्रेष्ठता तथा हीनता के अनुरूप व्यक्ति का समाज में स्थान निश्चित होने लगा। बड़े पैमाने पर लोग ऐसी कोटि में रखे जाने लगे जिससे कि उन्हें अन्य अधिक सुविधा-सम्पन्न वर्ग से अलग समझा जा सके तथा ओछे और हीन किस्म के काम तथा सुविधाओं की उपलब्धि हो। हीन दशा के व्यक्तियों को अनेक सामाजिक-आर्थिक सामान्य अधिकार अप्राप्त होने की व्यवस्था प्रचलित हुई और वे ऊपर की जातियों के लिए घृणित, अस्पृश्य तथा अमांगलिक ठहराये गये। ये हीन दशा के व्यक्ति सारे भारत में व्यापक तौर पर रहे है और इनकी संख्या देश की कुल जनसंख्या की लगभग सप्तांश रही है। अछूत जाति के अस्तित्व तथा इस प्रथा के अनेक कारण रहे हैं। ये कारण धर्मगत, जातिगत तथा समाजगत कहे जा सकते हैं। अछूत जातियाँ सारे भारत में सामाजिक रूप से तिरस्कृत हैं और साधारण लोग उनके पेशे से कोई सम्वन्ध नही रखते। यह तिरस्कार मृत्यु के विशेष भय से उत्पन्न होता है। यह काम गन्दा है, इस भावना से कोई व्यक्ति अपवित्र नहीं हो जाता, बल्कि माना यह जाता है कि मृत्यु से सम्पर्क रखने के कारण वह व्यक्ति दूसरों में मृत्यु का संचार कर सकता है। सारे भारत में धोबियों के प्रति जो भावना विद्यमान हैं, उसका कारण यह है कि वे रजस्वला स्त्रियों के कपड़ों के सम्पर्क में आते हैं, जिनके बारे में लोगों में कुछ तांत्रिक विश्वास प्रचलित है। किन्तु अव उसे केवल सफाई की बात समझा जाने लगा है। इस प्रकार के तांत्रिक निषेधों को वंश और जाति सम्बन्धी भेदों ने और वढ़ा दिया है। इसका उदाहरण बर्मा में मिलता है। बर्मा में भारतीय अर्थ में जाति प्रथा न होने के कारण वहाँ के उदाहरण से जाति प्रथा की उत्पत्ति को समझने में सहायता मिलती है। वहाँ पगोडा (मन्दिर) के दास लोग वंशानुगत दास होते है और दूसरे वर्गों के द्वारा तिरस्कृत किये जाते हैं। वे लोग आमतौर पर बाहरी जातियों से आये थे। बहुत से आराकानी तेलंग और संन्यासी लोग विजयी राजाओं के द्वारा बर्मा के विभिन्न भागों में बसाये जाते थे और उन्हें पगोडों की सेवा का काम सौंपा जाता था। जातिगत कारणों से

कुछ जातियों में गहने पहनने का निषेध होता है। आसाम की नागा जाति, पर्वत श्रेणी में आवो जाति की एक उपजाति है जो मूलत. इस जाति के बाहर से आयी थी। इस जाति के लोग दोनो हाथोंमें हाथी दाँत के गहने नही पहन सकते। जब कोई बाहरी जाति अपना सामाजिक स्थान ऊँचा करना चाहती है तब पहला काम यह करती है कि दूसरी जातियों में अपनी लड़कियों का विवाह करती है। 'जातीय' नामक एक केवट जाति ने इसी प्रकार अपना स्थान ऊँचा कर लिया है तथा अब एक ऊची जाति के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी है। इसी प्रकार वामसूत्रों का भी एक भाग अपने को उठाने की चेष्टा कर रहा है। वस्तुतः अछूत जातियो में जाति-भेद अछूतों और सवर्णो के बीच के जाति-भेद से कम प्रबल नही है। बम्बई प्रान्त में महार लोग चमारों के साथ व्यवहार नही करना चाहते। फिर, महार और चमार, दोनों भंगी को नीची दृष्टि से देखते है। जाति प्रथा के विकास में धर्म का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ है। धार्मिक कट्टरता, लोगो में अपवित्रता तथा अस्पृश्यता की भावना उत्पन्न करती है और समाज किसी पेशे के प्रति स्वाभाविक घृणा व दुर्भावना के द्वारा इन जातियों की हीन स्थिति को और भी स्थिर कर देता है।

भारत में अछूतो की समस्या की जाँच के लिए सार्वजनिक अधिकार ही एक व्यापक कसौटी बन सकते हैं क्योंकि अन्य धार्मिक तथा सामाजिक कठिनाइयाँ इन्ही से जुड़ी होती है। ये सारी असुविधाएँ भिन्न अंचलो में भिन्न हुआ करती हैं। यह निश्चित करने के लिए कि कौन-कौन से लोग अछूत जातियों में गिने जायँ, प्रत्येक राज्य की अलग-अलग सूची बनानी पड़ती है। कुछ जातियाँ जैसे—डोम, भंगी आदि ऐसी है, जो सारे भारत में अछूत मानी जाती हैं, किन्तु अनेक जातियाँ ऐसी भी है जिनका स्थान न केवल अलग-अलग राज्यों में, वरन् एक जिले से दूसरे जिले में भी भिन्न हो जाता है। फिर कुछ जातियाँ हिन्दू न होने के कारण भिन्न स्थिति में आ जाती हैं क्योंकि उनके अन्दर उन पेशो और आहारों के प्रति वे धारणाएँ नहीं होती है जो हिन्दू समाज में प्रचलित है। कभी-कभी उनके अन्दर के उच्च वर्ग के लोग हिन्दू समाज मे राजपूत या क्षत्रिय मान लिये जाते हैं और कभी-कभी सारी जाति को ही एक प्रकार का अधिकार प्राप्त हो जाता है। कुछ ऐसी जातियाँ भी है जो हिन्दुओं में अपवित्र समझी जाती हैं व उनके हाथ का पानी नही पीया जाता किन्तु उन्होंने अपना मजबूत संगठन बना कर और अपने अन्दर धनी, सभ्य तथा शिक्षित व्यक्तियोंकी संख्या बढ़ा कर अपनी स्थिति को इतना मजबूत कर लिया है कि उनके लिए किसी प्रकार के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संरक्षण की आवश्यकता नहीं रह गयी है। इस प्रकार बहुत से लोग जन गणना में अस्पृश्यों की कोटि से निकल गये हैं तथा अनेक ने स्वयं विरोध करके अपने नाम निकलवा लिये हैं। आसाम में तथाकथित

अपवित्र तथा अछूत जातियों की संख्या सवर्णो से अधिक होने के कारण उन्हें उतनी असुविधाएँ नही झेलनी पड़ती, जितनी अन्य राज्यों में झेलनी पड़ती हैं। बहुत से अछूत सामाजिक बाधाओं से बचने के लिए मुसलमान या ईसाई हो गये हैं, किन्तु इस धर्म परिवर्तन के उपरान्त भी उनका तिरस्कार तुरन्त समाप्त नही हो जाता। कई दक्षिण भारतीय ईसाई गिरजा घरों में बैठने के मामले मे जाति-भेद का अनुकरण करते हैं किन्तु धर्म परिवर्तन के कुछ समय बाद वे समाज में आगे बढ़ सकते है। ऐसे दक्षिण भारतीय ईसाइयों में तीन पीढ़ियो के बाद लोग अन्य जातियों के ईसाइयों के बराबर हो जाते है। आर्थिक दृष्टि से पूरे भारत में अछूत स्वावलम्बी हैं। पश्चिम भारत में उनकी स्थिति गाँव के नीचे दर्जे के नौकर की होती है। इसके बदले में उन्हें गाँव की कुछ जमीन या अनाज आदि रूप मे मुआवजा मिलता है। परन्तु उनकी संख्या बहुत बढ़ गयी है और वे प्रायः गाँव से ही अपने भरण-पोषण की आशा करते है, चाहे उनकी सेवाओं की जरूरत हो या न हो। दक्षिण भारत मे वे दासों की अवस्था में हैं जो बहुत कुछ जमीन से बंधे हुए हैं। उत्तर भारत में उनकी स्थिति भिन्नतामूलक है जैसे—औद्योगिक शहरों मे चमड़ों का काम करने वालों को आजीविका कुछ आसानी से मिल जाती है किन्तु देहात में उन्हें खराब से खराब जमीन और कुएँ दिये जाते है तथा वे बहुत ही गरीब होते है। भारत के तमाम अछूतों तथा पिछड़ी जातियों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दशाओं में पर्याप्त सुधार लाने व उन्हें सवर्णो के समकक्ष स्थिति में लाने और इस आधार पर बने एक खास वर्ग को समाप्त कर पूरे देश को शक्तिशाली बनाने के लिए कई प्रकार के कार्यो की अपेक्षा रही है। इन कार्यो को हम मुख्यतः निम्नलिखित चार वर्गों मे बाँट सकते है :—

(१) ऐसी इतिहास की शिक्षा दी जाने की व्यवस्था करना जिसमें कि मनुष्य की विभिन्न जातियों, देशों तथा संस्कृतियों का निरूपण हो। इसके अतिरिक्त प्राचीन परपराओं के महत्त्व के प्रारम्भिक कारण दिखाते हुए उनमें से आज जो परम्पराएँ अनावश्यक तथा हानिकारक सिद्ध हो गयीं हैं, उन्हें छोड़कर शेष के विकास को प्रोत्साहन देना।

(२) जीवन-स्तर मे उन्नति की व्यवस्था।

(३) गन्दे काम करने के तरीकों और औजारो में सुधार करने वालों को स्वच्छ रखने की व्यवस्था।

(४) मृत्यु सम्बन्धी पेशों के लिए ये उपाय किये जा सकते है : सरकारी फाँसी देने का कार्य किसी जाति विशेष के हाथ में न छोड़ा जाय और श्मशान, कब्रिस्तान आदि का प्रबन्ध सरकारी ठेके के द्वारा हो।

इन कार्यों को करने के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष तौर पर अनेक सरकारी प्रयत्न किये जाते रहे हैं। यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व भी बहुत से महत्त्वपूर्ण कार्य अछूतोद्धार तथा पिछड़ी जातियों के कल्याण के सम्बन्ध में किये गये थे किन्तु उसके बाद तो इस ओर बहुत तेजी से कार्य किये गये हैं। सरकार ने संविधान में विशेष व्यवस्थाएँ की तथा केन्द्रीय व राज्य सरकारों ने अनेक नियम बनाये तथा अन्य कार्य किये। इस हेतु विशेष संस्थाओं का संचालन हुआ व स्वैच्छिक संस्थाओं को आर्थिक सहायता दी गयी। व्यक्तिगत स्तर पर भी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये गये। संविधान के निर्देशक सिद्धान्तों में अनुच्छेद छियालिस (४६) में इन जातियों के लिए राज्यों को निर्देश किया गया है कि वे ऐसी विशेष व्यवस्था करें जिससे कि इनका आर्थिक-शैक्षणिक स्तर ऊपर उठ सके तथा वे सामाजिक समानता का भोग करते हुए सभी प्रकार के शोषण से बच सकें। अनुच्छेद तीन सौ चालिस (३४०) के अन्तर्गत इनकी दशा की जाँच-पड़ताल तथा सुधार के सुझाव आदि के लिए एक विशेष आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था है। अनुच्छेद तीन सौ इकतालिस तथा तीन सौ बयालिस में यह व्यवस्था रही है कि राष्ट्रपति इन जातियों के लोगों की एक सूची प्रकाशित करायें। धारा पन्द्रह से जाति-आधार पर किये जाने वाले भेद-भाव की मनाही हो गयी है तथा धारा सोलह में नौकरियों में बराबरी का दर्जा देनेको कहा गया तथा अनुच्छेद उन्तीस में राज्यों को इनकी दशामें सुधार के विशेष अधिकार मिले। अनुच्छेद सत्रह द्वारा अस्पृश्यता को उन्मूलित कर दिया गया तथा सार्वजनिक स्थानों में गमनागमन तथा स्पर्श के समान अधिकार दिये गये। अनुच्छेद दो सौ पचहत्तर द्वारा एक केन्द्रीय कोष से राज्यों को एतत् सम्बन्धी कार्यों के लिए धन दिये जाने की व्यवस्था की गयी। अनुच्छेद तीन सौ अड़तिस द्वारा राष्ट्रपति को बराबर सम्बन्धित कार्यों की देख-भाल के बारे में प्रतिवेदन देने के लिए एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति करने की बात कही गयी। प्रथम पंचवर्षीय योजना में अनुसूचित जातियों पर कुल चौदह करोड़ रुपया खर्च किये जाने का प्राविधान रहा जो कि बढ़ाकर द्वितीय योजना में पच्चीस करोड़ से भी अधिक का हो गया था। इस राशि में से एक पंच-मांश के लगभग तो केन्द्रीय सरकार को देना था तथा शेष चार अंश राज्यों की सरकारों को खर्च करना था। तीसरी योजना में कुल बत्तीस करोड़ रुपये का प्राविधान किया गया था जिसमें से कि केन्द्रीय सरकार को एक तिहाई से कुछ कम रुपया खर्च करना था और शेष दो तिहाई राज्य सरकारों को व्यय करना था। प्रथम योजना में जो कदम उठाये गये थे वे मुख्यत: वैधानिक, शैक्षणिक तथा वैचारिक परिवर्तन और जीवन-स्तर की उन्नति से सम्बन्धित थे। १९५८ में हुए राज्य हरिजन तथा पिछड़ी जाति कल्याण मंत्रियों के सम्मेलन ने इस बात पर बल दिया कि इन जातियों के लोगों को ऐसी सुविधाएँ दी जायें तथा अन्य लोगों को भी ऐसी सुविधाएँ मिलें कि हर वर्ग के लोगों को एक साथ

सामाजिक तौर पर मिलने में तथा एकरूप होने में सहूलियत और निश्चितता बढ़े। आगे की योजनाओं में खेती, कुटीर-उद्योग, मकान, पीने के पानी, प्राथमिक शिक्षा, उद्योग-प्रशिक्षण, उच्च अध्ययन, समाज-शिक्षा तथा सामुदायिक विकास के अनेक कार्यों पर विभिन्न सरकारों ने धन व्यय किये तथा कल्याणकारी कार्यक्रम चलाये और आज भी चलाती हैं। इन कार्यों से अनुसूचित जाति के लोगों को काफी राहत मिली है तथा बहुत हद तक वे अपने स्तर को हर दृष्टि से उठा सकते हैं और उठा रहे हैं। स्वैच्छिक आधार पर अनुसूचित जाति के कार्य करने वाली संस्थाओं में—अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ, अखिल भारतीय पिछड़ा वर्ग-संघ, भारतीय दलित वर्ग-लीग, ईश्वर-शरण-आश्रम, भारत दलित वर्ग सेवक-संघ, रेडक्रास सोसाइटी तथा अखिल भारतीय समाज-कल्याण परिषद् नाम उल्लेखनीय हैं। तीसरी योजना की अवधि में अखिल भारतीय स्तर की ऐसी संस्थाओं को कुल लगभग सवा करोड़ रुपया देने का प्राविधान था।

महात्मा गांधी, ठक्कर बापा, विनोबा, जयप्रकाश इत्यादि अनेक प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं ने अनुसूचित तथा पिछड़ी जातियों के कल्याण के अनेक प्रयत्नों द्वारा इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस क्षेत्र में विचार-विमर्श, साहित्य प्रकाशन तथा अनुसन्धानों का भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है और अनुसूचित जातियों के कल्याण की भावना को कार्यान्वित करने में बड़ी सफलता मिली है। आज इस बात की मान्यता बढ़ रही है कि इन जातियों का सवर्णों से एकाकार कराने तथा जातिगत आधार पर वर्ग-भेद को मिटाने के संकल्प को फलीभूत करने के लिए भारतीय जन-मानस में क्रान्तिकारी, मापक और स्थायी परिवर्तन की अपेक्षा है और इस कार्य को करने के लिए प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं के भरपूर उपयोग पर बल दिया जाना चाहिए।

अध्याय २६

अन्य कल्याण-कार्य

(क) परिवार-कल्याण नियोजन

व्यक्ति, परिवार तथा राष्ट्र की सुख-समृद्धि हेतु नियोजित परिवार की आवश्यकता हुआ करती है। नियोजित परिवारका अर्थ होता है—किसी परिवार की समस्त उपलब्धियाँ उसमें इस ढंग से वितरित हों कि उसके हर सदस्य की आवश्यकताओं की तुष्टि हो। मैंने तुष्टि की बात कही। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त उपलब्धियों की मात्रा भी समुचित होनी चाहिए, नही तो उनकी अच्छी से अच्छी वितरण व्यवस्था भी जरूरी तुष्टि नहीं कर सकती। उपलब्धियों की पर्याप्तता दो प्रकार से हो सकती है—एक तो उनकी मात्रा बढ़ा-कर तथा दूसरे उनके उपभोगियों की मात्रा घटा कर। जरूरी चीजों की मात्रा बढ़ाने के लिए विविध वस्तुओं के उत्पादन की दर बढ़ायी जाती है और उपभोगियों की मात्रा कम करने के लिए जन्म की दर कम की जाती है। हमारे देश ने इन दोनों ही कामों को करने का भार उठाया है और अपनी अनेक योजनाओं द्वारा सचेष्ट है। जो काम जन्म दर घटाने या कम करने मे सम्बन्धित है उनको परिवार-कल्याण नियोजन के अन्तर्गत रखा गया है। इस योजना के अन्तर्गत भारत-वासियों को ऐसे साधन, साहित्य तथा परामर्श आदि मुहैय्या किये जाते हैं जिनसे यह सम्भावना बढ़े कि प्रजनन-शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति (क) निश्चित संख्या में बच्चे पैदा करें, (ख) निश्चित अवधि पर बच्चे, पैदा करें तथा (ग) उनकी समुचित देख-भाल की व्यवस्था करे। जिन व्यक्तियो मे प्रज-नन शक्ति लुप्त होती है उनके सम्बन्ध मे कोशिश यह की जाती है कि उन्हे भी पर्याप्त बच्चे यदि संभव हो तो हो सकें। यद्यपि परिवार कल्याण-नियोजन के ये व्यापक उद्देश्य हैं किन्तु इनमें सर्वाधिक बल इस बात पर दिया जा रहा है कि लोग कम बच्चे पैदा करें और देश की जनसंख्या में बेतहाशा वृद्धि रुके तथा आगे भी जनसंख्या अपेक्षानुरूप ही हो। ऐसा इसलिए जरूरी हो गया है, क्योंकि भारत एक विकासशील देश है और हम भौतिक जगत में जो कुछ भी उत्पन्न कर पा रहे हैं या मुहैय्या कर पा रहे हैं, वह इस तेजी से बढ़ते जन्मदर तथा जनसंख्या के लिए अपर्याप्त ही बना रह जा रहा है। समृद्धि की तो आशा ही नही दीखती।

भारत में परिवार-कल्याण नियोजन का काम सरकार कर रही है तथा देश में यह

राष्ट्रीय स्तर पर शुरू किया गया है। इस काम में स्वैच्छिक संस्थाओं तथा व्यक्तियों का भी सहयोग लिया जा रहा है। भारत की प्रति वर्ष एक करोड़ बीस लाख व्यक्ति की अतिरिक्त बढ़ती हुई जनसंख्या ने आज हमें पचास करोड़ से अधिक जनसंख्या वाला देश बना दिया है। यह जनसंख्या विश्व के जनसंख्या के मामले में सबसे बडे देश चीन के बाद ही की है। यह जनसंख्या दुनियाँ की कुल आबादी की लगभग चौदह प्रतिशत है जब कि इसका क्षेत्रफल विश्व के क्षेत्रफल का लगभग ढाई प्रतिशत से भी कम ही है।

परिवार-नियोजन के कार्यक्रम की शुरुआत प्रथम पंचवर्षीय योजना से ही हुई है। उस योजना मे इस कार्यक्रम पर खर्च के लिए मात्र साढ़े चौदह लाख रुपये रखे गये थे और इस योजना-काल मे इस दिशा में काम भी बहुत ही शिथिल रहा। दूसरी योजना मे यह राशि पहले की अपेक्षा पन्द्रह गुनी अधिक करके २ करोड़ १५ लाख ६० हजार रुपए कर दी गयी और इस काम मे कुछ तेजी आयी। तीसरी योजना में यह राशि और भी बढ़ा कर पहली की लगभग सत्रह गुनी अर्थात् सैतीस करोड़ रुपये होगयी और अब चौथी योजनामे इस राशि को भी तिगुनी करके लगभग एक अरब रुपया कर देने का प्रस्ताव है। प्रथम योजना काल मे यह कार्यक्रम मात्र शुरुआत सा रहा, दूसरी योजना अवधि मे गर्भनिरोधक साधनों का प्रचार हुआ और इसी अवधि मे वन्ध्याकरण तथा नपुसकता हेतु शल्य क्रिया की शुरुआत हुई और तीसरी योजना के अन्त तक 'लूप' विधि की शुरुआत की गयी। तीसरी योजना मे प्रत्येक राज्य और केन्द्र-शासित प्रदेश में परिवार-नियोजन कार्यालय की स्थापना की गयी और लगभग दो सौ जिलों में ये कार्यालय खुले। कुल १०,२३७ परिवार नियोजन केन्द्रों मे से १,३७० शहरी क्षेत्र में तथा ८,८६९ ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित हुए। इनके अलावा गर्भनिरोधक उपकरणो के वितरण का काम करने वाले केन्द्रों की संख्या १०,५०० हो गयी। इस प्रकार कुल परिवार-कल्याण नियोजन केन्द्रों की संख्या बीस हजार से ऊपर हो गयी। कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए तीन केन्द्रीय संस्थान तथा अट्ठाइस राज्य-केन्द्रों की स्थापना हुई। इनमें बयालिस हजार कर्मचारी प्रशिक्षित हुए। अनेक अनुसंधान तथा अध्ययन के कार्य भी हुए। इस अवधि में गर्भ-निरोधक उपकरण-निर्माण में आत्म-निर्भरता आयी। कुल लगभग आठ करोड़ झाग-टिकिया तथा तीस करोड़ जेली-क्रीम की नलिकाओ का उत्पादन हुआ। अब तक पन्द्रह लाख से अधिक व्यक्तियों (स्त्री तथा पुरुष) को शल्यित किया जा चुका था। भारतीय चिकित्सा तथा अनुसन्धान परिषद् के पचास केन्द्रों मे अध्ययन करके 'लूप' को एक सफल प्रयोग ठहराया गया। सन् १९६६ की प्रथम तिमाही तक लगभग आठ लाख स्त्रियों को 'लूप' लगाया गया था। तब तक इसके लिए लगभग सवा दो हजार केन्द्रो तथा सवा सौ सचल केन्द्रो की व्यवस्था की जा चुकी थी। कानपुर के 'लूप' बनाने के कारखाने की प्रारम्भिक उत्पादन क्षमता को दस हजार प्रतिदिन से बढ़ाकर तीस हजार

प्रतिदिन तक पहुँचा दिया गया है। चौथी योजना के दरम्यान प्रथम वर्ष में ही सवा बारह लाख लोगों को इस हेतु शल्यित किये जाने का ध्येय है तथा हर हजार पीछे बीस महिलाओं को शहरों में तथा दस महिलाओं को गाँवों में 'लूप' लगाया जाना है। स्वैच्छिक संस्थाओं को परिवार-कल्याण नियोजन केन्द्रों के संचालनार्थ शतप्रतिशत अनुदान दिया जाता है। इस कार्यक्रम में अध्यापकों, जनप्रिय नागरिकों तथा अन्य लोगों के भी सहयोग की योजना बनायी जा रही है। पिछले दो वर्षों मे ऐसी चिकित्सा-विज्ञान की कुल एक हजार चार सौ तीस छात्राओं को जो कि पढ़ाई के बाद इस कार्यक्रम में सहयोग करेंगी, छात्र-वृत्ति दी जाने की योजना रही है। महिला-चिकित्सकों तथा पुरुष-चिकित्सकों की कमी को ध्यान में रख कर खास प्रबन्ध किये गये हैं। हर दो-तीन वर्ष बाद कार्यक्रम का मूल्यांकन किया जाता है। प्रचार के तमाम साधनों द्वारा इसका प्रचार तथा प्रसार किया जा रहा है और चौथी योजना में लगभग बारह करोड़ रुपये इस हेतु व्यय होंगे। सभी प्रकार के चिकित्सा संस्थानों तथा केन्द्रों में इसके विभाग खोले जाने का काम तेज कर दिया गया है। प्रायः चिकित्सा विज्ञान विद्यालयों में परिवार-नियोजन का विषय एक अनिवार्य विषय बना दिया गया है। खेती के बाद इसी कार्यक्रम पर सरकार का सर्वाधिक जोर है। कतिपय सरकारी व्यक्ति समझते हैं कि इस कार्यक्रम पर जबकि चतुर्थ योजना में लगभग एक अरब रुपए की व्यवस्था है—खर्च इसका दुगुना-अर्थात् लगभग दो अरब रुपये किया जायेगा। इस कार्यक्रम में भारत को कुछ अन्य देशों से भी मदद मिल रही है। अब जनसंख्या वृद्धि अथवा जन्म दर वृद्धि रोकने के सभी उपायों का संयुक्त रूप से व्यापक उपयोग और प्रयोग हो रहा है तथा लक्ष्य है कि जन्मदर घट कर आधी हो जाय अर्थात् ४·१० प्रतिशत की जगह २.५ प्रतिशत हो जाय। इस सारे कार्यक्रम के प्रचार तथा कार्यान्वियन में प्रशिक्षित समाज, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का बड़ा उपयोग किया जा रहा है और वे इसके प्रचलन में बाधक व्यक्तियों की मनोसामाजिक स्थितियों में स्वस्थ परिवर्तन करने में आशानुरूप सफल हो रहे हैं।

(ख) शारीरिक रूप से बाधितों का कल्याण

शारीरिक रूप से बाधित वे लोग हैं जो कि अपनी किसी या किन्हीं शरीरगत हीनता के कारण समाज में सामान्य जीवन-यापन में असमर्थ हो जाते हैं। इनमें लंगड़े, लूले, अन्धे, बहरे, गूँगे, जीर्ण तथा जराग्रसित व्यक्ति होते हैं। मानसिक दोष से युक्त व्यक्ति इस श्रेणी में नहीं आते। उन्हें मानसिक-बाधित की कोटि में रखा जाता है और उनके हेतु कल्याण की इतर व्यवस्थाएँ की जाती हैं। यहाँ हम लंगड़े, लूले, गूँगे, बहरे तथा अन्धों के कल्याण की चर्चा कर रहे हैं क्योंकि अन्य की चर्चा अन्य अध्यायों में की जा चुकी है।

हमारे देश में बीस लाख से अधिक अन्धे हैं तथा आठ लाख से ऊपर मूक-बधिर व्यक्ति हैं। लंगड़े-लूलों की संख्या शारीरिक बाधितों में सर्वाधिक होने का अनुमान है।

लंगड़े-लूलों की स्थिति पर सन् १९५० के पूर्व तक किसी संस्था ने गंभीरतापूर्वक ध्यान नहीं दिया था। व्यक्तिगत तौर पर किसी ऐसे बाधित को कुछ मदद मिल जाती थी, किन्तु ऐसे बाधितों के उद्धार का विचार नगण्य था। आहत सैनिकों के उपचार के लिए द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस ओर कुछ ध्यान दिया गया। सन् १९४७ में बम्बई में विकलांग बच्चों के लिए एक संस्था खुली। १९४९ में बम्बई में ही एक दूसरी संस्था लम्बे अर्से तक बीमार रहने वाले बच्चों के लिए खुली। पूना का कृत्रिम अंग केन्द्र १९५१ में सबके लिए सेवाएँ अर्पित करने लगा। भारत सरकार के सहयोग से बम्बई में ही के० ई० एम० अस्पताल ने १९५५ में एक विकलांग-पुनर्वास तथा प्रशिक्षण केन्द्र खोला। ऐसे शारीरिक बाधितों के लिए शिक्षा मंत्रालय ने सन् १९६१ तक चार सौ छात्रवृत्तियों की तथा एक आदर्श विद्यालय की स्थापना की योजना रखी जो कि कार्यान्वित की जा रही है। देश में अन्य अनेक ऐसी संस्थाएँ हैं जहाँ कि ऐसे बाधितों के कल्याण का काम किया जाता है। इनको राज्य सरकारें इसमें मदद देती हैं। इन संस्थाओं मे पुनर्वास की हर सम्भावना का विकास हो रहा है। मूक और बधिर-कल्याण के कार्य की शुरुआत का श्रेय स्वैच्छिक संस्थाओं को है। १९५० तक केन्द्र तथा राज्य दोनों ही स्तरों पर इधर ध्यान नहीं दिया गया था। बम्बई में १८८४ में तथा कलकत्ता में १८९३ में मूक-बधिर से सम्बन्धित संस्था तथा विद्यालय खुले। मद्रास में १८९६ में एक इसी प्रकार का विद्यालय खुला। प्रथम योजना के पूर्व तक देश में ऐसे अट्ठारह और विद्यालय खुल चुके थे। १९५५-५६ में केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय ने मूक-बधिर विद्यार्थियों को प्रशिक्षण विद्यालयों से लाभान्वित होने के लिए छात्र-वृत्ति देने की एक योजना स्वीकृत की। दूसरी योजना में मध्य प्रदेश सरकार ने एक विद्यालय खोला था। स्वैच्छिक संस्थाओं को उत्तर प्रदेश सरकार सहायता देती थी। स्वैच्छिक आधार पर इस क्षेत्र के छः और संगठन बने तथा इन्होंने शिक्षा, सर्वेक्षण तथा अध्ययन का काम किया।

केन्द्रीय सरकार ने यद्यपि कई अन्य और योजनाएँ भी बनायी किन्तु वह सन् १९६१ तक मात्र छात्रवृत्ति देने के काम को कर सकी और इस मद पर तब तक दो लाख सत्रह हजार रुपया खर्च किया गया था। अन्य मंत्रालयों ने आदेश जारी कर यह कहा कि सम्बन्धित विभागों में ऐसे बाधितों की नियुक्ति में नरमी कर दी जाय। चलचित्रों का भी निर्माण हुआ। श्रवण-साधनों या यंत्रों को विदेशों से मंगाने में कर की दर घटायी गयी या समाप्त कर दी गयी। बहुत से उत्पादन-प्रशिक्षण केन्द्रों में मूक-बधिर लोगों के लिए स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। अनेक राज्यों ने और अधिक मूक-बधिर विद्यालय खोले हैं तथा स्वैच्छिक

संस्थाओ को दी जाने वाली राशि की मात्रा को बढा दिया है। मूक और बधिर लोगों को शिक्षण देने के लिए अध्यापको के प्रशिक्षण के लिए भी विद्यालय है जिनमें लखनऊ और कलकत्ता के विद्यालय १९५७ तक खुल चुके थे। उनकी नगरपालिकाओ ने भी इस प्रकार के शारीरिक बाधितों की अनेक-विधि सहायता की है तथा करती हैं। तृतीय योजना मे केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय के द्वारा एक प्रौढ़ बधिर प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना के लिए नौ लाख रुपये का प्राविधान रहा है। सभी संस्थाएं तथा सगठन अपने कार्यो का गठन तथा विकास करती रही हैं तथा उनकी आर्थिक सहायता मे वृद्धि की जा रही है।

भारत में अन्धों के कल्याण का कार्य मुख्यत: दानदाता संगठनो तथा धार्मिक संस्थाओं द्वारा प्रारम्भ किया गया है। संगठित रूप मे इस दिशा मे उठने वाला पहला कदम, अमृतसर मे १८८७ मे 'मिस शार्प का अन्ध विद्यालय' की स्थापना था। फिर भिन्न राज्यो मे सात इसी प्रकार के और विद्यालयो की शुरुआत उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक हो चुकी थी। उसके बाद और भी बहुत मे अन्ध विद्यालय खुले। एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति कर १९४२ में भारत सरकार ने पहली बार इस ओर ध्यान दिया। १९४३ मे युद्ध के कारण अन्धे हुए लोगो के लिए देहरादून में एक आवास बनाया गया। यह १९५० मे केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय के मातहत हो गया और इस केन्द्र का नाम 'प्रौढ-अन्ध-प्रशिक्षणकेन्द्र' रखा गया। यहाँ सभी सुविधाएं मुफ्त मे मुहैय्या की जाती रही है और डेढ़ सौ पुरुष तथा पैंतीस स्त्रियो के रहने की व्यवस्था रही है। १९५१ में ब्रेल प्रेस स्थापित हुआ और भारतीय ब्रेल साहित्य का निर्माण शुरू किया गया। अनेक मंत्रालयों ने अन्धो के लिए सम्भव छूट तथा सहायता देने का कार्य किया है। अन्धो हेतु आवास, शिक्षण-प्रशिक्षण तथा नौकरियों आदि की विशेष सुविधाओ को मुहैय्या करने के लिए सरकारी तथा स्वैच्छिक आधार पर काफी काम हो रहा है। दूसरी योजना में केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय ने इनके लिए चौबीस लाख रुपये का प्राविधान किया जिसमें लगभग पौने तीन लाख रुपया छात्रवृत्ति हेतु था। देहरादून में अन्धे बच्चों के लिए आदर्श विद्यालय तथा प्रशिक्षण केन्द्र से सम्बद्ध स्त्री-अन्ध विभाग की स्थापना मे केन्द्रीय शिक्षा मत्रालय ने सन् १९६१ तक तीन लाख पैंतीस हजार रुपये खर्च किये थे। दूसरी योजना के अन्त तक शारीरिक रूप से बाधितों के लिए केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय ने सात लाख साठ हजार रुपये के लगभग व्यय किया था। इस मंत्रालय द्वारा दूसरी योजना के दौरान 'केन्द्रीय ब्रेल आवृत्तिक-पुस्तकालय' की व्यवस्था का प्राविधान अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। विदेशी सरकारों तथा संस्थाओं से इस क्षेत्र के कल्याणकारी कार्यो के लिए साधन, धन तथा विशेषज्ञ मिलते रहे हैं। तीसरी योजना में अन्धों के समस्त पूर्वचालित कार्यक्रमों पर व्यय करने के लिए सरकार ने २१ लाख ५० हजार रुपये का प्राविधान किया था। इसके अतिरिक्त नयी व्यवस्थाओं पर अतिरिक्त व्यय किया जाता रहा है।

शारीरिक जाधितों के कल्याण पर ध्यान देकर तथा उनसे सम्बन्धित तमाम सुविधाओं का विकास कर सरकार ने इस श्रेणी के व्यक्तियों के समाज में पुनर्स्थापन की सम्भावनाओं को काफी बढ़ा दिया है और यदि इन शारीरिक हीनता से युक्त व्यक्तियों के कल्याण के कार्यक्रमों में उनकी मनोसामाजिक गुत्थियों को सुलझा कर उनको अधिकाधिक लाभ प्राप्ति योग्य बनाने में प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का उपयोग व्यापक पैमाने पर समायोजित किया जा सके तो अभीष्ट प्राप्ति में और अधिक सफलता मिल सकती है।

(ग) अपराधी जाति-कल्याण

भारत में अनेक ऐसी जातियाँ रही है, जिन जातियों का पेशा ही अपराध करना रहा है। इन जातियों की अपराधी वृत्ति से समाज को बचाने तथा इनमें सुधार के लिए अनेक प्रयत्न किये गये है और आज भी अनेक चेष्टाएँ हो रही हैं। इनमें कानूनी तथा कल्याणकारी दोनों ही ढंग की व्यवस्थाएँ है। इनकी कुल जनसंख्या लगभग आधे करोड़ की आँकी जाती है। १९२४ में सरकार ने जनजाति विधेयक पारित कर यह व्यवस्था की कि इनकी विशेष निगरानी की जाय और वे बराबर पुलिस की नजर में रहें तथा उनके घूमने-फिरने और खानाबदोशी से रहने पर भी रोक लगायी गयी—जिससे कि वे सामान्य समुदायों में घुसकर अपराध करने का काम न कर सकें। बाद में इस विधेयक का नाम 'आदती अप-राधी विधेयक' हो गया। शुरू में कोशिश यह की गयी कि इन अपराधी जातियों के बच्चों को अपने स्वाभाविक अभिभावकों के सम्पर्क से निकाल लिया जाय और असामाजिक कृत्यों के शिक्षण से उन्हें बचाया जाय। इसके अलावा इन्हें बस्तियों में बसाया जाय। पुनर्वास सम्बन्धी समस्त सुविधाएँ दी जायें। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त तक इस हेतु ३० बस्तियाँ तथा १७ आवास बनाये गये थे। साढ़े तीन हजार से अधिक परिवारों को खेती की सुविधा दी गयी थी तथा ११३ सहकारी समितियाँ खोली गयी थी। ३३ कुटीर उद्योग केन्द्र खोले गये थे और २९० शिक्षण केन्द्र चलाये गये। दूसरी योजना में ५२ आश्रम-विद्यालय तथा ६७ केंन्द्र खुले; लगभग १३ हजार घर बनाये गये तथा दो करोड़ साठ लाख से अधिक रुपये नकद सहायता के रूप में दिये गये। प्रथम योजना में इस मद पर साढे तीन करोड़ रुपये खर्च हुए तथा दूसरी योजना में तीन करोड़ चौदह लाख रुपये खर्च किये गये। इनसे इनकी स्थिति में काफी सुधार हुआ है।

(घ) शरणार्थी-कल्याण

अंग्रेजों ने भारत को स्वतत्र होते समय विभाजित कर दिया। विभाजन के फलस्वरूप पाकिस्तान नामक नये देश का निर्माण हुआ। जब इस नये देश को अस्तित्व मिला तो बुरी भावनाओं से प्रेरित होकर बड़े पैमाने पर सामुदायिक दंगे हुए। पाकिस्तान में मुख्यतः

मुसलमान लोग थे और वे यह नही चाहते थे कि उनके देश में हिन्दू या अन्य धर्म के लोग रहें। पाकिस्तानवासियों ने ऐसे लोगों को अपने यहाँ से भगाना शुरू किया। भगाने के कार्य मे उन लोगों ने बड़ी अमानवीयता बरती। इसका फल यह हुआ कि इस भयाक्रान्त दशा में भाग-दौड़ में अनेक लोगों के घर उजड़ गये। कितनों की स्त्रियाँ, बच्चों तथा परिवार के सदस्यों का कुछ पता ही नही चला। सम्पत्ति की लूट-पाट हुई। भारी संख्या मे लोग अपने मूल स्थानों को छोड़ कर जैसे-तैसे सामाजिक और आर्थिक अनेक दिक्कतो के साथ नवभारत की ओर आये। इस प्रकार शरण में आये हुए लोगों की हर सम्भव सहायता की भावना मे प्रेरित होकर भारत सरकार ने अपने मंत्रालयों में एक नया मंत्रालय पुनस्थापना का खोला। इस मंत्रालय ने इन शरणार्थियों के हर प्राकर से पुनस्थापन के लिए अनेक कल्याण-कारी व्यवस्थाएँ कीं। आज इस मंत्रालय के कार्यक्रम काफी विस्तृत है और जहाँ प्रारम्भ में इससे लाभान्वित होने वालों की संख्या प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप में लगभग पचहत्तर लाख थी, वह बढ़ कर लगभग एक करोड़ के हो गयी है। भारत में आये शरणार्थियो के सहायता कार्य में अनेक स्वैच्छिक संस्थाओं ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इन संस्थाओं ने बहुत कुछ अपनी शक्ति से तथा कुछ सरकारी सहायता के बल पर इन शर-णार्थियों के पुनस्थापन में सहायता की है। इन संस्थाओं में कस्तूरबा गान्धी राष्ट्रीय स्मारक निधि, अखिल भारतीय बाल रक्षा समिति, अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ, रेड क्राम सोसाइटी, तथा रामकृष्ण मिशन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रारम्भ में की जाने वाली सहायताओं में शरणार्थियों की सहायता हेतु शिविरों का संचालन प्रमुख है। इन शिविरों में मुफ्त में आवास, भोजन, वस्त्र, दवा, शिक्षण, वृत्तिका प्रशिक्षण तथा बच्चों और माताओं को दूध दिया जाता था। इनके अतिरिक्त यह भी व्यवस्था थी कि शादी-विवाह से सम्बन्धित उत्सवों और कृत्यों के लिए तथा क्षय-ग्रसित तथा उसके परिवार की सहायता के लिए नकद आर्थिक सहायता दी जाय। बाहर से आने वालों को आने की सुविधा देने के लिए रेल का भाड़ा तथा कुछ और जरूरी धन भी दिया जाना था। योग्य और जरूरत मन्द बच्चों या पढ़ने वाले विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ दी जाती थीं। कई छोटे-मोटे रोजगारों के लिए उधार तथा अनुदान के रूप में धन दिया जाता था। वृद्धों, बच्चों तथा निराश्रित स्त्रियों के लिए खासतौर से ध्यान देकर उनके लिए उपर्युक्त व्यवस्थाएँ की गयीं। इनके अतिरिक्त स्थायी आवासीय सुविधा व्यवस्था की दृष्टि से शरणार्थी बस्तियों के निर्माण का कार्य शुरू किया गया। बहुत से ऐसे केन्द्र खोले गये जहाँ कि प्रशिक्षण के साथ-साथ व्यवसाय की सुविधाएँ भी दी गयीं। यहाँ आम तौर पर कुटीर उद्योगों के ढंग के काम सिखाये जाते थे। इन सुविधाओं को ज्यादा कारगर बनाने के लिए विदेशी विशेषज्ञों की भी सहायता ली गयी थी। बहुत से ऐसे व्यक्ति जिन्हें कि बहका कर

भगाया गया था और जो कि अपने सम्बन्धियों से मिल सकते थे या अपने मूल स्थानों को जा सकते थे, भारत और पाकिस्तान के समझौतों के आधार पर अपने मूलस्थानों को भेजे गये। दोनों ही देशों ने ऐसे लोगों के लिए खास तौर पर विधान और कानून बना कर इस दिशा मे एक और ठोस कदम उठाया। इन कानूनों के पालन पर निगरानी रखी गयी तथा लाभार्थियों की बराबर देख-भाल तथा जाँच-पड़ताल की जाती रही। जम्मू और कश्मीर में रहने वालों के लिए दोनों सरकारों ने संयुक्त रूप से जिम्मेदारी वहन की। प्रथम पंचवर्षीय योजना के दौरान इन शरणार्थियों के कल्याण कार्यों पर व्यय होने वाली राशि एक अरब पैंतीस करोड़ से अधिक थी। इस धनराशि का व्यय उनके आवास, भोजन, दवा, वस्त्र, शिक्षण-प्रशिक्षण आदि पर किया गया। बहुत से धार्मिक स्थानों, ऐतिहासिक आवास योग्य जगहों, विद्यालयों, निजी इमारतों तथा सैनिकों के रहने के स्थानों को इन शरणार्थियों के रहने का स्थान बना दिया गया। बच्चों और महिलाओं के रहने के लिए विशेष गृह बनाये गये थे। इन सबकी सुविधाएँ पूर्णतः मुफ्त थीं। सिलाई मशीन की खरीद के लिए ढाई सौ रुपये तक की आर्थिक सहायता दी गयी थी। शादियों के लिए दो सौ रुपये दिये जाते थे। तीमारदारी तथा शिक्षिकाओं का प्रशिक्षण प्राप्त करने-वाली औरतों को पैंतिस रुपये तक की वृत्ति दी जाती थी। इनके अतिरिक्त भी कई प्रकार से नकद धन देने की व्यवस्था थी। शिक्षा के लिए अनेक बुनियादी तथा उच्चतर विद्यालय यहाँ खुले या इनकी क्षमता बढ़ायी गयी। पचहत्तर रुपया प्रतिमास के हिसाब से नकद धन इसलिए दिया गया कि अन्य सुविधाओं के साथ ये अध्ययन के साधन भी जुटा सकें। इस हेतु ऋण भी दिये गये। सन् १९५६ के मार्च माह तक छात्रों को नकद सहायता तथा इनके लिए विद्यालयो की स्थापना एवं संचालन के लिए लगभग पौने छः करोड़ रुपये खर्च किये जा चुके थे। १९५४ में विशेष प्रकार की प्रारम्भ की गयी राष्ट्रीय अनुशासन योजना के अन्तर्गत एक सौ बासठ पाठशालाएँ चलायी गयीं और इनसे लगभग सत्तर हजार बच्चों को प्रशिक्षण मिला। प्रथम योजना में प्रशिक्षण और कार्य केन्द्रों स लाभान्वित होने वाले कुल शरणार्थियों की संख्या एक लाख छः हजार से अधिक रही। महिला प्रशिक्षार्थियों को पच्चीस से साठ रुपये प्रति मास तक सहायता दी जाने लगी और पुरुषों को तीस रुपये तक। कोशिश यह की गयी कि या तो प्रशिक्षण प्राप्त लोग स्वयं का लघु उद्योग खोलें या अन्य जगह कुछ सहूलियत से रोजगार पा सकें। गाँव से आये लोगों को अनेक प्रदेशों में जमीनें दी गयी और उन्हें खेती की सुविधाएँ मिली। इन पर प्रथम योजना के अन्तर्गत सोलह करोड़ रुपये से अधिक धनराशि व्यय करके पौने चार लाख से अधिक परिवारों को फायदा पहुँचाया गया। पूर्वी पाकिस्तान वालों को मकान बनाने के लिए सवा चार करोड़ से अधिक रुपया दिया गया था। रोजगार तथा

उद्योग की स्थापना के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना में सवा करोड़ से अधिक रुपया उधार दिया गया जिसमें कि एक व्यक्ति को पाँच हजार रुपये की राशि तक थी तथा तैतालिस हजार शरणार्थियो को काम दिलाया गया था। क्षतिपूर्त्ति नियमो एवं सुविधाओ के अन्तर्गत आठ हजार रुपये नकद तक की मदद दी गयी तथा सभी प्रकार की क्षति पूरक सहायताओं की अनुमानित लागत प्रति इकाई दो लाख रुपये तक हो सकती थी।

दूसरी योजना के दौरान भी इसी प्रकार के अनेक सहायता कार्य जारी रखे गये थे; इस अवधि में व्यय होने वाली धनराशि की अनुमानित मात्रा नब्बे करोड़ के लगभग थी। इस राशि का सबसे ज्यादा भाग आवासीय सुविधाओं हेतु भवन निर्माण पर था। इस पर कुल व्यय के चतुर्थांश से अधिक व्यय हुआ। इसके बाद सर्वाधिक व्यय शिक्षा व्यवस्था तथा ग्रामीण ऋण थे। इन पर पन्द्रह करोड़ रुपये के लगभग व्यय किया गया था। इसके बाद बारह करोड़ रुपये के करीब उद्योगो के ऊपर व्यय किया गया। फिर छः तथा सात करोड़ के लगभग रुपया रोजगार, प्रशिक्षण तथा नगरीय ऋण से सम्बन्धित कार्यो पर व्यय हुआ। मुख्य खर्चों में सबसे कम धनराशि चिकित्सकीय सुविधाओं पर व्यय की गयी थी किन्तु यह भी लगभग तीन करोड़ रुपये के थी। छात्रों को विशेष सुविधाओं के रूप में दी जाने वाली कुल राशि इकतालिस लाख रुपया के लगभग थी। बहुत से मुर्गी पालन केन्द्रों की व्यवस्था इस अवधि की एक नयी व्यवस्था थी। केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारों को इस क्षेत्र में किये जाने वाले कार्यो के प्रभाव के बारे में जानकारी हासिल करने के लिए अनुसन्धान और सर्वेक्षण कराने के लिए भी धन देकर इन कार्यो की उपादेयता की गम्भीरता दर्शायी। १९६१ के मार्च माह तक शरणार्थियों के विभिन्न सहायता और पुनर्स्थापन कार्यों पर पुनर्स्थापन मंत्रालय का कुल लगभग एक अरब पाँच करोड़ रुपया व्यय हो चुका था।

तीसरी योजना की अवधि में भी कथित तमाम मदों पर व्यय किया गया है। अनेक प्रकार के व्यय और योजनाओं के निर्माण का कार्य पुनर्वास मंत्रालय के जिम्मे से हटा कर सम्बन्धित मंत्रालयों को दे दिया गया।. इस योजना में लगभग पौने दो अरब रुपया व्यय किया जाना था और इस अवधि के मुख्य काम में अट्ठारह हजार परिवारों को पश्चिमी बंगाल में बसाना था। इन योजनाओं के फलस्वरूप शरणार्थियों को अपने पुनर्स्थापन में बड़ी मदद मिली है और आज हम देखते है कि वे भारत के सामान्य जनजीवन में तेजी से घुलते-मिलते जा रहे है और यह पता ही नही चलता कि वे किसी प्रकार सामान्य भारतीय से पृथक हैं। वे देश के अनेक रोजगारों में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। भारत के निर्माण में भी मदद दे रहे हैं।

(ङ) भिक्षु-कल्याण

किसी भी समाज में भिक्षुकों की उपस्थिति उसके विघटन में सहायक होती है। हर विकसित या विकासमान समाज इस विघटन के तत्त्व से बचना चाहता है। अपने बचाव के लिए वह भिक्षा-वृत्ति या प्रवृत्ति की रोक-थाम तथा उपचार के अनेक कदम उठाता है। इस प्रकार के हर कदम की अधिकाधिक उपयोगिता तथा प्रतिफल के लिए अन्य बातों के अतिरिक्त यह आवश्यक होता है कि भिक्षा-वृत्ति की प्रेरक शक्तियों तथा कारकों की ओर समुचित ध्यान दिया जाय तथा उनके प्रभावों को परखा जाय; इसलिए यहाँ यह जानना उपयोगी होगा कि भिक्षा-वृत्ति के लिए कौन-से कारक जिम्मेदार हैं।

भिक्षा-वृत्ति के कारकों में आर्थिक-हीनता का कारक एक प्रमुख कारक रहा है। बहुत से व्यक्तियों के पास इतने पैसे नहीं हुआ करते कि वे अपना पेट भी भर सकें या तन ढँक सकें या अपना साधारण से साधारण उपचार भी करा सकें। इन प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वे भीख माँगने का काम करने लगते हैं और इस काम द्वारा धन या वस्तु उपार्जित कर अपना जीवन-यापन करते रहते हैं। आर्थिक हीनता की ऐसी दशा अनेक कारणों से हो सकती है। ऐसा हो सकता है कि वह समुदाय या समाज जो कि मूलतः भिक्षुक का आवास स्थान रहा है आर्थिक दृष्टि से इतना असम्पन्न हो जिसमें कि रह कर व्यक्ति अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की भी तृप्ति नहीं कर सकता हो और फलस्वरूप उसे इधर-उधर भीख माँगना और उसी पर गुजारा करने के लिए विवश रहना पड़ता हो। आर्थिक हीनता की दशा अकाल, महामारी या लड़ाइयों आदि के कुपरि-णामों के फलस्वरूप भी आ सकती है। हो सकता है कि व्यक्ति अपनी शारीरिक या मानसिक अनुपयुक्त दशा के कारण अर्थोपार्जन के सामान्य तरीकों से लाभान्वित हो सकने में असमर्थ हो और फलतः उसे भीख माँग कर जीवन-यापन करना पड़े। ऐसे लोगों में, लंगड़े-लूले, अन्धे, बहरे, गूँगे, विकलांग, पागल, मन्द बुद्धि तथा रोगी आदि हो सकते हैं। यह तो हुई आर्थिक हीनता की बात। कभी-कभी आर्थिक समृद्धि के लिए भी इस कार्य को प्रोत्साहित किया जाता है। देखा गया है कि कुछ लोग खास तौर से इस काम को करने के लिए लड़कों और औरतों को रखते है और उन्हें भीख माँगने पर मजबूर कर उनसे हुई आमदनी का बड़ा भाग स्वयं हथिया लेते हैं। ये कृत्य करने वाले आर्थिक रूप से न तो दीन होते हैं और न तो इतने अशक्त कि अर्थोपार्जन न कर सकें। ये अपनी अधिक समृद्धि के लिए ऐसा करते हैं। बहुत सी सामाजिक स्थितियाँ भी व्यक्ति को ऐसी दशा में पहुँचा देती है जहाँ कि उनको सिर्फ भिक्षा-वृत्ति के लिए मजबूर होने के और कोई चारा नहीं रह जाता। बच्चों तथा महिलाओं की अनाथ तथा अना-श्रित स्थिति तथा अपराधी समुदाय या परिवार में पालन-पोषण के कारण यह स्थिति

आ सकती है। परिवार या समूह में भिक्षा के प्रति घृणा या तिरस्कार के भाव के साथ यदि व्यक्तित्व में उत्तम स्व का निर्माण नही हो पाता तो व्यक्ति यह काम अपना सकता है। बहुत बार साधारण समझे जाने वाले परिवार में भी इस प्रकार के स्वस्थ-भाव-विकास का कार्य अधूरा रह जाता है।

बहुधा भिक्षा-वृत्ति में धार्मिक प्रेरणाओं से भी लोग लगे रहते हैं और इसे अनुपयुक्त न मान कर सहज और सम्मानपूर्ण कृत्य समझते हैं। अनेक साधु तथा मन्दिरों और मठों में रहने वाले धार्मिक अगृहस्थ व्यक्ति इसके उदाहरण हैं।

बहुधा ऐसा भी होता है कि व्यक्ति भिक्षा-वृत्ति से मुक्ति पाना चाहता है और स्वस्थ सामाजिक जीवन के लिए पुनर्स्थापित हो जाना चाहता है, किन्तु समाज से न तो उसे इस नये रूप में आने पर सम्मान मिलने की संभावना रहती है और न तो ऐसी संस्थाओं की उपलब्धि होती है—जहाँ या जिसके माध्यम से वे अपनी अक्षम शारीरिक, मानसिक दशा के अनुरूप सम्यक् पुनर्स्थापन में मदद पा सकें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भिक्षा-वृत्ति में लगे लोग कई प्रकार के हो सकते हैं। मोटे तौर पर हम इन्हें निम्न श्रेणियों में रख सकते हैं :—

(१) अपराधी।

(२) शारीरिक रूप से अयोग्य—
- (क) अंधे,
- (ख) बहरे,
- (ग) गूँगे,
- (घ) अपाहिज,
- (ङ) गंभीर रोग-ग्रस्त,
- (च) लंगड़े-लूले।

(३) मानसिक रूप से अयोग्य—
- (क) मन्द बुद्धि,
- (ख) अनुपयुक्त उत्तम स्व वाले,
- (ग) अस्वस्थ स्व वाले,
- (घ) विक्षिप्त।

(४) धार्मिक।

(५) दरिद्र।

(६) लाचार।

(७) लाभार्थ पेशे वाले।

(८) सामाजिक-बाधित।

इन सभी प्रकारों में प्रायः सभी उम्र व लिंग, यथा—वृद्ध, वयस्क, बाल तथा महिला, लोग आते हैं।

विभिन्न प्रकार के भिक्षुओं को उनकी वृत्ति से रोकने तथा उन्हें पुनर्स्थापित करने के लिए यह आवश्यक होता है कि एक तो उन कारणों तथा दशाओं को समाप्त किया जाय जिनके कि शिकार होकर वे यह असामाजिक कृत्य करते हैं; दूसरे यह भी जरूरी होता है कि इस वृत्ति से छुटकारा पाने के बाद उनके पुनर्स्थापन हेतु पर्याप्त सुविधाओं से परिपूर्ण समुचित क्षमता वाली आवश्यक मात्रा में संस्थाओं तथा अभिकरणों की समाज में उपलब्धि हो। इस हेतु अनेक व्यवस्थाएँ की जाती रही हैं। ये व्यवस्थाएँ निरोधक तथा उपचारात्मक होती रही है। निरोध के लिये भिक्षुक गृह, विशेष कानून तथा अधिकारी और सम्बन्धित साहित्यों की उपलब्धि की जाती है और उपचार के लिए सुधार-गृहों, प्रशिक्षणकेन्द्रों, परिवार कल्याण अभिकरण तथा इनसे मिलती-जुलती अन्य व्यवस्थाएँ होती हैं। इन सबके अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में सर्वेक्षण या अनुसन्धान किया जाता है और प्राप्त तथ्यों द्वारा लाभ उठाया जाता है। भिक्षुओं के कल्याण कार्य को व्यवहृत करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि उनकी शारीरिक, मानसिक, लैंगिक, उम्र सम्बन्धी, आर्थिक, धार्मिक तथा अन्यान्य सभी विशिष्ट स्थितियों तथा तदनुरूप आवश्यकताओं की समुचित तुष्टि की जा सके।

भारत में भिखारियों का विस्तार शहरी तथा ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में है। यहाँ लगभग बीस लाख से अधिक भिक्षु हैं। यहाँ के भिक्षुओं में लगभग तीन चौथाई तो पुरुष भिक्षु हैं और एक चौथाई महिला भिक्षुणियाँ।

यद्यपि यहाँ, हमारे देश में, विभिन्न स्तर की सरकारों ने भिक्षा-वृत्ति की रोकथाम के अनेक नियम बना रखे हैं फिर भी इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। न तो पर्याप्त मात्रा में यहाँ इससे सम्बन्धित संस्थाएँ हैं और न तो आर्थिक सहूलियत ही। जन-भावना भी ऐसी नहीं है कि भिक्षा-वृत्ति उन्मूलन के अभियान को गति और सहयोग मिल सके। यहाँ ऐसे व्यापक कार्य भी नहीं हैं जिनके कि अधीन भिखारियों को उचित निर्देशन, उत्तर-रक्षण या पुनर्स्थापन सम्बन्धी सेवाएँ मिलें। छिट-पुट तौर पर कुछ प्रयत्न किये जा रहे हैं। सन् १९५३ में योजना आयोग ने इनकी स्थिति की जानकारी के लिए दो सर्वेक्षण कराये थे। इनमें ऐसा पाया गया कि जहाँ समर्थ शारीरिक स्थिति के अधिकांश भिखारी काम नहीं करना चाहते, वहीं असमर्थ स्थिति वाले काम करना चाहते हैं। यह सुझाव आया कि दान देने वालों से एक विशेष रूप में दान दिये जाने के लिए कहा

जाय और प्राप्त राशि को नियोजित ढंग से भिक्षुओं के लिए व्यय किया जाय। इसके अतिरिक्त इनसे सम्बन्धित संस्थाओं की वृद्धि की सलाह दी गयी। केन्द्रीय सरकार के नये प्राविधान के अन्तर्गत आर्थिक सहायता का लाभ उठाते हुए अनेक राज्यों ने द्वितीय योजना-अवधि में अनेक भिक्षु-गृह स्थापित किये। इनमें आन्ध्र में सबसे ज्यादा छः भिक्षुक-गृह, तत्पश्चात् बम्बई, मध्य प्रदेश तथा केरल में तीन-तीन भिक्षु-गृह स्थापित हुए। सभी राज्यों में मिला कर खुलने वाले भिक्षुक-गृहों की कुल संख्या छब्बीस थी। तीसरी योजना में ऐसे कुल तैंतीस नये भिक्षु-गृह खोले जाने की योजना थी। इनमें दिल्ली में सर्वाधिक छः, तत्पश्चात् मद्रास और महाराष्ट्र में पाँच-पाँच तथा अन्य कई प्रदेशों में चार, तीन, दो-एक भिक्षु-गृह खोले गये हैं। इसके अतिरिक्त यह कोशिश की गयी कि भिन्न प्रकार के भिक्षु के साथ भिन्न प्रकार से पेश आया जाय तथा धार्मिक स्थानों, पर्यटन केन्द्रों तथा बड़े शहरों से इन्हें हटाने का काम किया जाय; समर्थों को काम करने को प्रेरित किया जाय और भारत साधु समाज जैसी संस्थाओं द्वारा धार्मिक भिक्षुओं की समस्याओं पर ध्यान देने का कार्य कराया जाय। बाल-भिक्षुओं को इस कार्य से रिक्त करने के लिए तीसरी योजना में छियालिस लाख रुपए का प्राविधान था। इस अवधि में यह कोशिश की गई कि इस समस्या से ग्रसितों के लिए वैज्ञानिक ढंग से सोचने और व्यवहार करने की जरूरत होती है। बाल-भिखारियों को उनसे सम्बन्धित अनेक संस्थाओं में भेजने का कार्य किया गया। अन्य अवस्था तथा स्थिति के लोगों को समाज में उपलब्ध अन्य सम्बन्धित सेवा अभिकरणों में समंजित करने की कोशिश को बढ़ावा दिया गया और दिया जाता है। आज हमारे देश में इस सामाजिक समस्या की रोकथाम तथा इससे ग्रसितों के पुनर्स्थापन पर उत्त-रोत्तर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है और आशा है कि भिक्षुओं का इससे बड़ा कल्याण हो सकेगा।

सहायक ग्रंथ सूची

अनजारिया ऐण्ड एम० बी० नानावती, दि इडियन रूरल प्राब्लम, दि इंडियन सोसाइटी आफ एग्रीकल्चरल इकोनामिक्स, बम्बई ।

अमेरिकन एसोशिएशन आफ साइकिएट्रिक सोशल वर्कर्स, एजूकेशन फार साइकिएट्रिक सोशल वर्क, न्यूयार्क, १९५० ।

आई० एल० ओ०—लेबर लेजिस्लेशन इन इंडिया, आई० एल० ओ०, नयी दिल्ली, १९५७।

आई० बी० हिसकाक, कम्युनिटी हेल्थ आर्गनाइजेशन—ए मैनुअल आफ ऐडमिनिस्ट्रेशन एण्ड प्रोमीज्योर प्राइमरिली फार अर्बन एरियाज़, कामनवेल्थ फण्ड, न्यूयार्क, १९३९।

आर० एम० हाल्डर, सोसाइटी एण्ड दि विजुवली हैण्डिक्रैफ्ड, थाकर एण्ड कम्पनी, बम्बई, १९४३ ।

आर० के० मुखर्जी, दि इण्डियन वर्किंग क्लास, हिन्द बुक्स, बम्बई, १९५१ ।

आ० वे० टीड, दि आर्ट आफ़ लीडरशिप, मैकग्रा-हिल, लंदन, १९३५ ।

आर्थर एम० स्कूलेसिंगर, दि अमेरिकन एज रिफार्मर, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, १९५० ।

आर्थर डंघम, ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ़ सोशल एजेन्सीज़, सोशल वर्क इयरबुक, १९४९ ।

आर्थर हिलमैन, कम्युनिटी आर्गनाइजेशन एण्ड प्लानिंग, मैकमिलन एण्ड कं०, न्यूयार्क, १९५० ।

इण्डियन काउन्सिल आफ़ चाइल्ड वेलफेयर, रिपोर्ट आफ दि इंटरनेशनल कांफ्रेंस ऑन चाइल्ड वेलफेयर, हेल्थ, नयी दिल्ली, १९५२ ।

इंडियन कान्फ्रेंस आफ सोशल वर्क, स्पेशल ऐनिवर्सरी नंबर, दिसम्बर, १९५७।

इण्डस्ट्रियल वेल्फेयर सोसाइटी, वेलफेयर इन इण्डस्ट्री, लंदन, १९५२ ।

इयूजीन ऐण्ड एलिनर, चाइल्ड गाइडेन्स एप्रोच टु जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी, चाइल्ड केयर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क, १९५१ ।

ईव्लण्ट, सोशल सर्विसेज इन इण्डिया, एच० एम० एल० ओ०, लंदन, १९४६ ।

ईलिन एल० यंग हस्बैण्ड, रिपोर्ट आन एम्प्लायमेण्ट एण्ड ट्रेनिंग आफ सोशल वर्कर्स, एडिनबर्ग, १९४७ ।

ए० एन० अइय्यर, इनसाइक्लोपीडिया आफ लेबर लाज ऐण्ड इंडस्ट्रियल लेजिस्लेशन विथ सप्लिमेंट्स, फेडरल ला डिपो, दिल्ली १९५६-५७ ।

ए० गिलड्हिल, रिपब्लिक आफ़ इंडिया : दि डेवलपमेंट आफ़ इट्स लाज़ ऐण्ड कांस्टीट्यूशन, लंदन, १९५४ ।

एच० अडम ऐण्ड के० जोकर, ऐन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल रिसर्च, हेनरी हाल्ट ऐण्ड कं०, न्यूयार्क ।

एच० एच० पर्ल्समैन, सोशल केस वर्क, युनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस, शिकागो, १९७५ ।

एच० एल० बिट्मर, सोशल वर्क-ऐन एनालिसिस आफ़ ए सोशल इंस्टीट्यूशन, राइनहार्ट एण्ड कं० इऐन० न्यूयार्क, १९५० ।

एच० बी० ट्रेकर, "दि सुपरविज़न आफ ग्रुपवर्क ऐण्ड रिक्रियेशन" एसोशिएशन प्रेस, न्यूयार्क, १९५१ ।

एच० बी० ट्रेकर, सोशल ग्रूपवर्क—प्रिंसपुल ऐण्ड प्रैक्टिस, दि वीमेंस प्रेस, न्यूयार्क, १९४८।

एच० बी० ट्रेकर, ग्रूपवर्क प्रासेस इन एडमिनिसट्रेशन, दि वीमेंस प्रेस, न्यूयार्क ।

एन० एन० कौल, इंडिया ऐण्ड दि आई० एल० ओ० मेट्रोपालिटन बुक कं०, दिल्ली, १९५६ ।

गैरेट, इंटर व्यूईग—इट्स प्रिंसिपुल्स ऐण्ड प्रैक्टिसेज़, फैमिली वेलफेयर एसोशिएशन आफ़ अमेरिका, न्यूयार्क, १९४२ ।

एम० जे० कोल्डबेल ऐण्ड अदर्स, रिपोर्ट आफ कम्युनिटी डेव्लपमेंट इवैलुएशन्स मिशन इन इंडिया, मिनिस्ट्री आफ़ सी० डी० ऐण्ड कोआपरेशन, नई दिल्ली, १९५९ ।

एम०एस० गोरे, सोशलवर्क ऐण्ड सोशलवर्क एजुकेशन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, १९६५ ।

एम० सी० इलगर, सोशल रिसर्च, प्रेंटिस हाल, १९३९ ।

एल० एम० प्रैकेनिथ, सोशलवर्क इन ए रिवोल्युशनरी एज़ ऐण्ड अदर पेपर्स, युनिवर्सिटी आफ़ पेनसलवानिया प्रेस, फिलडेलफिया, १९४९ ।

एस० एन० भट्टाचार्य, बिलेजेज आन दि मार्च, मेट्रोपालिटन बुक कं०, दिल्ली, १९५९ ।

ए० एन० रोज़, इंडियन लेबर कोड, थर्ड एडि०, ईस्टर्न ला हाउस, कलकत्ता, १९५८ ।

एस० के० डे०, कम्युनिटी डेव्लपमेंट, किताब महल, इलाहाबाद, १९०७ ।

एस० जी० डिमिकाब, वोकेशनल रिहैबिलीटेशन आफ दि मेंटली रिटार्डेड, यू० एस० गवर्नमेंट प्रिंटिंग आफिस, वाशिंगटन डी० सी० १९५० ।

एस० नटराजन, सेन्चुरी आफ सोशल रिफार्म्स इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९५९ ।

एस० सी० दुबे, इंडियाज़ चेंजिंग विलेज़ेज़, पाल, लंदन, १९५८ ।

एसोशिएशन आफ साइकैट्रिक सोशल वर्कर्स, दि वाउंड्रीज़ आफ़ केसवर्क, पेक्रिसेंट, लंदन, १९५६ ।

एम० डोनाल्ड, सोशल वर्क एण्ड सोशल रिफार्म न्यु डाइरेक्शंस इन सोशल वर्क, हार्पर ऐण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क, १९५४ ।

कालीदास चक्रवर्ती, स्टेटिस्टिकल सर्वे आफ दि प्रेजेन्ट एजुकेशनल कंडिशन आफ़ दि इनफर्म, दि डेफ, म्यूट्स, दि ब्लाइन्ड ऐण्ड दि फीबिल माइन्डेड, कलकत्ता युनिवर्सिटी, कलकत्ता ।

के० पी० करुनाकरन, इंडिया इन वर्ल्ड अफेयर्स, ओ० यू० पी० बम्बई, १९५८ ।

कैराकैरनस, प्रिंसपुल्स ऐण्ड टेकनीक आफ सोशलकेस वर्क, फैमिली सर्विस एसोशिएशन आफ़ अमेरिका, १९५२ ।

गवर्नमेंट आफ इंडिया, थर्ड फाइव इयर प्लान, मैनेजर आफ़ पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९६१ ।

गवर्नमेंट आफ इंडिया, मैनुएल आन सोशल एजुकेशन, गवर्नमेंट पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली, १९५६ ।

गवर्नमेन्ट आफ इंडिया, रिपोर्ट आफ़ दि क्रिमिनल ट्राइब्स ऐक्ट एनक्वाइरी कमेटी, १९४०-५०, मैनेजर आफ़ पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९५१ ।

गवर्नमेन्ट आफ इंडिया, रिपोर्ट आफ़ दि बैकवर्ड क्लासेज़ कमिशन, मैनेजर आफ़ पब्लिकेशंस, दिल्ली, १९५५ ।

गवर्नमेंट आफ इंडिया, रिपोर्ट आन डेलिंक्वेन्ट चिल्ड्रेन ऐण्ड जुवेनाइल्स अफेन्डर्स इन इडिया, मैनेजर आफ पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९५० ।

गवर्नमेंट आफ़ इंडिया, सोशल वेलफेयर इन इंडिया, गवर्नमेंट आफ़ इंडिया, नयी दिल्ली, १९५९ ।

गवर्नमेंट पब्लिकेशन्स, इंडियन लेबर इयरबुक, लेबर ब्यूरो, शिमला ।

गवर्नमेंट पब्लिकेशन्स, कम्युनिटी डेव्लपमेंट प्रोग्राम इन इंडिया, मैनेजर आफ़ पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९५५ ।

गवर्नमेंट पब्लिकेशन्स, मेन रिपोर्ट आफ लेबर इनवेस्टीगेशन कमेटी, मैनेजर आफ पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९४६ ।

गवर्नमेंट पब्लिकेशन्स, रिपोर्ट आफ दि चीफ़ इन्सपेक्टर आफ़ फैक्ट्रीज़, मैनेजर आफ़ पब्लिकेशन्स, दिल्ली ।

गुडे एण्ड हैट, मेथड्स इन सोशल रिसर्च, मैक्ग्राहिल, न्यूयार्क, १९५२ ।

जहोदा ऐण्ड अदर्स, रिसर्च मेथड्स इन सोशल रिलेशन्स, ड्राइडेन, न्यूयार्क, १९०७ ।

जान एस० क्लार्क, डीजेबुल्ड सिटिजेन्स, जार्ज एलेन ऐण्ड अनविन ४०, म्युज़िएम-स्ट्रीट, लंदन, १९५० ।

जान जे० क्लार्क, सोशल वेलफेयर, आईजक पिटमैन, लंदन, १९५३ ।

जी० आर० बनर्जी, टुवर्ड्स बेटर अंडरस्टैंडिंग्स आफ़ दि सिक चाइल्ड, बम्बई, १९५२ ।

जी० आर० बनर्जी, सोशल सर्विस डिपार्टमेंट इन ए हास्पिटल, ब्यूरो आफ़ रिसर्च ऐण्ड पब्लिकेशन्स, बम्बई, १९५० ।

हैमिल्टन, थियरी ऐण्ड प्रैक्टिस आफ़ सोशलवर्क, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, १९५२ ।

जे० एफ० बिलसारा, मास ऐण्ड एडल्ट एजुकेशन इन इंडिया, बम्बई, १९३८ ।

जे० पी० नाईक, रिसर्च एण्ड एक्सपेरिमेंटल इन रूरल एजुकेशन, मिनिस्ट्री आफ़ एजुकेशन, गवर्नमेंट आफ़ इंडिया, नयी दिल्ली, १९५३ ।

बर्कमैन, प्रैक्टिस आफ सोशल वर्क इन साइकिऐट्रिक हास्पिटल्स ऐण्ड क्लीनिक्स, अमेरिकन एसोशिएशन आफ़ साइकिऐट्रिक सोशलवर्क, न्यूयार्क, १९५३ ।

डब्ल्यू० ए० फ्रिडलैण्डर, इन्ट्रोडक्शन टु सोशल वेलफेयर, प्रिंटिसहाल इन्स०, १९५७ ।

डब्ल्यू० जी० रेकलेस, जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी, मैक्वेहिल बुक कं०, न्यूयार्क ।

डी० सैण्डर्सन ऐण्ड आर० एस० चार्ल्स, रूरल कम्युनिटी आर्गनाइज़ेशन, जान ऐण्ड सन्स, न्यूयार्क, १९३९ ।

दुर्गाबाई देशमुख, रिपोर्ट टु दि ऐनुअल कान्फरेन्स आफ चेयरमैन आफ स्टेट बोर्ड्स ऑव सोशल वेलफेयर, पब्लिकेशन्स डिवीज़न, दिल्ली—६ ।

देहली स्कूल आफ सोशल वर्क, फील्डवर्क सुपरविज़न—ए सेमिनार रिपोर्ट, दिल्ली—८, १९५७ ।

दुर्गाबाई देशमुख, प्लान्स ऐण्ड प्रास्पेक्ट्स आफ़ सोशल वेलफेयर इन इंडिया, पब्लिकेशंस डिवीज़न, गवर्नमेंट आफ़ इंडिया, १९६३ ।

प्लानिंग कमीशन-थर्ड फाइब इयर प्लान, गवर्नमेंट पब्लिकेशन्स दिल्ली, १९६१ ।

प्लानिंग कमीशन-दि न्यू इंडिया—प्रोग्रेस थ्रू डेमोक्रेसी, मैकमिलन १९५८ ।

प्लानिंग कमीशन-सेकेण्ड फाइव इयर प्लान—गवर्नमेंट पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली, १९५६ ।

प्लानिंग कमीशन सोशल लेजिस्लेशन, दिल्ली १९५६ ।

प्लानिंग कमीशन-सोशल लेजिस्लेशन, गवर्नमेंट आफ़ इंडिया पब्लिकेशंस, दिल्ली—६, १९५६ ।

प्लानिंग कमीशन, सोशल वेलफेयेर इन इंडिया, गवर्नमेंट पब्लिकेशन्स, दिल्ली—६, १९५५ ।

पी० डी० कुलकर्णी, दि सेन्ट्रल सोशल वेलफेयर बोर्ड : ए न्यू एक्सपेरिमेंट इन वेलफेयर ऐडमिनिस्ट्रेशन, पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६१ ।

पी० डी० कुलकर्णी, सोशल वेलफेयर इन फाइव इयर प्लान्स, हिस्ट्री एण्ड फिलासफी आफ़ सोशल वर्क इन इंडिया, एलाइड पब्लिशर्स, बम्बई, १९६१ ।

पी० यंग, साइन्टिफिक सोशल सर्वेज़ ऐण्ड रिसर्च, प्रेन्टिसहाल, न्यूयार्क, १९५१ ।

बी० मुखर्जी, कम्युनिटी डेवलपमेंट इन इंडिया, ओरिएन्ट लांगमैन लिमिटेड, कलकत्ता, १९६१ ।

ब्यूरो आफ़ रिसर्च ऐण्ड पब्लिकेशंस, करेन्ट ट्रेन्ड्स इन सोशलवर्क इन इंडिया, टाटा इन्स्टीच्यूट आफ़ सोशल साइन्सेज़, बम्बई ।

मद्रास स्कूल आफ़ सोशलवर्क, फील्ड वर्क कन्टेन्ट्स, मद्रास–८, १९६१ ।

मद्रास स्कूल आफ़ सोशलवर्क, फील्डवर्क मैनुएल, मद्रास–८, १९४८ ।

मिनिस्ट्री आफ एजुकेशन, गवर्नमेंट आफ़ इंडिया, रिपोर्ट–आल इंडिया रिपोर्ट आफ़ सोशल एजुकेशन, गवर्नमेंट पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली, १९५४ ।

एम० जी० राँस, कम्यूनिटी आर्गेनाइजेशन–थियरी ऐण्ड प्रिन्सिपुल्स, हार्पर ब्रदर्स, न्यूयार्क, १९५५ ।

मैकमिलन, इन साइक्लोपीडिया आफ़ सोशल साइन्सेज, मैकमिलन एण्ड कं०, न्यूयार्क, १९६१ ।

यू० एन० पब्लिकेशंस, कम्पैरेटिव सर्वे आन जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी, यू० एस०–न्यूयार्क ।

यूनाइटेड नेशन्स ट्रेनिंग फार सोशल वर्क, थर्ड इन्टर नेशनल सर्वे, यू० एन० डिपार्ट आफ़ इकोनामिक्स एण्ड सोशल एफेयर्स, न्यूयार्क, १९५८ ।

यूनाइटेड नेशंस, यू० एन० इयरबुक, आफिस आफ़ पब्लिक इन्फार्मेशन, न्यूयार्क ।

युनिसेफ–इट्स ओरिजिन, डेवलपमेंट, पालिसीज़ एण्ड आपरेशन इन एशिया ऐण्ड अदर कन्ट्रीज़, न्यूयार्क, १९५० ।

युनेस्को, प्रिंसपुल्स आफ़ कम्युनिटी डेवलपमेंट, यूनेस्को पब्लिकेशस, न्यूयार्क ।

वान मैकमिलन, कम्यूनिटी आर्गेनाइजेशन फार सोशल वेलफेयर, युनिवर्सिटी आफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो, १९४५ ।

वी० एम० कुलकर्णी, चाइल्ड वेलफेयर इन इंडिया, सोशल वेलफेयर इन इंडिया, गवर्नमेंट आफ़ इंडिया पब्लिकेशंस, दिल्ली, १९६० ।

वी० जगन्नाथम् ऐण्ड एस० पी० नन्दवानी, ट्रेनिंग फार सोशल वेलफेयर, इंडियन इंस्टीच्यूट आफ़ पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन, दिल्ली, १९६० ।

वी० टी० कृष्णमाचारी, कम्युनिटी डेवलपमेंट इन इंडिया, गवर्नमेंट आफ़ इंडिया पब्लिकेशन, दिल्ली–६ ।

बी० वी० गिरि, लेबर प्राब्लम्स इन इंडिअन इंडस्ट्रीज, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९५८ ।

सिडनी जे० लि० बर्ग, सुपरविज़न इन सोशल ग्रूपवर्क, एसोसिएशन प्रेस, न्यूयार्क, १९३९ ।

सेन्ट्रल सोशल वेलफेयर बोर्ड, रिपोर्ट आफ दि एडवाइज़री कमेटी ऑन आफ्टर केयर प्रोग्राम, नयी दिल्ली, १९५५ ।

सेन्ट्रल सोशल वेलफेयर बोर्ड, रिपोर्ट आफ दि एडवाइज़री कमेटी ऑन सोशल एण्ड मारल हाईजीन, सी० एस० डब्ल्यू० बी०, नयी दिल्ली, १९५५ ।

सुगता दासगुप्ता, सोशल वर्क एण्ड सोशल चेन्ज, रिपोर्टर सार्जेन्ट पब्लिशर, बोस्टन ।

सुगता दासगुप्ता, टुवर्ड्स ए फिलासफी आफ़ सोशलवर्क इन इंडिया, पापुलरबुक सर्वि-सेज़, दिल्ली—३ ।

सैयद ज़फर हसन, फेडरल ग्रान्ट्स एण्ड पब्लिक असिस्टेंस, किताब महल, इलाहाबाद ।

हर्बर्ट आप्टेकर, बेसिक कान्सेप्ट्स इन सोशल केसवर्क, युनिवर्सिटी आफ़ नार्थ कैरोलीना प्रेस, चापेल हिल, १९४१ ।

हरमैन फाइनर, दि यूनाइटेड नेशन्स इकनामिक्स ऐण्ड सोशल काउन्सिल, वर्ल्ड पीस फाउन्डेशन, न्यूयार्क, १९४६ ।